कबीर ग्रन्थावली

सटीक

अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-६

कबीर ग्रन्थावली सटीक

[महात्मा कबीर के काव्य की आलोचना, साखियाँ, पदावली, रमैंणी का मूल पाठ तथा प्रामाणिक व्याख्या]

सप्तम संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण

भूमिका लेखक

डा० गोविन्द त्रिगुणायत एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०

कबीर साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान्

लेखक

प्रो० पुष्पपाल सिंह एम० ए०

प्रकाशक



अशोक प्रकाशन

नई सड़क, दिल्ली-6



प्रकाशक :
अशोक प्रकाशन
नई सड़क, दिल्ली-६

सप्तम संस्करण : १९८५
मूल्य : ३०-००

मुद्रक :
रूपक प्रिंटर्स,

भूमिका

हिन्दी के मध्ययुगीन संत कवियों में कबीर अग्रगण्य हैं। इनके हृदय-हिमालय से अजस्र प्रवाहित होने वाली काव्य-पयस्विनी ने मध्ययुग को ही पावन नहीं किया था वरन् वह आज भी हमारे जीवन की सबसे बड़ी प्रेरणा बनी हुई है। अपने युग की अनेकानेक साधनाओं एवं विचारधाराओं की सारमयी समन्विति रूप उनकी वाणी शास्त्रीय साहित्यिकता से असम्पृक्त तथा भौतिक विलास से विरहित होने के कारण सामान्य मानव के लिए सरलता से ग्राह्य और बोधगम्य नहीं रही है। सम्भवतः इसी लिए वह बहुत दिनों तक उपेक्षिता रही। संतोष है कि अब विद्वानों की प्रवृत्ति उसके अध्ययन की ओर उन्मुख है। इस दिशा में अब अच्छी प्रगति हो रही है। प्रस्तुत रचना उसी प्रगति का एक प्रशस्त चरण है। इसमें कृती लेखक ने उनकी वाणी के अर्थ-गौरव एवं उनको स्वतन्त्र चिन्तन के जाज्वल्यमान स्फुलिंगों की झाँकी सँजोने की चेष्टा की है। उसने पहली बार कबीर ग्रंथावली की व्याख्या करने का प्रयास किया है। प्रारंभ में उसने एक पांडित्यपूर्ण आलोचना जोड़ कर अपनी कृति के मूल्य और गौरव में वृद्धि कर दी है। सम्पूर्ण रचना पर लेखक के व्यापक अध्ययन, प्रकर्ष पांडित्य और अनुसंधानात्मिका प्रतिभा की छाप दिखाई पड़ती है। मैं उसकी व्याख्या और आलोचना दोनों से प्रभावित हुआ हूँ। मैं यह निस्संकोच कह सकता हूँ कि प्रस्तुत टीका बहुत-सी दृष्टियों से बड़ी उपयोगी है। विद्यार्थी-समाज का तो इससे विशेष कल्याण होगा ही, साथ-ही-साथ संत काव्य के मर्मज्ञों में भी यह समादृत होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

—गोविन्द त्रिगुणायत

निवेदन

'मसि कागद छुग्रो नहीं, कलम गह्यौ नहिं हाथ' के कवि की स्थान-स्थान पर प्राप्त 'कहै कबीर ताहि गुरु करौं, जो या पदहि विचारै' जैसी घोषणाग्रों के सम्मुख मुझ ग्रल्पज्ञ की क्या सामर्थ्य जो परमपद प्राप्त, शून्य साधक, ग्रगम्य लोकवासी, रामरसमाते ग्रल्हड़ की सहज-सुन्दर वाणी का ग्रर्थ हृदयंगम कर सकूं ? कबीर ने ग्रपने विचारों को जिस सहज, प्रकृत, सुन्दर भाषा के माध्यम से व्यक्त किया है, उससे ग्रधिक सरल रूप की ग्रपेक्षा करना ग्रयुक्त है। किन्तु कबीर-काव्य की भाषा परम्परा ग्रौर परिस्थिति वश ग्राज के ग्रधिकांश समाज के लिए कुछ दुरूह हो गई है। प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा यदि इस कठिनाई को दूर करने में कबीर के ग्रभिप्रेत को पाठक तक पहुँचाने में, मैं किंचित् भी सफल हो गया तो ग्रपने श्रम को सार्थक समझूँगा। विद्यार्थियों की दृष्टि से पुस्तक को पूर्ण बनाने के लिए प्रारम्भ में ग्रालोचना भाग भी जोड़ दिया गया है। जिन विद्वानों की कृतियों के पुस्तक में सहायता ली गई, मैं उनका हृदय से ग्राभारी हुँ।

—लेखक

विषय-सूची

आलोचना भाग

कबीर पर आध्यात्मिक प्रभाव १
कबीर की भक्ति-पद्धति ११
कबीर-काव्य का साहित्यिक सौन्दर्य २१
कबीर के प्रतीक और उलट-बांसियां ३०
कबीर का रहस्यवाद ३७
सुधारक कबीर ४७
कबीर का दर्शन ५२
कबीर की भाषा ५६

साखी भाग

गुरुदेव कौ अंग ६६
सुमिरण कौ अंग ७७
विरह कौ अंग ८५
ग्यान बिरह कौ अंग ९६
परचा कौ अंग ९९
रस कौ अंग ११४
लांबि कौ अंग ११६
जर्णां कौ अंग ११७
हैरान कौ अंग ११९
लै कौ अंग १२०
निहकरमी पतिव्रता कौ अंग १२१
चितावणी कौ अंग १२६
मन कौ अंग १४३
सूषिम मारग कौ अंग १५०
सूषिम जन्म कौ अंग १५३
माया कौ अंग १५४
चांणक कौ अंग १६३
करणीं बिना कथणीं कौ अंग १६९
कथणीं बिना करणीं कौ अंग १७१
कामी नर कौ अंग १७२
सहज कौ अंग १७८
साँच कौ अंग १८०
भ्रम बिधौंसण कौ अंग १८४
भेष कौ अंग १८७
कुसंगति कौ अंग १९४
संगति कौ अंग १९६
असाध कौ अंग १९८
साध कौ अंग १९९
साध साषीभूत कौ अंग २०२
साध महिमा कौ अंग २०७
मधि कौ अंग २१०
सारग्राही कौ अंग २१३
विचार कौ अंग २१५
उपदेश कौ अंग २१८
बेसास कौ अंग २२०
पीव पिछांणन कौ अंग २२६
बिकताई कौ अंग २२७
सम्रथाई कौ अंग २३१
कुसबद कौ अंग २३४
सबद कौ अंग २३५
जीवन मृतक कौ अंग २३७
चितकपटी कौ अंग २४१
गुरुसीष हेरा कौ अंग २४२

हेत प्रीति स्नेह कौ अंग २४५
सूरा तन कौ अंग २४६
काल कौ अंग २५५
सजीवनि कौ अंग २६२
अपारिष कौ अंग २६४
पारिष कौ अंग २६५
उपजणि कौ अंग २६६
दया निरबैरता कौ अंग २६८
सुन्दरि कौ अंग २६९
कस्तूरियां मृग कौ अंग २७०
निंद्या कौ अंग २७२
निपुणाँ कौ अंग २७४
बीनती कौ अंग २७७
साषी-भूत कौ अंग २७९
बेली कौ अंग २८०
अविहड़ कौ अंग २८१

पदावली भाग

राग गौड़ी २८७
राग रामकली ३७३
राग आसावरी ४०६
राग सोरठि ४३६
राग केदारी ४६०
राग मारू ४७३
राग टोड़ी ५७४
राग भैरूं ५७५
राग बिलावल ४९६
राग ललित ५०३
राग बसंत ५०४
राग माली गौड़ी ५१२
राग कल्याण ५१३
राग सारंग ५१४
राग मलार ५१५
राग घनाश्री ५१६

रमैंणी भाग

राग सूहौ ५२३
सतपदी रमैंणी ५२४
बड़ी अष्टपदी रमैंणी ५२८
दुपदी रमैंणी ५३८
अष्टपदी रमैंणी ५४६
बाराहपदी रमैंणी ५५१
चौपदी रमैणी ५५७

आलोचना भाग

: १ :

कबीर पर आध्यात्मिक प्रभाव

किसी भी कवि पर अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं, विचारों एवं सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। कबीर पर भी उस समय तक प्रचलित नाना धर्म-साधनाओं, विचारों एवं प्रतिष्ठित धर्मग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है, किन्तु कबीर पर यह प्रभाव सीधे नहीं पड़ा है, क्योंकि उन्होंने तो पुस्तकीय ज्ञान सीखा ही नहीं था। वे बहुश्रुत थे, उन पर विविध धर्म-सम्प्रदायों और दर्शन ग्रंथों का प्रभाव साधु-संगति से आया है। यही कारण है कि कहीं-कहीं कबीर ने हिन्दू पौराणिक आख्यानों का उपयोग यथावत् नहीं किया है।

कुछ विद्वान् कबीर आदि सन्तों पर इस्लाम का अत्यधिक प्रभाव मानते थे किन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वानों की नवीन शोधों के प्रकाश में देखने से यह मान्यता निर्मूल दृष्टिगत होती है। आचार्यप्रवर हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का कथन है—"उपस्थापन पद्धति, विषय, भाव, भाषा, अलंकार, छन्द, पद आदि में ये सन्त (कबीर आदि) शत-प्रतिशत भारतीय परम्परा में पड़ते हैं।" कबीर की एकेश्वर भावना, निराकार उपासना, समान व्यवहार, खण्डन-मण्डन प्रवृत्ति सबमें मुसलमानी गन्ध पाने वाली मान्यताएँ अब निर्मूल सिद्ध हो चुकी हैं।

कबीर पर पड़ने वाले आध्यात्मिक प्रभावों पर दृष्टिपात करने से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कबीर भारतीय अथवा विदेशी परम्परा में किसके अधिक निकट हैं—

वैदिक साहित्य का प्रभाव

वास्तव में वैदिक धर्मग्रंथों का इतना विशाल और समृद्ध भण्डार है कि भारतीय सांस्कृतिक जीवन की प्रत्येक गतिविधि पर उसका प्रभाव परिलक्षित होता है। भारतभूमि में कोई भी ऐसा धर्म अथवा सम्प्रदाय नहीं, जिस पर वैदिक चिन्तन का कुछ न कुछ प्रभाव न हो। वैदिक विचारधारा के विरोध में उत्पन्न धर्म-सम्प्रदाय भी इस प्रभाव से न बच सके।

वैदिक साहित्य को संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् के रूप में विभक्त किया गया है। "संहिताओं में अधिकतर वैदिक देवताओं की स्तुतियाँ संगृहीत हैं। ब्राह्मणों में कर्म-काण्ड का वर्णन मिलता है। आरण्यकों में विविध उपासनाओं की चर्चा है। उपनिषदों में ज्ञान-काण्ड का विवेचन है। भारत में सबसे अधिक उपनिषदों

की चर्चा होती रही है। ये उपनिषद् संख्या में बहुत अधिक थे। कहते हैं कि ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०२, सामवेद की १००० और अथर्ववेद की ६ शाखाएँ और प्रशाखाएँ थीं। इन सभी शाखाओं से सम्बन्धित उपनिषद् भी रहे होंगे। केवल मुण्डकोपनिषद् में १०८ उपनिषदों के नाम दिये हैं।"[1]

ब्रह्म का स्वरूप – समस्त उपनिषद् साहित्य की रचना ब्राह्मण साहित्य की कर्मकाण्डी प्रवृत्ति के विरोध में हुई है। बहुदेववाद व कर्मकाण्ड की धज्जियाँ इसी साहित्य ने उड़ायी थीं। कबीर के समय भी देवोपासना एवं ब्राह्मणों द्वारा नियन्त्रित हिन्दू धर्म की कर्मकाण्डी प्रवृत्ति का बोलबाला था। अतः उन्हें अपनी आवश्यकतानुसार साहित्य यदि प्राप्त था तो वह उपनिषद् साहित्य ही। उपनिषदों में प्रस्थापित अद्वैत भावना का कबीर पर अत्यधिक प्रभाव है। कुछ लोग कबीर की एकेश्वर भावना और निराकार उपासना को इस्लाम से प्रभावित मानते हैं, किन्तु यह भ्रामक है। हमें केवल एक शब्द के आधार पर कबीर की भावना को मुस्लिम प्रभावापन्न नहीं मानना चाहिए। वास्तव में एकत्व भावना वैदिक अद्वैतवाद की आधार भूमि है। अद्वैत के सिद्धान्त वाक्य 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' और एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' द्वारा भी यही सिद्ध है कि वह एक ब्रह्म ही सत्य है, अन्य कुछ नहीं। इस्लाम का खुदा होते हुए भी सातवें आसमान पर तख्त के ऊपर बैठने वाला, दो हाथ पैर का दाढ़ी वाला सर्वशक्तिमान है, जबकि कबीर का ब्रह्म उपनिषदों के ब्रह्म को समान इन्द्रियातीत, अगम्य, अगोचर, अनिर्वचनीय तत्वरूप है, श्रुति-ग्रंथों के परिशीलन से स्पष्ट ही जान पड़ता है कि वहाँ ब्रह्म की मान्यता दो स्वरूपों में है। एक निर्गुण, निर्विशेष, निराकार और निरुपाधि एवं दूसरा इन सब बातों से मुक्त अर्थात् सगुण, सविशेष, साकार और सोपाधि। साधारणतः यह बात बड़ी अटपटी सी लगती है कि वह ब्रह्म एक साथ ही इस भांति द्विस्वरूपी कैसे है ? इसके प्रत्युत्तर में वेदान्तवादी कहते हैं कि ब्रह्म अपने आप में तो निर्गुण, निराकार, निर्विशेष और निरुपाधि है, परन्तु अविद्या या गलतफहमी के कारण जिसे हम माया भी कह सकते हैं, हम उसमें उपाधियों या सीमाओं का आरोप करते हैं। यह गलतफहमी अथवा भ्रम हमारा ही है। इसलिए उपनिषद् बारम्बार स्थान-स्थान पर ब्रह्म को इस प्रकार बताती हैं—

"वह मोटा भी नहीं, पतला भी नहीं, छोटा भी नहीं, बड़ा भी नहीं, लोहित भी नहीं, स्नेह भी नहीं, छायायुक्त भी नहीं, अन्धकार भी नहीं, वायु भी नहीं, आकाश भी नहीं।"

—'बृहदारण्यकोपनिषद्

"वह शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित, रस रहित, गन्ध रहित है॥"

—कठोपनिषद्

इस प्रकार के वर्णन हमें कबीर की ब्रह्म-सम्बन्धी वाणियों में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। यथा—

---

१. कबीर की विचारधारा"

"संतो धोखा कासूं कहिये ।
गुण मैं निरगुण निरगुण मैं गुण है,
बाट छाड़ि क्यूं बहिये ॥
अजरा, अमर, कथै सब कोई, अलख न कथणां जाई ।
नाति सरूप बरण नहीं जाकै, घटि घटि रह्यौ समाई ।
प्यंड ब्रह्मण्ड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई ।
प्यंड ब्रह्मण्ड छाड़ि जे कथिये कहै कबीर हरि सोई ॥"

× × × ×

"भारी कहों तो बहु डरौं, हलका कहौं तो झूठा ।
मैं का जानूं राम कूं, नैनूं कबहुं न दीठा ॥"

कबीर का आराध्य उपनिषदों के ब्रह्म के समान ही अजीब-गरीब है, जो बिना ही रूपाकार के क्रियाशील है, बिना पग चलता है, बिना मुख खाता है ।

२. मनःसाधना—कबीर पर वैदिक उपनिषद् साहित्य का दूसरा प्रभाव मनः-साधना का है। इन उपनिषद् ग्रंथों में मन की चंचलता पर नियन्त्रण रखने के लिये बहुत आग्रह है। मन की चंचलता ही विरागी को रागी, संन्यासी को गृहस्थ बना देती है। कबीर ने भी मनःसाधना पर बड़ा जोर दिया है—

"काया कसूं कमाण ज्यूं पंचतत्त करि बाण ।
मारौं तो मन मृग को नहीं तो मिथ्या जाण ॥"

× × ×

"मन के मते न चालिए, मन के मते अनेक ।
जो मन पर असवार हैं, ते साधू कोई एक ॥"

× × ×

"कबिरा मन ही गयन्द है, आंकुस दै दै राखि ।
विष की बेलि परिहरो, अमृत के फल चाखि ॥"

३. नाम स्मरण—कबीर में इष्ट के नाम-स्मरण का जो अत्यधिक आग्रह है, वह भी श्रुतिग्रंथों का प्रभाव है। इस संसार-सागर से तरने के लिए 'नामस्मरण' को कबीर ने बोहित तुल्य माना है। यथा—

"सो धन मेरे हरि का नाउं, गांठि न बांधौं बेचि न खाऊं ।
नाउं मेरे खेती नाउं मेरे बाकी, भगति करों मैं सरनि तुम्हारी ॥
नाउं मेरे सेवा नाउं मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जानों दूजा ॥
नाउँ मेरे बांधव नाउं मेरे भाई, अंत बिरियां नाउं सहाई ॥
नाउं मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई, कहै कबीर जैसे रंक मिठाई ॥

वैष्णव प्रभाव

वैष्णवों के प्रेम प्रधान भक्ति तत्व ने कबीर को बहुत प्रभावित किया है। प्रेम भक्ति की प्राप्ति कबीर को वैष्णवों के प्रसिद्ध आचार्य रामानन्द से हुई है।

अनन्य भक्ति की प्राप्ति से कबीर-साहित्य को एक नूतनता प्राप्त होती है। यह नूतनता अत्यन्त विलक्षण है, जो कबीर को सिद्धों और नाथों की परम्परा से सर्वथा पृथक् कर देती है।

१. अनन्यभाव—भक्ति ऐसा तत्व है जिसे पाकर कबीर स्वयं धन्य हुए, इसी से उन्होंने अपने साहित्य को भी धन्य कर दिया। कबीर की भक्ति की अडिगता और अनन्यता, जो देखते ही बनती है, वैष्णव प्रभाव ही है। यथा—

"कबीर रेख सिंदूर की, काजल दिया न जाई।
नैनु रमइया रमि रहा, दूजा कहां समाई॥"

इसी अनन्यता का परिचय कबीर ने आत्मा को 'सत्ती' का रूपक देकर किया है—

"जे सुन्दरि साँईं भजै, तजै आन की आस।
ताँहि न कबहूँ परिहरै, पलक न छांड़ै पास॥"

इतना ही नहीं, उस ब्रह्म के प्रति इतनी श्रद्धा है कि वे उसका कुत्ता बनने में भी नहीं हिचकते—

"कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउं॥"

इष्ट की इस भावना पर तुलसी के—

"राम सौं बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो"

की शत-शत भावनाएँ न्यौछावर की जा सकती हैं। कबीर पर यह सब विशुद्ध वैष्णव प्रभाव है।

डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों ने इस मान्यता का कि कबीर की प्रेम-भावना पर सूफी प्रभाव है, खण्डन कर यह प्रस्थापना की है कि कबीर की प्रेम की पीर वैष्णव-भावना से प्रभावित है। द्विवेदी जी का कथन है—

"निर्गुण राम का उपासक होने के कारण उन्हें वैष्णव न मानना उस महात्मा के साथ अन्याय करना है। वास्तव में वे स्वभाव और विचार दोनों से वैष्णव थे।"

२. सदाचार—कबीर-काव्य में शील, क्षमा, दया, उदारता, संतोष, धैर्य, दीनता और सत्यता आदि का उपदेश भी वैष्णवों के 'सदाचार महत्व' से प्रभावित है। यथा—

"बड़ा भया तो क्या भया, जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर॥"

× × ×

"ऊंचे कुल का जनमिया, करनी ऊंच न होय।
स्वर्ण कलश मदिरा भरा, साधू निन्दै सोय॥"

३. जाति-पाँति का भेद—कबीर से पूर्व जाति-पाँति के विभेद को दूर करने

का प्रयास वैष्णवाचार्य रामानुज ने किया था। अतः जाति-पाँति के बन्धनों को न मानना भी कबीर की विचारधारा पर वैष्णव प्रभाव है। यह निस्सन्देह सत्य है कि रामानुज तो केवल भक्ति-क्षेत्र में ही सामाजिक समानता ला सके, किन्तु कबीर ने प्रत्येक क्षेत्र में जाति-पाँति के विभेद को दूर किया। उन्होंने सवर्ण हिन्दू और मुस्लिम दोनों के बीच की खाई को पाटा और—

"जाति-पाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई" की पुकार लगाई।

४. जनभाषा का प्रयोग—सर्वप्रथम रामानन्द ने धर्म के सिद्धान्तों को जन-भाषा में उद्घाटित किया, अन्यथा अब तक समस्त धर्म-सिद्धान्त की व्याख्या का एकमात्र वाहन संस्कृत थी जो अब जन-भाषा नहीं थी। कबीर पर भी यह प्रभाव ही है कि उन्होंने तथा अन्य परवर्ती सन्तों ने अपने विचारों का माध्यम लोक-भाषा को ही बनाया। कबीर ने कहा था—

"संस्कृत है कूप जल, भाषा बहता नीर।"

वैसे कहा जा सकता है कि—मसि कागद तक न स्पर्श करने वाला संत संस्कृत में कैसे रचना करता? किन्तु हमारा विचार है कि सत्य के इस अद्भुत अन्वेषी के लिए संस्कृत में भी काव्य रचना करना असम्भव न था।

५. माया-तत्व—कबीर पर एक अन्य वैष्णव प्रभाव माया-तत्व है। जिस प्रकार वैष्णवों ने प्रभु-भक्ति में माया को बाधक माना है, उसी प्रकार कबीर ने भी माया को साधना में 'दुर्गम घाटी दोय' में से एक माना है। वैष्णवों में प्रचलित विष्णु के सहस्र नामों में से भी कबीर ने कुछ अपनाया है। कबीर काव्य में राम, हरि, गोविन्द, मुकुन्द, मुरारी, विष्णु, मधुसूदन आदि नामों का प्रयोग हुआ है, जिनमें 'राम' तो सर्वप्रमुख और कबीर-काव्य का केन्द्र विन्दु है ही।

६. भावात्मक स्थान—इतना ही नहीं, कबीर ने वैष्णवों के कुछ भावात्मक कल्पित स्थानों को भी अपनी वाणी में स्थान दिया है। यथा—

"अमरपुर ले चलु हो सजना।'

× × ×

"अमरपुरी की संकरी गलियां अड़ बड़ है चढ़ना।"

कबीर ने इन्द्रपुरी, विष्णुलोक आदि इन समस्त स्थानों के नाम को यद्यपि शून्य के अर्थ में ही ग्रहण किया, किन्तु इससे वैष्णव प्रभाव सहज ही में परिलक्षित किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर पूर्ण वैष्णव थे जिसकी घोषणा वे स्वयं करते हैं—

'मेरे संगी दोह जना, एक वैष्णव एक राम।'

बौद्धों के महायान का प्रभाव

बौद्धों की महायान शाखा का भी प्रभाव कबीर पर पड़ा है। जीवन की क्षण-भंगुरता, मध्यम मार्ग, शरीर कष्ट का विरोध आदि बातें कबीर में महायान के

प्रभाव से ही आईं। क्षणिकवाद का उदाहरण देखिए—

"पांनी केरा बुदबुदा, अस मानंस की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात।"

शरीरकष्ट का विरोध जैसा महायान में है, वैसा कबीर में भी कहीं-कहीं मिलता है। यद्यपि योगसाधना में कुण्डलिनी साधना, त्राटक के फाटक खोलना, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना का समन्वय इन सब बातों में काया-कष्ट है ही किन्तु फिर भी

"भूखे भगति न कीजै, अपनी माला लीजै"

जैसी विरल उक्तियाँ तो मिल ही जाती हैं।

सिद्धों और नाथपन्थी योगियों का प्रभाव

कबीर पर बौद्ध-मत के अन्तिम दिनों में प्रचलित वज्रयान और सहजयान शाखाओं के सिद्धों का भी बहुत प्रभाव पड़ा। सिद्धों की ही सुसंस्कृत परम्परा नाथों की है।

१. योग-साधना—डॉ० रामकुमार वर्मा जी का कथन है—

"सिद्ध साहित्य, नाथ पंथ और संतमत एक ही विचारधारा की तीन परिस्थितियाँ हैं।"

इन दोनों का अत्यधिक प्रभाव कबीर पर पड़ा है। कबीर ने जिस योगसाधना, षट्चक्र, इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा आदि का वर्णन साधना का रूप बताया है वह सिद्धों और नाथों द्वारा अनुमोदित है। यह दूसरी बात है कि कबीर तक आते-आते साधना के कुछ पारिभाषिक शब्द दूसरे रूप में ग्रहण किये गये। कबीर के निम्नस्थ पद द्वारा हम देख सकते हैं कि कबीर ने योगसाधना को वही रूप दिया है जो सिद्धों और नाथों ने दिया है—

'हिंडोलना तहाँ झूलै आतम राम।
प्रेम भगति हिंडोलना, सब संतनि कौ विश्राम॥
चंद सूर दोइ तहाँ खंभवा, बंकनालि की डोर।
झूलैं पंच पियारिया, तहाँ झूलै जिय मोर॥
द्वादस गम के अंतरा, तहां अमृत का ग्रास।
जिनि यहु अमृत चाषिया, सो ठाकुर हम दास॥
सहज सुनि कौ नेहरौ, गगन मण्डल सिरमौर।
दोऊ कुल हम आगरी, जो हम झूलैं हिंडोल॥
अरध-उरध की गंगा जमुना, मूल कवल कौ घाट।
षट्-चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट॥
नाद व्यंद की नावरी, राम नाम कनिहार।
कहै कबीर गुण गाइले, गुरगंमि उतरौ पार॥

इस पद में सिद्धों और नाथों से यदि कोई वस्तु भिन्न है तो वह है प्रेमाभक्ति, जिस पर वैष्णव प्रभावान्तर्गत विचार किया जा चुका है।

२. गुरु-महत्ता—गुरुमहत्ता भी कबीर को सिद्धों और योगियों से प्राप्त हुई। इन्होंने साधना में गुरु को वैसा ही महत्व दिया, जैसा सिद्धों और योगियों ने। साधक जब साधनावस्था की जटिलता से निराश होता है तो मार्ग-दर्शन के लिए गुरु के पास ही जाता है। सिद्धों ने कहा है—

"लुइ भणई गुरु पुच्छेउ जाण।"

किन्तु कबीर ने केवल गुरु को पूछा ही नहीं, अपितु गुरु के बिना साधना को ही अपूर्ण माना, गुरु को ब्रह्म से भी उच्च स्थान प्रदान किया—

"गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दियो बताय।।"

× × ×

"गुरु पारस को अंतरो, जानत हैं सब संत।
वह लोहा कंचन कर, ये कर लेइ महंत।"

३. बाह्याडम्बरों का विरोध—कबीर ने बाह्याडम्बर, जाति-पाँति आदि का जो खण्डन अपनी करारी उक्तियों में किया, वह सिद्धों और नाथों की ही देन है। अपनी तार्किक शैली में समाज के बाह्याचारों पर जो कटु-प्रहार कबीर ने किये हैं, इनका सूत्रपात सिद्धों और योगियों के ही समय हो चुका था। सिद्धों ने कहा—

"आवणगमण णां तैन विषैण्यो,
तो वि णिणज्ज भणइं हऊं पंडिओ।"

कबीर ने कहा था—

"जो तू बाह्मन बाह्मनी जाया,
आन बाठ ह्वै क्यों नहीं आया।"

इसी प्रभाव से उन्होंने मुल्ला की बाँग और हिन्दुओं की पीतल पिटंत पर तिलमिला देने वाली उक्तियाँ कही हैं, चुटकियाँ ले-लेकर व्यंग्य कसे हैं। इन्हीं उक्तियों के माध्यम से उन्होंने धर्म के मूलतत्व को पहचान ढोंग के ढोल की पोल खोल दी—

"मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारे, क्या साहिब तेरा बहिरा है?
चिउँटी के पग नेवर बाजै, सो भी साहिब सुनता है।
पंडित होय के आसन मारे, लम्बी माला जपता है।।"

४. रहस्यवाद—विद्वानों का विचार है कि कबीर के रहस्यवाद, उलटबांसी और प्रतीकों का भी मूल यही है। कहीं-कहीं तो कबीर ने इनकी उलटबांसी, रूपक आदि को साक्षी रूप में उद्धृत कर दिया है—

"बलद बियाबल गविया बांझै।"

× × ×

"बरसै कम्बल भीगै पानी।"

× × ×

"नाव बिच नदिया डूबी जाय।"

ये सब उलटबांसियाँ सिद्धों और कबीर में समान रूप से प्राप्त हैं।

५. भाषा—इस प्रकार भाषा के क्षेत्र में भी इन परम्पराओं ने कबीर काव्य को प्रभावित किया। इन उलटबांसियों में विभावना, विरोधाभास आदि अलंकार भी समान रूप से व्यवहृत हैं—

"ऐसा अद्‌भुत मेरे गुर कथ्या, मैं रह्या उमेषै।
मूसा हसती सों लड़ै, कोई बिरला पेखै॥
मूसा पैठा बांबि मैं, लार सापणि धाई।
उलटि मूसैं सापणि गिली, बहु अचिरज भाई॥
चींटी परबत ऊषण्यां, लै राख्यौ चौड़ै।
मुरगा मिनकीं यूं लड़ै झल पांणी दौड़ै॥
सुरही चूषै बछ तलि, बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुणी भया, सारदूलहि मारै॥
भील लुक्या बन बीझ मैं, ससा सर मारै।
कहै कबीर ताहि गुर करों, जो या पदहि विचारै॥"

६. साधनामूलक पारिभाषिक शब्द . इसके साथ सिद्धों और योगियों से कबीर ने साधनामूलक पारिभाषिक शब्दों को यथावत् ग्रहण कर लिया है। षट्‌चक्र अनहदनाद, निरंजन, इंगला, पिंगला, सुषम्ना, वज्रा, गंगा, यमुना योगिनी, कैलाश सूर्य, चन्द्र, गौमांसभक्षण, वारुणीप्रान, सोमरस आदि शब्द कबीर ने यहीं से ग्रहण किये हैं। यथा—

"अवधू गगन मण्डल घर कीजे।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंकनालि रस पीजे।
मूल बांधि सर गगन समाना, सुषमन यो तन लागी।
काम-क्रोध दोऊ भया पलीता, तहां जोगिणी जागी॥"

हां! कुछ पारिभाषिक शब्दों का अर्थ कबीर-काव्य में आकर परिवर्तित हो गया है, जैसे 'सहज'—

"सहज-सहज सबहीं कहैं, सहज न चीन्हें कोय।
जिन सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोय॥

७. पुस्तकीय ज्ञान का परिहास—कबीर ने जो स्थान-स्थान पर पुस्तकीय ज्ञान की खिल्ली उड़ाई है, उसका कारण भी योगियों का प्रभाव है। गोरखनाथ ने "गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह" में पुस्तकीय ज्ञान वाले व्यक्ति को 'भारवाही गर्दभ' कहा है। कबीर ने अनेक स्थानों पर पुस्तकीय ज्ञान की खिल्ली उड़ाई है—

"पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
एकै आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥"

× × ×

"कबीर पढ़िबा दूरि करि, पोथी देय बहाय।
बावन आखर सोध कर, ररै ममै चित लाय॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्ध और नाथ-सम्प्रदाय ने पर्याप्त मात्रा में कबीर को प्रभावित किया है। हम कह सकते हैं कि कबीर ने सिद्धों और नाथों की परम्परा को सुसंस्कृत कर उसका विकास किया। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का भी कथन है—

"महात्मा कबीर तो नाम छोड़ और सब दृष्टियों से एक हिन्दू कवि ही थे जो उत्तर भारत के मध्ययुगीन हिन्दू धर्मोपदेशकों और ग्रन्थकारों तथा गोरखनाथ की सीधी परम्परा के एक महान् संत और भक्त थे।"

कबीर पर सिद्धों और नाथों के इस अत्यधिक प्रभाव के दो कारण विशेष हैं—प्रथम तो यह कि कबीर का जन्म ऐसी जुलाहा जाति में हुआ था जो कुछ समय पूर्व ही मुसलमान हुई थी, पहले से वह जाति नाथों की शिष्य परम्परा में थी। अतः स्वभावतः उसके अपने प्राचीन नाथपंथी संस्कार अवशिष्ट रह गये थे। द्वितीय कारण यह कि रामानन्द के समस्त शिष्यों ने जिनमें कबीर भी हैं, नाथों के बड़े-बड़े अखाड़ों को अपने अधीन करके उनके अनुयायियों को अपना शिष्य बनाया था—उन लोगों के सम्पर्क से इनमें भी कुछ न कुछ नाथपंथी संस्कार अवश्य आ गये।

सूफियों का प्रभाव

कबीर के समय में भारत में इस्लाम का अत्यधिक सुसंस्कृत संस्करण सूफी धर्म के रूप में आ गया था। कुछ विद्वानों का मत है कि सूफी साधना का किंचित् मात्र भी प्रभाव कबीर-काव्य पर नहीं पड़ा है। किन्तु कबीर जैसे सारग्राही महात्मा ने अवश्य ही सूफी-धर्म की अच्छी बातों को ग्रहण किया होगा—यह अनुमान सहज है। सूफी-धर्म का प्रभाव इसलिए भी कबीर पर पड़ा है क्योंकि वह भारतीय धर्म-साधना से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित था। गार्डड महोदय का मत है कि सूफी मत में "तीन-चौथाई बौद्धमत का प्रसाद है, तो एक-चौथाई यहूदियों का।"

श्री जे० सी० आर्चर का भी कथन है।

"Greek, Persian & the Buddhist waters have joined the streem of the mystic curernt in Islam"

अर्थात्—ग्रीक, फारसी, और बौद्धमत की धाराओं ने मिलकर इस्लाम के रहस्यवादी प्रवाह को जन्म दिया।

१. प्रेम-पीर—कबीर की प्रेम-पीर को बहुत से विद्वान् वैष्णव देन मानते हैं, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो कबीर में प्रेम-पीर की तीव्र और तीखी व्यंजना सूफी प्रभाव से ही है, यद्यपि कबीर को इस प्रेम की पीर में सूफियों की भाँति पल-पल में इल्हाम नहीं होता। डॉ० सरनामसिंह शर्मा जी का मत है—

"जो लोग यह कहते हैं कि कबीर ने सूफी प्रेम-साधना से कुछ नहीं लिया वे हाथी को देखकर भी उसमें अस्तित्व का निषेध करते हैं। ऐसी बात नहीं है कि कबीर ने परमात्मा के केवल प्रिय (पति) रूप को ही अंगीकार किया था, अपितु माता-पिता, गुरु, स्वामी आदि अनेक रूपों में उसको उन्होंने चित्रित किया है। सूफी

सम्प्रदाय में इन सब रूपों को स्वीकार करने की स्वतन्त्रता नहीं है। सूफियों में लिए परमात्मा 'माशूक' है, जीवात्मा 'आशिक' है और कबीर के दाम्पत्य सम्बन्ध के हरि, 'पीव' है और वे उनकी 'बहुरिया' हैं। पीव और बहुरिया के पीछे भारतीय दाम्पत्य जीवन की जो व्यंजना है, उसमें सूफी मान्यता का भी पुट है। यह ठीक है कि कबीर और हरि—जीव और परमात्मा—में जो पत्नी और पति का संबन्ध है, वह भारतीय भक्ति-परम्परा के अनुरूप है, किन्तु आश्रय और आलम्बन से सम्बन्धित आरोप भी स्पष्ट है। इस आरोप के लिए भारतीय भक्ति में कोई स्थान नहीं है। कृष्ण-भक्ति में ब्रज-गोपियों का कृष्ण से पत्नी-पति सम्बन्ध आरोप के लिए कोई स्थान नहीं देता। इसीलिए नारदीय-भक्ति सूत्र में भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि "सा तू परमप्रेमरूपा यथा ब्रजगोपिकानाम्" किन्तु सूफी प्रेम साधना का सारा महल ही इस आरोप के ऊपर खड़ा है।"

२. ब्रह्म की सौन्दर्य भावना—प्रेम की पीर पर सूफियों के प्रभाव के अतिरिक्त कबीर के ब्रह्म की सौन्दर्य भावना भी सूफीमत से प्रभावित है। यथा—

"पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनन्त।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत॥"

× × ×

"लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥"

किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कबीर पर सूफी मत का जो कुछ भी प्रभाव पड़ा है, वह इसलिए कि यह मत भारतीय परम्परानुकूल है। अतः कबीर पर सूफियों की उन्हीं बातों का प्रभाव पड़ सका है जो अद्वैत से मेल खाती हैं।

इस भाँति हम देखते हैं कि कबीर ने समस्त सारपूर्ण धार्मिक साधनाओं से कुछ न कुछ तत्व ग्रहण कर अपनी भक्ति का भव्य भवन स्थापित किया था। वस्तुतः आचार्यप्रवर क्षितिमोहन सेन जी के ये शब्द अक्षरशः सत्य हैं—

"कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहती, इसलिए वह ग्रहणशील है; वर्जनशील नहीं है, इसीलिए उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृति सब साधनाओं को जोर से पकड़ रखा है।"

वस्तुतः कबीर ने मधुमक्खी के समान अपने समय में विद्यमान समस्त धर्म-साधनाओं और निजी के योग से अपनी भक्ति का ऐसा छत्ता तैयार किया है, जिसका मधु अमृतोपम है, जिसका पान कर भारतीय जन-मानस कृत-कृत्य हो उठा है। यह मधु अक्षुण्ण है, युगों से भारतीय इसकी मधुरिमा का रसास्वादन कर रहे हैं।

---

१. कबीर की विचारधारा"—पृ० १७९।

: २ :

कबीर की भक्ति-पद्धति

कबीर की भक्ति ने भारतीय जन-मानस को उस समय अवलम्बन प्रदान किया था जब वह सिद्धों और योगियों की गुह्यसाधना से ऊब रही थी। कबीरकालीन परिस्थितियों में धार्मिक अवस्था का अवलोकन करते समय हम देख चुके हैं कि उस समय प्रचलित नाना धर्म-साधनाएँ किस प्रकार जनता को भूलभुलैया में डाल रही थीं। इस महान् सन्त ने अपनी प्रेमाभक्ति का ऐसा सबल और दृढ़ अवलम्बन धर्म-प्राण जनता को प्रदान किया कि वह राम-रस में भाव-विह्वल हो डूब उठी। यद्यपि कबीर से पूर्व रामानन्द ने भी भक्ति की ऐसी ही भावपूर्ण धारा बहाई थी, किन्तु उसका प्रसार सीमित क्षेत्र तक ही रहा। रामानन्द को

'भक्ति द्राविण ऊपजी, लाये रामानन्द।'

का श्रेय तो अवश्य प्राप्त है, किन्तु उसका व्यापक प्रसार और प्रचार कबीर के द्वारा ही हुआ। उसे 'सप्त द्वीप नवखण्ड' में कबीर ने ही प्रकट किया था।

भक्ति का स्वरूप

कबीर की भक्ति पर वैष्णव-विचारधारा का आंशिक प्रभाव पड़ा है। कबीर पर पड़ने वाले आध्यात्मिक प्रभावों में इसका विश्लेषण किया जा चुका है। कबीर की भक्ति के विवेचन से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि हम यह देखें कि भारतीय भक्ति का स्वरूप किस प्रकार वर्णित है। आचार्यों ने इनकी व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। रामानुजाचार्य जी ने 'ब्रह्मसूत्र' का भाष्य प्रस्तुत करते हुए भक्ति की व्याख्या में कहा है—

ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते।"

परमात्मा के निरन्तर स्मरण को ही भक्ति कहते हैं।

व्यास ने इसकी व्याख्या में कहा है कि प्रणिधान वह भक्ति है, जिसके द्वारा परमेश्वर उस योगी पर कृपा दृष्टि करते हैं तथा उसकी इच्छाओं की पूर्ति निमित्त उसे वरदान देते हैं—

"प्राणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रण ···।"

—पातञ्जल दर्शन, प्रथम अध्याय, व्यासभाष्य।

पतञ्जलि के इसी 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' सूत्र की व्याख्या में भोज ने भक्ति का स्वरूप समझाया है, वह वल्लभ के पुष्टि समर्पण के अत्यन्त निकट है। उनका कथन

है कि प्रणिधान वह भक्ति है जिसमें इन्द्रिय-भोगादिक सम्पूर्ण फलाकांक्षाओं का त्याग करके सब कर्म उस परम गुरु परमात्मा को समर्पित कर दिए जाते हैं—

"प्राणिधानं तत्र भक्ति-विशेषो विशिष्टमुपासनं सर्वक्रियाणामपि।
विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन् गुरावर्पयति ॥"

—पातञ्जल दर्शन, प्रथम अध्याय, भोजवृत्ति।

भक्ति की अत्यन्त सुन्दर व्याख्या भक्तराज प्रह्लाद ने की है। उनका कथन है कि जैसी तीव्रासक्ति अविवेकी पुरुष को इन्द्रिय-विषयों में होती है, उसी प्रकार आसक्ति आपका (प्रभु का) स्मरण करते समय मेरे हृदय से निकल न जाए—

"या प्रीतिरविवेकाना विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥"

—विष्णुपुराण, १, २०, : १९।

नारद भक्ति सूत्रान्तर्गत भक्ति की महिमा बताते हुए कहा है—

"सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।"

वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति प्रेमरूप है एवं साथ ही—

"अमृतस्वरूपा च।"

वह अमृत-स्वरूप भी है। उसका स्वरूप-विश्लेषण नारद ने इस प्रकार किया है—

"तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।"

पाराशर, ने उसको विधि-विहित कर्मों में सीमित करते हुए भी अनुरागपूर्ण माना है—

"पूजादिष्वनुरागः।"

शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र में उसे परा कोटि की मानते हुए ईश्वर के प्रति परम अनुरागरूप, माना है—

"सा परानुरक्तिरीश्वरे।"

भक्ति के भेद

नारद ने भक्ति के दो रूप माने हैं—

१. प्रेमरूपा, २. गौणी।

प्रेमरूपा भक्ति के उन्होंने दो भेद किये हैं। प्रथम 'कामरूपा'—जिसमें एक ही भाव की प्रधानता रहती है जैसी गोपियों की कृष्ण में। द्वितीय 'सम्बन्धरूपा' जिसमें दास्य, सख्य, वात्सल्य, आत्मनिवेदनादि भाव आते हैं। क़बीर की भक्ति में यद्यपि प्रधानता 'कामरूपा' की ही है, किन्तु सम्बन्धरूपा के भी उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं—

"कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ॥"

—दास्यासक्ति।

× × ×

"मोरे घर आये राम भरतार।
तन रति कर मैं मन रति करिहौं, पाँचों तत्व बराती।
रामदेव मोहे व्याहन आये, मैं जोवत मदमाती॥"

—कांतासक्ति।

× × ×

"हरि जननी मैं बालक तोरा।
काहि न अवगुन बकसहु मोरा।"

—वात्सल्यासक्ति।

इसी भाँति अन्य आसक्तियों के भी उदाहरण कबीर में प्राप्त होते हैं।

प्रेमरूपा भक्ति को तीन वर्गों में रखा गया है—

१. गौण—जो सांसारिकता के समीप है।

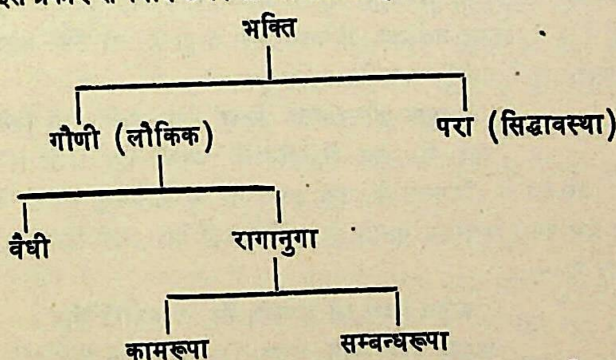
२. मुख्य—प्रेम-प्रमुख पर जगत् के प्रति उदासीन नहीं।

३. अनन्य—स्पृहारहित, ज्ञान, कर्म आदि से ऊपर आराध्य में लीन रहना।

कबीर की भक्ति इस वर्ग विभाग में 'अनन्य' कोटि में आती है, क्योंकि वहाँ 'सब तज, हरि भजन' की ही भावना है।

गौणी के भी नारद ने तीन भेद किये हैं—सात्विकी, राजसी एवं तामसी। कबीर की भक्ति सात्विकी कोटि में आती है।

चैतन्य सम्प्रदाय में भी भक्ति का लगभग इसी प्रकार का विभाजन किया गया है। उसे इस प्रकार से निर्दिष्ट किया जा सकता है।



इस विभाजन में कबीर की भक्ति 'परा'—सिद्धावस्था के अन्तर्गत आती है।

निर्गुण ब्रह्म—कबीर ने अपनी भक्ति में जिस आराध्य का वर्णन किया है वह उपनिषदों की अद्वैती भावना के प्रभाव से प्रभावित है। कबीर की ब्रह्मभावना यद्यपि अधिकांशतः अद्वैती है, किन्तु कहीं-कहीं अद्वैत से भिन्न है। इसका कारण यह है कि कबीर किसी सिद्धान्त के अनुयायी या प्रस्थापक नहीं। उन्होंने ब्रह्म का जो कुछ भी वर्णन किया है वह अनुभव के आधार पर किया है। कबीर प्रथम साधक हैं, और

वाद में कवि। अतः भक्ति-साधना में जिस-जिस रूप में ये ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार करते जाते हैं, उसी-उसी रूप में उसे बताते हैं। वे कविता के माध्यम में 'निज ब्रह्म-विचार—'आतम साधना' को व्यक्त करते हैं। यही कारण है कि कबीर के ब्रह्म का स्वरूप हमारे सम्मुख कभी किसी रूप में तो कभी किसी रूप में आता है। ब्रह्म के स्वरूप-परिवर्तन का वास्तविक कारण यही है कि वह किसी भी दार्शनिकवाद के मानदण्ड से परे है, तार्किक विवाद से ऊपर है, पुस्तकीय विद्या से अगम्य पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भावित है।

डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में—

"वह ऐसा गुलाब है जो किसी बाग में नहीं लगाया जा सकता, केवल उसकी सुगन्ध ही पाई जा सकती है। वह ऐसी सरिता है कि हम उसे किसी प्रशस्त वन में नहीं देख सकते, वरन् उसे कलकल नाद करते हुए ही सुन सकते हैं।"

अनुभूति के विविध स्तरों के द्वारा ही वह कहीं अद्वैत है और कहीं द्वैताद्वैत, कहीं विशिष्टाद्वैत, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अधिकांशतः कबीर ने अद्वैती भावनानुकूल उस ब्रह्म का वर्णन किया है। जब कबीर कहते है—

"कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूँढै बन माँहि।
ऐसे घट घट राम है, दुनियां देखै नाँहि॥"

× × ×

"मृगा पास कस्तूरी बास, आप न खोजै खोजै घास।"

तो वे ईश्वर की अद्वैत सत्ता को स्वीकार करते हैं। वास्तव में उनका प्रभु रोम-प्रतिरोम और सृष्टि के कण-कण में परिव्याप्त है। वह हृदयस्थ होते हुए भी दूर दिखाई देता है, किन्तु जब वह प्रियतम पास में ही है तो उसे संदेश भेजने की क्या आवश्यकता है? इसीलिए कबीर कहते हैं—

"प्रियतम को पतिया लिखूं, जो कहीं होय विदेस।
तन में, मन में, नैन में, ताको कहा संदेस॥"

वास्तव में प्रियतम के इस प्रकार के संदेश-प्रेषण को तो वे दिखावा-मात्र, कृत्रिम प्रेम का परिचायक मानते हैं, क्योंकि जहाँ देखो, वहीं उस ईश्वर-प्रिय की सत्ता विद्यमान है—

"कागद लिखै सो कागदी, कि व्यवहारी जीव।
आतम दृष्टि कहा लिखै, जित देखै तित पीव॥"

कबीर ने उस ब्रह्म की स्थिति सर्वत्र उसी भाँति मानी है जिस प्रकार अद्वैत भावना के पोषक प्रतिबिम्बवाद में। हमारा कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि कबीर ने अद्वैती भावना का अनुगमन कर प्रतिबिम्बवाद को भी अपने काव्य में प्रयुक्त किया, वे तो उस ईश्वर की सर्वव्यापकता को अनुभव करते थे। इसीलिए उन्होंने कहा था।

"ज्यूं जल में प्रतिबिम्ब, त्यूं सकल रामहि जानीजै।"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति का आलम्बन अद्वैती भावनानुकूल है। निम्नस्थ प्रसिद्ध साखी तो उन्हें एकदम अद्वैती सिद्ध कर देती है—

"जल मैं कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, इहि तथ कथ्यौ ग्यानी॥"

अद्वैतवादी भावना के साथ यह पूर्ण स्पष्ट है कि उनका ब्रह्म निर्गुण, निराकार है—

"जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूप सुरूप।
पुहुप बास ते पातरा ऐसा तत्व अनूप॥"

किन्तु जब वे इस ब्रह्म को समस्त संसार को बनाने वाला, बिगाड़ने वाला मानते हैं तो निर्गुण का अस्तित्व प्रश्नसूचक चिह्न के साथ रखना पड़ता है।

"सात समुद्र की मसी करूं, लेखनी सब बनराइ।
सब धरती कागद करूं प्रभु गुण लिखा न जाइ॥"

जिस ईश्वर के गुणों का इतना विस्तार है, यह निरुपाधि, निर्विषय, निर्गुण कैसे रहा? इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो यह निरुपाधि ब्रह्म सोपाधि, सविशेष, सगुण एवं साकार तथा वैष्णवों के समान अवतारी हुआ जान पड़ता है। यथा—

"पंडिता मन रंजिता, भगति हेति त्यौं लाइ रे।
प्रेम प्रीति गोपाल भजि नरं, और कारण जाइ रे।
दाम छै पणि काम नाही, ग्यान छै पणि धंध रे।
श्रवण छै पणि सुरति नाहीं नैन छै पणि अंघ रे।
जाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गंग तरंग।
कहै कबीर हरि भगति बाँछू, जगत गुर गोब्यंद रे॥"

भला निर्गुण-निराकार की नाभि से ब्रह्मा और चरणों से गंगा निकलने की क्या संगति? वास्तव में ऐसे कथन कबीर ने भक्ति की झोंक में ही कहे हैं और इन स्थलों पर उन्हें सूर-तुलसी आदि भक्तों की कोटि से अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में उनके निराकार ब्रह्म का अर्थ निर्विषय कदापि नहीं, इसीलिए कबीर के न चाहते हुए भी उसमें गुणों का आरोप स्वतः हो गया है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने भी स्वीकार किया है—

कबीरदास के निर्गुण ब्रह्म में गुण का अर्थ सत्व, रज, आदि गुण हैं, इसलिए निर्गुण ब्रह्म का अर्थ वे निराकार, निस्सीम आदि समझते हैं, निर्विषय नहीं।"

२. साकार ब्रह्म—कबीर की निर्गुण-भक्ति में 'साकार' ब्रह्म के जो तत्व आ गये हैं उनके विषय में यही कहा जा सकता है कि वे कोरे तीव्र भक्ति-भाव के ही द्योतक नहीं, अपितु जन-मन में 'साकार' स्वरूप की जो उपासना प्रचलित थी, उसका पूर्ण विरोध करते हुए भी कबीर स्वयं कहीं-कहीं उसके प्रभाव से बच नहीं पाये हैं। वास्तव में लोक-प्रचलित परम्परा का पूर्ण बहिष्कार सम्भव भी नहीं है।

शुक्ल जी ने कबीर में केवल शुष्क ज्ञान ही माना है, इसीलिए उन्होंने सन्तों

का पृथक् वर्ग कर उसे 'ज्ञानमार्गी' नाम दिया है, किन्तु वास्तविकता इस मान्यता से कोसों दूर है। कबीर की भक्ति में, और विशेष रूप से उस स्थल पर, जहाँ उनकी आत्मा अपने प्रिय से विरहिणी रूप में आत्म-निवेदन करती है, भावों की सरसतम विधि प्राप्त होती है। यथा --

"फाड़ि पुटौला धज करों, कामड़िली पहिराऊँ।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराऊँ॥"

वास्तव में रामानन्द के द्वारा उन्हें राम की ऐसी मधुरा भक्ति प्राप्त हुई, जिसकी सरसता निस्संदेह विस्मय की वस्तु है। इन्हीं को पाकर कबीर 'वीर' हो गये – सबसे अलग, सबसे ऊपर, सबसे विलक्षण, सबसे सरस, सबसे तेज।[1]

३. मुक्ति—कबीर ने भक्ति को मुक्ति का एकमात्र साधन माना है, स्थान-स्थान पर भक्ति की महत्ता उन्होंने प्रतिपादित की है—

"भक्ति नसैंनी मुक्ति की।"

× × ×

"क्या जप क्या तप क्या संजम क्या व्रत और क्या अस्नान।
जब लगि जुगत न जानिये, भाव भक्ति भगवान॥"

मुक्ति के साथ-साथ संसार के दुःख-शमन का भी साधन प्रभु-भक्ति ही है—

"भाव भगति बिसवास बिन, कटै न संसै मूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुकति नहीं रे मूल॥"

४. सती और शूर - कबीर के भगवत्-प्रेम के आदर्श दो ही हैं—'सती' और 'शूर'। सती के आदर्श चुनने में एक तो प्रेम की अनन्यता प्रकट होती है, दूसरे भक्त भगवान् के अधिक निकट आ जाता है। वास्तव में 'सती' भाव का आचरण करने पर भक्त तो अपने गुरुतर कर्त्तव्य से मुक्त हो जाता है और उत्तरदायित्व प्रभु पर आ जाता है —

"उस समरथ का दास हौं, कदे न होइ अकाज।
पतिव्रता नांगी रहै, तो उस ही पुरुष की लाज॥"

शूरवीर का आदर्श इसलिए अपनाया गया है कि वास्तव में साधना-मार्ग में जीवन की कठिनता, साहस और लक्ष्य के लिए दत्तचित्त होने की आवश्यकता शूर के ही समान है, जिस भाँति शूरवीर युद्ध-क्षेत्र में लोहे की करारी मार के सम्मुख भी तिलभर भी नहीं मुड़ता और प्राणोत्सर्ग कर अपने कर्त्तव्य की रक्षा करता है, वही स्थिति सच्चे भक्त के लिए आवश्यक है। शूरवीर और सच्चे भक्त की एकमात्र कसौटी यही है—

"सूरा तबही परषिये, लड़ै धनी के हेत।
पुरिजा पुरिजा ह्वै पड़ै, तऊ न छाडै खेत॥"

---

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

संसार जिस मृत्यु से भय खाता है शूर और भक्त उसी का अभिनन्दन हँसते-हँसते अपने लक्ष्य के लिए कर लेते हैं—

"जिस मरनै थें जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरहूँ कब देखहूँ, पूरन परमानन्द॥"

५. अनन्य भाव – ये दोनों आदर्श ही कबीर की भक्ति की अनन्यता में सहायता पहुँचाते हैं। कबीर ने भी अपने आराध्य के लिए अपना सर्वस्व 'मार्जार शिशु-न्यायवत्' कर दिया है। सर्वस्व समर्पण के साथ-साथ अपने अस्तित्व को साध्य में लीन करने की उत्कृष्ट भावना कबीर में परिलक्षित होती है। यही कारण है कि वे ईश्वर के गुलाम बननें में भी नहीं हिचकते—

"मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं।
तन मन धन मेरा राम जी के ताईं॥"

इससे भी आगे बढ़कर वे अपने को मानव छोड़ते ही नहीं, ईश्वर-सामीप्य और सर्वदा एकमेव रहने की कामना ही उनसे यह कहलाती है—

"कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाऊँ।
गले राम की जेवड़ी जित खैंचें तित जाऊँ॥"

इस पद पर झूमकर हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है—

"निरीह सारल्य का यह चरम दृष्टान्त है, आत्मसमर्पण की यह हद है। इतने पर भी मन को प्रतीति नहीं होती कि यह प्रेम रस पर्याप्त है। क्या जाने उस प्रियतम को कौन सा ढंग पसन्द हो, कौन सी वेशभूषा रुचिकर हो। हाय उस अजब मस्ताने प्रिय का समागम कैसा होता होगा?

६. विरह—विरह भी कबीर की भक्ति-पद्धति का प्रमुख अंग है। प्रियतम के विषय में वे कहते हैं—

"मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग।
क्या जाणों उस पीव सूं कैसी रहसी रंग॥"

ऐसे अद्‌भुत प्रियतम को जब आत्मा नहीं पाती तो उसके वियोग में खूब तड़पती है। कबीर-काव्य की यह तड़पन मीन से कम नहीं। जब से गुरु ने उस परमात्मा का ज्ञान कराया तब ही से भक्त उसके लिए आकुल-व्याकुल है—

"गूंगा हुआ बावला, बहरा हुआ कान।
पाऊँ थै पंगुल भया, सतगुरु मारा बान॥"

उस प्रिय के वियोग में प्रियतम का हृदय अहर्निश छटपटाता रहता है—

"तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहीं चैन, रात नहीं निंदिया, तलफ तलफ कै भोर किया॥"

कबीर की भक्तात्मा ने इस विरह का जो वर्णन किया है, वह इतना स्वाभाविक और मार्मिक है कि लगता है कि कबीर का कबीरत्व, पौरुषत्व यहाँ समाप्त हो गया है, और उनकी आत्मा ने स्त्री रूप में प्रियतम के लिए ये शब्द कहे

हैं। प्रिय से संदेश पाने के लिए आत्मा इस भाँति छटपटाती है मानो यदि उसे अभीष्ट प्राप्ति न हुई तो न जाने क्या होगा—

"बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कह पीव का कबर मिलेंगे आइ॥"

वह केवल मात्र भेंट की इच्छुक है। भक्तात्मा का प्रभु-दर्शन के अतिरिक्त और कुछ प्रयोजन ही नहीं, इसलिए वह यह न पूछकर कि प्रिय कुशल हैं अथवा नहीं, मुझे भी याद करते हैं या नहीं—केवल यही कहती है—

'एक सबद कह पीव का, कबर मिलेंगे आइ।'

जो यह भी ध्वनित करती है कि और काम को तो छोड़ पथिक, पहले यही बता कि वे कब आयेंगे। किन्तु शीघ्र ही भक्त इस कल्पना-जगत् से नीचे उतर इस वास्तविकता पर आता है—

"आइ न सकौं तुझ पैं, सकूं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ॥"

इस दूरी के व्यवधान को दूर करना तो भक्त की सामर्थ्य से बाहर है, किन्तु प्रिय से मिलना फिर भी चाहता है। इसीलिए कहता है—

"यहु तन जारौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करूं करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ॥"

किन्तु बेचारा भक्त इस विरहाग्नि में भी कहाँ तक जले, जब उसका दुःख सहन शक्ति की सीमा से बाहर हो उठता है, जब भक्त का हृदय प्रिय वियोग में टूक-टूक हुआ जाता है तब विवश हो उसे ईश्वर को आक्रोश-पूर्ण यह ताना देना पड़ता है—

"कै बिरहणि कूं मीच दै, कै आपा दिखलाय।
आठ पहर का दाझणा, मो पै सहा न जाय॥"

वास्तव में यह प्रेम का चरमोत्कर्ष है जो प्रभु-प्रियतम के अभाव में भी आत्मा-परमात्मा, भक्त-भगवान् के अटूट प्रेम की उद्घोषणा कर रहा है। उनकी इस प्रेम-भावना का विवेचन करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है—

"इस प्रेम में मादकता नहीं है, पर मस्ती है। कर्कशता नहीं है, पर कठोरता है। असंयम नहीं है पर स्वाधीनता है। अन्धानुकरण नहीं है, पर विश्वास है, उजड़ता नहीं है, पर अक्खड़ता है। इसकी प्रचंडता सरलता का परिणाम है, उग्रता विश्वास का फल है, तीव्रता आत्मानुभूति का विवर्त है।"

७. निष्काम भाव—यदि कबीर को प्रभु की प्राप्ति भी हो जाय तो उससे वे कोई कामना सिद्धि की बात नहीं सोचते। उनकी एकमात्र कामना है—

"नैनन की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारिकै, पिय कूं लेऊँ रिझाय॥"

या दूसरी कामना है—

"नैना अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झपेउं।
ना मैं देखूं और कूं, ना तुम देखन देऊं॥"

भक्ति में कामना के तो कबीर घोर विरोधी थे, तभी तो उन्होंने कहा था—

"जब लगि भगति सकामता तब लगि निष्फल सेव।"

इसलिए अन्त समय तक उस प्रभु की भक्ति करने, नाम जपने का उपदेश उन्होंने दिया था—

"कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी, सोवैंगा दिन राति॥"

कबीर की इस भक्ति में ज्ञान—पुस्तकीय ज्ञान—का कोई महत्व नहीं क्योंकि उनका विश्वास है कि ईश्वर में अटूट लय ही मुक्ति के लिए पर्याप्त है, ज्ञान तो संसार की गुत्थी में उलझा देता है। भक्त के लिए इतना ही ज्ञान पर्याप्त है कि वह विषय-वासनाओं से मुक्त हो ईश्वर-भजन करे—

"पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
एकै आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥"

इसी भाँति—

"कबीर पढ़िवा दूर कर, पोथी देय बहाय।
बावन आषर सोध कर, रमै ममैं चित लाय॥"

८. साधन—कबीर ने भक्ति के द्वार प्रत्येक के लिए खोलकर सबको उसका अधिकारी बताया। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि में किसी भी भाँति का भेदभाव नहीं, क्योंकि सबकी रचना उन्हीं पाँच तत्वों से हुई है, सबका स्रष्टा पिता परमात्मा एक ही है—

"जाँति पाँति पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥"

इस भक्ति के द्वार खुले हुए तो सबके लिए हैं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति भक्ति की प्राप्ति नहीं कर सकता, इसका कारण साधना-भक्ति का मार्ग 'खाँडे की धार पर चलना ही है।' साधना की इस विषमता का वर्णन कबीर ने स्थान-स्थान पर किया है—

"गुरु भक्ति अति कठिन है, ज्यों खांडे की धार।
बिना सांच पहुँचे नहीं, महाकठिन ब्यौहार॥"

इस भक्ति-साधना के लिए तो साधक को जीवन न्यौछावर करने के लिए शीश उतारकर हथेली पर रखना पड़ता है—

बागड़ देस लूवन का घर है तहाँ जिनि जाई दाहन का डर है।
सब जग देखौं कोई न धीरा, परस धूरि सिरि कहत कबीरा।

न तहां सरवर न तहाँ पाणी, न तहां सतगुर साधू वाणी।
न तहाँ कोकिल न तहाँ सूवा, ऊंचै चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा।

देस मालवा गहर गंभीर, डग-डग रोटी पग-पग नीर।
कहै 'कबीर' घर ही मनमाना, गूंगे का गुड़ गूंगे जाना।"

भक्तिमार्ग में आने वाली जिन बाधाओं का वर्णन कबीर ने किया है उनमें 'कनक' और 'कामिनी' प्रमुख हैं। इन्हें तो कबीर 'दुर्गम घाटी दोय' बताते हैं। इनके अतिरिक्त कुल, कुसंग, लोभ, मान, कपट, आशा और तृष्णा आदि। वस्तुतः यह सब मन द्वारा ही प्रस्तुत होते हैं क्योंकि यह सब मायाजाल मनःसृष्टि के अतिरिक्त कुछ नहीं। इसलिए कबीर ने मनःसाधना पर बड़ा बल दिया है—

"काया कसूं कमाण ज्यूं, पचतत्त करि बाण।
मारौं तो मन मृग को, नहीं तो मिथ्या जाण॥"

कबीर ने अपनी भक्ति के ३ प्रमुख सहायक साधन बताये हैं—

१. मानव शरीर, २. गुरु, ३. सत्संग।

८४ लक्ष योनियों में मानव शरीर ही एकमात्र ऐसा है जिसमें प्रभु-भक्ति का अवसर है। यदि इसे भी विषयानन्द में गँवा दिया तो फिर पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता—

"कबीरा हरि की भक्ति करु, तजि विषया रस चौज।
बार-बार न पाइं है, मानुस जन्म की मौज॥"

भक्ति-मार्ग पर तो एकमात्र मार्ग-दर्शक गुरु ही हैं. गुरु के बिना तो भक्ति सम्भव नहीं—

"सतगुरु की महिमा अनत, अनत किया उपकार।
लोचन अनत उघाड़िया, अनत दिखावन हार॥

साधु-संगति की महिमा अपार है। भक्ति का तो वह आवश्यक अंग है। इसे कबीर ने स्वर्ग से भी अधिक महत्व प्रदान किया है—

"राम-बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधु-संग में, सो बैकुंठ न होय॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की भक्ति पीयूष-सलिला भागीरथी के समान पावन है जिसके पुनीत कूलों पर न जाने कितनों के भटकते मन-कुरंगों को विश्रान्ति मिली है।

: ३ :

कबीर-काव्य का साहित्यिक सौन्दर्य

कविता कबीर का लक्ष्य नहीं था, अपितु साधन था। वे अपने विचारों को नैसर्गिक अभिव्यक्ति दिया करते थे जिससे वे जनग्राह्य हो सकें। उन्होंने अपने मन में उदित होने वाले भावों को वाणी का विषय बनाया जिसे उनके शिष्यों ने कागज पर अंकित कर दिया। आज हम उसी आत्मानुभूत वाणी को काव्य की सर्वोत्तम निधि मानते हैं—

"यह जनि जानो गीत है, यह निज ब्रह्म विचार,
केवल कहि समझाइया, आतम साधन रे॥"

मध्य-युग के इस महान फक्कड़ संत को कभी यह आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई कि वे अपनी विचारावली को पहले साज-सँवार लें, तब अभिव्यक्ति दें। उन्हें तो केवल अपनी बात दूसरों तक पहुँचानी थी और जितने प्रभावशाली रूप में उन्हें अपनी इस लक्ष्य-पूर्ति में सहायता मिली है, वस्तुतः 'मसि कागद' से अपरिचित व्यक्ति के लिए वह आश्चर्य की वस्तु है। कबीर-काव्य की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि उसकी प्रेषणीयता है। इस सम्प्रेषणीयता के लिए उन्होंने शब्दों को तोला-सँवारा नहीं, अपितु ढपली पर जो शब्द जिस रूप में निकल गया ठीक था।

१. स्वतः स्फुटित—कबीर-काव्य का सौंदर्य उस वन्य-सरिता के समान है जिसका मार्ग पहले से बनाया हुआ नहीं होता, अपितु वह तो गिरिराज की गोद से निकल कल-कल छल-छल करती जिधर उचित समझती है, वह चलती है और उसका वही मार्ग सर्वाधिक मनोरम एवं उपयुक्त होता है। किसी बँधी-बँधाई लीक पर चलना इस सरिता के लिए असम्भव और स्वभाव विरुद्ध होता है। मनुष्य इस नाना रूपात्मक सृष्टि में विविध क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं देखता है। इस निरीक्षण से उसके मन पर जो प्रभाव पड़ते हैं, जो अनुभव उसे होता है उसे सर्वसुलभ बनाने के लिए जो अभिव्यक्ति दी जाती है वह काव्य है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि नाना रूपात्मक सृष्टि के विविध अनुभवों को जब कवि-आत्मा व्यक्ति की सीमा से निकालकर समष्टि तक पहुंचाना चाहती है तभी काव्य की सृष्टि होती है। कबीर का काव्य भी इसी प्रकृत भावना का सहज परिणाम है, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कबीर-काव्य का सर्वाधिक विशिष्टता और अनूठापन उसकी सहजता और स्वाभाविकता में

है। अपने चतुर्दिक वातावरण में आत्मा की प्रकृत पुकार से उद्भूत यह काव्य इसी प्रकार से फूटा है जैसे पर्वत के हृदय से अनजाने ही रसस्रोत निर्झर फूट पड़ते हैं। कबीर का काव्य भी आत्मा की अन्तःप्रेरणा से फूटा है, किसी बाहरी दवाव से नहीं।

कबीर की कवित्व-प्रेरणा किसी स्थल विशेष पर नहीं, अपितु सृष्टि के कण-कण में विद्यमान थी। बाह्य जगत् ने कबीर-काव्य को मुख्यतः दो धाराएँ प्रदान कीं में समस्त कबीर साहित्य की परिधि में परिव्याप्त हैं। प्रथम समाज की कुरीतियों और आडम्बरों पर तीव्र प्रहार द्वारा सत्य तत्व का उद्घाटन एवं द्वितीय वही जिसकी खोज में सृष्टि का कण-कण आकुल-व्याकुल है—

"महानील इस परम व्योम में, अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते से संधान॥

यहाँ यह तात्पर्य कदापि नहीं कि कबीर की रहस्य-भावना, परम तत्व के लिए व्याकुल प्रकृति प्रसूत है, अपितु हमारा मन्तव्य यही है कि सृष्टि के अन्य तत्वों की भाँति कबीर की आत्मा भी प्रियतम के वियोग में विरहिणी तुल्य आत्म-क्रन्दन के साथ छटपटायी है। वे 'कुरंग' की वन-वन भटकने पर भी अभीष्ट प्राप्ति की निष्फलता से परिचित हो उसे स्वयं' की ही परिधि में खोजते हैं। खण्डन-मण्डन द्वारा सत्य तत्वोद्घाटन एवं प्रिय की खोज यही दो भावनाएँ कबीर-काव्य के इस छोर से लेकर उस छोर तक फैली दिखाई देती हैं।

२. रहस्यमयी भाव कबीर के रहस्यवादी पदों में तो काव्य की उच्चतम निधि प्राप्त होती है। विरहिणी के विकल प्राणों की पुकार उसकी अन्तर-व्यथा की मर्मभेदी हूक, भावनाओं का वह आवेश-प्रवेश सब-कुछ बड़ा मनोहारी बन पड़ा है—

"नैननि की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकनु की चिक डारिकै, पिय को लेऊं रिझाय॥

प्राणाधिक प्रियतम के लिए इससे सुन्दर आवास दूसरा हो ही नहीं सकता, आधुनिक शीतवातानुकूल भवन भी इस व्यवस्था के आगे तुच्छ हैं। यहाँ प्रिय की प्रतीक्षा करते-करते विरहिणी की भावना जितनी मार्मिक हो गई है उसकी अभिव्यक्ति के लिए कल्पना उतनी ही अधिक सजीली। अपनी असह्य वेदना का वर्णन करते हुए कबीर ने लिखा है—

"आँखड़िया झाई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़िया छाला पड्या, राम पुकारि-पुकारि।"

क्या "निसदिन बरसत नैन हमारे, सदा रहत पावस ऋतु हम पर जबतैं स्याम सिधारे।" में वेदना की इतनी तीव्रानुभूति है? यहाँ तो प्रतीक्षा की अवधि आँखों में झाईं पड़ने एवं जीभ में छाले पड़ने से अनन्त दिखाई देती है। साथ ही इस साखी से यह भी ध्वनित है कि आँखों को कोई कार्य था तो प्रिय का पंथ निहारना और जिह्वा को कोई कार्य था तो प्रिय का नाम रटना। प्रिय पर तन, मन, धन, सर्वस्व अर्पण करने की और प्रीति की एकतानता की इससे सुन्दर अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

प्रेमदीवानी मीरा में जो प्रेम की कसक, प्रेम-पीर से आहत जायसी में जो प्रेम की चीत्कार है वह सब कबीर की व्यथा, तल्लीनता, बेचैनी, कसक, पीड़ा के सामने तुच्छ जान पड़ता है। उनमें ऐसी व्यग्रता कहाँ—

"बिरहनि ऊभी पंथ सिर, पंथी बूझै धाय।
एक सबद कह पीव का, कबर मिलेंगे आय॥"

इस विरहिणी की व्यथा का उपचारक कोई नहीं—

"कबिरा बैद बुलाइया, पकरि कै देखी बाँहि।
बैद न बेदन जानई, करक कलेजे माँहि॥"

क्या मीरा में उसकी अनुकृति होने पर भी ऐसी 'करक' है ? महादेवी चाहे शत-सहस्र बार प्राणों में पीड़ा को पालें, किन्तु इस रामदीवाने की तुलना नहीं कर सकी। प्रिय-दर्शन के लिए व्याकुल कबीर की आत्मा जो-जो उपक्रम करने को प्रस्तुत है, वे भी दर्शनीय हैं—

"फाड़ि पुटोला धज करों, कहौ तो कामणियां पहराउं।
जिहि-जिहि भेषा हरि मिलें, सोई सोई भेष धराउं॥"

यहाँ समाज के मिथ्याचारों पर निश्शंक होकर करारी चोट करने वाले सन्त का अखक्कड़ और फक्कड़ व्यक्तित्व नारी से भी अधिक कोमलता धारण कर प्रिय की प्रेम भावना पर सर्वस्व न्यौछावर करने को आतुर है। उनका विरह-काव्य हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ विरही कवियों—सूर, मीरा, घनानन्द, 'प्रसाद' आदि—की कोटि में निस्सं-कोच भाव से रखा जा सकता है।

३. मिलन चित्र अपने आध्यात्मिक मिलन के जो चित्र कबीर ने प्रस्तुत किए हैं, वे भी अनुपम हैं। ब्रह्म-दर्शन के अनुभव को अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि वह अपरूप साधना में एकाध क्षण के लिए अपनी ऐसी अलौकिक छटा दिखाता है कि साधक उसके स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकता। तभी तो ईश्वर को अनिर्वचनीय और 'गूंग केरी शर्करा' के स्वाद के समान माना गया है। ऋषियों ने भी उसे 'मूका-स्वादनवत् कहकर' छोड़ दिया; किन्तु कबीर विविध प्रतीकों द्वारा उसी अवर्णनीय तत्व की सत्ता को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करते हैं—

"एक कहूँ तो है नहीं, दो कहूँ तो गारी।
है जैसा तैसा रहे, कहै कबीर बिचारी॥"

× × ×

"हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराई।
बूंद समानी समुद्र में, सो कत हेरी जाई॥"

क्या आज का प्रयोगवादी कवि अवचेतन मन के उलझे भावखण्डों को व्यक्त करने में इतना सफल हो पाया है ?

प्रिय के साक्षात्कार-पूर्व की मनःस्थिति का भी अद्भुत वर्णन कबीर ने प्रथम समागम से भयभीत नायिका के समान किया है—

'रैनि गई मति दिन भी जाइ, भँवर उड़े बग बैठे आइ।
काँचै करवै रहै न पानी, हंस उड़या काया कुमिलानी।
थरहर थरहर काँपै जीव, नां जानूं का करिहै पीव।
कौवा उड़ावत मेरी बहियाँ पिरानीं,
कहै कबीर मेरी कथा सिरानी॥"

रेखांकित अंश की प्रथम पंक्ति में जहां शरीर के सात्विक अनुभावों की संयुक्त अभिव्यक्ति द्वारा मनोभाव की अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ दूसरी पंक्ति में स्त्री-सुलभ शकुन-विश्वास द्वारा प्रियागम की मंगल आशा भी प्राप्त होती है। कहीं-कहीं 'वासकसज्जा' के हृदय की आतुरता के दर्शन भी कबीर में प्राप्त होते हैं—

"वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिवौ अंग लगाइ॥
हौं जानूं जे हिल मिल खेलूं, तन मन प्रान समाइ।
या कामना करो परिपूरन, समरथ हौं राम राइ॥
माँहि उदासी माधो चाहै, चितवत रैनि बिहाइ।
सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊँ तब खाइ॥
यहु परदास दास की सुनिये, तन की तपन बुझाइ।
कहै कबीर मिलै जे साँई, मिलि करि मंगल गाइ॥"

अशरीरी आध्यात्मिक प्रियतम के लिए ऐसी मनोरम कल्पनाएँ काव्य की उच्चतम निधि हैं।

४. काव्यगुण—कबीर के काव्य में ओज, माधुर्य, प्रसाद तीनों गुणों की सुन्दर समन्विति प्राप्त होती है। अपनी डाट-फटकार में कबीर ने इतनी ओजपूर्ण तिलमिला देने वाली उक्तियाँ कही हैं कि जिसके लिए वे उक्तियां कही गई हैं वह तिलमिला उठता है और साथ ही कबीर द्वारा निर्दिष्ट पथ पर आगे-आगे हो लेता है—

"अरे इन दोऊ राह न पाई"

× × ×

"मीयां तुम्हसौ बोल्या बणि नहिं आवै॥"

× × ×

"हिंदू तुरक कहाँ ते आये किन रुह राह चलाई।
दिल महि सोच विचार भवादे भिस्त दोजक किन पाई॥"

माधुर्य गुण के आध्यात्मिक मिलन प्रसंगों से प्राप्त होते हैं—

"मोरे घर आये राजा राम भरतार।
तन रति करि मैं मन रति करिहौं, पाँचों तत्त बराती।
राम देव मोहे ब्याहन आये, मैं जोवन मदमाती॥

'प्रसाद' गुण से तो समस्त कबीर-काव्य ओत-प्रोत है। इसी प्रसाद गुण के कारण आज वह जन-मानस पर अपना एकाधिकार किये हुए है। यथा—

"कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ।
राम कहै भला होइगा, नहीं तर भला न होइ ॥"

बात को कितने सीधे-सीधे ढंग से कबीर ने यहाँ रखा है। प्रसाद गुण के अपवाद कबीर के कुछ साधारण रूपक, प्रतीक और उलटबासियाँ हैं। इनके विषय में यही कहा जा सकता है कि यह भाषा आज के समाज की पहुंच से ही दूर है। जिस समय कबीर ने उस काव्य की रचना की थी उस समय समस्त योगपरक पारिभाषिक शब्द जिनसे आज हम अपरिचित हैं जनता को ज्ञात थे। सिद्धों, नाथों आदि ने अपने प्रचार से योगसाधना को साधकों के लिए तो सुलभ बनाया था ही, साथ ही सामान्य जनता भी उसकी शब्दावली आदि से अपरिचित नहीं थी। उस समाज में चमत्कार रूप से (जिसका माध्यम उलटवाँसी थी) बात को कहने का अत्यधिक प्रचार हो चला था। कबीर ने भी उस परम तत्व का वर्णन कुछ स्थानों पर इन्हीं रूपकों और प्रतीकों द्वारा किया था, किन्तु ये समस्त स्थल अपवाद स्वरूप हैं अन्यथा सर्वत्र कबीर-काव्य में प्रसाद गुण विद्यमान है।

५. ज्ञान, भावना और कल्पना—इन तीनों गुणों के साथ ही कबीर-काव्य में ज्ञान, भावना और कल्पना तीनों तत्वों का सुन्दर सम्मिश्रण प्राप्त होता है। कबीर के रहस्यवादी पदों में ज्ञान की उच्च से उच्च वस्तु और निगूढ़ तत्व विद्यमान हैं। अद्वैतवाद के आधार पर खड़े उनके भक्ति-भवन में ज्ञान ही ज्ञान भरा पड़ा है। संसार, माया, आदि के सम्बन्ध में ऐसी सत्याश्रित बातें प्राप्त होतीं हैं कि व्यक्ति की आखें खुलती चली जाती हैं। यथा—

"जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलंहि समाना, इह तथ कथ्यौ ग्यानी ॥"

इसी भाँति—

"लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥"

उनकी रहस्य-भावना की मधुरता पर प्रकाश डालते हुए भावनाओं की उत्कृष्टता के उदाहरण प्रस्तुत किये जा चुके हैं। कल्पना तत्व भी कबीर के रूपकों, प्रतीकों आदि में प्रकट हुआ है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर की कल्पना अत्यन्त उच्च कोटि की है—

"त्रिसनां नै लोभ लहरि, काम क्रोध नीरा।
मद मच्छर कछ मछ हरषि सोक तीरा।
कामनी अरु कनक भंवर बोये बहु बीरा।
जन कबीर नवका हरि खेवट गुरु कीरा ॥"

ज्ञान, भावना एवं कल्पना के सम्मिश्रण से उनका काव्य प्रत्येक कोटि के पाठक की मानसिक परितुष्टि कर उसकी तृषा को शान्त करता है।

महाकवि मिल्टन ने किसी श्रेष्ठ काव्य के जो तीन गुण—१. सादगी २. अस-

लियत ३. जोश निर्धारित किये हैं, वे हमें कबीर-काव्य में प्राप्त होते हैं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का कथन है—

"………बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं।"

किन्तु हम देखते हैं कि आचार्य द्विवेदी जी के इस कथन का अपवाद कबीर-साहित्य है। सादगी, असलियत, जोश—कबीर में इन तीनों गुणों की प्रस्थापना के विरोध में कोई तर्क नहीं रखा जा सकता। सादगी का निम्नलिखित उदाहरण तो दर्शनीय है—

"आऊँगा न जाऊंगा, मरूंगा न जीऊंगा।
गुरु के सबद में मैं, रमि रमि रहूँगा॥"

इन तीनों गुणों ने ही कबीर-काव्य को अद्भुत सम्प्रेषणीयता प्रदान कर दी है।

६. कवि समय—कविता करना यद्यपि कबीर का लक्ष नहीं था, किन्तु काव्य की समृद्ध परम्पराओं का दाय उनको मिला था। अपनी एक वार्ता में डॉ० गुलाब-राय जी ने उदाहरण द्वारा इस बात को भली-भाँति समझाया है। वे एक सिद्ध कवि की भाँति काव्य परम्पराओं, कवि-समयों आदि से परिचित थे। साहित्य की परम्परा-गत भाव-सम्पत्ति का दाय उनको प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुआ था, तभी तो उनमें सूर, तुलसी आदि महाकवियों के साथ भाव-साम्य के दर्शन होते हैं। हंस के नीर-क्षीर विवेक की बात को कबीर और तुलसी ने समान रूप से अपनाया है—

"हंसा बक एक रंग लखि चरैं एक ही ताल।
छीर नीर वे जानिए बक उघरै तेहि काल॥"

तुलसीदास जी ने भी इस कवि-समय का उपयोग करते हुए लिखा है :

"चरन चोंच लोचन रंगौ चलौ मराली चाल।
क्षीर नीर विवरन समय बक उघरत तेहि काल॥"

चातक के प्रेम अनन्यता के भी कबीर और तुलसी दोनों एक ही परम्परा के उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं। कबीरदास जी ने कहा है—

"चातक सुतहिं पढ़ावही आन नीर मत लेह।
मम कुल यही सुभाव है, स्वाति बूंद चित देह॥"

तुलसीदास जी अपनी कल्पना के विस्तार से चातक का प्रेमलोक में भी स्वाति जल से प्रेम दिखाते हैं, सुनिए—

"चातक सुतहि देत सिख बार ही बार।
तात न तर्पन कीजिए बिना वारिचर बार॥"

सेमर का फूल संसार की निस्सारता का प्रतीक माना गया है। इस कवि-प्रशस्ति का कबीर और सूर दोनों ने बड़ी मार्मिकता से उपभोग किया है। कबीरदास

जी कहते हैं :

"सेमर सुवना सेइया दुई ढेढ़ी की आस।
ढेढ़ी फूटी चटाँक दे सुवना चला निरास ॥"

कबीरदास जी इस उदाहरण की व्यंजना पाठक पर छोड़ देते हैं; किन्तु सूरदास जी उस व्यंजना को स्पष्ट करके गाते हैं—

"रे मन छाड़ विषय को रचिवो।
तू कत सुवा होत सेमर कौ अन्तहि कपट न बधिवौ ॥"

वे एक जगह और भी कहते हैं :

"रसमय जानि सुवा सेमर कौ चोंच छालि पछताग्यौ ॥"

रात को चकवे-चकई के रैन-वियोग का वर्णन हमारे कवियों को बहुत प्रिय है। इस कवि-समय को अन्योक्ति के रूप में कबीर और सूर ने समान रूप से अपनाया है—"चल चकई वा सर विषै जहाँ न रैन वियोग।' तुलसी के साथ तो बहुत सी बातों में कबीर का भाव-साम्य है। जनता की भेड़ियाधसान वृत्ति का दोनों ने ही उल्लेख किया है। कबीर कहते हैं—'ऐसी गत संसार की ज्यों गाडर की ठार' इसी से मिलता-जुलता तुलसीदास जी का पद है—"तुलसी भेड़ी की धसान जड़ जनता ससान।' 'भय बिनु होय न प्रीति' का भाव दोनों में समान है।

७. संस्कृत विचार-परम्परा—कबीर ने संस्कृत विचार-परम्परा को बहुत कुछ अपनाया है—'भृंग ज्यों कीट को पलटि भृंग कियो' में वेदान्तियों के 'कटु-भृंग न्याय' की झलक है और 'है साधु संसार में कमला जल माहीं' में 'पद्मपत्रमिवाम्भसि' की छाया है। 'सब बन चन्दन नाँहि, सूरों का दल नाहिं' में उलट-फेर दिखाई पड़ता है। ऐसी ही उलट-पलट नीचे के दोहे में हैं :

"वृच्छ कबहूँ नहिं फल भखैं नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा शरीर ॥"

इसका संस्कृत का विम्ब रूप देखिए—

"पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः, स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
नादन्ति शस्यं खलु वारिवाहाः परोपकाराय सतां विभूतयः ॥"

'असित गिरि-समं स्यात् कज्जलं सिन्धु पात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्व-कालम्,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।"

महिम्नस्तोत्र की इस उक्ति को सूर और तुलसी द्वारा अपनाये जाने पर कबीर ने इस प्रकार अपनाया था। सुनिये—

"सब धरती कागद करूँ, लेखन सब बनराय।
सात समुद की मसि करूँ, गुरु गुण लिखा न जाय ॥"[1]

---

१. 'कबीर एक विश्लेषण'—आकाशवाणी, दिल्ली पृ० ३३-३४

इन उदाहरणों के अतिरिक्त तुलसी के 'धूएँ' के धरोहर देखि तू न भूलि रैं' जैसा ही—

"यह्नु संसार इसौ रे प्राणी, जैसे घूँवरि मेह।

इसी भाति 'नलनी के सवटा' का दृष्टांत तो सूर, तुलसी, कबीर तीनों में प्राप्त होता है। भक्तराज प्रह्लाद द्वारा की गई भक्ति की व्याख्या का भाव-साम्य भी कबीर में प्राप्त होता है—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पंतु॥"

कबीर ने इसे यों कहा है --

"ज्यूं कामी कौं काम पियारा, ज्यूं प्यासे कूं नीर रे।
है कोई ऐसा पर उपगारी, हरि सूं क है सुनाई रे।"

८. भाषा—जब कबीर-काव्य की भाषा पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता हैं कि ये जनभाषा के प्रथम निर्भय कवि थे। कबीर की भाषा में अनेक भाषाओं और बोलियों का सम्मिश्रण प्राप्त होता है। उनकी भाषा पर सर्वाधिक प्रभाव भोजपुरी, पंजाबी व राजस्थानी का है। इसीलिए आलोचकों ने इनकी भाषा को सधुक्कड़ी नाम दिया है। डॉ० रामकुमार वर्मा प्रभृति विद्वानों ने इसकी अकृत्रिमता के ही कारण यह कहा है—

"भाषा बहुत अपरिष्कृत है उसमें कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है।"

किन्तु इस प्रकार की भ्रामक बातें कहना कबीर-काव्य की आत्मा को दबोच देना है। वास्तविकता इन कथनों से बहुत दूर है। कबीर की भाषा की अकृत्रिमता में ही उसका सहज-सौन्दर्य है। उनकी भाषा में विभिन्न भाषाओं के रूपों के सम्मिश्रण का प्रथम कारण तो यह है कि उस समय लोक-भाषाओं के रूप बन रहे थे, अतः निर्माण काल की इस प्रारम्भिक अवस्था में एक दूसरी भाषा से इतना अधिक अन्तर नहीं था कि कोई भाषा दूसरे प्रदेश वाले को समझ न आए। डॉ० सरनामसिंह शर्मा जी का कथन है।

"उस समय के रवैये को देखकर यही कहा जा सकता है कि अपभ्रंश ने अपना दायित्व लोक-भाषाओं को सौंप दिया था जिनमें से किसी में भी अपने शुद्ध रूप और स्वतन्त्र व्यक्तित्व की झलक नहीं मिलती। जिस प्रकार गुजराती और राजस्थानी में उस समय बहुत साम्य था, उसी प्रकार राजस्थानी, ब्रजभाषा या गुजराती में भी बहुत साम्य था। यद्यपि लोकभाषाओं की प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी किन्तु उनके बीच में कोई विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं था। इस साम्य के कारण एक भाषा भाषी दूसरे स्थानों की भाषा सरलता से बोल सकता था।"

कबीर की भाषा में इस साधुपन का दूसरा कारण कबीर की पर्यटनशील प्रवृत्ति है। वे जहाँ-जहाँ गये वहाँ की भाषा के शब्द स्वाभावतः उसकी भाषा में आ गये क्योंकि उन्हें तो अपनी बात वहाँ के लोगों की भाषा में या उस भाषा के सर्वाधिक

निकट रूप के माध्यम द्वारा समझानी थी। तीसरा कारण यह है कि कबीर के शिष्य जो उनके लिपिकार भी थे, विभिन्न प्रदेशों के निवासी थे। उन्होंने अपनी भाषा के अनुकूल शब्दों को रूप दे दिया। यद्यपि सद्गुरु की पवित्र वाणी में जान-बूझकर उन्होंने हेर-फेर नहीं किया किन्तु अल्पशिक्षित शिष्य अपनी भाषा के प्रभाव से कबीर वाणी को मुक्त न रख सके।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी आपकी भाषा को सधुक्कड़ी न मानकर सिद्धों और नाथों की संध्या भाषा की परम्परा में बताते हैं। किन्तु इसका प्रत्युत्तर देते हुए डॉ० सरनाभसिंह शर्मा जी ने उचित ही कहा है—

"कबीर की भाषा को संध्या भाषा से सम्बधित कदापि नहीं किया जा सकता क्योंकि संध्या भाषा के प्रवर्तकों का जो लक्ष्य था, उससे कबीर का लक्ष्य सर्वथा भिन्न था। जबकि पहले लोग भोली जनता को भ्रांति में डालना चाहते थे, कबीर उसे शांति के पथ पर ले जाना चाहते थे। सिद्धों की भाषा गुमराह करने वाली थी।"

इस भांति हम देखते हैं कि कबीर ने अपनी काव्य-भाषा को चाहे जो रूप दिया हो वह उस समय की जनता से लिए सर्वग्राह्य थी। सर्वाधक प्रमुख बात यह है कि भाषा में कबीर का व्यक्तित्व इतना प्रखर और सुन्दर रूप में अभिव्यक्त हुआ है कि वह कबीर-काव्य को सर्वथा विलक्षण ओज और कांति प्रदान करता है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने आपके काव्य का उचित ही मूल्यांकन करते हुए लिखा है—

"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर से सामने लाचार सी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाही कर सकें। और अकथ कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पायी जाती है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि कबीर का लक्ष्य कविता नहीं था, किन्तु फिर भी उनके काव्य में उच्चतम कविता के गुण प्राप्त होते हैं, रस उनके काव्य की रस-गगरी से छलका पड़ता है।

: ४ :

कबीर के प्रतीक और उलटबांसियां

यद्यपि कविता करना कबीर का लक्ष्य नहीं था, किन्तु उनकी वाणी में काव्य की उच्चतम भूमि प्राप्त होती है। मस्ती की मौज में ऊँचा उठकर कबीर ने अपने आत्मपरक अध्यात्म चिन्तन से जिस अलौकिक, अगम्य, निराकार, ज्योति-स्वरूप ब्रह्म के दर्शन किये हैं, उसे वे सामान्य भाषा में व्यक्त करने में असमर्थ हैं। वहाँ वाणी मूक और शैली अपनी मर्मद्योतक छबियाँ खो बैठती है; 'गूंगे केरी शर्करा' का वर्णन करें तो कैसे करें ? किन्तु कबीर ब्रह्मानन्द रस के आनन्द को अपनी परिधि में समेटकर नहीं रख सकते, उनकी वाणी अटपटे प्रतीकों रूपकों और उलटबांसियों का आश्रय ले उस परम सत्य को अभिव्यक्त करती है।

प्रतीक-योजना

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने प्रतीक पद्धति का इतिहास प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति में वैदिक ऋषियों ने भी इसका आश्रय लिया था। बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म-वर्णन सूर्य, चन्द्र आदि के प्रतीकों से किया गया है। वेदों में वर्णित कुछ विद्वान् सोमरस को निष्कलंक जानकर प्रतीक मानते हैं। भारत में प्रतीक पद्धति के विकास को सूफी की प्रतीक पद्धति से प्रेरणा मिलती है।"

किन्तु कबीर के प्रतीक सूफी परम्परा से प्रभावित नहीं, वे तो वैष्णवों के आधार पर लिये गये हैं। यद्यपि सूफियों में भी दाम्पत्य प्रेम-प्रतीक का पर्याप्त वर्णन हुआ है, किन्तु कबीर में प्रयुक्त दाम्पत्य भावना ईश्वर को पति रूप में मानने पर शुद्ध वैष्णवी है। एक पाश्चात्य विद्वान् का कथन है—

"Vashnawism is to worship God domestically"

कबीर ने अपनी भक्ति के दाम्पत्य प्रतीक के साथ-साथ वात्सल्यात्मक प्रतीकों का भी आश्रय लिया है। यह भावना भी शुद्ध वैष्णवी है। कबीर ने दाम्पत्य भावना के प्रतीकों द्वारा अपने प्रेम को बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति दी है। यथा—

"मेरे घर आये राजा राम भरतार।
तन रति कर मैं मन रति करिहौं पाँचों तत्त बराती।
रामदेव मोहे ब्याहन आये, मैं जोबन मदमाती॥"

इस आध्यात्मिक विवाह के पश्चात् दाम्पत्य प्रतीक के ही माध्यम से महा-मिलन के सुख का वर्णन किया गया है—

"कियो सिंगार मिलन की ताइं, हरि न मिले जगजीवन गुसाइं।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया, राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।
धनि पिय एकै संग बसेरा, सेज एक पै मिलन दुहेरा।
धन्न सोहागिन जो पिय भावैं, र कहि कबीर फिरि जन मन पावैं।"

महामिलन के अनुपम सुख को ही नहीं, अपितु विरह की विदग्ध-वेदना को भी दाम्पत्य प्रतीक के ही माध्यम से कबीर ने व्यक्त किया है—

"विरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाई।
एक सबद कर पीव का, कबरै मिलेंगे आई॥"

इस आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को कबीर ने पुत्र-पिता के प्रतीक द्वारा भी व्यक्त किया है—

पिता हमारो बहु गुसाइं

किन्तु पिता-पुत्र प्रतीक कबीर द्वारा इतना प्रयुक्त नहीं हुआ जितना माता-पुत्र प्रतीक। यह स्वाभाविक भी है। बालक का माता से जितना तादात्म्य होता है; माता से जो अपरिमित स्नेह उसे प्राप्त होता है वह पिता से नहीं—

"हरि जननी मैं बालक तोरा, काहे न औगुन बकसहु मोरा॥
सुत अपराध करैं दिन केते, जननी के चित रहैं न तेते।
कर गहि केस करे जो घाता, तऊ न हेत उतारैं माता।
कहै कबीर एक बुद्धि विचारी, बालक दुखी दुखी महतारी॥"

दास्य-भावना की अभिव्यक्ति के लिए कबीर भावाकुल हो कुत्ते तक के प्रतीक पर उतर आते हैं—

"कबीरा कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं।
गले राम की जेवड़ी, जित खीचैं तित जाउं॥"

त्रिगुणायत जी ने कबीर के प्रतीकों का विभाजन निम्नस्थ चार वर्गों में किया है इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत उनके प्रतीकों का अध्ययन यहाँ प्रस्तुत है—

१. सांकेतिक प्रतीक। २. पारिभाषिक प्रतीक। ३. संख्यामूलक प्रतीक। ४. रूपात्मक प्रतीक।

सांकेतिक प्रतीक

इन प्रतीकों में कबीर ने संकेत द्वारा साधना—हठयोगी साधना के विभिन्न सोपानों का वर्णन किया है। सिद्धों और नाथों की परम्परा से प्राप्त इन प्रतीकों की कबीर-काव्य में प्रचुरता है।

"आकासे मुखि औंधा कुवां, पाताले पनिहारि।
ताका पाणि को हंसा पीवें, बिरला आदि विचारि॥"

किन्तु इन प्रतीकों में, जैसा कि कहा जा चुका है, कोई मौलिकता नहीं है।

परिभाषिक प्रतीक

वस्तुत: पारिभाषिक और सांकेतिक प्रतीकों में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं, क्योंकि सांकेतिक प्रतीक और पारिभाषिक प्रतीक दोनों ही साधनामूलक स्थान और क्रियाओं का बोध कराते हैं। अत: इनका वर्णन कबीर ने नाथों आदि के अनुकरण पर यथावत् किया है। अत: सांकेतिक प्रतीक और पारिभाषिक प्रतीक दोनों को एक वर्ग 'साधनापरक प्रतीक' में अन्तर्भूत किया जा सकता है। कबीर ने जिन पारिभाषिक प्रतीकों का वर्णन किया है उनमें सूर्य, चन्द्र, गंगा, यमुना, कुण्डलिनी आदि प्रमुख हैं—

'मन लागा उनमन्न सौं, गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चन्द बिहूँणां चांदिणां, तहां अलख निरन्जन राइ॥"

× × ×

'गगन गरजि अमृत चवै कन्दली कवल प्रकास।
तहां कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास॥"

संख्यामूलक प्रतीक

संख्यामूलक प्रतीकों द्वारा भी कबीर ने साधनात्मक स्थितियों आदि का वर्णन किया है—

"नौ पौरी पर दसवं दुवारा, तापर ज्ञान जोति उजियारा।"

× × ×

"चौसठ दीया जोय के चौदह चन्दा मांहि।
तेहि घर किसका चानड़ो, जेहि घर गोविंद नांहि॥"

रूपात्मक प्रतीक

कबीर ने अपनी रूपक योजना में भी प्रतीक प्रयुक्त किये हैं। यथा—

"काहे री नलिनी तू कुमिलानी। तेरे ही नाल सरोवर पानी।
जल उत्पत्ति जल में वास। जल में नलिनी तोर निवास।
ना तलि तपति न ऊपर आगे। तोर हेत कहु कासनि लागी।
कहैं कबीर जे उदिक समान। ते नहीं मूए हमारे जान॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने अपने प्रतीकों द्वारा रहस्यमयी अनुभूति, साधना की गोप्यतम बातों को सरल रूप में हमारे सम्मुख रखा है। यद्यपि आज ये प्रतीक हमें कुछ दुरूह भी प्रतीत होते हैं, किन्तु उस समय ये सर्वसाधारण में प्रचलित थे।

उलटबांसियां

कबीर की उलटबांसियों पर विचार करने से पूर्व उसके अर्थ और परम्परा पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा। 'उलटबांसी शब्द का अर्थ सामान्यत: उलटा अर्थ लिया जाता है, किन्तु यह अर्थ और परिभाषा कुछ भ्रम में डाल देने वाली है।

इसके दो अर्थ लगाये जा सकते हैं प्रथम तो "जैसा की अर्थ वास्तव में प्रकट है उससे उलटा लगाया जाय" दूसरे "जो प्रतिपाद्य का वास्तविक अर्थ है, उससे उलटा समझा जाय।" श्री परशुराम चतुर्वेदी जी ने इस शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया है। एक स्थान पर उन्होंने इस शब्द में 'उल्टा' और 'अंश' शब्द की सन्धि मानी है। एक अन्य प्रकार से दूसरी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—'उलटवांसी शब्द के इस अर्थ का समर्थन उसे 'उलटा' एवं 'बाँस शब्दों द्वारा निर्मित मानकर भी किया जा सकता है, जिस दिशा में उनका ठीक-ठीक शब्दार्थ वैसी रचना के अनुसार होगा जिसका बाँस (पार्श्वभाग अथवा अंग) उल्टा या विपरीत ढंग से पाया जाये।"

किन्तु चतुर्वेदी से अधिक सन्तोषजनक परिभाषा और अर्थ के स्पष्टीकरण का प्रयत्न डॉ० सरनामसिंह जी के द्वारा हुआ है। उनका कथन है—"मेरी समझ में इस शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हो सकती हैं—एक तो 'उलटवांसी' संयुक्त शब्द से और दूसरी 'उलटवां' से सम्बन्धित। पहले शब्द 'उलटवां' का अर्थ उलटी हुई है और 'सी' का अर्थ समान हैं, अतएव 'उलटबाँसी' का अभिप्राय हुआ 'उलटी हुई प्रतीत होने वाली उक्ति'। उलटबाँसियों में उलटी बातें कही गई हैं, इसलिए यह अर्थ उचित भी प्रतीत होता है। गोरखनाथ का 'उलटी चर्चा' और कबीर का 'उलटा वेद' आदिक प्रयोग भी इस अर्थ का समर्थन करते हैं।"

"दूसरी व्युत्पत्ति कुछ विशेष ध्यान देने योग्य है और वह है 'उलटबाँस' शब्द से। 'परमपद' या आध्यात्मिक-लोक में रहने वाला निवासस्थान वास्तव में 'उ..टबाँस' है। इससे सम्बन्धित वाणी. 'उलटबाँसी' वाणी कहला सकती है। आध्यात्मिक अनुभूतियाँ लोक-विपरीत अनुभूतियाँ होती हैं और उन अनुभूतियों को व्यक्त करने वाली वाणी लोकदृष्टि से उलटी प्रतीत होती है, वास्तव में वह उलटी होती है। इस शब्द में 'बाँ' के ऊपर जो सानुनासिकता दिखाई पड़ती है वह अकारण है।",

वस्तुत: शर्मा जी ने जो दोनों परिभाषाएँ या व्याख्याएँ दी हैं वे अत्यन्त संगत हैं। वीर-काव्य लोक-काव्य के अधिक निकट अथवा दूसरे शब्दों में यह कहें कि वह सुसंस्कृत लोक साहित्य है। डॉ० साहब की व्याख्याएं भी लोक-काव्य-प्रवृत्ति के अनुरूप ही हैं।

यदि उलटबाँसी परम्परा पर दृक्पात करें तो विद्वानों ने वेदों में भी उलटबाँसी शैली की अवस्थिति मानी है। ऋग्वेद प्रस्तुत करते हुए विद्वानों ने मुख्यतया निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं —

"अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत",

("बिना पैरों वाली पैरों वाली से पहले आ जाती है, मित्रावरुण इस रहस्य को नहीं जानते।" ऋग्वेद २-१-१२—३)

"चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति'

(इस बैल के चार सींग, तीन चरण, दो सिर और सात हाथ हैं, यह तीन प्रकार से बँधा हुआ उच्च शब्द करता है। ऋग्वेद ३-४-५८—३)

"इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरान्त यन्नद्यस्तस्थुरापः"

(हे मनुष्यो ! यह वपु निर्वचन है क्योंकि इसमें जल स्थिर है और नदियाँ बहती हैं।—ऋग्वेद ४-५–४-७-५)

वेदों से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए डॉ॰ त्रिगुणायत जी ने निम्नस्थ उदाहरण प्रस्तुत किया है—

कं इमं वो नृप्य अचिकेत, वत्सो मातृर्जनयति सुधाभि।"

—ऋग्वेद १-१-७-५ मंत्र ६५.

अथर्ववेद आदि में भी इसी प्रकार के उदाहरण खोजे गये हैं।

वेदों के पश्चात् उपनिषदों द्वारा इस शैली का और भी अधिक विकास हुआ। उपनिषदों ने, ब्रह्म के विलक्षण स्वरूप कथन में उसे विरुद्धधर्मी बताया है। बृहदारण्यकोपनिषद्, ईशोपनिषद्, कठोपनिषद् आदि में ऐसे उदाहरण पर्याप्त हैं।

उपनिषदों से विचित्र कथन की यह प्रणाली सिद्धों, नाथों आदि में आई। सिद्धों और नाथों ने अपनी साधना की विचित्रता और गुह्यता प्रकट करने के लिए ऐसी उक्तियों का खूब प्रयोग किया। वास्तव में सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय बौद्ध-धर्म की विकृतावस्था से विकसित हुए थे और बौद्ध-धर्म के ग्रंथों भी में उलटबाँसी शैली के प्रयोग प्राप्त होते हैं। अतः उसी धर्म से निकलने वाले सिद्धों में स्वाभाविक रूप से ये विचित्र उक्तियाँ आ गई हैं। कबीर ने कहीं-कहीं तो सिद्धों और नाथों की उक्तियों को यथावत् रख दिया है। यथा—

"बैल बियाअल गविया बाँझे।"

× × ×

"बरसै कम्बल भीगै पानी।"

× × ×

"नाव बिच नदिया डूबी जाय।"

ये उक्तियाँ कबीर और सिद्धों आदि में समान रूप से प्राप्त होती हैं। कदाचित् इसका कारण इन उक्तियों का साधारण जनता में अत्यधिक प्रचलन था। आज भी ग्राम्य समाज में (ग्राम्य से यहाँ असभ्य समाज का तात्पर्य किंचित् भी नहीं है) "गप्प सुनो भई गप्प, नाव बिच नदिया डूबी जाय" जैसी उक्तियां सुनने को मिली जाती हैं। कुछ लोकोक्तियों में भी इन उलटबाँसियों की छाया शेष रह गई है। यथा—

"जो बैल ब्याहै नाय तो, बूढ़ी ना होय।"

कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर के समय तक इस प्रकार उक्तियों का पर्याप्त प्रचलन हो गया था, किन्तु आश्चर्य की बात है कि इतने प्राचीन समय से प्रयुक्त इस विचित्र, उलटी शैली का नाप कबीर से पूर्व कहीं भी प्राप्त नहीं होता।

डॉ० सरनामसिंह जी का कथन है—

"इस शब्द को हम कबीर से पहले का नहीं मान सकते। यह कबीर से पहले का नहीं हो सकता क्योंकि पहले का होने पर कबीर की वाणी में कहीं न कहीं इसका उपयोग होता अथवा अन्यत्र यह शब्द मिलता। जब शब्द का प्रयोग कबीर वाणी में नहीं मिलता तो अवश्य इसका जन्म कबीर के बाद में हुआ है और वह भी किसी ऐसे व्यक्ति की वाणी में जिसने इसका अभिप्राय समझा हो। बहुत सम्भव है कि यह शब्द बहुत प्राचीन न हो क्योंकि बाद में संतों में भी इसका प्रयोग मिलता है।"

हम डॉ० सरनामसिंह जी के इस मत से सहमत नहीं कि 'कबीर की उलटबाँसियाँ सिद्धों की परम्परा की उलटबाँसियाँ नहीं हैं।" क्योंकि ऊपर उदाहरण देकर दिखाया जा चुका है कि कुछ उक्तियाँ सिद्धों और कबीर में यथावत् मिलती हैं। दूसरे हठयोगी साधना को सिद्धों और नाथों की परम्परा से लेने वाले कबीर पर उनकी उलटबाँसी शैली का प्रभाव अवश्य ही पड़ा होगा।

विद्वानों ने कबीर की उलटबाँसियों के प्रायः ३ वर्ग किये है—

१. अलंकारप्रधान, २. अद्भुतप्रधान, ३. प्रतीकप्रधान।

अलंकारप्रधान

जैसा की पहले कहा जा चुका है, इन उलटबाँसियों में अधिकांशतः विरोधी बातें ही रहती है। अतः इनमें प्रयुक्त अलंकार भी विरोधमूलक हैं जो किसी न किसी रूप में आश्चर्य की सृष्टि करते हैं। इन अलंकारो में विराधाभास, असंभव, विभावना, असंगति, विषम आदि का प्राधान्य रहता है। विरोधाभास का उदाहरण देखिए—

"अवधू ऐसा ग्यान विचार।
भेरै चढ़े सु अधधर डूबें, निराधार भये पार।
ऊघट चले सु नगरि पहूँचे बाट चले ते लूटे।
एक जेवड़ी सब लपटानें के बाँधे के छूटे।
मन्दिर पैसि चहूँदिसि भीगे, बाहर रहे तो सूका।
सीर मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूखा।
बिन नैंन न के सब जन देखें, लोचन अछते अंधा।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यह जग देख्या धंधा।

अद्भुतप्रधान उलटबांसी

अद्भुतप्रधान उलटबाँसियों में अद्भुत रस की ही विशेष प्रतिष्ठा कवि के कथन में हुई है। यद्यपि अलंकार और प्रतीकों की भी स्थिति ऐसे कथनों में स्वाभाविक रूप से रही है, किन्तु प्रमुखता अद्भुत रस की ही रहती है—

"डाल गह्या थें मूल न सूझै, मूल गह्या फल पावा।
बंबई उलटि शर मों लावी, धरणि महारस खावा।
बैठि गुफा में सब जग देख्या, बाहर कछू न सूझै।
उलटें धनकि पारधी मार्यो, यहु अचरज कोई बूझै।

× × ×

अंबर बरसै धरती भीजै, यह जाणै सब कोई।
धरती बरसै अंबर भीजैं, बूझै बिरला कोई॥"

प्रतीकप्रधान उलटबाँसी

प्रतीकात्मक उलटबांसियों में कबीर ने साधना के निगूढ़ रहस्यों को प्राय: रूपक आदि के द्वारा कहा है। इन रूपकों में किसी स्थान पर रूपकप्रधान है और कहीं रूपकप्रधान न होकर प्रतीकप्रधान। निम्नस्थ उदाहरण में रूपकप्रधान है—

"तरवर एक अनन्त मूरति, सुरतां लेहु पिछाणीं।
साखा पेड़ फूल फल नाहीं, ताकी अमत वाणी।
पुहुप बास एक भंवरा राता, बारा लै उर धरिया॥
सोलह मंझै पवन झकोरै, आकासे फल फलिया॥
सहज समाधि बिरख यहु सींच्या, धरती जल हर सोष्या॥
कहै कबीर तास मैं चेला, जिनि यहु तरवर पेष्या॥"

अब एक उदाहरण से हम स्पष्ट करेंगे कि कबीर की उक्तियों में कहीं-कहीं प्रतीक ही प्रधान है, ऐसे स्थानों पर रूपक-योजना गौण हो जाती है। यथा—

"है कोई जगत गुर ग्यानीं, उलटि बेद बूझै।
पाणी में अगनि जरै, अंधरे कौं सूझै॥
एकनि दादुर खाये पंच भवंगा।
गाइ नाहर खायौ, हरनि खायौ चीता।
कागिल गर फंदिया, बटेरै बाज जीता।
मूसै मंजार खायौ, स्यालि खायौ स्वाना।
आदि को आदेश करत, कहै कबीर ग्याना॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीरदास जी के प्रतीक और उलटबांसियों में प्रेम के अद्भुत रहस्य और ज्ञान का अपरिमित कोष भरा पड़ा है।

: ५ :

कबीर का रहस्यवाद

मानव में जबसे ज्ञान—बुद्धि—नामक तत्व की स्थिति हुई तभी से उसकी चिन्तन-प्रक्रिया में सृष्टि के उद्गम और अपने मूल के सम्बन्ध में जिज्ञासा रही है। उसने जब इस सृष्टि नियन्ता के स्परूप की गुत्थी को ज्ञान का आश्रय लेकर सुलझाने का प्रयास किया तब यह दर्शन का विषय बन गया, किन्तु जब इसे कवि ने समझने का प्रयास कर अपने अनुभवों को वाणी की विशेष पद्धति में अभिव्यक्त किया तब इसे 'रहस्यवाद' कहा गया। संसार का लगभग प्रत्येक श्रेष्ठ कवि किसी न किसी अंश में रहस्यवादी होता है क्योंकि जन-मानव की भावनाएं कवि के द्वारा अभिव्यक्ति पाती हैं। अमेरिकन प्रो० प्रॉट (Prof. Prar) का कथन उचित ही है—

"Every poet has at least a touch of mysticism"

रहस्यवाद की परिभाषा

विद्वानों ने रहस्यवाद की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। आचार्यप्रवर रामचन्द्र शुक्ल जी का कथन है—

"ज्ञान के क्षेत्र में जिसे अद्वैतवाद कहते हैं, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद कहलाता है।"

किन्तु डॉ० सरनामसिंह शर्मा जी का मत इससे भिन्न है। शुक्ल जी के कथन की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा है—

"यह कहना कुछ विशेष समीचीन नहीं दीख पड़ता कि 'जो ज्ञान के क्षेत्र में अद्वैतवाद कहलाता है, वही भावना के क्षेत्र में 'रहस्यवाद' कहलाता है क्योंकि भावना के अतिरिक्त रहस्यवाद का सम्बन्ध अभिव्यक्ति के एक विशेष रूप से भी तो है जिसमें शब्द का अपना अर्थ और अपना संकेत होता है।

आप रहस्यवाद की अपनी परिभाषा देते हुए कहते हैं—

"विशेष अनुभूति की प्रतीकाश्रित अभिव्यक्ति साहित्य में 'रहस्यवाद' नाम पाती है। रहस्यवाद कोई दार्शनिकवाद न होकर वस्तुतः साहित्यिकवाद है, जिसका लक्षण है प्रेमाश्रयी अद्वैतानुभूति एवं प्रतीकाश्रयी सांकेतिक अभिव्यक्ति।"

डॉ० रामकुमार वर्मा जी के अनुसार—

"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है, और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ता जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। जीवात्मा की सारी शक्तियाँ इसी शक्ति के अनन्त वैभव और प्रभाव से ओत-प्रोत हो जाती हैं। जीवन में केवल उसी दिव्य शक्ति का तेज अन्तर्निहित हो जाता है और जीवात्मा अपने अस्तित्व को इस प्रकार से भूल सा जाती है। एक भावना, एक वासना हृदय में प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और यह भावना सदैव जीवन के अंग-प्रत्यंगों में प्रकाशित होती रहती है। वही दिव्य संयोग है।"

यहाँ हम डॉ० वर्मा की अन्य सब बातों से तो सहमत हैं किन्तु रेखांकित बात से नहीं, क्योंकि यदि आत्मा अपने पृथक् अस्तित्व को भूल जाय तो वहाँ रहस्यवाद का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा परमात्मा का अंश होते हुए भी उससे पृथक् है और वह पार्थक्य बोध ही उसे प्राप्त करने का या रहस्यवाद अनुभूति का मूल है। मैं 'अज्ञेय' जी के इस कथन से पूर्ण सहमत हूं—

"द्वैतत्व की सत्ता न हो तो प्रेम क्या जीता रहेगा ?"

हाँ ! यह अवश्य मानना होगा कि आत्मा और परमात्मा का यह द्वैतत्व क्षणिक है और रहस्यवाद की चरम परिणति, चरम उपलब्धि, अन्तिम सोपान मिलन ही हैं। अतः जीवात्मा रहस्यवाद के अन्तिम सोपान पर ही पहुँच अपने अस्तित्व को भूलती है, वहाँ पार्थक्य नहीं रहता। यहाँ 'अहम्' और 'इदम्' की सीमाओं का क्रमशः लोप होता है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी जी का कथन है—

"रहस्यवाद शब्द काव्य की एक धारा विशेष को सूचित करता है। वह प्रधानतः उसमें लक्षित होने वाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है, जो विश्वाभक्त सत्ता की प्रत्यक्ष, गम्भीर एवं तीव्रानुभूति के साथ सम्बन्ध रखती है। इस अनुभूति का वास्तविक आधार अन्तर्हृदय हुआ करता है जो वैयक्तिक चेतना का मूल स्रोत है और इसमें 'अहम् एवं 'इदम्' की भावना का क्रमशः लोप हो जाता है।"

जयशंकर प्रसाद के अनुसार—

"काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।"

एक लेखक का कथन है—

"रहस्यवाद वैराग्य मिश्रित अनुराग है,वैराग्य सृष्टि से और अनुराग ब्रह्म से।"

किन्तु यह परिभाषा भक्ति और रहस्यवाद के अन्तर का स्पष्टीकरण नहीं करती। डॉ० त्रिगुणायत जी ने ज्ञान, भक्ति और रहस्यवाद का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है—

"बुद्धि के सहारे आध्यात्मिक सत्य का निरूपण करना ज्ञान है। भावना और प्रेम के सहारे ब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप की उपासना भक्ति है। रहस्यवाद इन

दोनों से भिन्न है। जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्दमय चित्रों में सजाकर रखने लगता है, तभी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है।"

वस्तुतः रहस्यवाद साहित्यकार की ईश्वरविषयक प्रेममय अनुभूतियों की ऐसी अभिव्यक्ति है जिसका निरूपण साधारण भाषा की क्षमता से परे है। अतः उस अभिव्यंजना को स्वभावतः ही प्रतीकात्मकता का आश्रय लेना पड़ता है। 'गूंगे केरी सर्करा' का वर्णन तो प्रतीकों के इंगितों में ही हो सकता है।

रहस्यवाद का विकास

भारतीय परम्परा में रहस्यवाद की सर्वप्रथम झलक यद्यपि कुछ लोग वेदों में मानते हैं, किन्तु वैदिक मन्त्रों एवं प्रार्थनाओं में विशुद्ध रहस्यवाद जैसी वस्तु नहीं मिलती। वहाँ तो देवताओं से अपने कल्याण की प्रार्थना और विनय ही प्रमुख है। हाँ, कहीं-कहों ईश्वर से पिता आदि के सम्बन्ध भी जोड़े गये हैं, किन्तु फिर भी आत्मा का परमात्मा से वह उत्कट प्रेम व्यंजित नहीं होता जो रहस्यवाद की प्रमुख प्रवृत्ति है। वेद-मन्त्रों में स्थापित सम्बन्धों में रक्षा और कल्याण की भावना का ही प्राधान्य है। उपनिषदों में आकर अद्वैतवाद के प्रतिपादन से रहस्यवादी परम्परा का प्रारम्भ होता है, किन्तु वहाँ भावनात्मक माधुर्य के दर्शन न होकर दर्शन की शुष्क ज्ञानात्मक गुत्थी ही अधिकांशतः सुलझायी गयी है। कहीं-कहीं उनमें विशुद्ध रहस्यवादी प्रवृत्ति के अनुकूल भावोन्मेष भी है। सर्वप्रथम गीता के दशम अध्याय में भावात्मक प्रणाली पर सर्ववाद का निरूपण हुआ है, जो रहस्यवाद का ही एक अंश है—

"महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥"

तदनन्तर सिद्धों और योगियों की वाणी में भी रहस्य भावना के दर्शन होते हैं, किन्तु वहाँ भावना से प्रमुख साधना है। सूफियों और (सन्तों में) कबीर के द्वारा ही सर्वप्रथम रहस्यवाद में प्रेम की मधुर भावना प्राप्त होती है। भक्ति युग के पश्चात् रहस्यवाद के दर्शन आधुनिक युग में छायावादी कवियों में ही होते हैं। किन्तु छायावादी काल की रहस्यवादी कविता पूर्व-युगों की रहस्यवादी

रचनाओं से कुछ भिन्न है। यहां कल्पना का आधिक्य है जब कि मध्यकालीन रहस्यवाद में साधनात्मक अनुभूति का। उन मध्यकालीन रहस्यवादी कवियों की साधना प्रेम-साधना और यौगिक साधना—दोनों ही प्रकार की है।

कबीर का रहस्यवाद

कबीर के रहस्यवाद में अद्वैती और सूफीमत की गंगा-जमुनी धारा प्रवाहित है, यद्यपि उसमें प्रमुख अद्वैती गंगा-धारा ही है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी जैसे विद्वान् उस पर किंचित् भी सूफी प्रभाव नहीं मानते, किन्तु जैसा कि कबीर पर पड़ने वाले प्रभावों पर विचार करते समय देखा जा चुका है, प्रेम पीर की व्यंजना में सूफियों का प्रभाव कबीर पर अवश्य परिलक्षित होता है। कबीर में कहीं भी तर्क-जाल आश्रित ब्रह्म का वर्णन नहीं—इसका कारण यही है कि कबीर ने अपनी अनुभूति को ही वाणी का रूपाकार दिया था। अनुभवैकगम्यता के कारण उसमें विचित्रता आना स्वाभाविक था। इसलिए वह ब्रह्म इन्द्रियातीत अगम्य होते हुए भी गम्य है। वह प्रेम से प्राप्य है। उन्होने उस परमात्मा के विरह में बड़ी सुन्दर-सुन्दर मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति की है। उनकी आत्मा ने प्रियतमा के समान ही प्रिय के लिए प्रतीक्षा की है—

"बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूं, मनि नहीं विश्राम॥"

कबीर की विरह-वेदना इतनी बढ़ गई है कि वह अवर्णनीय हो गई है। अतः उसे तो केवल दो ही जान सकते हैं, एक तो वह जिसके वियोग में यह व्यथा भोगनी पड़ रही है और दूसरा वह (आत्मा) जो इस व्यथा को सह रहा है—

"चोट सताणी बिरह की, सब तन जर-जर होइ।
मारणहारा जांणि है, कै जिहिं लागी सोइ।"

अपने शरीर को, जो विरह-व्यथा से जर्जर है, विरहिणी (आत्मा) प्रिय (परमात्मा) के लिए न जाने कौन-कौन से कष्ट देने के लिए तत्पर है। वह अपने संमस्त शरीर को दीपक कर अपने प्राणों की वर्तिका बना और शरीर का रक्त ही उसमें तेल के रूप में डाल प्रियतम का मुख देखने के लिए आतुर है—

"इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूं जीव।
लोही सींचौं तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव॥"

इस प्रेमी की मनःस्थिति बड़ी विचित्र है क्योंकि यह मूर्ख संसार तो उसे पागल समझता है। यदि प्रिय-वियोग में अहर्निश रोते-रोते उसके नेत्र लाल हो गये हैं तो लोग उसे आँख दुखने की बीमारी से अधिक कुछ नहीं समझते—

"आंषणियां प्रेम कसाइयां लोक जाणें दुखणियां।
साईं अपने कारणें, रोइ रोइ रातणियां॥"

किन्तु विरहिणी रोवे भी कहाँ तक, आखिर उसकी भी तो शक्ति की सीमा है, अतः यदि वह मौन अथवा प्रसन्न रहे तो प्रियतम समझेंगे कि अब तो इसकी वृत्ति

संसार में उलझ गई और यह अभिचारिणी हो गई। अतः ऐसी स्थिति में मन ही मन घुन के समान पिसने के अतिरिक्त चारा ही क्या है?

"जो रोऊं तौ बल घटे, हंसौं तो राम रिसाइ।
मन ही मांहि बिसूरणां, ज्यूं घुन काठहि खाइ।"

विरहिणी यह भी जानती है कि हँस-हंसकर कोई भी प्रिय को नहीं पा सका; जो कोई भी पाता है रोकर ही—

"हँसि हँसि कन्त न पाइया, जिन पाइया तिनि रोइ।
जे हांसे ही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागिनि कोइ॥"

यदि कोई प्रिय के लिए संदेश-प्रेषण का प्रश्न उठाता है तो विरहिणी कितना सुन्दर उत्तर देती है—

"प्रियतम कूं पतियां लिखूँ, जो कहीं होय विदेस।
तन में, मन में, नैन में, ताको कहा संदेस॥"

और फिर विरहिणी प्रिय-दर्शन के लिए प्रत्येक सम्भव-असम्भव कार्य करने को प्रस्तुत है। संसार की कोई भी बाधा उसके सम्मुख खड़ी नहीं रह सकती। दूसरे शब्दों में, वहाँ तो प्रिय के अतिरिक्त प्रेमी को कुछ सूझता ही नहीं, अतः संसार-सत्ता उसके लिए नष्ट हो जाती है। इसलिए वह कहती है—

"फाड़ि पुटोला धज करौं, कामड़िली पहिराउं।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराउं॥"

प्रिय-मिलन की इस आकुलता और प्रेम की चरम परिणति से विरहिणी को प्रिय-दर्शन से पूर्व उसको पाते ही विरहिणी की विचित्र मनःस्थिति होती है। उसका भी कबीर ने वर्णन किया है—

"थरहर थरहर कंपे जीव, ना जानूं का करिहै पीव।
कौवा उड़ावत मेरी बहियाँ पिरानी, कहै कबीर मेरी कथा सिरानी॥"

आत्मा-परमात्मा के साक्षात्कार—मिलन—के चित्र भी कबीर ने बड़ी रमणीयता से प्रस्तुत किए हैं—

"कबीर तेज अनंत का, मानो ऊगी सूरज सेणि।
पति संग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि॥"

वास्तव में उस प्रिय का तेज इतना अलौकिक ज्योतिष्मान् है कि उसका वर्णन असम्भव है। साक्षात्कार की उस अनुभूति को यदि कवि वर्णन कर दे तो फिर तो एक प्रकार से सब ही उस आनन्द को प्राप्त कर लें। महामिलन की अनुभूति का वर्णन करने का जब कवि प्रयास करता है तो जिह्वा लड़खड़ा जाती है और वह उस सुख की केवल सीमाएं, परिधियां ही छू पाता है—

"पारब्रह्म के तेज का, कैसे है उनमान।
कहिबे कूं सीमा नहीं, देख्या ही परवान॥"

और अब आत्मा-परमात्मा, अंश-अंशी, अग्नि-स्फुलिंग की द्वैतभावना का अन्त

हो गया। 'ग्रहम्' ने 'इदम्' में पर्यवसान पा लिया—

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांहि।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक दीख्या मांहि॥"

और अब तो सर्ववाद की स्थिति आ गई है। प्रेयसी जिधर भी दृग्पात करती है, उधर ही परमात्मा है—

"तू तू करता तू भया मुझ में रही न हूँ।
बारी फेरी बलि गई जित देखौं तित तूं॥"

अपने चतुर्दिक प्रियतम की ही सत्ता पाकर भी आत्मा को सन्तोष कहाँ, उसे मिलन से तृप्ति नहीं। अतः वह प्रिय पर पूर्ण एवं सदैव अधिकार चाहती है, इसलिए कहते हैं—

"अब तोहि जान न देहूं राम पियारे।
ज्यूं भावे त्यूं होउ हमारे॥"

"बहुत दिनन के बिछुरे प्रियतम पाये, भाग बड़े घर बैठे आये।
चरननि लागि करौं बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।
इत मन मन्दिर रहौ नित चोखे, कहै कबीर परहु मत धोखे॥"

इस भाँति कबीर अपनी उस अभिलाषा को, जिसमें उसके अतिरिक्त प्रिय को और कोई न देख सके, पूर्ण करते हैं—

"नैननि अन्तर आव तू, त्यूं ही नैन झपेऊं।
ना मैं देखूं और कूं ना तुझ देखन देऊं।"

वस्तुतः यह प्रेममूलक रहस्यवाद कबीर-काव्य की सर्वोत्तम सृष्टि है।

कबीर में दूसरे प्रकार का रहस्यवाद वहाँ प्राप्त है, जहाँ वे उस प्रिय को विविध हठयोगी साधनाओं से प्राप्त करने का उपक्रम करते हैं। यहाँ भावना की मधुरता नहीं, अपितु साधना की जटिलता है—

"अष्ट दल कंवल निवासिया, चहु कौं फेरि मिलाइ रे।
रहूं मैं बीच समाधियां, तहां काल न पासै आइ रे।
अष्ट कंवल दल भीतरा, तहाँ श्रीरंग केलि कराइ रे।
सतगुरु मिलै तो पाइये, नहिं तो जन्म अकारथ जाइ रे।
कदली कुसुम दल भीतरां, तहाँ दस आंगुल का बीच रे।
तहां दुवादस खोजि ले, जनम होत नहीं मीच रे।
बंक नालि के अन्तरै, पच्छिम दिसा की बाट।
नीझर झरै रस पीजिए, तहाँ भंवर गुफा के घाट रे।
× × × ×
तहां कबीरा रमि रह्या, सहज समाधि सोइ रे॥"

इस प्रकार के साधनात्मक रहस्यवादी स्थल कबीर काव्य में विरल नहीं हैं। इनमें कबीर ने हठयोग का वर्णन अधिकांशतः सिद्धों और योगियों की परम्परा में

किया है—

तृतीय प्रकार का रहस्यवाद कबीर में पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से प्राप्त होता है। ये पारिभाषिक शब्द भी प्रायः वही हैं, जो हठयोग साधना में मान्य हैं। यथा—

"इला प्यंगुला भाठी कीन्ही, ब्रह्म अगनि परजारी।
ससिहर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुग तारी।
मन मतिवाला पीवै राम रस, दूजा कछु न सुहाई।
उलटी गंग नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई।
पंच जते सो संग कर लीन्हें, चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी।
सहज सुनि में जिनि रस चाष्या, सतगुर थें सुधि पाई।
दास कबीर इहि रस माता, कबहूँ उछकि न जाई॥"

इस साधनात्मक पारिभाषिक शब्दों से युक्त रहस्यवाद का प्रेममूक रहस्यवाद के समान ही मिलनावस्था तक पूर्ण विकास प्राप्त होता है। मिलन का वर्णन भी कबीर ने साधनात्मक प्रतीकों द्वारा ही किया है।

"सुरति समाणीं निरत मैं, अजपा मांहै जाप।
लोक समाणां अलेख मैं, यूं आपा माहैं आप॥

× × ×

"मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि करांहि।
मुक्ताहल मुगता चुगैं, अब उड़ि अनत न जांहि॥"

एक अन्य प्रकार का रहस्यवाद जो केवल अभिव्यक्ति-जनित है, कबीर में और प्राप्त होता है। यह भी सिद्धों, योगियों की संध्या भाषा के अनुकरण पर उलटबांसियों में लिखा गया है। इसमें आज के समाज के लिए तो दुरूहता ही है चाहे कबीर के समय अभिव्यक्ति की यह शैली कितनी भी लोकग्राह्य क्यों न रही हो। एक उदाहरण देखिए—

"ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या, मैं रह्या उमेषैं।
मूसा हसती सौं लड़ै, कोई बिरला पेषै॥
मूसा पैठा बांबि मैं, लारै सापणि धाई।
उलटि मूसै सापणि गिली यहु अचरज भाई॥"

उपर्युक्त विवेचन से सुस्पष्ट है कि कबीर के चारों प्रकार के रहस्यवाद में सर्वश्रेष्ठ प्रेममूलक कोटि का ही रहस्यवाद है। शेष तीन रूपों में तो परम्परा का आग्रह है जबकि उस प्रेमात्मक रहस्यवाद में कबीर की मौलिक उद्भावनाएं मन मोह लेती हैं। चाहे कुछ भी हो, कबीर हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी कवि ठहरते हैं, एकस्वर से सबने यह स्वीकार किया है। अमेरिकन महिला अण्डरहिल ने उन्हें "भारतीय रहस्यवाद के इतिहास में सर्वाधिक रोचक व्यक्ति" उचित ही माना है—

"The most interesting personality of the history of Indian Mysticism"

कबीर और जायसी का रहस्यवाद

कबीर और जायसी में रहस्यवाद के क्षेत्र में पर्याप्त साम्य है। इसका प्रमुख कारण सूफीमत की आधारशिला अद्वैतवाद का होना है, जो कबीर के रहस्यवाद का भी मूलाधार है। अद्वैत से प्रभावित दार्शनिक प्रवृत्ति दोनों कवियों के रहस्यवाद में मिलती है। कबीर ने कहा है—

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, इहि तथ कथ्यौ ग्यानी॥"

इसी भाँति जायसी ने भी कहा है—

"धरती सरग मिले हुत दोऊ, केहि निनाद केई दीन बिछोहू।"

कबीर के समान जायसी का भी पूर्ण विश्वास है कि वियुक्त प्रिय और प्रेमी का मिलन अवश्य होगा—

"बूँद समुद्र जैस होइ मेरा, हिराई, अस मिलै न हेरा॥"

कबीर ने जिस प्रकार प्रतिबिम्बवाद के माध्यम से उसे देखा है—

"ज्यूं जल में प्रतिबिम्ब त्यूं सकल रामहि जानिजै।"

उसी भाँति जायसी ने भी प्रतिबिम्ब के माध्यम से उस खुदा का 'नूर' देखा है—

"गगरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरै।
सुरुज दिपै अकास, मुहम्मद सब में देखिए।"

जिस प्रकार सर्ववाद की सत्ता कबीर ने स्वीकार कर कहा था—

"लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥"

उसी प्रकार जायसी ने पिण्ड, ब्रह्माण्ड और उसके कण-कण में उसी परम सत्ता को ही देखा है—

"सातों दीप नव खण्ड, आठौं दिसा जो आहिं।
जो ब्रह्मंड सो पिंड है, हेरत अंत न जाहिं॥"

दोनों कवियों में समान रूप से प्रेम की मधुरता एवं विरह की कातरता प्राप्त होती है। यह दूसरी बात है कि एक प्रेम-पीर का आधार अधिकांशतः वैष्णव भावना है तो दूसरे की भी अधिकांशतः सूफीमत; जिसमें प्रेम-पीर में कहीं-कहीं मांस आदि के वर्णन से वीभत्सता भी आ गई है, चाहे ये सूक्ष्म अन्तर अभिव्यक्ति शैलियों में जाकर हो गये हों, किन्तु फिर भी प्रेम की मधुरता और विरह की आर्तता दोनों कवियों में समान है। कबीर की विरह-भावना का पर्याप्त वर्णन उसके रहस्यवाद पर विचार करते हुए किया जा चुका है, जायसी का उदाहरण देखिये—

"प्रीति बेलि संग विरह अपारा, बिरह पतार जरे तेहि झारा॥"

साधनात्मक रहस्यवाद के रूप दोनों कवियों में प्राप्त होते हैं ।- यदि, कबीर ने षटचक्र, नौ द्वार, पंच चोर, इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा, कुण्डलिनी, सहस्रार आदि के वर्णन किये हैं तो जायसी ने भी नफस, रूह, कल्व, अम्ल, साधक की चार अवस्थाएँ —'शरीअत, तरीकत, मारफत, आदि के वर्णन किये हैं—

"कही सरीअत चिस्ती पीरू। उधिरत असरफ औ जहांगीरू।
राह 'हकीकती' परै न चूकी। पैठि 'मारफत' मार बुड़ूकी ॥"

जिस प्रकार कबीर ने अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रतीकों, रूपकों और उलटबाँसी आदि के माध्यम से की है, उसी भाँति जायसी ने भी अपने रहस्यवादी भावों को अन्योक्ति और समासोक्ति के माध्यम से प्रकट किया है।

जायसी के रहस्यवाद के चार रूप प्राप्त होते हैं—आध्यात्मिक, योगमूलक प्रेममूलक एवं प्रकृतिमूलक। कबीर में प्रथम तीन रूप तो प्रचुरता से प्राप्त हैं, किन्तु प्रकृतिमूलक रहस्यवाद के उदाहरण विरल हैं—

"काहे री नलिनी तू कुम्हलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी,
जल उपजी जल ही सो नेहा, रटत पियास पियास ॥"

वैषम्य

यह साम्य होते भी दोनों कवियों के रहस्यवादी रूप में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य है। सर्वप्रथम अन्तर दोनों की उपास्य भावना का है। कबीर में अद्वैत के व्यष्टि-मूलक स्वरूप की प्रधानता है—

"तेरा साईं तुज्झ में ज्यूँ, पुहुपन में बास।"

× × ×

"मृगा पास कस्तूरी बास, आप न खोजै खोजै घास।"

दूसरी ओर जायसी का इष्ट अत्यन्त व्यापक सृष्टि में ही अधिक रमा है, वहाँ सर्ववाद की प्रधानता है—

"गा अंधियार रैनि मसि छूटी, भा भिनसार किरन रबि फूटी।"

× × ×

"रबि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।"

कबीर के रहस्यवाद का प्राणतत्व अद्वैत ही है, जबकि जायसी के रहस्यवाद का सर्वस्व सूफी प्रेम विरह-भावना। प्रेम-भावना कबीर में भी है, किन्तु वह विशुद्ध वैष्णवी है जबकि यह सूफी—

"सुनि धनि प्रेम सुरा के पिये, जियन मरन डर रहे नहीं हिये ॥"

कबीर ने अद्वैत के 'अहं ब्रह्मास्मि' को अपने प्रिय-साक्षात्कार का माध्यम बनाया था जबकि जायसी का मुख्याधार है "सर्वं खलु इदं ब्रह्म"। कबीर ने तो रहस्यवादी साधना में सृष्टि—प्रकृति और माया—को बाधक माना है जबकि जायसी ने समस्त सृष्टि, प्रकृति भी जिसका एक अंग है, में खुदा का नूर प्रतिबिम्ब देखा है। साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत एक ने हठयोगी साधना का आश्रय लिया है तो

दूसरे ने सूफी-साधना का। सूफी-साधना और भारतीय परम्परा के प्रभाव भेद से ही एक परमात्मा को पत्नी और आत्मा को पति मानता है तो दूसरा आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति।

अभिव्यक्ति के माध्यम पर विचार कर देखें तो कबीर ने सर्वत्र अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति मुक्तक रूप में प्रतीक, रूपक, उलटबाँसी आदि के द्वारा की है जबकि जायसी ने अधिकांशतः ही कथा के द्वारा अपने विचारों को अन्योक्ति और समासोक्ति प्रणाली में प्रकट किया है।

दोनों के रहस्यवाद में कौन श्रेष्ठ है इस विषय में विभिन्न विचारकों के भिन्न-भिन्न विचार हैं—

"कबीर का रहस्यवाद प्रायः शुष्क और नीरस है, पर जायसी आदि का ऐसा नहीं।"

—चन्द्रबली पाण्डेय

"कबीर आदि सन्तों का रहस्यवाद ज्ञानजन्य है। अतः वह उतना काव्योपयोगी नहीं, जितना जायसी आदि सूफियों का।"

—डा० श्यामसुन्दरदास

"कविता की दृष्टि से कबीर का रहस्यवाद सरल न होने के कारण उतना उत्कृष्ट नहीं है, जितना सूफियों का।"

—श्यामसुन्दरदास

"एक का रहस्यवाद भारतीय भक्तिमार्ग, श्रुतिग्रंथ, सिद्धमत और नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित होने के कारण आध्यात्मिक, ऐकान्तिक, व्यष्टिमूलक, सजीव और वर्णनात्मक है। दूसरे का सूफी साधना और भावना से अनुप्राणित होने से अत्यन्त सरस, संकेतात्मक और समष्टिमूलक है। वह प्रेमाख्यान के सहारे अभिव्यक्त होने के कारण मधुर और नाटकीय भी है।"

—डा० गोविन्द त्रिगुणायत

वास्तव में सूर्य और चन्द्र की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना अधिक युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि दोनों का अपना महत्व है। हाँ, कबीर के रहस्यवाद को केवल आध्यात्मिक, ऐकान्तिक, व्यष्टिमूलक, सजीव और वर्णनात्मक मानना अनुचित है। उसमें अभिव्यक्ति प्रेम अत्यन्त सरस, मार्मिक और उच्चकोटि का है।

: ६ :

सुधारक कबीर

महापुरुष अपने समय की देन होते हैं। महात्मा कबीर मध्यकाल के तिमिराच्छन्न वातावरण में अपना ज्ञानदीप लेकर अवतरित होते हैं, जिससे भूली-भटकी जनता उचित पथ और सम्बल पाती है। कबीर का समय, जैसाकि कबीरकालीन, परिस्थितियों में देखा जा चुका है, ऐसे विधर्मी शासकों का युग है, जिनकी तलवार की लपलपायी जिह्वा सदैव हिन्दुओं के रक्त की प्यासी रहती थी। वह भारतीय संस्कृति जिसने प्रारम्भ से ही न जाने कितने आक्रमकों को अपना बनाकर वहाँ की मिट्टी को उनके लिए जननी जन्मभूमि की पावनता में परिवर्तित कर दिया था। इस्लाम के प्रचारक इन क्रूर आक्रमणकारियों को आत्मसात न कर सकी। इसलिए तत्कालिक समाज में आचार-विचार, संस्कृति, भाषा, धर्म आदि को लेकर खाई बढ़ती जा रही थी। साथ ही विधर्मियों के इस आघात को सहन करने के लिए हिन्दू-धर्म के तथाकथित ठेकेदार बाह्याचार की कर्मकांडी प्रवृत्तियों द्वारा अपने धर्म की व्यवस्था को कठोर से कठोतर बनाते जा रहे थे। इससे जहाँ एक ओर दूसरे धर्म से हिन्दुओं की रक्षा हुई दूसरी, ओर हिन्दू समाज का एक वर्ग—निम्न वर्ग उससे पृथक् सा होता जा रहा था। ब्राह्मण वर्ग ने प्रत्येक क्षेत्र में सामन्ती व्यवस्था सी बना दी थी। उनका समाज के धर्म, कर्म एवं जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप पर अधिकार सा था। यद्यपि समाज में समानता स्थापित करने के प्रयत्न कबीर से पूर्व रामानन्द आदि के द्वारा भी किये गये, किन्तु वे उतने सफल न हो पाये। सर्वप्रथम कबीर ने इन बाह्याचारों और ब्राह्मणवादी प्रवृत्ति के जड़ोन्मूलन का बीड़ा उठाया।

यद्यपि सुधार करना या नेतागीरी की प्रवृति फक्कड़ मस्तमौला सन्त कबीर में नहीं थी, किन्तु वे समाज के कूड़ा-कर्कट या कुरूप को निकाल फेंकना चाहते थे। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण वे स्वतः सुधारक बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि सुधारक न बनना चाहते हुए भी राम-दीवाने कबीर को सुधारक का पद प्राप्त हो ही जाता है। वास्तव में वे तो मानव के दुःख से उत्पीड़ित हो उसकी सहायता के लिए चले। जनता के दुःख-दर्द और उसकी वेदना से फूटकर ही उनके

काव्य की सरस्वती वही थी ।[1] मिथ्याडम्बरों के प्रति प्रतिक्रिया कबीर का जन्मजात गुण थी । वे वही कहते थे जिसे उनकी आत्मा सत्य तत्व की कसौटी पर परख कर उचित समझे । किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि वे हठवादी थे । वास्तव में 'सहज सत्य को सहज ढंग के वर्णन करने में कबीर अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं जानते ।"

समाज की अप्रिय रीति को देखकर उस पर उन्होंने इतने तीखे प्रहार किये हैं कि ढोंग और ढपोलशंखों की धज्जियाँ उड़ गईं । इसलिए कबीर की वाणी में इतना तीव्र, तीखा, तिक्त और अभीप्ट-सिद्धि करने वाला अचूक व्यंग्य है कि व्यंग्य के क्षेत्र में उनकी तुलना हिन्दी का कोई भी लेखक नहीं कर सकता । उनका व्यंग्य तर्काश्रित नहीं अपितु विशुद्धि बौद्धिकता पर आधारित है । तर्काश्रयी हठवादियों को तो उन्होंने मूर्ख, मोटी बुद्धि वाला बताया है—

"कहै कबीर तरक जिनि साधै, तिनकी मति है मोटी ।"

उनके इन तीव्र प्रहारों में विद्रोह मात्र अथवा हीनता-ग्रंथि नहीं । उन्होंने जो व्यंग्य किये हैं वे स्वयं शुद्ध होकर । इसी प्रकार उनकी कटुतम उक्तियों में भी वैमनस्य, द्वेष की गंध नहीं और न उनकी गर्वोक्तियों में आत्मश्लाघा है । वह संत, आत्मान्वेषी महात्मा दूसरे को मिट्टी बताने से पूर्व स्वयं कंचन बना था । इसलिए उनकी गर्वोक्तियों में भी आत्माश्लाघा नहीं, अपितु अपने चरित्र-बल का दृढ़ विश्वास है । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने आपके व्यंग्यों को सिद्धों और योगियों के व्यंग्यों से पृथक् करते हुए लिखा है—

"कबीर के पूर्ववर्ती सिद्ध और योगी लोगों की आक्रमणात्मक उक्तियों में एक प्रकार की हीनभावना की ग्रन्थि या 'इनफीरियारिटी कम्प्लेक्स' पायी जाती है । वे मानो लोमड़ी के खट्टे अंगूरों की प्रतिध्वनि हैं, मानो चिलम न पा सकने वालों के आक्रोश हैं । उनमें तर्क है पर लापरवाही नहीं है, आक्रोश है पर मस्ती नहीं है, तीव्रता है पर मृदुता नहीं है । कबीरदास के आक्रमणों में भी एक रस है, एक जीवन है, क्योंकि वे आक्रान्त के वैभव से परिचित नहीं थे और अपने को समस्त आक्रमण-योग्य दुर्गुणों से मुक्त समझते थे । इस तरह जहाँ उन्हें लापरवाही का कवच मिला था वहाँ अखण्ड आत्मविश्वास का कृपाण भी ।"

इसीलिये कबीर स्थान-स्थान पर बड़े निम्सकोचपूर्वक यह कह जाते हैं—

"सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया ।
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया ।"

'सुर नर मुनि' सबको अपनी चारित्रिक श्रेष्ठता की उद्घोषणा से पीछे छोड़ जाने वाला यह आत्मविश्वास धन्य है !

समाज क्षेत्र में फैलने वाले मिथ्याचारों की कबीर ने धज्जियां उड़ा दीं । इस तीव्रालोचना में उन्होंने हिन्दू-मुसलमान किसी को न बख्शा । उनके समय में कबीर-

१. श्री प्रकाश गुप्त—'आकाशवाणी वार्ता'
२. श्री डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।

दारा के अतिरिक्त समस्त समाज कुपथगामी हो रहा था—

"एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसारा।
एक न भूला दास कबीरा, जाके राम अधारा ॥"

ब्राह्मणों ने जन्म के आधार पर ही, चाहे आचरण कितना ही निम्न क्यों न हो, अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित कर रखी थी। एक बिन्दु से निर्मित पंचतत्त्वयुक्त मानवशरीर सबका निर्माता एक ही ब्रह्मा रूपी कुम्भकार, सबकी जन्मदात्रियाँ एक सी, तो फिर जन्म के आधार पर यह भेद कैसा? इसीलिए उन्होंने ब्राह्मण को ललकारा—

"जो तू बाम्हन बाम्हनी जाया।
आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया ॥"

कबीर ने उस वर्ग को जो पूर्णरूपेण इन पंडितों के प्रपंच से पिस रहा था, मुक्त किया। एक स्थान पर उन्होंने पंडितों के प्रपंच से खुलकर पूछा है कि उनमें शूद्रों से कौन सी श्रेष्ठता है—

"काहे को कीजै पांडे छोति विचारा।
छोतहि ते उपजा संसारा।
हमारै कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध।
तुम्ह कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद।
छोति छोति करत तुम्हही जाए।
तौं ग्रभवास काहे को आए ॥"

इस प्रकार उन्होंने ब्राह्मणों की सामन्ती प्रवृत्ति का समूलोन्मूलन कर दिया। इसीलिए प्रसिद्ध विद्वान् एम० कैंबर का कथन है—

"Kabir came to deny Brahamanical authority and all Hindu deities and ritual"[1]

ब्राह्मण और शूद्र की ही नहीं इन्होंने मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच वैमनस्य, भेदभाव की खाई को भी पाटने का बड़ा स्तुत्य प्रयास किया। दोनों धर्मावलम्बी एक-दूसरे के मत की छीछालेदारी करने में लगे रहते थे और स्वयं अपनी ओर करके नहीं देखते थे। कबीर ने इन्ही कुप्रवृत्तियों की ओर इंगित कर दोनों जातियों में सुहृदयता स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने किसी एक जाति विशेष का पक्ष नहीं लिया अपितु दोनों के दोषों को निस्संकोच कह दिया है। यथा—

"ना जाने तेरा साहिब कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहिब तेरा बहिरा है?
चिउंटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है।
पंडित होय के आसन मारै, लम्बी माला जपता है।
अन्दर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लखता है ॥"

---

१. "The Hindu Religion"—पृष्ठ ३१४

दोनों मतों के दोष प्रकट करने में कबीर ने पूर्ण निष्पक्षता से काम लिया है। यदि उन्होंने हिन्दुओं की पत्थर पूजा की खिल्ली उड़ाई है—

"हम भी पाहन पूजते, होते बन के रोज।
सतगुरु की किरपा भयी, डार्या सिर थैं बोझ॥"

× × ×

पत्थर पूजै हरि मिलै तो मैं पूजूं पहाड़।"

तो दूसरी ओर मुसलमानों की अजान आदि पर भी व्यंग्य किया है।

"कंकड़ पत्थर जोड़ के मसजिद लई बनाय।
तापर मुल्ला बांग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय॥"

जातीय विभेद को दूर करने के अतिरिक्त कबीर ने समाज की आचरण-भ्रष्टता को दूर किया। तत्कालीन समाज के लिए यह बहुत बड़ा उपकार था। "कबीर की वाणी ने समाज-क्षेत्र में एक और बहुत बड़ा कार्य किया था। वह है सात्विकता और आचरण-प्रवणता का प्रचार। कबीर के युग में वासना अपना भयंकर रूप धारण करती जा रही थी। कबीर को उसका डटकर सामना करना पड़ा था। ..... उन्होंने समाज में सात्विक वृत्तियों के प्रचार के लिए बड़ा तप किया था।"[1] स्त्री-निंदा करते हुए उनका मुख्य उद्देश्य साधक और समाज के सामान्य व्यक्तियों को चरित्र-भ्रष्टता से बचाना था, इसीलिए उन्होंने कहा था—

"कामणि काली नागणी, तीन्यूं लोक मँझारि।
रामसनेही ऊबरे, विषई खाये झारि॥"

इतना ही नहीं, कबीर अपने समय में प्रचलित व्यभिचार, परस्त्रीगमन से अपरिचित नहीं थे। इसलिए जहाँ उन्होंने सामान्य रूप से नारी-निन्दा की है वहाँ पर-नारीगमन पर भी विरोध प्रकट किया है—

पर नारी राता फिरैं, चोरी बिढ़ता खांहि।
दिवस चारि सरसा रहे, अंति समूला जांहि॥"

मन को भी नियन्त्रित रखने के लिए कबीर ने बहुत बल दिया है। कबीर जानते थे कि समस्त इन्द्रियों का संचालक, पापकारण, विषयजन्य आकर्षणों में रमने वाला मन ही है, इसलिए यदि इसे वश में कर लिया जाय तो सब ठीक हो जाय—

"कबीर मारूं मन कूं, टूक टूक ह्वै जाइ।
विष की क्यारी बोइ करि, लुणत महा पछिताइ॥"

इसी प्रकार उन्होंने आचरण-सम्बन्धी अन्य बातों पर बहुत बल दिया है।

दर्शन और धर्म के क्षेत्र में भी कबीर ने बड़ा कार्य किया। जैसा कि बताया जा चुका है कबीर के समय में जनता नाना धर्म-साधनाओं की बाह्याडम्बरता के पंकिल

१. 'कबीर की विचार धारा' पृ० ३३९।

गर्त में डूबी जा रही थी। इन विभिन्न धर्म-साधनाओं का परिचय स्वयं कबीर ने भी दिया है—

"अरु भूले षट दरसन भाई। पाखंड भेष रहे लपटाई ॥
जैन बोध और साकत सैना। चारवाक चतुरंग विहूना ॥
जैन जीव की सुधि न जाने। पाती तोरी देहुरै आने ॥"

कबीरदास ने मधुमक्षिका के समान समस्त साधनाओं, समस्त धर्म का सार लेकर जनता को धर्म का ऐसा रूप दिखाया जो सर्वग्राह्य एवं सर्वसुखकारी था। धर्म के इस सर्वजन-सुलभ स्वरूप को प्रस्तुत करने में कबीर को पूर्व प्रस्थापित धार्मिक विचारधाराओं के आडम्बरों का खण्डन करना पड़ा था। इस धार्मिक दोष-दर्शन में कबीर पूर्ण निष्पक्ष रहे। उन्होंने हिन्दू-मुसलमान दोनों धर्मों के ठेकेदारों को बुरी तरह फटकारा है—

"जो रे खुदाय मसीत बसतु है, अवर मुलुक किह केरा।
हिंदू मूरति नाम निवासी, दुहमति तत्तु न हेरा।"

इसी भाँति यद्यपि वैष्णवों से कबीर का बहुत लगाव है, क्योंकि उन्हीं के राम रसायन से वे आनन्दमत्त हैं, किन्तु उनके दोष-दर्शन में भी उन्होंने पैर पीछे नहीं हटाया है—

"बैस्नों भय तो क्या भया, बूझा नहीं विवेक।
छापा तिलक बनाइ कर, दग्ध्या लोक अनेक ॥"

पूजा, तीर्थ, व्रतादि का भी उन्होंने खूब खुलकर विरोध किया है—

"पूजा सेवा, नेम, व्रत, गुड़ियन का सा खेल।
जब लग पिउ परसै नहीं, तब लग संसय मेल ॥"

योगियों आदि की हठयोगी साधना में भी कबीर ने सुधार कर कुछ शब्दों की अर्थ-भ्रांति को दूर कर साधकों को नवीन मार्ग प्रशस्त किया था—

"सहज सहज सब ही कहैं, सहज न चीन्हैं कोय।
जो कबीर विषया तजै, सहज कहीजै सोय।"

इस भाँति हम देखते हैं कि कबीर ने समाज के विभिन्न क्षेत्रों में भ्रष्टाचार को दूर कर व्यवस्था स्थापित की थी। त्रिगुणायत जी ने उचित ही लिखा है—

"उन्होंने देश में, धर्म में, समाज में, दर्शन में, साधना में, सभी क्षेत्रों में क्रान्ति की जो धारा बहाई थी, उससे निश्चय ही उन क्षेत्रों के कालुष्य बह गये थे।"

वास्तव में कबीर ने मध्यकाल में अपने इन अमृतोपम वचनों से अज्ञानांधकार में भटकती जनता का बड़ा उपकार किया। इस कलि-मल-हरन पावन वचनावली से वह मनुष्य भी कुछ प्रकाश रेखाएँ प्राप्त कर सकता है, जो आज की इस वैज्ञानिक सभ्यता में विपन्न है।

: ७ :

कबीर का दर्शन

कबीर का लक्ष्य जिस प्रकार कविता करना नहीं था, उसी भाँति दर्शन की गुत्थी को सुलझाना भी उन्हें अभीष्ट नहीं था ; किन्तु भक्ति में प्रेम की विविध भाव-व्यंजनाओं के साथ-साथ कबीर की ब्रह्म, जीव, जगत्, माया आदि से सम्बन्धित विचारधारा भी सम्मुख आई है। इन विचारों के आधार पर ही हम उनकी विभिन्न धारणाओं का पता लगा सकते हैं।

यद्यपि कविता एवं दर्शन दोनों पृथक्-पृथक् क्षेत्र हैं किन्तु फिर भी हम देखते हैं कि कवि भी दार्शनिक होता है ; यह दूसरी बात है कि वह इस रूप में नहीं, जिस रूप में दर्शन का विद्वान्। इस सम्बन्ध में महादेवी जी के शब्द द्रष्टव्य हैं—

"कवि में दार्शनिक को खोजना बहुत साधारण हो गया है। जहाँ तक सत्य के मूल रूप का सम्बन्ध है वे दोनों एक-दूसरे के अधिक निकट हैं अवश्य, पर साधन और प्रयोग की दृष्टि से उनका एक होना सहज नहीं। बुद्धि के निम्न स्तर से अपनी खोज आरम्भ करके उसे सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचाकर दार्शनिक सन्तुष्ट हो जाता है। उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुँचने के लिए वही बौद्धिक दशा सम्भव रहे। अन्तर्जगत् का सारा वैभव परखकर सत्य का मूल आंकने का उसे अवकाश नहीं, भाव की गहराई में डूबकर जीवन की थाह लेने का उसे अधिकार नहीं। वह तो चिन्तन-जगत् का अधिकारी है। बुद्धि अन्तर का बोध कराकर एकता का निर्देश करती है और हृदय एकता की अनुभूति देकर अन्तर की ओर संकेत है। परिणामतः चिन्तन की विभिन्न रेखाओं का समानान्तर रहना अनिवार्य हो जाता है। सांख्य जिस रेखा पर बढ़कर सत्य की प्राप्ति करता है, वह वेदान्त को अंगीकृत न होगी और वेदान्त जिस क्रम से चलकर सत्य तक पहुँचता है, उसे योग स्वीकार न कर सकेगा।"

"काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है, इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क-प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचने वाली विशेष विचार-पद्धति। वह तो जीवन को, चेतना अनुभूति के समस्त वैभव के साथ स्वीकार करता है। अतः कवि का दर्शन, जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है।"[1]

---

१. महादेवी वर्मा—'दीपशिखा' पृ० २०-२१

रामरसायन से उन्मत्त कवीर जीवन—सांसारिक जीवन—से विरक्त हो स्थितप्रज्ञ या जीवनमुक्त की दशा में आ गये थे। इसी अनोखे प्रेम जगत्, भावलोक से, जो उनका वास्तविक जीवन रह गया था, कबीर ने जो आस्थाएँ, विचार प्रकट किये हैं, उनसे हमें उनकी विचारधारा, चिन्तन-परिणामों का ज्ञान होता है।

ब्रह्म

कवीर का ब्रह्म उपनिषदों के अद्वैत से ही अधिक प्रभावित है। कबीर की ब्रह्म-भावना आदि से अन्त तक अद्वैतपरक है, किन्तु उस अद्वैत की प्राप्ति का प्रारम्भ या प्रयत्न जब कवीर करते हैं, प्रिय परमात्मा से वियुक्त हृदय की मनोभावनाओं की जिस समय अभिव्यक्ति करते हैं, उस समय वे द्वैत भावना से प्रस्थान करते हैं, किन्तु यह द्वैत भ्रमवश है, यही अज्ञान है। इस द्वैत भावना से कवीर की अद्वैती भावना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे सर्वत्र उसका निरूपण उपनिषदों के समान अद्वैती भावना से उत्प्रेरित होकर ही करते हैं—

"कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढै बन माँहि।
ऐसे घट घट राम हैं, दुनिया देखे नाँहि।"

जिस भाँति ब्रह्म को कवीर ने हृदस्थ मानकर पत्रिका आदि लिखने का विरोध किया है, उसी प्रकार प्रतिबिम्बवाद के आश्रय पर उसे सर्वत्र भी माना है—

"ज्यूं जल में प्रतिबिम्ब, त्यूं सकल रामहिं जानिजै।"

अद्वैतियों के ही समान कवीर का विश्वास है कि ब्रह्म से ही समस्त सृष्टि का निर्माण होता है और उसी के द्वारा उसका स्वरूप नष्ट हो जाता है—

"पानी ही ते हिम भया, हिम ही गया बिलाय।
कबीरा जो था सो भया, अब कुछ कही न जाय।।"

सृष्टि-निर्माता होने के साथ-साथ यह ब्रह्म पूर्ण निराकार, रूपविहीन, निर्लिप्त है, समस्त सृष्टि के अणु-प्रति-अणु में व्याप्त होकर भी प्रत्येक घट में भी वास करता है—

"शरीर सरोवर भीतर, आछै कमल अनूप।
परम ज्योति पुरुसोत्तम, जाके रेख न रूप।।"

उसे शरीर स्थित ज्योतिस्वरूप निराकार मानकर भी कबीर ने अद्वैती-भावनानुरूप अखण्ड, एकरस माना है—

"आदि मध्य औ अन्त लौ अविहड़ सदा अभंग।
कबीर उस कर्त्ता की सेवक तजै न संग।।"

समस्त सृष्टिव्यापी होने के साथ-साथ उस ब्रह्म की महिमा अपार है। वह इतना सामर्थ्यवान् है कि बिना इन्द्रियों के, स्वरूप के भी समस्त कार्य कर रहा है—

"बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।
आछै रहै ठौर नहीं छाड़ै, दस दिसिहीं फिरि आवै।

बिनहीं तालां ताल बजावै, बिन मंदल पर ताला।
बिनहीं सबद अनाहद बाजैं, तहाँ निरतत है गोपाला।।"

वास्तव में इनकी शक्ति का वर्णन करना सम्भव ही नहीं, वह तो अनुभव की ही वस्तु है—

"पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उन्मान।
कहिबे कूँ शोभा नहीं, देखा ही परवान।।"

कबीर ने इस ब्रह्म को राम, हरि, मुरारि, गोपाल, विष्णु आदि नामों का सम्बोधन देकर भी निर्गुण-निराकार माना है। वैष्णवों के अवतारी नाम देकर भी वे ब्रह्म को उनके समान अवतारधारी नहीं मानते—

"ना जसरथ घरि औतरी आवा, ना लंका का राव सतावा।
देवै कूखि न औतरि आवा, मां जसवै लै गोद खिलावा।
ना वो ग्वालन के संग फिरिया, गोबरधन लैं न कर धरिया।
बावन होइ नहीं बलि छलिया, धरनी वेद ले न उधरिया।।"

उनकी उक्तियाँ सगुण भक्त कवियों के समान ही प्राप्त होती हैं। उन स्थलों पर प्रेमातिरेक ने कबीर को सगुण भक्तों की भावभूमि पर ही पहुँचा दिया है—

"माधो मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति होत नहीं साधी।
कारनि कवन आइ जग जनम्याँ, जनमि कवन सचु पाया।
भौ जल तिरण चरण च्यंतामणि, ता चित घड़ी न लाया।
तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत बछल भौ हारी।
कहै कबीर धीर मति राखहु, सासति करौ हमारी।।"

अतः यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्म को निर्गुण मानकर भी कबीर उसके सगुण स्वरूप से अछूते नहीं रहे हैं, इसकी यत्किंचित् स्वीकृति उनके निम्न कथन में भी प्राप्त होती है—

"संतो धोखा का सों कहिये।
गुण में निर्गुण निर्गुण में गुण है, बाट छांडि क्या बहिए।।"

अतः हम कह सकते हैं कि कबीर का ब्रह्म अधिकांशतः अद्वैतीस्वरूप का निर्गुण, निराकार, निरुपाधि है, किन्तु कहीं-कहीं उसमें सगुण भावनाओं के लिए भी स्थान है। इसका कारण कबीर की प्रेमाभक्ति और उपनिषदों का ब्रह्म को विरुद्ध धर्माश्रयी चित्रित करना है, जिसका प्रभाव इन पर पड़ा है।

माया

कबीर ने माया का वर्णन अद्वैतियों के ही समान मिथ्या मानकर किया है। कबीर की माया धर्म और स्वभाव से सांख्यवादियों की प्रकृति से बहुत मिलती-जुलती है। सांख्यानुरूप ही कबीर ने इसे ब्रह्म से सम्बद्ध और त्रिगुणात्मक प्रकृतियुक्त माना है—

"राजस तामस सातिग तीन्यूं ये सब तेरी माया।"

माया ने समस्त संसार को अपने वश में कर चरित्रभ्रष्ट कर रखा है। इसीलिए कबीर ने इसे व्यभिचारिणी तक कह डाला है—

"तू माया रघुनाथ की, खेलड़ चढ़ी अहेड़ैं।
चतुर चिकारे चुणि-चुणि मारे, कोइ द छोड्या नेड़ैं ॥
मुनियर पीर डिगंबर मारे, जतन करता जोगी।
जंगत महि के जंगम मारे, तूं रे फिरै बलिवंती ॥
वेद पढ़न्ता ब्राह्मण मारा, सेवा करता स्वामी।
अरथ करता मिसर पछाड्या, तू रे फिरै मैमंती ॥"

× × ×

दास कबीर राम कै सरनैं, ज्यूं लागी त्यूं तोरी ॥

केवल प्रभु के दास ही इससे मुक्त हैं, अन्यथा और सब तो इसके बन्धन में आबद्ध हैं। यदि कोई माया से बचकर रहता है तो भी यह उसे अपने फंदे में फँसा लेती है—इससे त्राण का एकमात्र उपाय प्रभु-भक्ति है। इसी भक्ति के सम्बल से कबीर ने इसे विजित किया है—

"कबीर माया पापणीं, फंध ले बैठी हाटि।
सब जग तो फंधैं पड्या, गया कबीरा काटि ॥"

इससे त्राण का एक और भी उपाय कबीर ने बताया है, वह यह कि एक बार यदि भक्त इसके मिथ्यात्व को हृदय में समझ ले और इसे मिथ्या मान इससे दूर रहने का उपाय करे तो फिर यह दासी की नाईं चारों ओर लगी-लगी फिरती है—

"कबीर माया मोहनी, मांगी मिलै न हाथि।
मनह उतारी झूठ करि, तब लागी डोलै साथि।"

इसी विकर्षण से आकर्षण वाली बात को कबीर ने दूसरे प्रकार से कहा है—

"जो काटो तो डहडही सींचो तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती बेल का, कुछ गुण कहा न जाय ॥"

इसी सिद्धान्त को अपनाकर सन्त लोग, हंसात्माएँ माया को दासी बनाकर रखती हैं, जिसका वर्णन कबीर ने इन शब्दों में किया है—

"माया दासी संत की, ऊंची देइ असीम।
विलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस ॥"

संसार

कबीर ने अद्वैतियों के ही समान 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त को अपनाकर संसार का वर्णन किया है। वे सर्वत्र संसार की सत्ता मिथ्या मानते हैं और अद्वैतियों के ही समान उसके मिथ्या भाव को प्रकट करने के लिए सेसल फूल, आक़ाश-नीलिमा, धुआँ-धौरहर आदि के उपमान प्रयुक्त करते हैं।

"दिन दहूं चहूं कै कारणैं, जैसे सेंबल फूले।
झूठी सूं प्रीति लगाइ करि, साचैं कूं भूले ।।"

× × ×

दिनां चारि के सुरंग फूल, तिन्हि देखि कहा रह्यौ है भूल।
या बनासपति मैं लागैगी आगि, तब तू जैहौ कहां भागि ।।"

ईश्वर स्मरण के बिना यह मिथ्या संसार, जिसकी क्षणिक स्थिति है, और भी अधिक दुखदायी है, क्योंकि सर्वदा कच्चे धागे में लटकी तलवार की भाँति काल सिर पर खड़ा रहता है—

"रामां विनां संसारधंध कुहेरा,
सिरि प्रगट्या जंम का फेरा।"

इस संसार का नाश सर्वथा निश्चित है, इसकी उत्पत्ति और प्रलय में कुछ समय नहीं लगता, वह भी पूर्ण अनिश्चित है—

"नर जाणें अमर मेरी काया, घर घर बात दुपहरी छाया ।।
मारग छांड़ि कुमारग जोवैं, आपण मरैं और कूं रोवैं ।।
कछु एक किया कछु एक करणां, मुगध न चेतै निहचै मरणा ।।
ज्यूं जल बूंद तैसा संसारा, उपजत बिनसत लगै न वारा ।।"

कवीर का विश्वास है कि इस दुःख-सुखमय संसार से तव तक छुटकारा नहीं हो सकता, जब हमारा मन निष्कलुप न हो—

"जब लग मनहिं विकारा, तब लागि नहीं छूटै संसारा।
जब मन निर्मल करि जाना, तब निर्मल माँहि समाना ।।"

कवीर का विश्वास है कि इस संसार में जो जीवन मिला है, वह हमारे पिछले कुछ पुण्यों का फल है, अन्यथा ८४ लाख योनियों में से किसी भी एक में हो सकते थे। इसलिए मनुष्य जन्म पा सत्कर्मों का व्यापार करना यहाँ अत्यन्त आवश्यक है—

"चोखौ वनज व्यौपार करीजै,
आइनै दिसावरि रे राम जपि लाहौ लीजै ।।

अब कबीर तो इस व्यापार को करने में पूर्ण दक्ष हो गये हैं और उन्होंने सत्कर्मों की पूँजी संचित कर ली है, इसीलिए काल रूपी दलाल का भी उन्हें भय नहीं रहा—

"रे जम नांहि नवै व्यौपारी, जे भरैं जगाति तुम्हारी।
वसुधा छाड़ि बनिज हम कीन्हौं, लाद्यौ हरि को लाऊँ।
राम नाम की गूंनि भराऊँ हरि कै टांडै जाऊँ ।।"

इसी भाँति 'चदरिया झीनी वीती' में कबीर ने यही अभिव्यक्त किया है कि इस संसार में प्राप्त मानव जीवन को निष्कलंक रख सत्कर्मों का बनिज करना चाहिए।

जीवात्मा और शरीर

जहाँ तक आत्मा का सम्बन्ध है, कबीर ने सदैव उसे परमात्मा का अंश माना

है। जिस प्रकार अद्वैतवादियों ने उपनिषदों का आधार लेकर ब्रह्म और आत्मा की एकता को प्रस्थापित किया, उसी भांति कबीर ने भी अंश-अंशी भाव की अवस्थिति सर्वत्र मानी है। अपने रहस्यवाद में सर्वत्र उन्होंने आत्मा और परमात्मा का ऐक्य प्रस्थापित किया है—

"प्रीतम कूं पतियां लिखूं, जौ कहीं होय बिदेस।
तन में मन में नैन में, ताकौ कहा संदेस॥"

इसी अद्वैतवाद के आधार पर ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए आत्मा विकल है। यह विरह—वियुक्तावस्था—क्षणिक है, इसी भाव को वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत, जब आपा पर नहीं जाना।
ज्यूं जल मैं पैसि न निकसै, कहै कबीर मन माना॥"

आत्मा और परमात्मा का यह पृथक्त्व माया के कारण है, माया का आवरण हटते ही आत्मा और परमात्मा पुनः एक हैं। यह उसी भांति है, जिस प्रकार जल में तैरते हुए कुम्भ में भी लहर वाला जल है, किन्तु दोनों एक जैसे होते हुए भी अलग-अलग हैं। दोनों का मिलन तभी सम्भव है, जब कुम्भ (शरीर—माया—) की सत्ता समाप्त हो जाय—

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, इहि तथ कथ्यौ ग्यानी॥"

इसीलिए जब आत्मा परमात्मा की खोज में चली तो उसे सर्वत्र परमात्मा दृष्टिगत हुआ—

"लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल॥"

इस प्रकार अन्ततः आत्मा और परमात्मा एक ही है।

जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है, कबीर का भाव है कि जो कुछ समस्त विम्ब-ब्रह्माण्ड में है, उस सबकी सत्ता शरीर में है, शरीर में ब्रह्मांड का ही लघु संस्करण है—

"ब्रह्मण्डे सो प्यण्डे जानि।"

किन्तु इस शरीर की स्थिति बड़ी क्षणिक है—

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात।"

अन्यत्र भी उसकी क्षणिकता का प्रतिपादन बड़े सुन्दर एवं नवीन उपमानों द्वारा कवि ने किया है। शरीर के लिए सर्वाधिक सुन्दर उपमा अंजलि के जल से दी है। अंजलि में रोका हुआ जल प्रतिपल रिसता रहता है, साथ ही किसी भी समय अंजलि खुल जाने पर उसका अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है—

"तन धन जोवन अंजुली कौ पानी, जात न लागै बार।"

× × × ×

"जल अंजुरी जीवन जैसा, ताका है किसा भरोसा॥"

साथ ही कबीर का यह भी विश्वास है कि शरीर-पूर्ति के लिए नाना पाप-कर्म करने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि यह मिथ्या है। दूसरे हम जिनके लिए पाप-बोझ ढोते हैं, मृत्यु हो जाने पर, पंच तत्वमय शरीर की सत्ता समाप्त हो जाने पर, किसी का भी राग इससे नहीं रह जाता है—

"मुठी एक मठिया मुठि एक कठिया, संगि काहू कै न जाइ।
देहली लग तेरी मिहरी सगी रे, फलसा लगी सग माइ।
मड़हट लूं सब लोग कुटुम्बी, हंस अकेला जाइ॥"

इस संसार में शरीर का नाश—मृत्यु—उतनी ही निश्चित है जितना स्वयं निश्चित शब्द—

"जो ऊग्या सो आथवै, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ॥"

आपको इस मृत्यु से बचाने वाला कोई नहीं। जो आज दूसरों की श्मशान-यात्रा कर शोकाकुल हो रहे हैं, वे भी निश्चित रूप से इसी भाँति श्मशान के दर्शन करेंगे—

"रोवणहारे भी मुए, मुए जलांवणहार।
हा हा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार॥"

इस शरीर को धारण करने में बारम्बार मातृगर्भ में रह अमित वेदना सहनी पड़ती है, इसका एक ही उपाय है—मोक्ष। यह मोक्ष या मृत्यु व्यक्ति को अपने सत्-कार्यों एवं अनन्य तथा दृढ़, ईश्वर-भक्ति से प्राप्त होती है। मुक्ति-प्राप्त कर भक्त भगवान्, अंश-अंशी, आत्मा-परमात्मा एक हो जाते हैं, दोनों में कोई भेद नहीं रह जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर के दार्शनिक विचार वेदान्ती हैं। दर्शन-क्षेत्र में निश्चित रूप से उन पर शुद्ध भारतीय प्रभाव है।

: ८ :

कबीर की भाषा

भाषा भावों को प्रकट करने का साधन है। यदि भाव साध्य है तो भाषा साधन है। साध्य की उपयुक्तता तभी संभव है, जब साधन भी उसके अनुरूप हो। इसी प्रकार भावों की गरिमा तभी प्रकट हो सकती है, जब उस गरिमा को वहन करने की पूर्ण शक्ति भाषा में हो। अन्यथा भाव चाहे जितने उदात्त हों, यदि उनके अनुरूप भाषा का प्रयोग नहीं है तो भावों के औदात्य को अत्यधिक क्षति पहुंचती है, वरन् यह कहना भी अनुचित न होगा कि वह औदात्य नष्टप्राय हो जाता है। इसीलिए भावों के अनुरूप ही भाषा-प्रयोग नितांत अनिवार्य है।

कबीर की भाषा के विषय में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद हैं। इन विद्वानों में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० सरनामसिंह आदि के मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की भाषा को भावानुरूपिणी माना है जो भाषा का सर्वोत्तम गुण होता है। इनका मत है --

'भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाही कर सके और अकथ कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा में है, वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है।'

इसके विपरीत, डॉ० रामकुमार वर्मा को कबीर की भाषा में कोई विशेषता नहीं दिखाई देती—

'कबीर की भाषा बहुत अपरिष्कृत है, उसमें कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है।'

डॉ० सरनामसिंह का मत है—

'उस समय के रवैये को देखकर यही कहा जा सकता है कि अपभ्रंश ने अपना दायित्व लोक-भाषाओं को सौंप दिया था, जिनमें से किसी में भी अपने शुद्ध रूप और स्वतन्त्र व्यक्तित्व की झलक नहीं मिलती। जिस प्रकार गुजराती और राजस्थानी में

उस समय बहुत साम्य था, उसी प्रकार राजस्थानी, ब्रजभाषा या गुजराती में भी बहुत साम्य था। यद्यपि लोक-भावनाओं की प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी, किन्तु उनके बीच में कोई विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं था। इस साम्य के कारण एक भाषा-भाषी दूसरे स्थानों की भाषा सरलता से बोल सकता था।'

इसीलिए इन्होंने कबीर की भाषा को 'राह दिखाने वाली' माना है—

'कबीर की भाषा को संध्या भाषा से सम्बन्धित कदापि नहीं किया जा सकता, क्योंकि संध्या भाषा के प्रवर्तकों का जो लक्ष्य था, उससे कबीर का लक्ष्य सर्वथा भिन्न था। जबकि पहले लोग भोली जनता को भ्रांति में डालना चाहते थे, कबीर उसे शांति के पथ पर ले जाना चाहते थे। सिद्धों की भाषा गुमराह करने वाली थी और कबीर की भाषा राह दिखाने वाली थी।'

उपर्युक्त मतों में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० सरनामसिंह कबीर की भाषा को सक्षम मानते हैं और डॉ० रामकुमार वर्मा अक्षम। अतः देखना यह है कि इन मतों में कौन-सा मत ठीक है, अर्थात् कबीर की भाषा भाषा-गुणों से सम्पन्न है अथवा विहीन। कबीर की भाषा का सम्यक् अध्ययन करने के लिए इस अध्ययन को निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—

१. भाव और भाषा, २. भाषा का स्वरूप।

भाव और भाषा

कबीर के काव्य के भावपक्ष अथवा वर्ण्य विषय के दो रूप हैं—रहस्यवादी भावनाओं की अभिव्यक्ति और सामाजिक आडम्बरों का विरोध।

रहस्यवाद भारतीय दर्शन की प्रमुखतम विशेषता है। रहस्यवाद का जितना सूक्ष्म और व्यापक विश्लेषण भारत में हुआ है, उतना अन्य किसी देश में नहीं हुआ। कबीर के रहस्यवाद के निम्नलिखित तत्व हैं—

१. ब्रह्म का स्वरूप, २. आत्मा का स्वरूप, ३. माया का स्वरूप, ४. संसार का स्वरूप, ५. जीवन का स्वरूप।

१. ब्रह्म का स्वरूप—यद्यपि भारतीय दर्शन में ब्रह्म के स्वरूप का अत्यन्त गंभीरता एवं व्यापकता से विश्लेषण किया गया है, किन्तु दर्शनकारों को, अन्त में अपने विश्लेषण से पूर्ण परितोष प्राप्त नहीं हो सका। इसीलिए उसके स्वरूप का बहुमुखी विश्लेषण करने के पश्चात् भी उसे 'नेति नेति' कहना पड़ा। कबीर में अपने विश्लेषण के प्रति ऐसा गहन अविश्वास कहीं भी प्रकट नहीं होता, बल्कि दार्शनिक शब्दावली की गूढ़ताओं को छोड़कर उन्होंने बहुत ही सीधे-साधे और सुबोध शब्दों में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण कर दिया है। ब्रह्म के निराकारत्व की अभिव्यक्ति कबीर इन शब्दों में करते हैं—

"जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूप क रूप।
पुहुप बास थैं पतला, ऐसा तत्त अनूप॥"

वह ब्रह्म ऐसा अनूप तत्त्व है जिसके न मुँह है, न माथा है और न कोई जिसका

रूप है। जो पुष्प-गंध से भी पतला है। यह निरूपण अत्यंत सुबोध है। इसी प्रकार ब्रह्म की सर्वव्यापकता और एकत्व का वर्णन कबीर इन शब्दों में करते हैं—

"रहै निराला मांड थैं, सकल मांड ता मांहि।
कबीर सेवै तास कूं दूजा कोई नांहि ॥"

अर्थात् समस्त संसार उस प्रभु में समाया हुआ है तो भी वह सांसारिक माया-मोह से सर्वथा निर्लेप रहता है। कबीर ऐसे ही अनुपम रूप की भक्ति करता है, वे ही उसके एकमात्र आश्रय हैं।

२. **आत्मा का स्वरूप**—भारतीय दर्शनों में आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण दो दृष्टियों से किया गया है—द्वैतवादी दृष्टिकोण से और अद्वैतवादी दृष्टिकोण से। द्वैतवादी दृष्टिकोण के अनुसार आत्मा और परमात्मा दो भिन्न-भिन्न सत्ताएँ हैं और अद्वैतवादी दृष्टिकोण से आत्मा और परमात्मा अभिन्न हैं, केवल काया के आवरण के कारण ही ये भिन्न भासित होते हैं। जब यह काया का आवरण नष्ट हो जाता है तो आत्मा फिर अपने उसी स्वरूप में जा मिलती है, जिसका वह एक अंश हैं। इस वाद के अनुसार आत्मा और परमात्मा में अंशांशी सम्बन्ध है। कबीर अद्वैतवादी हैं, अतः आत्मा का विवेचन उन्होंने इन शब्दों में किया है—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है,
बाहरि भीतरि पानी।
फूट्यौ कुम्भ जल जलहि समाना,
यह तत कथ्यौ गियानी ॥"

इन पंक्तियों में कबीर ने बताया है कि जिस प्रकार जल से परिपूर्ण घड़ा पानी के भीतर रहता है, वैसी ही स्थिति काया के आवरण से बद्ध आत्मा की भी है और जिस प्रकार घड़े के फूट जाने पर घड़े की सीमाओं से आबद्ध पानी फिर बाहर के पानी (सागर) में मिलकर एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार काया का आवरण हट जाने पर आत्मा पुनः परम ब्रह्म में लीन होकर तादात्म्य हो जाती है। दर्शनशास्त्र के इतने गूढ़ सिद्धांत की इतनी सरल अभिव्यक्ति कबीर की भाषा की वस्तुतः विलक्षण विशेषता है।

३. **माया का स्वरूप**—आत्मा और परमात्मा के बीच व्यवधान डालने वाले जो तत्व हैं, उन्हें माया कहते हैं। इसीलिए दर्शन में ब्रह्म को सत्य और माया को मिथ्या बताया गया है। कबीर ने माया के मिथ्यात्व की अनेक प्रकार से व्यंजना की है। यथा—

"कबीर माया पापणीं, हरि सूं करै हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम ॥"

माया के मिथ्यात्व और बाधकत्व को अत्यंत सबल शब्दों में व्यक्त किया गया है। 'हरि सूं करै हराम' शब्दों में जो प्रभावोत्पादक व्यंजना है, वह 'हरि से विमुख करने में' कदापि नहीं है। इसी प्रकार माया की अनंतता इन शब्दों में प्रकट की है—

"माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया शरीर ।
आसा तिष्णां नां मुई, यौं कहि गया कबीर ।।"

इस प्रकार कबीर ने माया के विविध रूपों का अत्यंत सरल भाषा में अत्यंत प्रभावशाली रीति से वर्णन किया है ।

४. संसार का स्वरूप—संसार नश्वर है, क्षणभंगुर है, इस बात को सभी दर्शकों ने स्वीकार किया है । कबीर ने अनेक स्थलों पर संसार की नश्वरता का वर्णन किया है । यथा—

"सातों सबद जहाँ बाजते, होत छत्तीसों राग ।
ते मंदिर खाली पड़ै, बैसण लागे काग ।"

इस दोहे में संसार की नश्वरता का जो वर्णन है, वह एकदम मर्मस्पर्शी है और इसे जनसाधारण बहुत अच्छी तरह समझ सकता है, क्योंकि उन्हीं की भाषा में यह बात बताई गई है । 'बैसण लागे काग' तो इस दोहे के भाव का चरम बिन्दु ही समझना चाहिए और—

"यहु ऐसा संसार है, जो सेंमर का फूल ।
दिन दस के ब्यौहार में, झूठे रंग न भूल ।।"

सेमल के फूल का ज्ञान सभी साधारण जनों को होता है, विशेषतः जो ग्रामीण वातावरण में प्रकृति की गोद में रहते हैं । ये ही लोग कबीर के श्रोता थे । अतः सेमल के फूल द्वारा कबीर आसानी से सभी श्रोताओं के दिलों पर संसार की निस्सारता अंकित कर देते हैं ।

५. जीवन का स्वरूप—संसार की भाँति दार्शनिकों ने जीवन को भी निस्सार और क्षणभंगुर माना है । कबीर ने जीवन की निस्सारता और क्षणभंगुरता का वर्णन उन्हीं वस्तुओं के माध्यम से किया है जो सर्व-साधारण से ग्राह्य हैं । यथा—

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जाति ।
देखत ही छिप जायेगा, ज्यौं तारा प्रभाति ।।"

पानी के बुलबुले और तारे सभी व्यक्तियों को ज्ञात हैं । इन्हीं दो प्रतीकों के द्वारा कबीर ने जीवन की नश्वरता एवं क्षणभंगुरता अत्यंत प्रभावक रीति से एवं सुबोध ढंग से व्यक्त की है । इसी प्रकार माली और कलियों के द्वारा यह वर्णन भी सुबोध और प्रभावोत्पादक है—

"माली आवत देखि करि, कलियन करी पुकार ।
फूले फूले चुन लिये, काल्हि हमारी बार ।।"

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि कबीर की भाषा में रहस्यवादी मतों को भी अत्यन्त सुबोध और प्रभावशाली रीति से व्यक्त करने की क्षमता है । यह क्षमता उसी कवि के काव्य में हो सकती है, जिसे भावों और शब्द-प्रयोगों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो । अतः यह कहने में हमें तनिक भी संकोच नहीं है कि कबीर-काव्य

में भाव और भाषा का अद्‌भुत सम्मिश्रण है; अर्थात् कबीर की भाषा सर्वत्र भावों को पूर्णतया व्यक्त करने में सफल रही है।

जिस प्रकार कबीर रहस्यवादी मतों को सुबोध और प्रभावशाली रीति से व्यक्त करने में सफल हुए हैं, उसी प्रकार समाज के आडम्बरों का विरोध करने में भी सफल रहे हैं। यथा—

"कर में तो माला फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुवा तो चहुँदिशि फिरै, यह तो सुमिरन नाँहि॥"

इसी प्रकार का एक और उदाहरण प्रस्तुत है—

"कांकर पाथर जोरि कै, मसजिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरो भयो खुदाय॥"

भाषा का स्वरूप

भाषा केवल शब्दों का ही समूह नहीं है, वरन् इसमें प्रभाव उत्पन्न करने वाली दूसरी और भी अनेक शक्तियाँ हैं, जैसे—शब्द, अलंकार, छंद, गुण, मुहावरे आदि। फलतः कबीर के भाषा के स्वरूप के अध्ययन को निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया सकता है—

१. शब्द-प्रयोग २. अलंकार-योजना ३. छंद-योजना ४. भाषा के गुण ५. मुहावरे और लोकोक्तियाँ ६. कवि-समय।

१. शब्द-प्रयोग—यद्यपि भाषा शब्दों से बनती है, किन्तु शब्द की वास्तविक महत्ता उसके अर्थ पर निर्भर है, अतः किसी कवि का शब्द-प्रयोग जितना अच्छा होगा, उसकी भाषा में उतनी ही अधिक अभिव्यंजना-शक्ति होगी, और उतना ही अधिक प्रभाव होगा।

शब्द चार प्रकार के होते हैं—तत्सम, तद्‌भव, देशज और विदेशी। संस्कृत के शब्दों को, हिन्दी में ज्यों का त्यों जिनका प्रयोग किया जाता है, तत्सम शब्द कहते हैं, जैसे अग्नि, दुग्ध आदि। तद्‌भव शब्द उन्हें कहते हैं जिनका रूप बिगड़ जाता के, जैसे आग, दूध आदि। बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्दों को देशज कहते हैं, जैसे माटी, रूंदना आदि। हिन्दी-साहित्य में भारतीय भाषायों को छोड़कर अन्य सब भाषाएं फारसी, अरबी आदि—विदेशी मानी गई हैं।

कबीर-काव्य में तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुलता से मिलता है, यद्यपि कबीर का इन शब्दों का प्रयोग की ओर विशेष आग्रह नहीं था, क्योंकि वे साहित्य के कवि नहीं, जनसाधारण के कवि थे। तत्सम शब्दों से युक्त कबीर-काव्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं:

१. सतगुर की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत ऊघाड़िया, अनंत दिखावणहार॥
२. गगन गरजि अमृत चवै, कदली कवल प्रकास।
तहाँ कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास॥

इन दोनों में महिमा, अनंत, लोचन, गगन, अमृत, कदली, निज शब्द तत्सम है।

तद्भव शब्दों का प्रयोग कबीर-काव्य में अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। इसका कारण एक तो यह है कि कबीर स्वयं उन व्यक्तियों में से हैं, जिन्हें कभी भी मसि और कागद छूने का अवसर नहीं मिला। दूसरा कारण यह है कि कबीर का श्रोता साधारण वर्ग का था। अतः स्वाभाविक रूप से भी और लक्ष्य की दृष्टि से भी कबीर काव्य में तद्भव शब्दों के प्रयोग की अधिकता होना स्वाभाविक ही है। यथा—

१. नांव न जांणौं गांव का, मारगि लागा जांउं।
कालिह जु काटां भाजिसी, पहिली क्यूं न खड़ांउं॥

२. कबीर यहु जग अंधला, जैसी अंधी गाइ।
बछा था सो मरि गया, ऊभी चाम चटाइ॥

इन दोनों में पांव, गांव, मारगि, अंगला, गाइ, बछा, चाम शब्द तद्भव हैं।

कहीं-कहीं कबीर ने शब्दों को इतना विकृत कर दिया है कि उनके मूल रूप तक पहुँचना आसान नहीं रह जाता। जैसे बेसास, इसका मूल रूप विश्वास है।

३. देशज—कबीर की भाषा में देशज शब्दों का भी प्रयोग भी बहुलता से मिलता है। इसके दो कारण है : पहला कारण है कबीर का पर्यटनशील स्वभाव और दूसरा है साधारण जनता को उपदेश देना। अतः उन्हें देशज शब्दों का ग्रहण पर्याप्त संख्या में करना पड़ा है। यथा—

"माटी कहै कुम्हार सूं, तू क्यौं रूंदै मोय।
इक दिन ऐसा आयेगा, मैं रूंदूंगी तोय॥"

इस दोहे में माटी, सूं, रूंदै, मोय, आपण, तोय देशज शब्द है। इस प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त कबीर-काव्य में भारत के अन्य प्रान्तों के विशेषतः राजस्थान और पंजाब के शब्द भी मिलते हैं। यथा—

"चोट सतांणी बिरह की, सब तन जर जर होय।
मारणहारा जानि है, कै जिहि लागी सोय॥"

इस दोहे में कबीर की वाणी पर पंजाबीपन की छाप स्पष्ट है। कही-कहीं उन्होंने पंजाबी मुहावरों का भी प्रयोग किया है। यथा—

"मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहिं बिलग्ग।
लूण बिलग्ग पाणियाँ, पाणी लूण बिलग्ग॥"

४. विदेशी—कबीर-काव्य में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से कारण फारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग भी काफी हुआ है। कहीं-कहीं तो पूरी की पूरी शब्दावली फारसी और अरबी शब्दों से बनी हुई है यथा—

"खलिक हरि कहीं दरहाल।
पंजर जसि करद दुसमन, मुरद करि पैमाल॥
भिस्त हुस्कों दोजगां, दुंदर दराज दिवाल।
पहनायें परदा ईत आतस, जहर जंगयः जाल॥"

इन विभिन्न प्रकार के शब्द-प्रयोगों से कबीर की भाषा को चाहे 'खिचड़ी भाषा' कह लिया जाये, किन्तु इसकी अभिव्यंजना-शक्ति को इन शब्द-प्रयोगों से बहुत शक्ति मिली है, इसमें बिल्कुल सन्देह नहीं है।

२. अलंकार-योजना—संस्कृत में 'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गई है—'अलंकारोतीति अलंकारः' और 'अलंक्रियतेऽनेनेति अलंकारः' अर्थात् जो अलंकृत करे अथवा जिससे अलंकृत किया जाये, उसे अलंकार कहते हैं। काव्य में अलंकार का स्थान निर्धारित करने में इन व्युत्पत्तियों में चाहे जो अन्तर हो, किन्तु अलंकार का कर्म अलंकृत करना है, यह दोनों ही व्युत्पत्तियाँ स्वीकार करती हैं। काव्य में अलंकारों का प्रयोग केवल अलंकृत करने के लिए ही नहीं किया जाता, वरन् भावों को और अधिक सुस्पष्ट और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए भी किया जाता है।

अलंकारों को मुख्यतया तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—

शब्दालंकार, अर्थालंकार और मिश्रित अलंकार। जहां अलंकारत्व शब्द पर निर्भर रहता है, वहाँ शब्दालंकार और जहां अर्थ पर निर्भर रहता है, वहाँ अर्थालंकार होता है। जहाँ वह शब्द और अर्थ दोनों पर आधारित रहता है; अर्थात् जहाँ एक ही स्थान पर शब्दालंकार और अर्थालंकारों का प्रयोग होता है, और वहाँ उन दोनों की स्थितियाँ स्पष्ट होती हैं, वहाँ मिश्रित अलंकार होता है।

कबीर-काव्य में तीनों प्रकार के ही अलंकार होरा है।

"सतगुर सवाँन को सगा, सोधी सईं न दाति।
हरि जी सवाँन को हितू, हरिजन सईं न जाति॥"

इस दोहे में अनुप्रास और यमक शब्दालंकारों का प्रयोग है। और—

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जाति।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभाति॥"

इस दोहे में उपमा और दृष्टांत अर्थालंकारों का प्रयोग है।

इस प्रकार कबीर-काव्य से असंख्य उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं। वस्तुतः कबीर ने अलंकारों का प्रयोग जान-बूझकर नहीं किया है। वे तो उनकी वाणी के आवेग से स्वतः ही इस प्रकार बिखर गये हैं जिस प्रकार सागर-तरंगों की थिरकनों से रत्न राशि बिखर जाती है। इसीलिए कबीर के अलंकार सर्वत्र उनकी अभिव्यंजना को सबल, सुस्पष्ट और प्रभावोत्पादक बना देने वाले हैं।

३. छंद—कबीर ने दोहा छंद का प्रयोग अधिकांशतः किया है और इस छंद के प्रयोग में इतने सफल हुए हैं कि जो बात, गागर में सागर भरने की, बिहारी के विषय में कही जाती है, वही यदि कबीर के विषय में कही जाये तो अनुचित न होगा। कबीर का एक-एक दोहा अपने में भाव-सागर को समाहित किये हुए है। यथा—

"चंदन की कुटकी भली. नां बंबूर की अवराउं।
बैसनों की छपरी भली, नां साकत का बड़गांउं॥"

इस दोहे में अनेक भावों का सम्मिश्रण है।

दोहा छंद के अतिरिक्त कबीर ने अपने पदों में गौड़ी, रामकली, आसावरी, कदारौ, कास, टौड़ी, भैस, विलावल, ललित, बसंत, कल्याण, सारंग, मलार और घनाश्री आदि रागों का प्रयोग भी सफलतापूर्वक किया है।

४. भाषा के गुण— भाषा के तीन गुण माने गये हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। कबीर की भाषा में ओज-गुण की अपेक्षाकृत कमी है, किन्तु माधुर्य और प्रसाद का बाहुल्य मिलता है।

जिन रचनाओं में कबीर ने उपदेशात्मक प्रवृत्तिं को प्रधानता दी है, या जिनमें सुधारात्मक पक्ष प्रधान है, उनमें प्रसाद गुण की अधिकता है। प्रसाद-गुण सम्पन्न रचनाएँ अत्यन्त सुबोध, स्पष्ट और प्रभावोत्पादक हैं यथा—

"यह तन काचा कुम्भ है, लिया फिरै था साथि।
डबका लागि फूट गया, कछू न आया हाथि ॥"

यहाँ पर सांगरूपक अलंकार है। इसमें कच्चे घड़े और शरीर में अभेद आरोप का आरोपण किया गया है। यहाँ प्रसाद गुण है।

कबीर के रहस्यवादी, संयोग और वियोग के वर्णनों में मुख्यतया माधुर्य गुण का प्रयोग पाया जाता है। यथा—

"बहुत दिनन की जोवती, बाट तिहारी राम।
जिय तरसैं तुझ मिलन को, मनि नाही विश्राम ॥"

यहाँ पर माधुर्य गुण है।

५. मुहावरे और लोकोक्तियाँ— मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा में अपूर्व शक्ति आती है, इसलिए कोई भी कवि मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग से बच नहीं सकता। कबीर ने भी यथावसर मुहावरे और लोकोक्तियों का समुचित प्रयोग किया है। यथा—

"पाँव कुल्हाड़ी मारिया, मूरख अपने हाथ।'

यहाँ पर अपने ही हाथ से अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारने का मुहावरा प्रभावोत्पादक रीति से प्रयुक्त हुआ है। और—

"आछे दिन पाछे गये, हरि सैं कि न हेत।
अब पछताए होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत ॥"

इसमें द्वितीय पंक्ति में प्रयुक्त लोकोक्ति तो बहुत ही प्रसिद्ध है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की भाषा में वे सभी गुण मिलते हैं जो एक सबल और समृद्ध भाषा के लिए अपेक्षित हैं। अतः केवल इस आधार पर कि कबीर अशिक्षित थे, उनकी भाषा की अवहेलना करना, उसे असंस्कृत और अपरिष्कृत तथा खिचड़ी बताना उचित नहीं है। वस्तुतः कबीर की भाषा किसी भी समर्थ और महाकवि की भाषा का मुकाबला कर सकती है। इसलिए यह कहना कि 'कबीर वाणी के डिक्टेटर थे' अनुचित नहीं है।

व्याख्या-भाग

साखी-भाग

१. गुरुदेव कौ अंग

अंग-परिचय—भारतीय सन्त-परम्परा में और विशेषतः निर्गुण सन्तों की परम्परा में गुरु को अत्यन्त महत्त्व दिया गया गया है। इस अंग में कबीर ने भी गुरु की महत्ता का वर्णन किया है। उन्होंने बताया है कि इस संसार में गुरु के समान कोई हितैषी और अपना सगा नहीं है, इसलिए मैं अपना तन-मन और सर्वस्व गुरु के प्रति समर्पण करता हूँ जो क्षणभर में ही अपनी कृपा से मनुष्य को देवता बनाने में समर्थ हैं। गुरु की महिमा अनंत है और इसे वही समझ सकता है जिसके ज्ञान-चक्षु खुल गये हों। गुरु की कृपा जिस व्यक्ति पर होती है, कलियुग का प्रभाव भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता; अर्थात् उस पर पापों और दुष्कर्मों का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। गुरु ही अपने शिष्य के अन्तर की ज्योति को प्रज्वलित करने में समर्थ है, वही सच्चा शूरवीर है गुरु का उपदेश कानों में पड़ते ही शिष्य समस्त प्रकार के सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। ऐसा गुरु भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होता है। किन्तु दुर्भाग्यवशात् जिस व्यक्ति को विद्वान् गुरु प्राप्त नहीं होता, उस शिष्य की कभी मुक्ति नहीं हो सकती, बल्कि वह तो अपने साथ अपने शिष्य को भी लेकर डूब जाता है। गुरु की वाणी ही उस संशय को नष्ट करने में समर्थ है, जो समस्त संसार को अपने कठोर पाश में आबद्ध किये हुए है। किन्तु केवल गुरु का मिलना ही मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है, बल्कि शिष्य के शुद्ध अन्तःकरण की भी उतनी ही आवश्यकता है, क्योंकि यदि शिष्य के हृदय में किसी प्रकार का विकार है, तो गुरु की कृपा से उसे कोई विशेष लाभ नहीं होगा। अपनी इसी महत्ता के कारण गुरु का स्थान भगवान के स्थान के समान है; अर्थात् गुरु और गोविन्द दोनों एक ही हैं। जिन लोगों को गुरु की प्राप्ति नहीं होती, तो चाहे जितनी तप और साधना करें किन्तु उनका कोई फल नहीं होता। सर्व प्रकार से समर्थ गुरु से ही परिचय हो जाने पर समस्त सांसारिक और मानसिक दुख नष्ट हो जाते हैं और आत्मा निर्मल होकर प्रभु-भक्ति में तल्लीन हो जाती है। अतः गुरु की महिमा अनंत और अवर्णनीय है।

सतगुर सवाँन को सगा, सोधि सईं न दाति।
हरिजी सवाँन को हितू, हरिजन सईं न जाति ॥१॥

शब्दार्थ—सवाँन=समान, सोधी=तत्वशोधक अर्थात् साधु। सईं=समान। दाति=दाता। हरिजन—प्रभु-भक्त।

(इस संसार में) सद्गुरु के समान अपना कोई निकट सम्बन्धी नहीं है। तत्वशोधन वा प्रभु की खोज करने वाले साधु के समान कोई दाता नहीं क्योंकि वह अपना समस्त ज्ञानार्णव शिष्य में उंड़ेल देता है। दयालु प्रभु तुल्य अपना कोई हितैषी नहीं है और प्रभुभक्तों के समान कोई जाति नहीं है। अर्थात् प्रभु-भक्त सब मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं।

विशेष—अनन्वयोपमा, अनुप्रास एवं यमक अलंकार।

बलिहारी गुरु आपणें, द्यौं हाड़ी कै बार।
जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार ॥२॥

शब्दार्थ—आपणैं=अपने, हाड़ी=शरीर (अस्थिचर्ममय)।

मैं शरीर को अपने गुरु के ऊपर वार न्यौछावर करूं, मैं उनकी बलि-बलि जाता हूँ, जिन्होंने अत्यन्त अल्प समय में मुझे मनुष्य से देवता बना दिया अर्थात् मेरी मानवीय दुर्बलताओं को नष्ट कर मुझे दिव्यगुण युक्त कर दिया।

सतगुर की महिमा अनँत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार ॥३॥

शब्दार्थ—अनंत=अनन्त। लोचन अनँत=ज्ञान चक्षु, प्रज्ञा-चक्षु। अनँत=ब्रह्म।

सद्गुरु की महिमा अपरम्पार है, उन्होंने मेरे साथ महान् उपकार किया है। उन्होंने मेरे (चर्मचक्षुओं के स्थान पर) ज्ञान-चक्षु खोल दिये, दिव्य-दृष्टि प्रदान कर दी, जिसके द्वारा उस अनन्त ब्रह्म के दर्शन हो गये।

विशेष—यमक अलंकार।

राम नाम कै पटंतरै, देबे को कुछ नांहि।
क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन मांहि ॥४॥

शब्दार्थ—पटंतरै=बदले में। संतोषिए=संतुष्ट करूँ। हौंस=प्रबल अभिलाषा।

गुरु ने राम-नाम का जो अमूल्य मन्त्र दिया है उसके बदले में देने के लिये मेरे पास कुछ नहीं है, क्योंकि उस राम-नाम के सम्मुख समस्त वस्तुएँ तुच्छ और हेय हैं, फिर भला मैं क्या देकर गुरुदेव को सन्तुष्ट करूँ—यही प्रबल अभिलाषा मेरे मन में हुमक कर रह जाती हैं।

सतगुर के सदकै करूं, दिल अपणीं का साछ।
कलियुग हम स्यूं लड़ि पड़्या, मुहकम मेरा बाछ ॥५॥

शब्दार्थ—साछ=साक्षी। बाछ=रक्षक।

मैं सद्गुरु पर प्राणपण से न्यौछावर हूँ एवं अपने हृदय को साक्षी करके कहता हूँ कि कलिकाल अर्थात् विविध मायामोह के प्रपंच मुझसे जूझ रहे हैं, पापों का और

मन का संघर्ष चल रहा है, किन्तु शक्तिसम्पन्न गुरुवर मेरे रक्षक हैं, अतः पाप-पुंज मुझे परास्त नहीं कर सकते।

सतगुरु लई कमांण करि, बाँहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूं, भीतरि रह्या सरीर ॥६॥

शब्दार्थ—कमाँण=धनुष। बांहण लागा=बरसाने लगा।

सद्गुरु ने हाथ में धनुष धारण कर लिया एवं तीरों की वर्षा करने लगे अर्थात् अध्यवसायपूर्वक, प्रयत्नपूर्वक शिष्य को उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। इन उपदेश बाणों में एक बाण इस प्रकार प्रेमपूर्वक चलाया जिसने अन्तर को बेधकर हृदय में घर कर लिया। हृदय तक बाण को पहुँचने के लिये मध्य के समस्त अन्धावरण बेधने पड़े हैं, इसीलिए वह हृदय में जाकर रह गया। यह बाण था प्रेम का।

सतगुर सांचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिल गया, पड़्या कलेजे छेक ॥७॥

शब्दार्थ—सूरिवाँ=सूरमा, वीर। बाह्या=मारा। मैं=अहंकार, आत्मज्ञान।

सद्गुरु सच्चे शूरवीर हैं। जिस प्रकार रणभूमि में सूर अपने विरोधी-पक्ष को बाण-वर्षा से परास्त कर देता है, उसी प्रकार उस सद्गुरु रूपी शूर ने 'शब्द' (उपदेश) का बाण चलाया। उनके लगते ही मेरा 'मैं' अर्थात् अहं नष्ट हो गया अथवा उसके लगते ही मेरा आत्म-ज्ञान से साक्षात्कार हो गया। उस बाण के लगते ही हृदय में प्रेम की टेक का छिद्र हो गया। तात्पर्य यह है कि यह प्रेम उस सद्गुरु के उपदेश रूपी बाण का ही परिणाम है।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

सतगुर मार्या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि ॥८॥

शब्दार्थ—मार्या—मारा। भरि=पूर्ण शक्ति से। दवा=दावाग्नि।

सद्गुरु ने साधक के ऊपर यह उपदेश-बाण पूर्ण शक्ति से खींचकर एवं मूठ को लक्ष्योन्मुख करके सीधा कर मारा जिससे दावाग्नि सी फूट पड़ी। समस्त वासना, माया आदि जल-जल कर क्षार होने लगे एवं साधक शरीर के वस्त्र, माया आदि आवरण, उतार कर फेंकने लगा अर्थात् उसका वस्तुस्थिति से साक्षात्कार हो गया।

विशेष—उपमा एवं सांगरूपक अलंकार।

हँसै न बोलै उनमनीं, चंचल मेल्ह्या मारि।
कहे कबीर भीतरि भिद्या, सतगुर कै हथियारि ॥९॥

शब्दार्थ—उनमनीं=योग की उत्पन्न दशा। मेल्ह्या=वृत्तियाँ। भिद्या=वेध दिया।

योग की उन्मन दशा का वर्णन करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि मन की चंचल वत्तियों को समाप्त कर सद्गुरु के उप उपदेश के (प्रेम के) बाग ने हृदय को

बेध दिया। परिणामस्वरूप शिष्य न हँसता है और न बोलता है अर्थात् सांसारिक हास-विलास तथा राग विराग से असम्पृक्त हो गया है।

गूंगा हूवा बावला, बहरा हुआ कान।
पाऊँ थैं पंगुल भया, सतगुर मार्या बाण ॥१०॥

शब्दार्थ—पाऊँ थैं = पैरों से। पंगुल = पंगु, लँगड़ा।

सद्गुरु के उपदेश-बाण के लगते ही शिष्य गूंगा, पागल, कानों से बहरा और पैरों से लँगड़ा हो गया। भाव यह है कि शिष्य वाणी का दुरुपयोग व्यर्थ के वाद-विवाद में नहीं करता एवं उसके कान भी प्रेम-भक्ति चर्चा के अतिरिक्त अन्य विषयों के लिए बहरे हैं एवं सांसारिक प्रयत्न से विरत होने के कारण लँगड़ा हो गया। इस विशेष स्थिति के कारण ही उसे पागल बताया गया है।

पीछैं लागा जाइ था, लोक बेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥११॥

शब्दार्थ—दीपक = ज्ञान की ज्योति।

मैं (शिष्य) लोक एवं वेदविहित मार्ग का अंधानुकरण करता जा रहा था, किन्तु आगे पथ में गुरुदेव मिल गये और उन्होंने ज्ञान का दीपक मेरे हाथ में दे दिया जिसमें मैं अपना पंथ स्वयं खोजकर लक्ष्य (ब्रह्म-प्राप्ति) तक पहुँच सकूं।

विशेष—सांगरूपक एवं रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आंवौं हट्ट ॥१२॥

शब्दार्थ—अघट्ट = कभी घटने न वाली। बिसाहुणां = क्रय विक्रय। हट्ट = बाजार।

सद्गुरु ने प्रेमरूपी तेल से परिपूर्ण एवं सर्वदा रहने वाली ज्ञानवर्तिका से युक्त दीपक मुझे प्रदान किया। इसके प्रकाश में संसाररूपी बाजार में मैंने कर्मों का समस्त ... विक्रय उपयुक्त रीति से कर लिया। अब मैं पुनः इस बाजार में नहीं आऊँगा। अर्थात् इस ज्ञान-ज्योति के द्वारा मैं जीवनमुक्त हो जाऊँगा।

विशेष—१. अलंकर—सांगरूपक एवं रूपकातिशयोक्ति।

२. कबीर के पुनर्जन्म आवागमन में विश्वास का परिचय प्राप्त होता है।

ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिनि बीसरि जाइ।
जब गोबिन्द कृपा करी, तब गर मिलिया आइ ॥१३॥

शब्दार्थ—जिनि = नहीं। बीसरि = छोड़ना।

गुरुदेव से भेंट होने पर हृदय में ज्ञान का प्रकाश हो गया। ऐसे ज्ञान स्वरूप गुरु से विमुख नहीं होना चाहिये। यह प्रभु कृपा का ही फल है कि गुरुवर मुझे मिल गये।

विशेष—सद्गुरु की प्राप्ति के लिए कबीर भगवत्कृपा को आवश्य

कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लूंण।
जाति पांति कुल सब मिटे, नांव धरौगे कूंण ॥१४॥

शब्दार्थ—गुर=गुरु। गरवा=गौरवमय। लूंण=नमक। नांव=नाम। कूंण=कौन-सा।

कबीर कहते हैं कि मुझे गौरवमय गुरुदेव के दर्शन हुए, उन्होंने अपने ज्ञान-स्वरूप में मुझे इसी प्रकार एक कर लिया, अपने में मिला लिया, जैसे आटे में नमक मिल जाता है। अर्थात् गुरुदेव से इस प्रकार एक हो जाने पर मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व न रह गया और मेरे स्वतन्त्र व्यक्तित्व के बोधक जाति-पाँति, कुल आदि सब नष्ट हो गये, अब तुम (संसार) मुझे गुरु से पृथक् मानने के लिए किस नाम से पुकारोगे? भाव यह है कि अब मेरा गुरु के ज्ञानस्वरूप के साथ ऐक्य स्थापित हो गया है।

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पड़न्त ॥१५॥

शब्दार्थ—अंधला=अंधा, मूर्ख। खरा=पूर्णरूप से। निरंध=अंध, मूर्ख। कूप=कुंआ।

यहाँ कबीरदास जी गुरु की योग्यता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि जिस शिष्य का गुरु भी अन्धा है, अज्ञानी है एवं शिष्य भी पूर्ण रूपेण अन्धा, मूढ़ है, वें दोनों लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकेंगे। अन्धा अन्धे को, अज्ञानी आज्ञनी को बिना देखे ही ठेल-ठालकर मार्ग पर बढ़ायेगा तो परिणाम यह होगा कि दोनों ही पतन के कुएँ में गिर पड़ेंगे।

विशेष—यहाँ शब्दों की अभिव्यंजना शक्ति दर्शनीय है।

नां गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या दाव।
दून्यूं बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव ॥१६॥

शब्दार्थ—सिष=शिष्य। बूड़े=डूब गये। पाथर=पत्थर, अज्ञान।

न तो ज्ञानी सद्गुरु ही मिला और न शिष्य वास्तविक परिभाषा में शिष्य अर्थात् ज्ञानाभिलाषी ही था। दोनों ज्ञान के नाम पर लालच का दाँव खेलते रहे, एक-दूसरे को धोखे में डालने का प्रयास करते रहे और इस प्रकार दोनों मँझधार में ही डूब गये, तट—लक्ष्य—तक नहीं पहुँच पाये; जैसे कोई पत्थर की नाव का आश्रय लेकर सागर तरने का प्रयास करे तो बीच ही में डूब जाय।

विशेष—उपमा अलंकार।

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा मांहि।
तिहिं घरि किसको चानिणौं, जिहि घरि गोबिंद नांहि ॥१७॥

शब्दार्थ—जोइ करि=जलाकर, प्रकाशित करके। चानिणौं=चहेता, अभीप्सित।

यदि कोई अपने हृदय-मन्दिर में चौंसठ कलाओं की ज्योति प्रकाशित कर ले

और चन्द्रमा की चौदह कलाओं के समान प्रकाशपूर्ण चौदहविद्याओं का उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण कर ले अर्थात् पूर्ण ज्ञानी हो जाय, किन्तु यदि वह मन्दिर प्रभु भक्ति के अभाव में अन्धकारपूर्ण है तो वह किसी का अभीप्सित नहीं हो सकता। भाव यह है कि जीवन की सार्थकता भगवत्प्राप्ति में है।

विशेष—१. कबीर यहाँ ज्ञान और भक्ति के सम्बन्ध के पोषक हैं, और भक्ति को ज्ञान के ऊपर मानते हैं।

२. चन्द्रमा की चौदह कलाएँ कहने से कबीर पर इस्लामी संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है।

निस अंधियारी कारणैं, चौरासी लख चंद !
अगि आतुर ऊदै किया तऊ दिष्टि नाँहि मंद ॥१८॥

शब्दार्थ—निसि=निशि, रात, अज्ञान। ऊदै किया=उदित किया, प्राप्त किया। मंद=मूर्ख।

अपनी अज्ञान की अन्धतमसा के कारण तुझे चौरासी लाख योनियों में भटक कर उनकी यातना सहनी पड़ी और तब बड़े कष्ट से मानव योनि में आया, मूर्ख फिर भी मेरी आँखें नहीं खुलतीं, तू फिर भी कुमार्ग की ओर ही बढ़ रहा है।

विशेष—कबीर पर वैष्णव प्रभाव देखा जा सकता है।

भली भई जु गुर मिल्या, नहीं तर होतो हांणि।
दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड़ता पूरी जांणि ॥१९॥

शब्दार्थ—नहीं तर=अन्यथा। पूरी जांणि=सर्वस्व समझकर।

साधक कहता है कि अच्छा ही हुआ कि गुरुदेव मिल गये, अन्यथा बड़ी भारी हानि होती। जिस प्रकार शलभ दीप-शिखा को सर्वस्व जान उस पर जल मरता है उसी प्रकार मैं भी सांसारिक माया के आकर्षणों को सर्वस्व समझकर पतंगे कीड़े के समान जलकर नष्ट हो जाता।

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पडंत।
कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरंत ॥२०॥

शब्दार्थ—भ्रमि-भ्रमि=मँडरा-मँडरा कर। इवैं=उसी पर।

माया रूपी दीपक है और मानव पतंगा है जो मँडरा-मँडराकर, आकर्षित होकर, उसी दीपशिखा पर गिरकर विनष्ट होता है। और कबीर कहते हैं कि इस माया-दीप के आकर्षण से कोई एकाध विरले ही गुरु से ज्ञान प्राप्त कर बच पाते हैं।

सतगुर बपुरा क्या करै, जे सिषही माँहै चूक।
भावै त्यूं प्रमोधि ले, ज्यूं बसि बजाई फूक ॥२१॥

शब्दार्थ—बपुरा=बेचारा। चूक=कमी।

यदि शिष्य में ही त्रुटि है तो बेचारा ज्ञानी गुरु भी क्या कर सकता है। चाहे उसे किसी प्रकार से समझा दो किन्तु सब यों ही क्षण में बाहर निकल जाता है।

जैसे वंशी में फूंक क्षण भर रह कर बाहर निकल जाती है और वह बांसुरी फिर काष्ठ अर्थात् निर्जीव (शिष्य पक्ष में मूढ़) रह जाती है।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार।

संसै खाया सकल जुग, संसा किनहूँ न खद्ध।
जे बंधे गुर अष्षिरां, तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध ॥२२॥

शब्दार्थ—संसै=संशय, भ्रम। अष्षिरां=अक्षर ज्ञान।

माया के भ्रम ने समस्त जगत को विनष्ट किया है किन्तु इस भ्रम को कोई नहीं नष्ट कर पाया। गुरु-ज्ञान की वाणी से प्रभावित जो लोग थे उन्होंने इस माया-भ्रम को चुन-चुनकर नष्ट कर दिया।

चेतनि चौकी बैसि करि, सतगुर दीन्हाँ धीर।
निरभ होइ निसंक भजि, केवल कहै कबीर ॥२३॥

शब्दार्थ—चेतनि=ज्ञान। निरभै होइ=निर्भय होकर।

कबीर कहते हैं कि सद्गुरु ने ज्ञान की चौकी पर बैठकर शिष्य को प्रबोध देकर धैर्य प्रदान कर कहा कि तुम निर्मल चित्त हो, सांसारिक त्रासों से भयरहित होकर केवल ईश्वर का ही भजन करो।

सतगुर मिल्या त का भया, जे मन पाड़ी भोल।
पासि बिनंठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारी चोण ॥२४॥

शब्दार्थ—पाड़ी=पड़ी हुई है। भोल=भूल, भ्रम। बिनंठा=नष्ट हो गया। चोल=मजीठ।

जिन लोगों के चित्त भ्रम युक्त हैं, उन्हें यदि सद्गुरु मिल भी गये तो क्या लाभ होगा? वे ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। यदि वस्त्र को रँगने से पूर्व पुट देने में ही वह नष्ट हो जाय तो सुन्दर रंग देने में समर्थ मजीठ बिचारा क्या कर सकता है, फटे हुए वस्त्र को किस प्रकार सुन्दर रंग दे। त्रुटिपूर्ण शिष्य के साथ यही अवस्था गुरु की है।

बूड़े थे परि ऊबरे, गुर की लहरि चमंकि।
भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरंकि ॥२५॥

शब्दार्थ—परि=पर, परन्तु। भेड़ा=वेड़ा। जरजरा=जीर्ण-शीर्ण। फरंकि=तुरन्त, तत्क्षण।

हम तो इस भवसागर में डूबने को ही थे कि गुरु-कृपा की एक लहर ने हमें पार लगा दिया। उस गुरु कृपा के द्वारा ही हमने देखा कि जिस वेदशास्त्र आदि के बेड़े से हम संसार-सागर पार करना चाहते थे, वह तो जीर्ण-शीर्ण है, अतः हम उससे तत्क्षण कूद पड़े और प्रभु-भक्ति का सम्बल ग्रहण किया। भाव यह है कि केवल गुरु-कृपा से ही भवसागर पार किया जा सकता है।

गुर गोबिंद तौ एक हैं, दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार ॥२६॥

गुरु और गोविन्द (ब्रह्म) तो एक ही है, उनमें कोई अन्तर नहीं है। यह अपना मायाजनित शरीर ही इस भासित द्वैत का कारण है। यदि हम इस अहंत्व, 'अयं निजः परो वा' की भावना को समाप्त कर जीवन्मुक्त हो जायें तो प्रभु—ब्रह्म—की प्राप्ति हो सकती है।

कबीर सतगुर नाँ मिल्या, रही अधूरी सीष।
स्वाँग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगै भीष ॥२७॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीरदास जी कहते हैं कि यदि शिष्य को सद्‌गुरु की प्राप्ति नहीं होती तो उसकी शिक्षा अपूर्ण रह जाती है। तपस्वी वेश धारण करके द्वार-द्वार पर भिक्षा मांगने वाले सद्‌गुरु नहीं हो सकते।

सतगुर सांचा सूरिवाँ, तातैं लोहिं लुहार।
कसणो दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार ॥२८॥

शब्दार्थ—तातैं=तप्त। लोहिं=लोहा। लुहार=लोहे का कार्य करने वाला।

सद्‌गुरु सच्चा शूरवीर है जो शिष्य को अपने प्रयत्नों से उसी प्रकार योग्य बना देता है जिस प्रकार लुहार तप्त लोहे को पीट-पीट कर सुघड़ और सुडौल आकार देता है। कबीर कहते हैं कि सद्‌गुरु शिष्य को परीक्षा की अग्नि में तपा-तपा कर स्वर्णकार की भाँति उसे इस योग्य बना देते हैं कि वह शुद्ध कंचन की कसौटी पर खरा उतर कर ब्रह्म (तत्व) को प्राप्त कर ले।

थापणि पाई थिति भई, सतगुर दीन्हीं धीर।
कबीर हीरा बणजिया, मानसरोवर तीर ॥२९॥

शब्दार्थ—थापणि=शिष्य रूप में अपनी स्थापना। बणजिया=वाणिज्य, व्यापार।

सद्‌गुरु से शिष्य रूप में स्वीकृति पाकर, उनका शिष्यत्व ग्रहण कर, मेरा चंचल मन स्थिर हो गया और उन्होंने मुझे धैर्य प्रदान किया। इस मन की एकाग्रता से मैं मनरूपी सरोवर पर (हंसों की भाँति) मुक्ता चुग रहा हूँ।

विशेष—मनःसाधना की महत्ता प्रकट की गई है।

निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर सास धीर।
निपजी मैं सांझी घणां, बाटै नहीं कबीर ॥३०॥

शब्दार्थ—निहचल निधि=ब्रह्मा। तत=आत्मा। घणां=बहुत से।

सद्‌गुरु के साहस और धैर्य ने आत्मा को ब्रह्म से मिला दिया। इस महामिलन से जो सुख उत्पन्न हुआ उसका भागीदार बनने के लिए बहुत से व्यक्ति व्याकुल हैं, किन्तु कबीर उसे बाँटने के लिए प्रस्तुत नहीं, क्योंकि वह परमतत्व का आनन्द दूसरे के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए स्वयं की आत्मा का ब्रह्म से साक्षात्कार आवश्यक है।

चौपड़ि मांड़ी चौहटैं, अरध उरध बाजार।
कहै कबीरा राम जन, खेलौ संत विचार ॥३१॥

शब्दार्थ—चौपड़ि=चौपड़ का खेल। माँड़ी=बिछी है।

शरीर के चौराहे पर चौपड़ बिछी है। उसके नीचे एवं ऊपर दोनों ओर चक्रों का बाजार लगा हुआ है (योगियों ने शरीर के अंतर्गत षट्चक्रों की स्थिति मानी है जो मूलाधार से प्रारम्भ होकर शीर्ष में ब्रह्मरन्ध्र तक बिछे हुए हैं। इन षट्चक्रों का भेदन करके ही कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है जहाँ अमृत निस्सृत होता है)। कबीरदास जी कहते हैं कि प्रभु-भक्त—सन्त गण इस खेल को विचारपूर्वक खेलते हैं अर्थात् योगसाधना में प्रवृत्त होते हैं।

पासा पकड़ या प्रेम का, सारी किया शरीर।
सतगुर दाव बताइया, खेलैं दास कबीर ॥३२॥

प्रेम के पांसे से शरीर रूपी चौपड़ भक्त कबीर ने खेल प्रारम्भ कर दिया है और सद्गुरु दाव बनाते जा रहे हैं। भाव यह है कि साधक ने प्रेम का आश्रय लेकर गुरु के निर्देशन में योगसाधना प्रारम्भ कर दी है।

सतगुर हम सूं रीझि करि, एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग ॥३३॥

शब्दार्थ—रीझि कर=प्रसन्न होकर।

सद्गुरु ने हम से प्रसन्न होकर प्रभु-भक्ति की ऐसी मनोरम चर्चा छेड़ी कि प्रेम का बादल बरस गया जिससे शरीर का अंग-प्रत्यंग उस प्रेम-जल से सिक्त हो गया।

कबीर बादल प्रेम का, हम पर बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई बनराइ ॥३४॥

शब्दार्थ—बनराय=वन-प्रदेश।

प्रभु-प्रेम का बादल बरसा, जिससे अन्तरात्मा उस प्रभु-प्रेम जल से भीग गई और उसी के आनन्द में शरीर रूपी वन-प्रदेश में भी हरियाली, उत्फुल्लता छा गई।

विशेष—असंगति अलंकार।

पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल किन्हीं आत्मां, ताथैं सदा हजूरि ॥३५॥

शब्दार्थ—परचा=परिचय। मेल्या दूरि=दूर कर दिये। तातैं=इसी कारण से।

सर्वसमर्थ पूर्ण गुरु से मेरा परिचय हो गया, उन्होंने समस्त दुःख दूर कर दिये। उन दुःखों के अभाव में आत्मा निर्मल होकर सर्वदा प्रभु-भक्ति में संलग्न रहती है।

२. सुमिरण कौ अंग

अंग-परिचय—निर्गुण सन्तों की भक्ति-पद्धति में आराध्य के नाम स्मरण

को बहुत महत्व दिया है। प्रस्तुत अंग में कबीर ने नाम-स्मरण की महिमा बताते हुए कहा है कि केवल नाम-स्मरण ही एक ऐसा आधार है, जिसके द्वारा मनुष्य मुक्ति लाभ कर सकता है। सारे वेदों और शास्त्रों का सार भी यही है। राम का नाम ही संसार में सबसे श्रेष्ठ और सबसे ग्राह्य वस्तु है। संसार अनेक प्रकार के दुखों से भरा हुआ है, राम का स्मरण ही इसका एकमात्र उपचार है, अर्थात् राम का स्मरण सार-तत्व है, इसके अतिरिक्त और सब बातें संकटपूर्ण और जी के जंजाल हैं। इसीलिए मनुष्य को राम के नाम का ही चिन्तन करना चाहिए। इसको छोड़कर अन्य बातों का चिन्तन मनुष्य को सांसारिक दलदल में फँसा देता है, जहाँ पर मृत्यु आसानी से उसे कठोर पाश में आवद्ध कर लेती है। यदि पाँचों इन्द्रियों और छठे मन अर्थात् इन्द्रियों और मन से राम का स्मरण किया जाये तो फिर राम को प्राप्त कर लेना अत्यन्त सुलभ हो जाता है।

नाम-स्मरण में ही वह जादू है जो व्यक्ति के अहं का जड़ से नाश कर देता है। जब मनुष्य का अहं नष्ट हो जाता है तो फिर उसे प्रभु के सान्निध्य में कठिनाई नहीं आती, अर्थात् वह तुरन्त उसके रूप में मिलकर तदाकार हो जाता है। फिर उसे सर्वत्र भगवान् का साक्षात्कार होने लगता है, वह चारों ओर अपने लाल की ही लाली देखता तथा अलौकिक आनंद प्राप्त करता है। इसीलिए कबीर ने मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहा है कि हे मनुष्य ! जब तक तू जीवित है, तब तक मनोयोगपूर्वक राम के नाम का स्मरण करता रह। यदि तू इस अज्ञानावस्था में पड़कर राम के नाम को विस्मृत कर देगा तो अन्त समय तुझे पछताना पड़ेगा। अतः इस अज्ञानावस्था में पड़े रहना ठीक नहीं है क्योंकि जब तक मन में अज्ञान का वास है, तव तक उसमें प्रभु की प्रीति उत्पन्न नहीं हो सकती और जिस हृदय में प्रभु-प्रीति का आविर्भाव नहीं हुआ, जिस मनुष्य ने अपनी जिह्वा से कभी राम का स्मरण नहीं किया, उसका इस संसार में आना एकदम वेकार है। वह तो उस अतिथि की भाँति हैं जो किसी शून्य गृह में आता है और फिर निराश होकर लौट जाता है।

भगवान् अत्यंत दयालु हैं। वे अपने भक्तों के असंख्य पापों को उसी क्षण नष्ट कर देते हैं, जब वे उसकी शरण में आ जाते हैं। हरि के विविध रूप हैं। जो उसको जिस दृष्टि से देखता है, उसे उसी प्रकार का उसका रूप दिखाई देता है और उसी से वह लाभान्वित होता है। जो मनुष्य राम को छोड़कर अन्य सांसारिक बंधनों में बँध जाता है, उसकी स्थिति वेश्या-पुत्र के समान होती है जो किसी को भी अपना बाप कहने का अधिकारी नहीं होता। इसीलिए व्यक्ति स्वयं भी राम का स्मरण करे और दूसरों को भी उसके लिए प्रेरित करे। यदि मनुष्य अपने मन को इसी प्रकार नाम-स्मरण में रमा ले, जिस प्रकार उसका मन माया के आकर्षणों में लीन रहता है, तो वह सूर्य-मंडल को भेदकर तुरन्त ब्रह्मलोक में निवास करने का अधिकारी बन जाता है। वास्तव में, हरि का नाम-स्मरण उस पानी भरे घड़े के समान है जो सांसारिक आकर्षणों में जलते हुए मन की अग्नि को बुझाकर उसे शाश्वत शांति प्रदान

करता है।

कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ।
राम कहें भला होइगा, नहिं तर भला न होइ ॥१॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीरदास जी कहते हैं कि मैं यह निरन्तर प्रस्थापित करता आ रहा हूँ कि राम-नाम जपने से ही कल्याण होगा अन्यथा आचरण में कल्याण सिद्ध नहीं होगा; इस बात को सुनते तो सब हैं, किन्तु आचरण नहीं करते।

कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नांव ततसार है, सब काहू उपदेस ॥२॥

शब्दार्थ—कथि गया=कह गया। महेस=शिव। नाँव=नाम। ततसार=तत्व का सार।

कबीरदास जी कहते हैं कि मैं यह कह चुका हूँ कि राम नाम (भगवान् नाम) ही समस्त तत्वों का सार है, यही सबका उपदेश है। इसी तथ्य का कथन ब्रह्मा एवं शिव ने किया है।

तत तिलक तिहूँ लोक मैं, राम नांव निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार ॥३॥

शब्दार्थ—सरल है।

सार-तत्व राम-नाम तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ है। उसी को दास कबीर ने अपने मस्तक पर धारण किया है अर्थात् उसे शिरसा स्वीकार किया है। भाव यह है कि कबीर चन्दनादि का तिलक धारण करना नहीं चाहते, अपितु राम नाम ही उनके लिए तिलक है, सर्वोपरि तत्व है।

भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा बाचा कर्मनां, कबीर सुमिरण सार ॥४॥

शब्दार्थ—मनसा=मन से। बाचा=वाणी से। कर्मनां=कर्म से।

प्रभु भक्ति और भजन जो कुछ भी है वह उनका नाम स्मरण ही है, इसके लिए जो अन्य साधन बताये गये हैं वे अमित दुःखों से परिपूर्ण हैं। कबीर कहते हैं कि मन, वाणी और कर्म सें सर्वात्मना प्रभु नाम स्मरण ही सर्वश्रेष्ठ है।

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंति सब सोधिया, दूजा देखौं काल ॥५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि एकमात्र प्रभु नाम स्मरण ही समस्त तत्वों का सार है और इसके अतिरिक्त हरि भक्ति के अन्य सांसारिक साधन जाल हैं जिनमें से निकलने का प्रयत्न करने पर मनुष्य और फँस जाता है। मैंने सांसारिक साधनों का आदि और अवसान अथवा अथ से इति तक अवलोकन करके देख लिया, वे काल स्वरूप विनाश-कारक हैं।

अलंकार—रूपक ।

च्यंता तौ हरि नाँव की, और न चिंता दास ।
जे कुछ चितवैं राम बिन, सोइ काल की हास ॥३॥

शब्दार्थ—च्यंता=चिन्ता । नाँव=नाम । चितवैं=चिन्तन करना ।

भक्त को यदि कुछ चिन्ता रहती है तो केवल हरिनाम स्मरण की, अन्य कोई चिन्ता नहीं । राम नाम के अतिरिक्त व्यक्ति जो कुछ चिन्तन करता है, वह मृत्यु के फन्दे के समान है, अर्थात् उसके नाश का कारण है ।

पंच संगी पिव पिव करैं, छठा जु सुमिरे मंन ।
आई सूति कबीर की, पाया राम रतंन ॥७॥

शब्दार्थ—पंच संगी=पाँचों इन्दियाँ । सूति=साधनावस्था ।

कबीरदास की पाँचों ज्ञानेन्द्रियों एवं छठे मन ने प्रभु के प्रिय नाम की रट (चातक के समान, क्योंकि 'पीव' शब्द है) लगा रखी है और ऐसी स्थिति में कबीर अपनी समाधि अवस्था में पहुंच गये हैं, जहाँ उन्हें राम के अतिरिक्त और कोई नहीं सूझता । अतः वे कहते हैं कि मैंने राम रूपी रत्न प्राप्त कर लिया है ।

मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहि आहि ।
अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि ॥८॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते है कि राम-नाम का रमरण करते-करते मेरा मन स्वयं ही राम में ही रम गया है और इससे भी आगे अब वह स्वयं राममय हो गया है, जब स्वयं मन ही राममय हो गया तो सीस किसे नवाया जाय; अर्थात् भक्त और भगवान् ही नाम स्मरण से एक हो गये हैं ।

विशेष—यह भक्ति की चरम उपलब्धि है जब भक्त और भगवान् एकाकार हो जाते हैं । यहीं शंकर के अद्वैत की अहं ब्रह्मास्मि की भावना आ जाती है ।

तूं तूं करता तूं भया, मुझ मैं रही न हूं ।
बारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं ॥९॥

शब्दार्थ—हूं=अहं-भावना ।

हे प्रभु मैं तेरा नाम स्मरण करते-करते तेरे स्वरूप में ही विलीन हो गया, मुझमें किंचित् भी अहंत्व शेष नहीं रह गया; अर्थात् मुझे अपने पृथक् अस्तित्व का ज्ञान ही न रहा । अब मैं प्रभु तेरे ऊपर बार-बार बलिहारी जाता हूं क्योंकि जिधर देखता हूं, उधर तू ही दृष्टिगत होता है ।

विशेष—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की भावना से साम्य है ।

कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति ।
तेल घट्या बाती बुझी, (तब) सोवैगा दिन राति ॥१०॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! जब तक तेरे शरीर रूपी दीपक में जीवन रूपी वर्तिका है, तब तक तू सांसारिक भ्रमों एवं चिन्ताओं से मुक्त होकर राम नाम का

स्मरण कर। व्यर्थ आलस्य—सुषुप्ति—में अपना जीवन मत गँवा, क्योंकि जब श्वास रूपी तेल समाप्त हो जाने पर जीवन-वर्तिका बुझ जायेगी तब अहर्निश चिरनिद्रा (मृत्यु) में ही सोवेगा; अर्थात् प्रभु भक्ति के लिए ही तुझे यह जीवन मिला है।

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि।
जाका संग तैं बीछुड़्या, ताही ले संग लागि ॥११॥

शब्दार्थ—सूता=सोता हुआ, अज्ञानावस्था में पड़ा हुआ।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तू सोता हुआ क्या कर रहा है, अज्ञान में क्यों पड़ा हुआ है, ज्ञान की चेतना प्राप्त कर अपनी वास्तविक स्थिति को क्यों नहीं देखता। तू जिस अंशी का अंश है उसी का साक्षात्कार कर अपनी प्रकृत अवस्था को प्राप्त कर।

कबीर सूता क्या करे, जागि न जपै मुरारि।
एक दिनां भी सोवणां, लंबे पांव पसारि ॥१२॥

शब्दार्थ—सूता=सोता हुआ, अज्ञान-लिप्त।

कबीरदास जी कहते हैं कि हे मनुष्य तू अज्ञान-निद्रा में पड़ा क्या कर रहा है, जागकर—ज्ञानयुक्त होकर, प्रभु का भजन क्यों नहीं करता। यह विश्राम तो फिर भी हो सकता है, क्योंकि अन्ततः एक न एक दिन अवश्य ही चिरनिद्रा में लीन होना है। अर्थात् मृत्यु को प्राप्त करना है

कबीर सूता क्या करै, उठि न रोवै दुक्ख।
जाका बासा गोर मैं, सो क्यूं सोवै सुक्ख ॥१३॥

शब्दार्थ—गोर=मृत्यु।

कबीर कहते हैं—हे मनुष्य तू अज्ञानावस्था में पड़ा हुआ क्या कर रहा है, अपने उद्धार का प्रयत्न क्यों नहीं करता? जिससे जागने पर (दूसरा जन्म लेने पर) तुझे अपने दुःखों के लिए रोना न पड़े। भला जिसका मृत्यु के मुख में सर्वथा निवास रहता है उस मनुष्य को सुख की निद्रा कैसे आ सकती है—अतः तू प्रभु-भजन कर, ज्ञान सम्पन्न हो अपना जन्म सुधार ले।

कबीर सूता क्या करै, गुण गोबिन्द के गाइ।
तेरे सिर परि जम खड़ा, खरच कदे का खाइ ॥१४॥

शब्दार्थ—जम=यम, मृत्यु।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य तू अज्ञानावस्था में क्यों पड़ा हुआ है, [illegible]र और गुणों का गान कर। यह थोड़ी सी ही तेरी आयु है फिर यह कार्य न[illegible]र्देश करने क्योंकि यमराज तेरे सिर पर किसी श्रेष्ठी साहूकार के समान खड़ा [illegible]लाने का आग्रह रहा है।

कबीर सूता क्या करै, सूतां होइ अ[illegible]ाइ।
[illegible] जाइ ॥१५॥

शब्दार्थ—अकाज=हानि । खिस्या=खिसक गया । काल=मृत्यु । गाज=गरज ।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तू सोता हुआ, अज्ञानवास्था में क्या कर रहा है ? इस अज्ञान से तो तेरी हानि ही हो रही है, क्योंकि आयु अल्प है और कालचक्र किसी को भी नहीं छोड़ता, उसकी गति के भय से ब्रह्मा का आसन भी खिसक गया है—मनुष्यों की तो बात ही क्या ।

केसौ कहि कहि कूकिये, नां सोइयै असरार ।
रात दिवस कै कूकणें, (मत) कबहूँ लगै पुकार ॥१६॥

शब्दार्थ—केसौ=केशव, राम । असरार=असार, अज्ञान ।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तू अहर्निश प्रभु का नाम ही लिया कर एवं अज्ञान में लिप्त होकर चैतन्य हीन मत हो । रात-दिवस की इस नाम-स्मृति की ध्वनि न जाने कब प्रभु के कान में पड़ जाय और वे तुझ पर कृपा करें ।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहीं राम ।
ते नर इस संसार में, उपजि षये बेकाम ॥१७॥

शब्दार्थ—घटि=हृदय । फुनि=पुनः । रसना=जिह्वा । षये=नष्ट हो गये । बेकाम=व्यर्थ ।

जिनके हृदय में न तो प्रेम ही है और न प्रेमानन्द और न जिनकी वाणी राम नाम का उच्चारण करती है, वे मनुष्य इस संसार में आकर व्यर्थ ही नष्ट हो गये । उन्होंने अपने जीवनोद्देश्य को पूर्ण नहीं किया ।

कबीर प्रेम न चषिया, चषि न लीया साव ।
सूनें घर का पाहुणां, ज्यूं आया त्यूं जाव ॥१८॥

शब्दार्थ—साव=स्वाद । पाहुणां=अतिथि ।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तूने प्रेम—भक्ति—का अनुभव किया ही नहीं और उसके अनुभव से बंचित होने पर तू उसका आनन्द भी नहीं उठा सका । इस प्रकार तूने अपना जीवन व्यर्थ ही इस प्रकार नष्ट कर दिया जिस प्रकार सूने गृह में अतिथि अनादृत ही लौट जाता है—उसे कुछ प्राप्त नहीं होता है ।

मु

विशेष—जगत् की शून्य गृह से उपमा देकर कबीर उसको मिथ्या ही बताते

ज्ञान

है विचार शंकर के 'जगन्मिथ्या आकाश-नैल्यवत्' से पर्याप्त साम्य रखता है ।

देखता हूँ,

विशे

पहली बुरी कमाइ करि, बांधी विष की पोट ।
कोटि करम फिल पलक मैं, (जब) आया हरि की ओट ॥१९॥

फिल=समाप्त, नष्ट । ओट=शरण ।

कबीर कहते हैं ... जन्म में संचित कुकर्मों की विष की पोटली बाँध रखी ... है, तब ... कर रखे थे, किन्तु वे करोड़ों पातक प्रभु की शरण प्राप्त हो गये ।

कोटि क्रम पेलै पलक मैं, जे रंचक आवै नाउँ ।
अनेक जुग जे पुन्नि करै, नहीं राम बिन ठाउँ ॥२०॥

शब्दार्थ—क्रम=कर्म, कुकर्म । मेलै=नष्ट करना । रंचक=थोड़ा-सा भी ।

यदि तनिक भी प्रभु का नाम स्मरण किया जाय तो मनुष्य के करोड़ों कुकर्म—पाप—क्षण भर में विनष्ट हो जाते हैं । यदि कोई अनेक युगों से पुण्य करके बिना राम नाम के अपना उद्धार चाहे तो असम्भव है क्योंकि नाम के आश्रय बिना शांति कहीं भी नहीं मिलती ।

जिहि हरि जैसा जाणियां, तिन कूं तैसा लाभ ।
ओसों प्यास न भाजई, जब लग धसै न आभ ॥२१॥

शब्दार्थ—भाजई=नष्ट होना । आभ=पानी ।

जिन्होंने प्रभु को जिस रूप में जाना है, उन्हें वैसे ही प्राप्ति होती है । केवल मात्र ओस चाटने से तृषित की तृषा शान्त नहीं होगी, उसका शमन तो जल में पैठकर ही सम्भव है । भाव यह है कि हरिभक्ति के अन्य साधन ओस सदृश हैं जिसमें जल के कुछ ही कण हैं । मनुष्य को पूर्ण परितृप्ति हरिशरण के अगाध जल के आश्रय से ही प्राप्त हो सकती है ।

राम पियारा छांड़ि करि, करै आन का जाप ।
बेस्वाँ केरा पूत ज्यूं कहै कौन सूं बाप ॥२२॥

शब्दार्थ—बेस्वाँ केरा=वेश्या का । पूत=पुत्र ।

जो मनुष्य परम प्रिय राम के अतिरिक्त अन्य अनेक देवताओं का भजन करता है उसकी स्थिति वेश्यापुत्र के समान है जो किसी एक को अपना पिता (पालक) नहीं कह सकता ।

विशेष—यहां कबीर ने दिखाया है कि आत्मा का सनातन सम्बन्ध केवलमात्र ब्रह्म से ही है, उसे अन्य देवताओं की पूजा में प्रवृत्त करना व्यभिचार है । इस प्रकार वे बहुदेववाद के विरोधी हैं ।

कबीर आपण राम कहि, औरां राम कहाइ ।
जिहि मुखि राम न ऊचरे, तिहि मुख फेरि कहाइ ॥२३॥

शब्दार्थ—औरां=औरों से, दूसरों से । ऊचरे=उच्चारण करना ।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तू स्वयं भी राम नाम का उच्चारण कर और अन्यों से भी राम नाम कहलाने का प्रयत्न कर । यदि उनमें से कुछ तेरे निर्देश करने पर भी राम नाम का उच्चारण न करें तो उनसे पुनः पुनः 'राम' कहलाने का आग्रह कर । इससे वह राम नाम स्मरण में प्रवृत्त हो सकेगा ।

जैसें माया मन रमै, यूं जे राम रमाइ ।
(तो) तारा-मंडल छाड़ि करि, जहां केसो तहां जाइ ॥२४॥

शब्दार्थ—केसो=केशव, राम ।

जिस भाव से मन माया के विविध आकर्षणों में आसक्त होता है उसी उत्कटता और तीव्रता के साथ वह प्रभु में रम जाये तो साधक तारामण्डल—इस भौतिक सृष्टि—के परे जहाँ राम का निवास है वहीं पहुँच जाये अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाये।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम है लूटि।
पीछैं ही पछिताहुगे, यहु तन जैहे छूटि ॥२५॥

राम नाम (जैसे सुकृत) की लूट हो रही है, यथाशक्ति जितनी प्राप्त कर सकते हो कर लो, क्योंकि यह राम-नाम का स्मरण इसी मानव जन्म में सम्भव है। नहीं तो फिर शरीर छूट जाने पर पश्चात्ताप ही शेष रह जाऐगा कि काश! हम भी राम नाम जप पाते।

लूटि सकै तौं लूटियौ, राम नाम भंडार।
काल कंठ तें गहैगा, रूंधै दसूं दुवार ॥२६॥

शब्दार्थ—काल = मृत्यु। रूंधे = रूँधना। दसूं दुवार = दसों इन्द्रियाँ, शरीर।

हे मनुष्य! यदि तू राम नाम रूपी बहुमूल्य रत्न को लूटना चाहता है तो लूट ले, अन्यथा फिर यह अवसर प्राप्त नहीं होगा। फिर तो मृत्यु कण्ठ पकड़ कर तेरे दसों द्वारों को वन्द कर तुझे चेतनाविहीन, जीवनरहित कर देगी।

विशेष—शरीर के दस द्वार हैं। दो आँख, दो नासिका विवर, दो कर्ण, एक मुख, एक ब्रह्मरन्ध्र, गुदामार्ग और मूत्र मार्ग।

लंबा मारग दूरि घर, बिकट पंथ बहु मार।
कहौ संतौ क्यूं पाइये, दुर्लभ हरि-दीदार ॥२७॥

शब्दार्थ—मार = डाकू, काम वासना। दीदार = दर्शन।

कबीर कहते हैं कि हे सन्त जनो! हरि दर्शन अत्यन्त कठिन है क्योंकि उनका निवास-स्थान बहुत दूर है, साधना का पथ भी वड़ा जटिल है जिसमें काम आदि डाकुओं के बहुत से भय हैं।

विशेष—'दूरि घर' से ब्रह्म की अगम्यता एवं अगोचरता, 'विकट' पंथ' से साधना की कठिन स्थली एवं 'बहु मार' से सांसारिक भयों की ओर इंगित है।

गुण गायें गुण नाम कटै, रटै न राम वियोग।
अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै द्रुलभ जोग ॥२८॥

शब्दार्थ—गुणनाम = सांसारिक बंधन। अह निसि = दिन-रात। द्रुलभ = दुर्लभ।

प्रभु की गुणावली का गान करने से यह संसार-बंधन समाप्त हो जाता है इस बात को सुन कर तू प्रभु-वियोग में राम नाम क्यों नहीं रटता। यदि तू दिन-रात प्रभु की नाम-चर्चा नहीं करेगा तो उनके दर्शनों का अप्राप्य संयोग कैसे प्राप्तकर सकेगा।

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरतां हरि नाम।
सूली ऊपरि नट विद्या, गिरूं त नाहीं ठाम ॥२९॥

शब्दार्थ—खरी = भारी। त = तो। ठाम = स्थान।

कबीर कहते हैं कि हरिनाम स्मरण अर्थात् भक्ति-साधना में कठिनाइयाँ

भारी हैं। यह नट की उसी कुशलता के समान है जो मृत्यु की शूली पर चढ़कर अपने आंगिक कौशल दिखाता है। यदि वह वहाँ से गिर जाये तो उसके बचने का कोई उपाय नहीं। इसी प्रकार भक्ति-साधना से पथभ्रष्ट भक्त का भी कोई रक्षक नहीं, क्योंकि उसके लोक एवं परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौं करि मंत।
हरि सागर जिनि बीसरे, छीलर देखि अनंत ॥३०॥

शब्दार्थ--जिनि=मत। छीलर=छिछला, उथला।

कबीर कहते हैं कि जिह्वा का सहयोग प्राप्त कर राम नाम का स्मरण कर भक्ति के अन्य साधन रूपी पोखरों को देखकर लोभवश हरि रूपी सागर को विस्मृत मत करो।

कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अंमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधै सधि मिलाइ ॥३१॥

शब्दार्थ—रिझाइ लै=प्रसन्न कर ले। नग=रत्न। संधे=जोड़कर।

कबीर कहते हैं कि तू अपने मुख से राम के अमृतमय गुणों का गान कर उन्हें प्रसन्न कर ले और इसी प्रकार उनसे अपना मन मिला जिस प्रकार फूटे नग को नग से जोड़ पर मिला कर दोनों को एक कर दिया जाता है।

विशेष—अंश-अंशी भाव का प्रतिपादन है।

कबीर चित चमंकिया, चहूँ दिसि लागी लाइ।
हरि सुमिरण हाथूं घड़ा, बेगे लेहु बुझाइ ॥३२॥

शब्दार्थ --लाइ=अग्नि।

कबीर कहते हैं कि हृदयरूपी चकमक पत्थर के कारण चारों ओर माया के आकर्षणों की अग्नि लग गई है। इस अग्नि को बुझाने के लिये हरि स्मरण-रूपी घट हमारे साथ विद्यमान है, अतः इससे इस वासना की अग्नि को शीघ्र बुझा डालो। भाव यह है कि संसार जाल से मुक्ति का एकमात्र उपाय हरि-स्मरण ही है।

३. बिरह कौ अंग

अंग-परिचय—प्रेम की परिपूर्णता एवं परिपक्वता के लिए विरह आवश्यक माना गया है। विरह के द्वारा ही आत्मा परमात्मा की ओर और भी दृढ़ता के साथ उन्मुख होती है। इसीलिए प्रत्येक शाखा के भक्ति-काव्य में, चाहे वह सगुण का उपासक हो चाहे निर्गुण का, विरह का विधान किया गया है। प्रस्तुत अंग में कबीर ने भी परमात्मा के अभाव में और उसके दर्शन करने की तीव्र उत्कंठा में आत्मा के विरह का वर्णन किया है। कबीर कहते हैं कि उनकी आत्मा क्रौंच पक्षी की भाँति प्रियतम से मिलने के लिए चीत्कार कर रही है। क्रौंच पक्षी का विरह तो केवल कुछ ही समय का होता है, क्योंकि प्रातःकाल होते ही वे दोनों फिर परस्पर मिल जाते हैं, किन्तु परमात्मा का विरह तो अनंत है। जो जन राम से बिछुड़ जाते हैं, वे उन्हें कभी

भी प्राप्त नहीं कर पाते। विरह की इसी अनंतता के कारण आत्मा इतनी दुःखी हो जाती है कि उसे न तो दिन को सुख मिलता है और न रात को, बल्कि स्वप्न में भी उसे सुख की प्राप्ति नहीं होती।

विरहिणी आत्मा अपने प्रियतम परमात्मा से मिलने के लिए बहुत ही आतुर है। वह रात-दिन उसके पथ पर खड़ी हुई उसकी प्रतीक्षा करती रहती है और प्रत्येक पथिक से उनके आने का समाचार पूछती रहती है। बिना प्रियतम के मिले उसे पलभर के लिए भी चैन नहीं मिलता। विरह के कारण वह इतनी दुर्बल हो गई है कि यदि राम के दर्शन की इच्छा से वह ऊपर उठती भी है तो उससे खड़ा नहीं रहा जाता और शारीरिक दुर्बलता के आधिक्य के कारण उठते ही फिर गिर पड़ती है। उसकी अवस्था मृतप्राय हो गई है और मरने के पश्चात् यदि प्रभु की प्राप्ति होगी तो उससे कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि लोहे के टुकड़ों के समाप्त होने के पश्चात् यदि पारस पत्थर की प्राप्ति हो तो उसका कोई उपयोग नहीं हो सकता।

विरह का दुःख बड़ा ही अनोखा एवं विलक्षण है, क्योंकि इसमें न तो विरहिणी ही प्रियतम तक जा पाती है और न प्रियतम ही उससे मिलने आता है। इस प्रकार विरहिणी का मन विरह की तीव्र ज्वाला में जल-जल कर भस्म होता रहता है। इस अवस्था में विरहिणी के पास केवल एक ही उपचार रह जाता है कि वह अपने शरीर को विरहाग्नि में जला कर भस्म कर दे और अपने धूंए को स्वर्ग तक पहुंचा दे। हो सकता है, उस धुंए को देखकर ही दयालु प्रियतम के मन में कुछ करुणा का उद्रेक हो।

विरह की यह पीड़ा बड़ी ही अद्भुत होती है। इसका चाहे जो उपचार किया जाये, किन्तु इसकी वेदना कम नहीं होती इसकी वेदना का अनुभव केवल दो ही व्यक्ति कर सकते हैं—एक तो वह जिसे वेदना हो रही है और दूसरा वह जिसने वेदना दी है। यह विरह उस सर्प के समान है जिसके विष को किसी प्रकार का भी मंत्र नहीं उतार सकता। वस्तुस्थिति तो यह है कि राम का वियोगी जीवित ही नहीं रह सकता और यदि रह भी जाये तो वह पागल हो जाता है। इस विरह सर्प के दर्शन का धीरता से सहन करना चाहिए, क्योंकि यदि मन में अधैर्य का भाव आ गया तो प्रेम को क्षति पहुंचेगी और फिर प्रियतम का मिलन असम्भव हो जाएगा। वस्तुतः प्रेम-क्षेत्र के अनुभव को कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है।

इतना पीड़ादायक होने पर भी इस विरह को बुरा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जिस हृदय में विरह का संचार नहीं होता, वह तो श्मशान के समान शून्य और भयानक है। अतः कबीर अपने विरह की तीव्रता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्रियतम का पथ देखते-देखते मेरे नेत्र की ज्योति मंद हो गई है, उसका नाम रटते-रटते जीभ में छाले पड़ गये हैं। मैं इस शरीर का दीपक बनाकर और उसमें प्राणों की बाती डाल कर जला रही हूं, क्योंकि न जाने मेरी दयनीय अवस्था देखकर प्रियतम को कुछ दया आ जाये और वह आकर मुझे दर्शन दे दें। मेरे नेत्रों से

निरन्तर पानी का झरना बहता रहता है और मैं अहर्निश पपीहे की भाँति प्रियतम का नाम रटती रहती हूं। प्रेम की कसौटी पर रक्खी जाने के कारण मेरी आँखें लाल हो गई हैं, जिनके कारण संसार के लोग इन्हें दुखिया समझते हैं, किन्तु आँखों की लाली या आँसू देखकर सच्चे प्रेम की पहचान नहीं की जा सकती, क्योंकि आँसू तो दुर्जन और सज्जन दोनों की आँखों से समान रूप से निकलते हैं। सच्चा प्रेमी और सच्चा विरही तो वही व्यक्ति माना जाता सकता है जिसकी आँखों से आँसुओं के स्थान पर रक्त निकले।

विरह से ही प्रियतम की प्राप्ति हो सकती है, अतः जो प्रियतम को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें हँसना छोड़ कर रोने से ही हेत लगाना चाहिए, किन्तु यह अवस्था भी बड़ी कठिन है, क्योंकि रोने से बल घटता है और हँसने से प्रियतम अप्रसन्न होता है। अतः विरही न तो रो सकता है और न हँस सकता है, बल्कि वह अपने अन्दर ही अन्दर इस प्रकार क्षीण होता रहता है, जिस प्रकार लकड़ी को घुन लग जाता है। हँसी तो प्रेम में सर्वथा वर्जनीय है, क्योंकि जिसने भी अपना प्रियतम प्राप्त किया है, वह रो-रोकर ही किया है। यदि हंसी से ही प्रियतम की प्राप्ति होने लगे तो फिर इस संसार में विरही अथवा विरहिणी कोई भी नहीं रहे। विरह-वेदना इतनी कष्टप्रद होती है कि इसमें विहहिणी की केवल दो ही अभिलाषाएँ रह जाती हैं—या तो विरहिणी मर जाये अथवा उसे उसका प्रियतम मिल जाये। चाहे जो हो विरहिणी हर प्रकार से अपने प्रियतम को प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो जाती है, चाहे उसके नेत्र प्रियतम का मार्ग देखते-देखते ज्योति-विहीन हो जायें, चाहे विरह की आग में जल-जलकर उसका शरीर भस्म हो जाये। अतः प्रियतम से मिलने का और प्रेम को परिपक्व करने का केवल एक ही मार्ग है—प्रियतम के विरह में अहर्निश जलते रहना।

रात्यूं रूंनी बिरहनीं, ज्यूं बंचौ कूं कुंज।
कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज ॥१॥

शब्दार्थ—रात्यूं = रात भर। अंतर = हृदय। पुंज—समूह।

परम तत्व की विरहिणी आत्मा रात्रि भर इस प्रकार रोती रही, जिस प्रकार वियुक्त क्रौंच पक्षी करुण चीत्कार करता रहता है। कबीर जी कहते हैं कि विरह समूह के प्रकट होने से हृदय वियोग-ज्वाला में दग्ध हो रहा है।

अंबर कुंजां कुरलियां, गरजि भरे सब ताल।
जिनि थें गोविंद बीछुटे, तिनके कौण हवाल ॥२॥

शब्दार्थ—अंबर = आकाश। हवाल = रक्षक।

आकाश ने क्रौंच एवं कुररि पक्षियों की विरहानुभूति पर करुणार्द्र हो बरस कर समस्त ताल जल से परिपूर्ण कर दिये इन विरहिणयों की पुकार तो बादल ने सुन भी ली किन्तु जो प्रभु से वियुक्त हैं, उनका रक्षक तो (प्रभु के अतिरिक्त) और कोई नहीं है।

चकवी बिछुटी रैंणि की, आइ मिली परभाति ।
जे जन बिछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति ॥६॥

रात्रि की बिछुड़ी हुई चकवी अपने चकवे से प्रभात के आगमन पर मिल जाती है, किन्तु जो राम से वियुक्त हैं वे तो दिन या रात कभी भी उनसे नहीं मिल पाते।

विशेष—१. एक प्रकार से कबीर के इस वियोग का उद्दीपन विभाव-वर्णन है जिसमें विरहिणी आत्मा को एक वियुक्तयुग्म का मिलन देखकर अपना मिलना खटकता है।

२. यह विश्वास है कि चकवा और चकवी दिन छिपते ही अलग-अलग हो कर एक-दूसरे के विरह में तड़पते हैं और प्रभात में मिल जाते हैं।

वासुरि सुख, नां रैंणि सुख, नां सुख सुपिनै माँहि ।
कबीर बिछुट्या राम सूं, नां सुख धूप न छाँह ॥४॥

शब्दार्थ—बासुरि=दिन ।

कबीर जी कहते हैं कि रामवियोगी को न दिन में और न रात में सुख है और न स्वप्न में—उसे प्रिय की वियोग-व्यथा ही व्यथित किये रहती है। धूप या छांह – कहीं भी उसे सुख प्राप्त नहीं होता।

बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ ॥५॥

शब्दार्थ—ऊभी=खड़ी हुई। पंथ सिरि=मार्ग के किनारे। कबर=कब।

विरहिणी मार्ग में प्रिय की प्रतीक्षा में खड़ी आते-जाते पथिक से जिस प्रकार उत्कण्ठा सहित प्रिय आगमन का समाचार पूछती है उसी प्रकार साधक की ब्रह्म वियुक्त आत्मा गुरु से प्रिय (ब्रह्म की) चर्चा सुनती हुई यह जानना चाहती है कि प्रभु से कब भेंट होगी।

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम ।
जिव तरसै तुझ मिलन कूं, मनि नाहीं विश्राम ॥६॥

शब्दार्थ—सरल है।

हे राम ! मैं (विरहिणी आत्मा) तुम्हारी प्रतीक्षा बहुत समय से कर रही हूं। मेरे प्राण तुम्हारे दर्शन के लिये तृषित हैं और मन बिना दर्शन व्याकुल है।

विरहिन ऊठै भी, पड़ै दरसन कारनि राम ।
मूवां पीछै देहुगे, सो-दरसन किहि काम ॥७॥

शब्दार्थ—मूवा=मरने पर। सोदरसन=सुदर्शन।

हे राम ! यदि आपके दर्शनों की उत्सुकता में विरहिणी उठती भी है तो क्षीणकाय होने के कारण गिर-गिर पड़ती है, अर्थात् आपके विरह में वह अत्यन्त कृशकाय हो गई है उससे मरणोपरान्त यदि आपने रोग निवारक सुदर्शन चूर्ण—अपना सौन्दर्यमय स्वरूप दर्शन दिया तो वह किस प्रयोजन का ?

विशेष—"का वर्षा जब कृषी सुखाने" से तुलना कीजिए।

मूवां पीछैं जिनि मिलै, कहै कबीरा राम।
पाथर घाटा लोह सब, (तब) पारस कोणैं काम ॥८॥

शब्दार्थ– मूँवा=मृत्यु। जिनि=यदि।

कबीर जी कहते हैं कि हे प्रभु! यदि आपका दर्शन मृत्यु के पश्चात् हुआ तो वह किस प्रयोजन का? वह तो उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार कोई पारस पत्थर कीं प्राप्ति के लिए लोहे को प्रत्येक पत्थर से घिस कर समाप्त कर दे और तब उसे पारस पत्थर की प्राप्ति हो।

अंदेसड़ा न भाजिसी, संदेसौ कहियां।
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पास गयां ॥९॥

शब्दार्थ—अंदेसड़ा=आशंका, अंदेशा। भाजिसी=नष्ट होता है।

विरहिणी आत्मा किसी दूत से कहती है कि मेरी प्रिय मिलन में असफलता की आशंका नष्ट नहीं होती। अतः तुम प्रभु से कहना कि या तो वे स्वयं भागकर शीघ्र मेरे पास आ जायें, अथवा फिर मुझे ही उनके पास आना पड़ेगा।

आइ न सकौं तुज्झ पैं, सकूं न तुझै बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ ॥१०॥

शब्दार्थ—जियरा=जीव, प्राण। लेहुगे=लोगे।

कबीर की वियोगिनी आत्मा कहती है कि मैं तेरे पास भी नहीं आ सकती क्योंकि मैं इतनी समर्थ नहीं हूँ। (भाव यह है कि मैं अभी माया में संलिप्त हूँ) और तुझे अपने पास नहीं बुला सकती क्योंकि मैं अभी सर्वात्म-समर्पण नहीं कर सकी, जो तुझे आकृष्ट कर मेरे पास तक ले आथे। अतः यही दिखाई देता है कि तुम हमारे प्राणों को इसी प्रकार विरह में तपाते-तपाते समाप्त कर दोगे।

यहु तन जालौं मसि करूं, ज्यूं धूवां जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावै अग्गि ॥११॥

शब्दार्थ—मसि=क्षार, राख। सरग्गि=स्वर्ग। मति=संभव है। अग्नि=आग। विरह=दुःख।

विरह की इस असहनीय अवस्था में यह इच्छा होती है कि मैं अपना यह शरीर भस्म कर क्षार कर दूँ, जिससे मेरी अस्थियों का जो धुआँ आकाश में फैलेगा, तो संभव है, वे दयानिधि राम दयार्द्र होकर अपनी कृपा-दृष्टि के वारि से उस अग्नि को बुझावें।

यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करूं करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥१२॥

शब्दार्थ—करंक=अस्थि, पंजर। पठाऊँ=भेजूँ।

विरहिणी कहती है कि यह इच्छा होती है कि इस शरीर को जलाकर स्याही बना लूँ और अस्थियों की लेखनी, इससे राम का नाम लिखूँ और लिख-लिखकर अपने प्रभु राम को भेजूँ, कदाचित् इस कृत्य से प्रसन्न होकर वे दर्शन दें।

कबीर पीर पिरावनीं, पंजर पीड़ न जाइ।
एक ज पीड़ परीति की, रही कलेजा छाइ ॥१३॥

शब्दार्थ—पीर=वेदना। पिरावनी=कसकपूर्ण। पंजर=शरीर। परीति=प्रीति, प्रेम।

कबीर कहते हैं कि पीड़ा बड़ी वेदनापूर्ण होती है, शरीर की पीड़ा ही इतनी कसकमय होती है कि उपचार करने पर भी नहीं जाती, फिर प्रेम की जो पीड़ा है वह तो सर्वथा ही उपचार से बाहर है, वही असह्य पीड़ा मेरे हृदय में समा गई है।

चोट सतांणीं बिरह की, सब तन जर जर होइ।
मारणहारा जांणिहै, कै जिहि लागी सोइ ॥१४॥

शब्दार्थ—सतांणीं=व्यथित करती है। जर-जर=जीर्ण, कृश।

विरह की चोट बड़ी व्यथित करती है, इसकी वेदना से शरीर कृशकाय हो जाता है। इस पीड़ा का अनुभव केवल दो को हीं होता है—एक तो उसको जो उसे भोग रहा है तथा दूसरे उसको जो इस पीड़ा को प्रदान करता है।

कर कमाण सर सांधि करि, खेंचि जु मार्या मांहि।
भीतरि भिद्या सुमार ह्वै, जीवै कि जीवैं नांहि ॥१५॥

शब्दार्थ—सांधि करि=साधकर। सुमार=गहरी चोट।

भगवान् रूपी प्रियतम ने हाथ में धनुष धारण कर खींच कर ऐसा प्रेमबाण चलाया है कि वह हृदय के आरपार हो गया। हृदय प्रेममय ही हो गया। उसके प्रेम-तीर की यह चोट इतनी गहरी लगी है कि जीवन जन्म और मरण के मध्य भूल रहा है, अर्थात् प्रभु प्रेम उसे अपनी ओर खींचता है और सांसारिक आकर्षण अपनी ओर।

जबहूँ मार्‌या खेंचि करि, तब मैं पाई जांणि।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छांणि ॥१६॥

शब्दार्थ—जांणि=जान, ज्ञान। मरम्म=मर्मान्तिक। छांणि=बींधना।

जब गुरुवर ने पूर्ण शक्ति के साथ खींच कर उपदेश द्वारा प्रेम रूपी बाण चलाया तभी मुझे ज्ञात हुआ कि इस प्रेम-बाण की मर्मान्तिक चोट मेरे हृदय के पार हो गई। भाव यह है कि प्रेम से तन-मन बिंध गया।

जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सच पाऊँ नहीं ॥१७॥

शब्दार्थ—सरि=बाण। सच=सुख, शान्ति।

हे गुरुदेव जिस प्रेम बाण से आपने मुझ पर चोट की, वह मेरे मन में बस गया है। वह बाण स्वर—वाणी का अर्थात् प्रेमोपदेश का था। उसी (वाणी के) बाण को मेरे आज भी मार, क्योंकि उसके बिना मुझे शान्ति नहीं।

विशेष—कैसा विरोधाभास है जो बाण शरीर को बींधता है, वही प्रिय लग रहा है, यह कबीर जैसे प्रेमी के लिए ही संभव है।

बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।
राम बियोगी ना जिव, जिवै तो बौरा होइ ॥१८॥

शब्दार्थ—भुवंगम=सांप। बौरा=पागल।

विरह रूपी सर्प शरीर की बांवी में घुसा बैठा है, उसे कोई भी मंत्र (साधक) बाहर निकालने में समर्थ नहीं हो सकता। प्रभु का वियोगी तो जीवित ही नहीं रह सकता, वह जीवन-मुक्त हो जाता है और यदि जीवित रहता है तो सांसारिक कर्तव्यों आदि से पूर्ण असम्पृक्त हो जाता है जिसे लोग पागल कहने लगते हैं।

विशेष—१. प्रथम चरण में सर्प को पकड़ने की क्रिया से विरह की तुलना है, बांवी में से सर्प को मन्त्र बल से निकाल कर वशीकृत किया जाता है।

२. रूपक अलंकार।

विरह भुवंगम पैंसि करि, किया कलेजैं घाव।
साधू अंग न मोड़ही, ज्यूं भावै त्यूं खाव ॥१६॥

शब्दार्थ—पैंसि कर=पैठ कर, प्रवेश कर। अंग न मोड़ही=विचलित नहीं होते।

विरह रूपी सर्प ने शरीर में प्रवेश कर हृदय में घाव कर लिया है, किन्तु इस वेदना से साधुजन विचलित नहीं होते। जैसे उसकी इच्छा होती है, उस रूप में उसे अपने को खाने देते हैं। भाव यह है कि साधक विरह की कठोर यातनाओं से पथ-विचलित नहीं होते।

सब रँग तंतर बावतन, विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त ॥२०॥

शब्दार्थ—रंग=रग, शिराएँ। तंतर=पशु चर्म निर्मित ताँत जो तन्त्री में प्रयुक्त होती है। बाव=इकतारे के समान तन्त्री जिसे जोगी बजाते फिरा करते हैं।

शरीर रूपी तन्त्री पर शिराओं रूपी तांतों को विरह नित्य बजाता है। विरह वेदना से शिरोपरशिरायें झंकृत रहती हैं। इससे निस्सृत संगीत को कोई तीसरा नहीं सुन सकता। या तो उसे प्रियतम ही सुन सकते हैं और या मेरा हृदय ही प्रेम-क्षेत्र के अनुभव ऐसे हैं जिन्हें भुक्त-भोगी ही जान सकते हैं।

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिस घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान ॥२१॥

शब्दार्थ—बुरहा=बुरा। जिनि=मत। सुलितान=राजा। मसान=श्मशान।

हे मनुष्यो! विरह को बुरा मत बताओ, वह तो राजा के समान सर्वोपरि है—संयोग से भी ऊपर है। जिस हृदय में विरह का संचार नहीं होता वह सर्वदा श्मशान की भांति शून्य है, निर्जीव है।

अंषड़ियां झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियां छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि ॥२२॥

शब्दार्थ—अंषणिया=नेत्र। झाईं=मन्द।

प्रिय-आगमन का मार्ग तकते-तकते मेरी नेत्र-ज्योति मन्द पड़ गई है एवं राम

को पुकारते-पुकारते मेरी जीभ में छाले पड़ गए हैं। प्रियतम! मैं कब से तुम्हारी बाट जोह रही हूँ।

इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूँ जीव।
लोही सींचौ तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव ॥२३॥

शब्दार्थ—दीवा=दीपक। मेल्यूं=डालूं। जीव=प्राण। लोही=रक्त।

मैं अपने शरीर रूपी दीपक में प्राणों की वर्तिका डाल कर और उसका लोहू-रूपी तैल स्नेह से अभिषिंचन कर न जाने कब से प्रिय आगमन का मार्ग देख रही हूँ, न जाने कब उनका मुख निहार सकूँगी।

नैंनां नीझर लाइया, रहट बहैं निस जाम।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम ॥२४॥

शब्दार्थ—नैंनां=नेत्रों से। नीझर=निर्झर। जाम=याम, प्रहर (दिन के)

मेरे नेत्रों से अर्हानिश अश्रु-प्रवाह रहट की भाँति अवान्तर गति से चलता रहता है और मैं सर्वदा पपीहे की भाँति प्रिय-नाम रटती रहती हूँ। प्रियतम राम! तुम कब मिलोगे?

अंषड़यां प्रेम कसाइयाँ, लोग जाँणें दुखड़िया।
साईं अपणें कारणें, रोइ रोइ रंतड़िया ॥२५॥

शब्दार्थ—प्रेम कसाइयां=प्रेम की कसौटी पर कसी गई। साईं=स्वामी, प्रिय।

मेरी आँखें प्रेम की कसौटी पर लाल हो गई हैं। वे प्रिय-वियोग में निरन्तर रोने के कारण लाल हो गई हैं और संसार यह अनुमान लगा रहा है कि ये दुखनी आ गई हैं।

सोई आंसू सजणां, सोई लोक बिड़ांहि।
जे लोइण लोहीं चुवै, तौ जाणौं हेत हियांहि ॥२६॥

शब्दार्थ—सोई=वे ही सजणां=सज्जनों के। लोक बिड़ांहिं=लोक-बाह्य अर्थात् दुर्जनों के। लोइण=नेत्र। लोही=रक्त। चुवै=गिरता है।

केवल मात्र अश्रु देखकर सच्चे प्रेम की पहचान नहीं की जा सकती, क्योंकि आंसू तो सज्जन और दुर्जन दोनों के समान रूप से गिरते हैं, किन्तु जिन नेत्रों से रक्त के आंसू गिरें, वही सच्चे प्रेम की अवस्थिति जानो।

कबीर हसणां दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त।
बिन रोयां क्यूं पाइए, प्रेम पियारा मित्त ॥२७॥

शब्दार्थ—मित्त=मित्र, प्रियतम।

कबीर कहते हैं कि हे मित्र! हँसना छोड़ दे; अर्थात् सुखमय जीवन को त्याग दे एवं रुदन अर्थात् प्रिय-वियोग की वेदना को ही अपना। बिना विरह की अनुभूति के प्रेम-पात्र को तू कैसे प्राप्त कर सकेगा?

जो रोऊँ तो बल घटै, हँसौं तौ राम रिसाइ ।
मनही माँहि बिसूरणां, ज्यूं घुंण काठहि खाइ ।।२८।।

शब्दार्थ—बिसूरणां=क्रंदन । घुंण=घुन । काठहि=काष्ठ को ।

यदि मैं विरह में रोता हूँ तो मेरी शक्ति क्षीण होती है, हँसता हूँ तो राम को प्रिय नहीं है, क्योंकि बिना मिलन उल्लास क्यों और कैसे ? अब मेरी आत्मा मन ही मन क्रंदन कर मुझे वैसे ही क्षीण करती रहती है जैसे घुन भीतर ही भीतर काष्ठ को काट कर खोखला बना देता है । भाव यह है कि विरह भीतर ही भीतर सालता रहता है ।

हँसि हँसि कंत न पाइए, जिन पाया तिन रोइ ।
जे हाँसेंही हरि मिलै, तौं नहीं दुहागनि कोइ ।।२९।।

शब्दार्थ—दुहागनि=दुर्भागिनी ।

हँस-हँस कर, सांसारिक आनन्द उड़ाते हुए, किसी ने प्रभु को नहीं पाया है । जिसने भी उनकी प्राप्ति की है उसने उनके विरह की मर्मानुभूति की है । जो इस प्रकार भोगविलास द्वारा ब्रह्म, स्वामी, की सुहागिन बन जायें, तो कोई अभागिन रहे ही नहीं ।

हाँसी खेलौं हरि मिलै, तौ कौण सहै षरसान ।
काम क्रोध त्रिष्णां तजै, ताहि मिलै भगवान ।।३०।।

शब्दार्थ—षरसान=तलवार ।

यदि प्रभु सुख-वैभव की विविध क्रीड़ाओं में प्राप्त हो जायें तो तलवार की धार के समान तीक्ष्ण विरह-वेदना का अनुभव करने के लिए कौन प्रस्तुत होगा । जो काम, क्रोध एवं तृष्णा का परित्याग कर देगा उसे ही भगवत्-प्राप्ति हो सकती है ।

विशेष—तुलना कीजिए—

अति तीक्षण प्रेम कौ पंथ महा, तलवार की धार पै धावनौ है ।"

पूत पियारो पिता कौं, गौहनि लागा धाइ ।
लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गया भुलाइ ।।३१।।

शब्दार्थ—पूत=पुत्र । गौहनि=साथ । आपण=अपनापन ।

आत्मा रूपी पुत्र प्रभु रूपी पिता के प्रेम के कारण उसके साथ के लिए दौड़ पड़ा, किन्तु वह पिता लोभ की मिठाई पुत्र के हाथ में देकर स्वयं को छिपा गया ।

भाव यह है कि आत्मा तो स्वाभाविक प्रेम के कारण परमात्मा से मिलना चाहती है किन्तु प्रभु लोभ का व्यवधान डालकर छिप जाते हैं—साधक की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं ।

डारी खांड पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ ।।३२।।

शब्दार्थ—अंतरि=हृदय में । रोस=क्रोध ।

किन्तु इस लोभ की मिठाई की सारहीनता जब आत्मा रूपी पुत्र ने देखी तो

उसने उसे उठा कर फेंक दिया, लोभ का परित्याग कर दिया, और उसे अपने कृत्य पर आक्रोश हुआ कि यह तूने क्या किया ? इस तुच्छ मिठाई के कारण पिता को छोड़ दिया। इस वियोग में वह पुत्र (आत्मा) वेदना का अनुभव कर रोने लगा और रोता-रोता अपने प्रिय पिता (प्रभु) तक जा पहुँचा।

नैनां अंतरि आचरूं, निस दिन निरषौं तोंहि।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोंहि ॥३३॥

शब्दार्थ—नैना अंतरि = आंखों में। आचरूँ = आँजकर, लगाकर।

हे प्रभु ! न जाने वह दिवस कब आयेगा जब मैं आपको नेत्रों के भीतर काजल के समान आंजकर अहर्निश आपका दर्शन लाभ प्राप्त करूंगी। न जाने प्रभु आप कब दर्शन देकर तेरे लिए इस सौभाग्यशाली दिवस को बुलाओगे।

भाव यह है कि मुझे किस दिन यह सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा।

कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।
बिरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तलपै माइ ॥३४॥

शब्दार्थ—निस = रात। जियरा = प्राण। तलपै = तड़पना।

कबीर कहते हैं कि विरहिणी आत्मा दूसरी आत्मा को सम्बोधित कर कहती है कि हे सखि प्रिय की प्रतीक्षा में समस्त दिवस बीत गया और रात्रि भी यूं ही रीती बीती जा रही है। विरहिणी को प्रिय की प्राप्ति नहीं, होती इससे उसका हृदय वेदना में तड़पता है।

कै बिरहणि कूं मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां, मोपैं सह्या न जाइ ॥३५॥

शब्दार्थ—मीच = मृत्यु। दाझणाँ = दग्ध होना।

हे प्रभु विरहिणी की या तो जीवन लीला ही समाप्त कर दो या अपना स्वरूप-दर्शन दो। अब दिन-रात यह वेदना मुझ से सहन नहीं हो पाती।

बिरहणि थी तौ क्यूं रहीं, जली न पीव की नालि।
रहु रहु मुगधा गहेलड़ी, प्रेम न लाजूं मारि ॥३३॥

शब्दार्थ—नालि = साथ। रहु-रहु = बस-बस। मूगधा = मुग्धा। गहेलड़ी = देरी करने वाली।

यदि तू वास्तविक अर्थों में वियोगिनी थी तो जीवित क्यों रह गयी ? प्रिय के साथ चिता में ही क्यों न भस्म हो गई ? अपनी लज्जा के कारण प्रिय-मिलन में असफलता प्राप्त करा देने वाली मुग्धा ? तू अधिक बात मत बना बस कर, क्यों व्यर्थ प्रेम को भी लज्जित करती है।

हौं बिरह की लाकड़ी, समझि समझि धू धाऊं।
छूटि पड़ौं या बिरहु तैं, जे सारी ही जलि जाऊं ॥३७॥

शब्दार्थ—समझि-समझि = सुलग-सुलग।

मैं विरह की उस लकड़ी के समान हूँ जो शनैः-शनैः सुलग कर जल रही है।

इससे तो अच्छा है कि प्रिय दर्शन दे दें और मैं इस विरह से मुक्त हो सकूं अथवा मैं जल कर सर्वथा क्षार हो जाऊं। यह विरहावस्था असहनीय है।

कबीर तन मन लौं जल्या, बिरह अगनि सूं लागि।
मृतक पीड़ न जांणई, जांणौंगी यहु आगि ॥३८।

शब्दार्थ सरल है।

कबीर कहते हैं, विरह-अग्नि से मेरा शरीर और हृदय इस प्रकार भस्म हो गये कि वे चैतन्य रहित हैं। जिस प्रकार मृतक पीड़ा से सर्वथा असम्पृक्त रहता है, उसी प्रकार विरहिणी भी। यदि कुछ वेदना की जलन का अनुभव और ज्ञान होगा तो इस विरहाग्नि को ही होगा।

बिरह जलाई मैं जलौं, जलती जल हरि जाऊँ।
मो देख्यां जल हरिा जलै, संतौ कहां बुझाऊँ ॥३९॥

शब्दर्था—सरल है।

मैं विरहाग्नि में जली जा रही हूँ। इस असह्य अवस्था के शमन के लिए यदि मैं गुरु रूपी तालाब के पास जाती हूँ तो मुझको उस प्रेमाग्नि में जलता देखकर गुरु भी और अधिक उस आग से जलने लगे। संतजन, मैं इस विचित्र स्थिति का क्या वर्णन करूं।

भाव यह है कि शिष्य का यह अपार प्रेम देखकर गुरु में भी प्रेम उद्दीप्त हो उठता है।

परवति परबति मैं फिर्या, नैन गँवाये रोइ।
सो बूटी पाँऊँ नहीं, जातैं जीवनि होइ ॥४०॥

शब्दार्थ—परबति=पर्वत। बूटी=औषधि।

मैंने पर्वत-पर्वत छान डाला और नेत्र प्रिय वियोग में रोते-रोते नष्ट कर बैठा, किन्तु मैं कहीं भी वह संजीवनी बूटी अर्थात् ब्रह्म—स्वामी, नहीं प्राप्त कर सका जिससे जीवन सफल हो सके।

विशेष—कबीर के ध्यान में इस समय लक्ष्य-शक्ति प्रसंग अवश्य घूम रहा होगा।

फाड़ि पुटोला धज करौं, कामड़ली पहिराउं।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ सोई भेष कराउं ॥४१॥

शब्दार्थ—पुटोला=रेशमी वस्त्र। धज=टूक-टूक, धज्जियां। कामड़ली=कम्बल।

यदि प्रिय को मेरा यह सौन्दर्यपूर्ण वेश रुचिकर नहीं तो अपने रेशमी वस्त्रों को फाड़कर धज्जियां कर साधुओं के समान कम्बल धारण कर लूं। जिस-जिस वेश (आचरण) के द्वारा प्रभु-मिलन की सम्भावना है, मैं वही वेश धारण कर सकती हूँ।

नैन हमारे जलि गए, छिन छिन लोड़ैं तुज्झ।
ना तूं मिलै नां मैं सुखी, ऐसी बेदन मुज्झ ॥४२॥

शब्दार्थ—लोड़ै=प्रतीक्षा में देखना । सुखी = प्रसन्न ।

मेरे नेत्र क्षण-क्षण में तेरी प्रतीक्षा में बाट जोहते-जोहते नष्ट हो गये । मुझे ऐसी वेदना है कि तेरे मिलन बिना आनन्द नहीं ।

भेला पाया स्रम सौं, भौसागर के मांहि ।
जै छांड़ौं तौ डूबिहौं; गहौं त डसिये बांह ।।४३।।

शब्दार्थ—भेला=वेड़ा । भौसागर—भवसागर ।

इस भवसागर के मध्य डूबते हुए को तरने के लिए बड़े परिश्रम से प्रेम का वेड़ा मिला है किन्तु इस पर विरह रूपी सर्प बैठा हुआ है । जो इसे छोड़ता हूँ तो डूबने का भय है और यदि इसका आश्रय लेता हूँ तो आशंका है कि यह विरह-भुजंगम मुझे डस न ले ।

भाव यह है कि संसार से मुक्त होने के लिए प्रेम एकमात्र साधन है, किन्तु इसके साथ विरह अवश्य भोगना पड़ता है ।

रणा दूर बिछोहिया, रहु रे संषम झूरि ।
देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊँगे सूरि ।।४४।।

शब्दार्थ—संषम=चक्रवाक । झूरि=बिसूर=बिसूर कर । धाहड़ी =उच्च-स्वर में ।

चक्रवाक पक्ष में—हे चक्रवाक ! रात्रि ने तेरे प्रिय को तुझसे वियुक्त कर दिया है, अब तू विलख-विलख कर उच्च वाणी में मन्दिर-मन्दिर अथवा घर-घर पर उसके लिए पुकार लगा रहा है, किन्तु उससे मिलन सूर्य ही करायेगा ।

मनुष्य पक्ष में अज्ञान रात्रि में तुझसे प्रभु वियुक्त हो गये हैं । अब तू चक्रवाक की भांति मन्दिर-मन्दिर में उसके लिए पुकार लगा रहा है, किन्तु उसकी प्राप्ति ज्ञान-सूर्य उदय होने पर ही होगी ।

विशेष—अन्योक्ति से पुष्ट सांगरूपक अलंकार ।

सुखिया सब संसार है, खायै अरु सौवै ।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ।।४५।।

कबीर कहते हैं कि समस्त संसार सुखी है जो भोग-विलास का जीवन व्यतीत कर अज्ञान रात्रि में सोता है । दुखी तो केवल एक कबीर है जो ज्ञान-प्राप्ति के लिए जग भी रहा है और प्रभु-मिलन के लिए रो भी रहा है ।

४. ग्यान बिरह कौ अंग

अंग-परिचय—निर्गुण सन्तों में ज्ञान की महत्ता को स्वीकार किया गया है । उनकी मान्यता है कि जब तक जीव अज्ञान के अंधकार में पड़ा रहेगा, तब तक वह प्रभु से साक्षात्कार नहीं कर सकता । इसलिए इस अंग में कबीर ने ज्ञान और विरह के समन्वय का वर्णन किया है । वे कहते हैं कि मैंने जीवात्मा रूपी दीपक में ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित करके उसमें स्नेह का तेल डाल दिया है । इस प्रकार की

ज्योति ही विषय-वासनाओं के पतंगों को जलाने में समर्थ होती है ; अर्थात् मन के विकार तभी दूर हो सकते हैं, जब ज्ञान और विरह का समुचित समन्वय हो। मनुष्य की मृत्यु के लिए हिंसात्मक शस्त्रों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की मृत्यु से व्यक्ति को कुछ भी प्राप्त नहीं होता। यदि वह प्रेमास्त्रों से मरता है तो निस्संदेह उसे भगवत की प्राप्ति हो जाती है। यह प्रेम की आग बड़ी विलक्षण होती है, क्योंकि इससे धुआँ नहीं निकलता, किन्तु यह अन्दर ही अन्दर हृदय को जलाती रहती है। इसकी वेदना को वही व्यक्ति जान सकता है, जो इस आग में पल रहा हो, केवल दूसरों के कहने से इसका वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता।

योगाग्नि के प्रज्वलित होने पर शरीर की झोली जलकर क्षार हो जाती है, खोपड़ी का खप्पर टूट-टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है और जब काया का बन्धन हो जाता है, तब ब्रह्म की प्राप्त हो जाना बहुत ही आसान होता है। यही अग्नि माया जन्य विषय विकारों को नष्ट करने में समर्थ होती है और जब विषय-वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब मन में अनेक प्रकार के उदात्त पावन वैराग्य, विवेक, करुणा आदि आविर्भूत हो जाते हैं। यही अग्नि तभी प्रज्वलित होती है, जब शिष्य पर गुरु की कृपा होती है। इस आग में जलकर ही मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त करके उसके साथ तदाकार हो जाता है ; अर्थात् वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

दीपक पावक आंणिया, तेल भी आंण्या संग।
तीन्यूं मिलि करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ैं पतंग ॥१॥

शब्दार्थ—दीपक=जीवात्मा। पावक=ज्ञान ज्योति। तेल=स्नेह। आण्यां=डालकर। जाइया=जलाया, प्रदीप्त किया। पतंग=विषय वासना के उपादान रूपी पतंगे।

जीवात्मा रूपी दीपक में ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित कर तथा उसमें स्नेह (तेल) डालकर प्रदीप्त किया। इस प्रकार जब तीनों आत्मा, ज्ञान एवं स्नेह मिलकर एकत्रित हो प्रदीप्त हुए तब उसकी अग्नि शिखा में विषय वासना रूपी पतंगे गिर-गिरकर नष्ट होने लगे।

मार्या है जे मरेगा, बिन सर थोथी भालि।
पड़्या पुकारै ब्रिछ तरि, आज मरैं कै काल्हि ॥२॥

शब्दार्थ—बिन सर=बिना फलक के। थोथी=खाली। ब्रछ=वृक्ष, सार-वृक्ष।

जो मारा गया है वह तो बिना फलक के छूंछे भाले से ही मर सकता है। भाव यह है कि मरण के लिए हिंसापूर्ण शस्त्रों की आवश्यकता नहीं, अपितु जीवन्मुक्त होने के लिए प्रेम का बाण ही पर्याप्त है। उस बाण के लगते ही वह वेदनाकुल होकर संसार—वृक्ष के नीचे पड़ा कराह रहा है, पीड़ा का अनुभव कर इस प्रतीक्षा में है कि वह आज जीवन्मुक्त होगा या कल। अथवा यह संसार वृक्ष के नीचे पड़ा वेदनाकुल है आज या कल में ही अर्थात् शीघ्र ही उसे प्रिय की प्राप्ति हो जायेगी।

हिरदा भीतरि दौं बलै, धूवां न प्रगट होइ।
जाकै लागी सौ लखै, कै जिहि लाई सोइ ॥३॥

शब्दार्थ—हिरदा=हृदय। दौं=अग्नि। बलै=जले। लाई=लगाकर।

हृदय के भीतर प्रेम की दावाग्नि धधक रही है किन्तु उसका धुआँ प्रकट नहीं होता, वह तो भीतर ही भीतर जलती रहती है। इस अग्नि का अनुभव तो दो ही कर सकते हैं, या तो वह जिसके हृदय में यह अग्नि धधकती है और या फिर वह जो इस अग्नि को लगाने वाला है। शेष संसार इस अग्नि का धुँआ अर्थात् कुछ भी चिह्न नहीं देख पाता।

झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही विभूति ॥४॥

शब्दार्थ—झल=अग्नि। झोली=शरीर। खपरा=खोपड़ी। विभूति=राख, क्षार।

योगाग्नि प्रज्वलित होने पर शरीर की झोली तो जलकर भस्म हो गई और खोपड़ी रूपी खप्पर टूट-फूट गया। योगी की आत्मा तो परम तत्व से मिल गई, उसके समाधि स्थान पर तो केवल शरीर की राख ही अवशिष्ट रह पाई।

भाव यह है कि आत्मा के महामिलन में योगी को वेशादि बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती।

अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि।
उतर दषिण के पंडिता, रहे विचारि विचारि ॥५॥

शब्दार्थ—कंदू=पंक, पाप। उत्तर दक्षिण के पंडिता=उत्तर दक्षिण के पंडित अर्थात् बहुत सारे विद्वान्।

माया रूपी जाल में ज्ञानाग्नि लग जाने से विषय-वासना का पंक जल कर समाप्त हो गया। इस अद्भुत कृत्य को देख (कि पानी में आग कैसे लग गई) उत्तर से लेकर दक्षिण तक के ज्ञानी विचार-विचार कर रह गये, किन्तु यह रहस्य उनकी समझ में न आया।

दौं लागी साइर जल्या, पंषी बैठे आइ।
दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाय ॥६॥

शब्दार्थ—दौं=अग्नि, ज्ञानाग्नि। साइर=सागर। पालवै=पल्लवित होता।

ज्ञानाग्नि के लगने से वासना का सागर भस्म हो गया कौर नवीन सृष्टि में (ज्ञानयुक्त होने पर) वैराग्य, विवेक, करुणा आदि गुणों के पक्षी आकर चहचहाने लगे। इस दग्ध वासना-शरीर को मैं पुनः पल्लवित नहीं होने दूँगा क्योंकि सतगुरु ने ज्ञान-अग्नि लगा दी है।

गुर दाधा चेला जल्या, बिरहा लागी आगि।
तिणका बपुड़ा ऊबर्या, गलि पूरे कै लागि ॥७॥

शब्दार्थ--दाधा=दग्ध किया। बपुडा=बेचारा। गलि=(गैल) साथ।

पूर=पूर्ण ब्रह्म ।

गुरु ने प्रेमाग्नि को प्रज्वलित किया, उसमें चेला जल गया ; अर्थात् प्रभु-प्रेम में मग्न हो गया, किन्तु इसकी विरहानुभूति से वह तभी मुक्त हुआ जब तृण तुल्य स्वतन्त्र अस्तित्वहीन आत्मा पूर्ण ब्रह्म में लीन हो गई ।

भाव यह है कि प्रभु मिलन से ही मुक्ति हो सकती है ।

अहेड़ी दौं लाइया, मृग पुकारे रोइ ।
जा बन में क्रीला करी, दाझत है बन सोइ ॥८॥

शब्दार्थ—अहेड़ी=आखेटक—गुरु । लाइया=लगा दी । मृग=जीव—मनुष्य । क्रीला=क्रीड़ा । दाझत=जलता है । बन= विषय-वासना से पूर्ण माया का संसार ।

सद्गुरु रूपी आखेटक ने माया के विषय-वासनायुक्त बन में ज्ञान की अग्नि लगा दी । जीव रूपी मृग यह पुकार कर रो उठे कि जिस बन में हमने क्रीड़ायें कर सुख भोग प्राप्त किया वही जल रहा है ।

विशेष—मृगों को पकड़ने या मारने के लिए आखेटक सम्पूर्ण बन में आग लगा देते हैं । वन में आग लगती देख मृग सम्मुख आ जाते हैं और आखेटक उन्हें अपने वाणों का लक्ष्य बना लेता है । यही रूपक कबीर ने यहाँ प्रयुक्त किया है ।

पाणी माँहैं प्रजली, भई अप्रबल आगि ।
बहती सलिता रह गई, मंछ रहे जल त्यागि ॥९॥

शब्दार्थ - पानी=विषय वासना या माया । अप्रबल=अत्यन्त तीव्र । मंछ=मच्छ, जीव । जल=संसार ।

विषय-वासना रूपी जल में ज्ञान की आग लगकर तीव्र वेग से फैल गई । ज्ञान ने सम्पूर्ण माया बन्धन को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया । माया की सरिता का प्रवाह रुक जाने से जीवों ने जल—संसार—का परित्याग कर दिया ; अर्थात् वे जीवन्मुक्त हो गये ।

समंदर लागी आगि, नदियां जलि कोयला भई ।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढ़ि गई ॥१०॥

शब्दार्थ—समंदर=संसार सागर । नदियाँ=विषय वासनाएँ । कोयला=शुष्क, क्षार से तात्पर्य है । मंछी=मछली, मनुष्य । रूषां=ब्रह्म ।

संसार समुद्र में ज्ञान की अग्नि लग गई जिससे विषय-वासना और सांसारिक आकर्षणों की सरितायें जल कर कोयले के समान शुष्क हो गईं, किन्तु कितनी ही मछलियाँ रूपी आत्माएँ इस विनाश चक्र में न पड़ीं । वे तो अपनी साधना द्वारा ब्रह्मलीन हो गईं (रूषां चढ़ि गई) अतः हे कबीर ! तू इस स्थिति को देखकर जाग और साधना द्वारा तू भी ब्रह्म को प्राप्त कर ।

५. परचा कौ अंग

अंग-परिचय—परचा का शुद्ध रूप है परिचय । प्रस्तुत अंग में कबीर ने

आत्मा और परमात्मा के महामिलन का परिचय देते हुए ब्रह्म के स्वरूप का परिचय दिया है। उन्होंने बताया है कि परमात्मा अनंत तेज से युक्त है। वह तेज ऐसा प्रतीत होता है मानो असंख्य सूर्यों की सेना ही एक स्थान पर एकत्र हो गई हो। उस तेज का वर्णन करना अत्यन्त कठिन है, कोई उसकी महत्ता का अनुमान भी नहीं लगा सकता। ब्रह्म अगम्य और अगोचर है और जहाँ पर उसका महातेज विदीर्ण होता है, वह स्थान भी अगम्य है। ऐसे तेजस्वी ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करना शब्दों के सीमित साधन की शक्ति से बाहर है।

कबीर ने फिर बताया है कि वह ब्रह्म कमल के समान है— ऐसा कमल जो बिना पानी के ही फूलता-फलता है और मेरा मन—आत्मा भौंरे के समान है। जिस प्रकार भ्रमर का कमल के प्रति अनंत अनुराग होता है, उसी प्रकार मेरी आत्मा भी गुरु के अनुराग में तल्लीन है। मेरे हृदय में कमल खिल रहा है जिसमें ब्रह्म का निवास है। जहाँ सागर, सीप एवं स्वाति नक्षत्र की बूंद से मोती उत्पन्न नहीं होता, ऐसे शून्य शिखर पर प्रभु के दर्शनानन्द रूपी मोती की प्राप्त होती है। ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग योग-पंथ है जिसका ज्ञान गुरु की कृपा से ही होता है। जिन लोगों पर गुरु की कृपा नहीं होती, वे मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं और जिन लोगों पर गुरु की कृपा होती है वे सत्पथ पर चलकर मुक्ति प्राप्ति कर लेते हैं। सांसारिक बन्धन ब्रह्म प्राप्ति में बाधक हैं। जब आत्मा इन बन्धनों को छोड़कर निस्सीम प्रदेश में प्रवेश कर लेती है, तभी उसे शून्य प्रदेश में अमृत के समान ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। जब आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है तो हृदय के सारे अज्ञानों का समूह एकदम तिरोहित हो जाता है। अतः कबीर कहते हैं कि मेरा चित्त सांसारिक विषयों से उदासीन होकर उन्मत्त अवस्था को प्राप्त हो गया है। पहले जो मन माया के चक्कर में आकर इधर-उधर भटकता रहता था, वह अब सर्वथा निश्चल और शांत होकर ब्रह्म से इस प्रकार मिल गया है जिस प्रकार नमक पानी में मिलकर तदाकार हो जाता है। वस्तुतः आत्मा परमात्मा से मिली भी तो नहीं है, बल्कि उसी का एक रूप है। जिस प्रकार बर्फ़ की उत्पत्ति पानी से होती है और फिर वह पिघलकर पुनः पानी बन जाता है, इसी प्रकार आत्मा परमात्मा का ही रूप है जो कुछ दिनों तक काया का आवरण पहने रहने के कारण भिन्न-रूप में भासित होता रहता है, किन्तु जब यह आवरण हट जाता है तो फिर अपने उसी महारूप में मिलकर तदाकार हो जाता है। सांसारिक आकर्षण आत्मा और परमात्मा के मिलन में सबसे बड़ी बाधा होते हैं। जिस प्रकार दलाल क्रय-विक्रय करके दूसरे भोले लोगों को अपने चंगुल में फँसाता रहता है, उसी प्रकार ये आकर्षण भी आत्मा को कर्मों के बंधन में बाँधते रहते हैं। जब तक कर्मों का बंधन है तब तक ब्रह्म की प्राप्ति असम्भव है। और ये बंधन गुरु की कृपा से ही नष्ट होते हैं। कबीर कहते हैं किसी भाग्य से मुझ पर गुरु की कृपा हुई और पक्षी-रूपिणी मेरी आत्मा शून्य प्रदेश रूपी गगन में उड़ गई। वन्य प्रदेश में पहुँच कर इस पक्षी ने बिना चोंच के ही सहस्रदल से श्रवित अमृत का पान किया।

यह पान इतना मधुर था कि इसके सामने संसार के सारे आनन्द निस्सार और तुच्छ दिखाई देने लगे। कहने का भाव यह है कि आत्मा को परमात्मा तक पहुँचने के लिए मूलाधार, स्वाधिष्ठान, पाणिपूरक, अनहद, विशुद्ध और आज्ञाचक्र इन छः चक्रों का भेदन करना होता है और जब इड़ा पिंगला से मिल जाती है अब पिंगला मूलाधार से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखती, अर्थात् मूलाधार चक्र का भेदन कर देती है, तभी प्रभु की प्राप्ति होती है, क्योंकि तब कुण्डलिनी के लिए ब्रह्म नाड़ी का मार्ग खुल जायेगा और वह ब्रह्मरंध्र में पहुँच जायगी, जहाँ पर शिव का—परम शक्ति का—निवास है और जहाँ पर अलौकिक आनन्द की सर्वदा वर्षा होती रहती है।

इस नाना रूपात्मक संसार में मनुष्य जन्म लेकर प्रायः इसके ही आकर्षणों में फँस कर ब्रह्म को भूल जाता है और फिर नाना प्रकार के कष्टों की असह्य वेदना सहता रहता है। कुछ विरले लोग ही ऐसे होते हैं जो इन आकर्षणों से वियुक्त होकर ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और अन्त में अपने प्रयत्न में सफल भी हो जाते हैं। जब मनुष्य को ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है तो उसकी सारी वेदनाएँ शान्त हो जाती हैं और परम ब्रह्म से तदाकार होते ही उसके सारे पाप इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार गंगा में मिल जाने पर गंदा नाला भी पवित्र और पावन हो जाता है। यह संसार और इसके आकर्षण में सब नश्वर और क्षणभंगुर हैं। पृथ्वी, आकाश, वायु, जल और अग्नि इन पाँच तत्वों से बनी हुई सृष्टि भी नश्वर है। अनश्वर तो केवल ब्रह्म और उसके दास हैं, क्योंकि जब यह माया के बन्धनों से परिपूर्ण संसार नहीं था, यहाँ पर क्रय-विक्रय का व्यापार नहीं चलता था, तब भी यहाँ पर प्रभु के दास थे जो सर्वथा उसके प्रेम के अलौकिक आनंद में डूबे रहते थे।

ब्रह्म को प्राप्त कर लेने के पश्चात् भक्त पर माया का जादू नहीं चलता। तब उसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं और वह ब्रह्म को छोड़कर और किसी पदार्थ की ओर उन्मुख ही नहीं होता। किन्तु ब्रह्म तभी प्राप्त हो सकता है, जब मनुष्य का मन सच्चे रूप में शुद्ध और निर्मल हो। आडम्बरों का स्वाँग भरने से ब्रह्म के दर्शन नहीं हो सकते। ब्रह्म का मिलन जिस स्वाद को प्रदान करता है, वह विलक्षण और अलौकिक है। वाणी से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसके स्वाद को तो वही व्यक्ति जान सकता है जिसने उस स्वाद का आस्वादन किया हो। उस स्वाद को चखकर हृदय अमित आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है, अन्तःकरण का सारा अज्ञान तिरोहित हो जाता है और आत्मा प्रभु से तादात्म्य स्थापित कर लेती है। इस तादात्म्य को प्राप्त करके ही मनुष्य पूर्णता को प्राप्त होता है और जीवन का परम लक्ष्य भी यही है। इस लक्ष्य को प्राप्त करके मनुष्य फिर अपने अस्तित्व को विस्मृत कर देता है, उसका अहं नष्ट हो जाता है और सब प्रकार का अज्ञान मिट जाता है। इन अवस्थाओं को प्राप्त करके मनुष्य के हृदय का मानसरोवर भक्ति-जल से सम्पूर्ण हो जाता है, जिसमें हंस रूपी आत्माएँ मुक्ति रूपी मोतियों को चुनते रहते हैं, अनहदनाद रूपी बादल गरज-गरज कर अमृत की वर्षा करते हैं, मेरुदण्ड रूपी बदली

के ऊपर सहस्रदल विकसित हो जाता है।

कबीर तेज अनंत का, मानौ ऊगी सूरज सेणि।
पति संगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि ।।१।।

शब्दार्थ—अनन्त = परमात्मा। सेणि = श्रेणी अथवा सेना। पति = स्वामी, ब्रह्म। जागी = ज्ञान प्राप्त। सुन्दरी = पत्नी अर्थात् आत्मा दीठा = दृष्टिगत हुआ।

कबीर कहते हैं कि उस परमात्मा के सौन्दर्य का तेज ऐसा भासमान है मानो अनेक सूर्यों की श्रेणी अथवा सेना उदित हुई हो। पति अर्थात् स्वामी (क्योंकि आत्मा 'राम की वहुरिया' है) ब्रह्म के साथ (अज्ञानरात्रि से) जागकर उसने यह सौन्दर्यमय आश्चर्यपूर्ण दृश्य देखा।

विशेष—अज्ञानरात्रि से केवल आत्मा ही जागती और तब प्रिय—परमात्मा—का संयोग पा वह आनन्दमय दृश्यावलोकन करती है।

कौतिग दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास।
साहिब लेवा मांहि है, बेपरवांही दास ।।२।।

शब्दार्थ—कौतिग = कौतुक, आश्चर्य। उजास = उजाला, प्रकाश।

जिस स्वामी – ब्रह्म—का सौन्दर्य देखा गया वह अशरीरी था, निराकार के सौन्दर्य का ही वह दर्शन था। यह उसी के समान था जैसे कोई सूर्य और चन्द्र न देखकर केवल मात्र उनके प्रकाश का दर्शन करे। (सत्य तो यह है कि) प्रभु जन-सेवा से ही प्राप्य है, उसमें भक्त भी निश्चिन्त हो जाता है।

विशेष—(१) "साहिब सेवा मांहि" —से तात्पर्य जन-सेवा इसलिए है कि जन-सेवा ही वस्तुतः नारायण सेवा है, मनुष्य उसी का तो अंश है। अंश की सेवा अंशी की ही सेवा है। कबीर का यह दृष्टिकोण अत्यन्त सामाजिक और लोकमंगल की भावना से ओत-प्रोत है।

(२) विभावना अलंकार।

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान ।।३।।

शब्दार्थ—उनमान = अनुमान। परवान = प्रमाण।

उस प्रभु के तेजयुक्त सौन्दर्य को वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता, कहने में उस अनुपम रस की शोभा ही नहीं। उस सौन्दर्य का अनुमान भी कोई नहीं लगा सकता, वह तो एकमात्र दर्शन का ही विषय है।

अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै जोति।
जहाँ कबीरा बंदिगी, (तहां) पाप पुन्य नहीं छोति ।।४।।

शब्दार्थ—अगम = अगम्य। अगोचर = जो दिखाई न दे। गमि नहीं = जिस तक गति (पहुँच) नहीं है। छोति = छूत-छात, भेद-भाव।

वह परम-तत्व अगम्य और अगोचर है (साधारण व्यक्तियों के लिए, साधना से तो उसकी प्राप्ति हो ही जाती है)। इसलिए जहाँ उस परमात्मा की ज्योति अपना

प्रकाश विकीर्ण करती है वह स्थान भी अगम्य और अगोचर है। कबीर जिस ब्रह्म सम्मुख शिरसा श्रद्धावनत है, वह पाप-पुण्य और छुआछात सबकी परिधि से परे है अर्थात् सब उसका भजन कर सकते हैं।

हदे छाड़ि बेहदि गया, हुआ निरंतर बास।
कवल ज फूल्या फूल बिन, को निरषै निज दास ॥५॥

शब्दार्थ—हदे=सीमा, सम्बन्ध। निरषै देखना।

जब मैं संसार से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर निस्सीम की साधना में प्रवृत हुआ, तो मैं उसकी सीमा में ही निरन्तर रहने लगा अर्थात् आत्मा और परमात्मा का मिलन हो गया। वहाँ पहुँच कर मैंने देखा कि एक कमल बिना मृणाल के भी वहाँ प्रफुल्ल विकास पा रहा है (संसार माया से असम्पृक्त ईश्वर का सौन्दर्य मृणाल के कमल का विकास है, जीवात्मा के सन्दर्भ में भी यह अर्थ लगाया जा सकता है कि इस संसार में माया-जनित आकर्षणों में ही वह आनंद पाता था, किन्तु निस्सीम की सीमा में पहुँचकर बिना इस माया से जुड़े भी वह आनंद पा रहा है)। इसको प्रभु भक्त के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं देख सकता।

विशेष—"फूल्या फूल बिन" में फूल से तात्पर्य उस कमल मृणाल से ही है, जिसके द्वारा वह अपना जीवन रस ग्रहण करता है। यदि 'फूल' का अर्थ 'फल' ही लगाया जाय तो कमल के खिलने की बात की कोई तुक नहीं बैठती।

कबीर मन मधकर भया रह्या निरंतर बास।
कवल ज फूल्या जलह बिन, को देखै निज दास ॥६॥

शब्दार्थ—जलह=जल।

कबीर कहते हैं कि मैंने ऐसा कमल (परमात्मा) देखा है जो बिना जल (माया) के भी विकसित हो रहा है (आनन्द उठा रहा है)। ऐसा अनुपम केवल वही है, अन्य कोई नहीं। मेरा मन उस कमल का प्रेमी भ्रमर हो गया एवं उसके सम्पुट में ही निरन्तर निवास करने लगा अर्थात् उसी में लीन हो गया।

अंतरि कवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहां होइ।
मन भवरा तहां लुबधिया, जांणैगा जन कोइ ॥७॥

शब्दार्थ—अंतरि=हृदय। लुबधिया=लुब्धक, लोभी। जन=भक्त।

मेरे हृदय के भीतर कमल खिल रहा है अथवा मेरे शरीर के भीतर कमल विकसित हो रहा है। जिसमें ब्रह्म का निवास है। मेरा मन रूपी भ्रमर उस कमल रस के पान करने के लिए लालयित हो गया है, इस रहस्य को बिरले भक्त ही जान सकते हैं (इसका साक्षात्कार कुछ बिरलों को ही होता है)।

विशेष—योग पंथ में शीश में सहस्रदल कमल की स्थिति मानी गई है। योगपंथियों की मान्यता है कि यहीं ब्रह्म का निवास है, जहाँ से निरन्तर अमृत स्रवित होता है। इस कमल की स्थिति हृदय में भी मानकर सन्तों ने वर्णन किया है। 'अन्तर' का अर्थ हृदय लिया जाय अथवा 'शरीर के भीतर' प्रत्येक दशा में कबीर का

तात्पर्य सहस्रदल कमल से ही है।

सायर नाहीं सीप बिन, स्वांति बूंद भी नांहि।
कबीर मोती नीपजैं, सुन्नि सिषर गढ़ मांहि ॥८॥

शब्दार्थ—सायर=सागर। नीपजै=उत्पन्न होना। सुन्नि=शून्य।

कवीरदास कहते हैं जहाँ सागर, सीप एवं स्वाति नक्षत्र की बूंद—मोती की उत्पत्ति का एक भी उपादान नहीं है, ऐसे शून्य शिखर (सहस्रदल कमल के पास ही या उसके भीतर शून्य की स्थिति) पर प्रभु के दर्शनानन्द के मोती उत्पन्न होते हैं।

घट मांहैं औघट लह्या, ओघट मांहैं घाट।
कहि कबीर परचा भया, गुरू दिखाई बाट ॥९॥

शब्दार्थ—घट=हृदय। औघट=अटपटा, विचित्र। ओघट=अविहित, निषिद्ध पन्थ। घाट=किनारा, तट। परचा=मिलन। बाट=मार्ग।

कबीरदास कहते हैं कि सद्गुरु ने जो मार्ग दिखाया उसी के द्वारा अपने हृदय में उस ब्रह्म के दर्शन हो गये। गुरु द्वारा प्रशस्त यह पन्थ योग-पन्थ ही है। इसी के द्वारा जिसे (मूर्ख लोगों द्वारा) कुमार्ग (दुर्गम साधना) कहा जाता है मैंने अपना लक्ष्य (घाट) प्राप्त कर लिया।

सूर समांणां चंद मैं, दहूँ किया घर एक।
मनका च्यंता तब भया, कछू पूरबला लेख ॥१०॥

शब्दार्थ—सूर=पिंगला नाड़ी। चन्द=इड़ा नाड़ी। घर एक=सुषुम्ना। च्यंता=इच्छित। पूरबला लेख=पूर्व जन्म के सत्कृत्य।

साधक कबीर कहते हैं कि पिंगला नाड़ी इड़ा में समा गई और दोनों ने सुषुम्ना नाड़ी को ही अपना घर-मार्ग बना लिया। इन दोनों के एकत्रित होकर सुषुम्ना वास ग ही कुण्डलिनी ऊपर ब्रह्माण्ड—सहस्रदल—की ओर उन्मुख हुई और सहस्रदल तक पहुच कर अमृत का पान करने लगी। यह मेरा मन चाहा हुआ, जो किसी पूर्वजन्म के सुकृत्यों का ही फल है।

विशेष—योग पन्थ की मान्यतानुसार मेरुदण्ड के बायीं ओर इड़ा, दाहिनी ओर पिंगला और मध्य में सुषुम्णा नाड़ी होती है। सुषुम्णा नाड़ी के मध्य में वज्रा, वज्रा के मध्य मे चित्रिणी और चित्रिणी के मध्य में ब्रह्म नाड़ी होती है। इसी ब्रह्म नाडी से होकर कुण्डलिनी सहस्रदल कमल तक पहुंचती है, किन्तु यह तभी सम्भव है जब इड़ा और पिंगला एक होकर सुषुम्ना में प्रवेश करे। यह कबीर का 'च्यंता' है।

हद छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम ॥११॥

शब्दार्थ हद=सीमा, माया जनित भ्रमयुक्त संसार। बेहद=सीमाहीन। सुन्नि असनान—सहस्र दल कमल में अमृत प्राप्ति। महल=अन्तःपुर, शून्य या ब्रह्मरन्ध्र।

कबीर कहते हैं कि जब मैं इस मायाजनित भ्रममय समीप संसार का परित्याग

कर निस्सीम ब्रह्म की साधना में प्रवृत्त हुआ तो मैं शून्य प्रदेश में झरते अमत से नहा गया, पूर्णतया उस ब्रह्म-रस से सराबार हो गया। बड़े-बड़े मुनिगण जिस शून्य प्रदेश के निवास के लिए तरसते हैं, उसका मार्ग नहीं पा सकते, वहाँ मेरा स्थायी वास हो गया है। अर्थात् जो ब्रह्म मुनियों को दुर्लभ है, उसे मैंने प्राप्त कर लिया है।

देखौ कर्म कबीर का, कछू पूरब जनम का खेल।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख ॥१२॥

शब्दार्थ दोसत=दोस्त, मित्र, परिचित।

हे सांसारिक मनुष्यो ! कबीर के कुकर्मों एवं पूर्वजन्म के संचित पुण्यों का फल तो देखो कि जिस शून्य महल का मार्ग मुनिगण भी नहीं पाते वहाँ पहुँच कर कबीर ने निराकार (ब्रह्म) से मित्रता स्थापित कर ली है, उसी में लय हो गया है (क्योंकि मित्रता का लक्षण है 'दो प्राण एक तन')।

पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनंत।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत ॥१३॥

शब्दार्थ—पिंजर=पिंजड़ा, अस्थि पिंजड़ा अर्थात् शरीर जो पाँच तत्वों का पिंजड़ा है। खूटा=समाप्त हुआ।

हृदय में प्रेम के प्रकाशित होने पर आत्मा और परमात्मा का जो प्रिय और प्रेमी का सनातन सम्बन्ध है, वह जाग उठा। इस प्रेम भावना के जगने से अज्ञानवश जो भ्रम थे वे नष्ट हो गये, एवं प्रिय—ब्रह्म—मिलन का अमित सुख प्राप्त हुआ।

प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुख कसतूरी महमहीं, बाँणी फूटी बास ॥१४॥

शब्दार्थ—प्यंजर=शरीर। उजास=प्रकाश। वास=सुगंधि।

इस शरीर में प्रभु प्रेम के उदित होने पर हृदय उस प्रेम-ज्योति से द्योतित हो उठा एवं साधक का मुख प्रेम की सुगन्ध से परिपूर्ण हो गया, जिससे उससे निस्सृत वाणी भी प्रभु-प्रेम की सुगन्ध से सुगन्धित थी।

मन लागा उन मन्न सौं, गगन पहुँचा जाइ ॥
देख्या चंद बिहूँणाँ चांदिणाँ, तहाँ अलख निरंजन राइ ॥१५॥

शब्दार्थ—उन मन्न=उन्मना, योग की एक अवस्था जिसमें साधक संसार से विरक्त होकर अन्तर्मुखी वृत्ति वाला हो जाता है। गगनः=ब्रह्मांड, शून्य। अलख निरंजन=निराकार ब्रह्म।

मायाजनित आकर्षणों से विरक्त मन उन्मनी अवस्था में प्रवृत्त होकर शून्य में जा पहुँचा एवं वहाँ निराकर ब्रह्म के दर्शन किए। उस निराकार का सौंदर्य अद्भुत कान्ति विकीर्ण कर रहा था। वह ऐसा ही था जैसे चन्द्रमा के बिना मानों चन्द्र-ज्योत्स्ना छिटक रही हो। भाव यह है कि अशरीरी का भी अनुपम सौंदर्य था।

मन लागा उन मन सौं, उन मन मनहि बिलग।
लूंण बिलगा पाणियाँ, पांणीं लूंण बिलग ॥१६॥

शब्दार्थ—बिलग=पृथक्, भिन्न। लूंण=नमक। बिलगा=लय हो गया, मिल गया।

साधक कहता है कि मेरा चित्त सांसारिक विषयों से असम्पृक्त होकर उन्मनावस्था में प्रवृत्त हो गया है एवं यह मन की उन्मनावस्था पहले से सर्वथा भिन्न है, पहले तो मन माया के आकर्षणों में भटकता था, अब वह उनसे सर्वथा उपराम हो ब्रह्म प्राप्ति में प्रवृत्त हो गया एवं ब्रह्म से वह इस प्रकार एकाकार हो गया जिस प्रकार नमक में पानी या पानी में नमक लय हो जाते हैं।

पांणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ ॥१७॥

शब्दार्थ—पांणि=पानी, परम रत्व ब्रह्म। हिम=वर्फ, तत्व से निर्मित पदार्थ या वस्तु अर्थात् जीव।

कवीरदास जी आत्मा और ब्रह्म का अद्वैत सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार पानी से ही बर्फ बनती है एवं नष्ट होकर वह पुन: पानी के रूप में परिवर्तित हो जाती है उसी प्रकार जीवात्मा ब्रह्म का ही अंश है और मृत्यु को प्राप्त होने पर पुन: उसी परमात्मा में लय हो जाता है। इस प्रकार तत्व या आत्मा अंतत: अपना प्रकृत स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

विशेष—निम्नस्थ पद में भी कबीर ने यही भावना व्यक्त की है—

"जल में कम्भ कुम्भ में जल है, वाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, इहि तथ कथ्यौ ग्यानी ॥"

भली भई जु भै पड्या, गई दसा सब भूलि।
पाला गलि पांणी भया, ढुलि मिलिया उन कूलि ॥१८॥

शब्दार्थ—भली भई=अच्छा हुआ। भै=भय। ढुलि=ढुलक कर।

यह बड़ा अच्छा हुआ कि सद्गुरु की कृपा ने मृत्यु भय से अवगत करा मुझे साँसारिक—माया जनित आकर्षणों से सर्वथा विमुख कर दिया (और मैं साधना मार्ग पर अग्रसर हुआ) जिससे हिम गलकर पानी के यथार्थ रूप में आ निस्सीम ब्रह्म की सीमा में जा कर मिल गया; अर्थात् आत्मा ब्रह्म में लय हो गई।

चौंहटै च्यंतामणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि।
मीरां मुझसूं मिहर करि, इब मिलौं न काहू साथि ॥१९॥

शब्दार्थ—चौहट=चौराहे, तात्पर्य संसार के बाजार से है। हाडी=माया, दलाल। मीरा=धार्मिक आचार्य, यहाँ गुरु से तात्पर्य है। मिहर=कृपा।

संसार रूपी बाजार के चौराहे पर जीवात्मा रूपी चिन्तामणि विक्रय के लिए रखी गई (विक्रय और क्रय कर्मों का है) माया रूपी दलाल ने तभी उस पर हाथ रखना आरम्भ कर दिया अर्थात् मायाजनित आकर्षणों में उलझाना प्रारम्भ कर दिया। हे गुरुवर! अब आप मुझ पर कृपा कर इस माया भ्रम से निकालिए, अब मैं फिर कभी इन प्रपंचो में न पड़ूंगा।

पंषि उड़ानीं गगन कूं, प्यंड रह्या परदेस।
पांणी पीया चंच बिन, भूलि गया यहु देस ॥२०॥

शब्दार्थ—पंषि=पक्षी, आत्मा। प्यंड=पिण्ड, शरीर। परदेश=संसार, क्योंकि आत्मा तो उस अलौकिक लोक का वासी है। पांणी=सहस्रदल कमल से निस्सृत अमृत। चंच=चोंच।

पक्षी-रूपिणी आत्मा शून्य प्रदेश रूपी गगन को उड़ गई एवं साधक का शरीर इसी लोक में रह गया। शून्य प्रदेश में पहुंच कर इस पक्षी ने बिना चोंच (साधन, इन्द्रियाँ) के सहस्रदल कमल से स्रवित अमृत का पान किया। इस अमृतपान के आनंद के सम्मुख तुच्छ सांसारिक आनन्द विस्मृत हो गये।

पंषि उडानीं कूँ, गगन उड़ी चढ़ीं असमान।
जिहिं सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान ॥२१॥

शब्दार्थ—पंषि=कुण्डलिनी, मूलाधार चक्र के नीचे जहाँ मेरुदण्ड का अन्तिम भाग है, वहीं एक त्रिकोणाकृति अग्निचक्र है। इसी अग्निचक्र में स्वयम्भू लिंग से साढ़े तीन हाथ की लम्बाई की लिपटी हुई एक सर्पाकार शक्ति रहती है, उसी को कुण्डलिनी कहते हैं। साधक प्राणायम द्वारा उसे जागृत करता है। कुण्डलिनी जागृत होने पर सुषुम्णा के भीतर स्थित ब्रह्म नाड़ी द्वारा षटचक्रों में होते हुए सहस्रार में प्रवेश करती है, इसे ही पंखी का 'गगन-उड़न' कहा गया है। कुण्डलिनी का सहस्रार में प्रवेश ही योग की चरमावस्था है।) गगन=शून्य। आसमान=ब्रह्माण्ड,सहस्रदल कमल के मध्य या उससे ऊपर माना गया है। मण्डल=गगन अर्थात् शून्य एवं मूलाधार चक्र के बीच का स्थान जिसमें षट्चक्रों की स्थिति है।

कुण्डलिनी रूपिणी पक्षी (ब्रह्म नाड़ी में प्रविष्ट हो) शून्य में पहुंच गई। एवं उससे भी आगे बढ़ कर वह ब्रह्माण्ड में (जहां प्रभु का निवास है) जा पहुंची। जिस उपदेश से प्रभावित हो षट्चक्रों का भेदन किया जाता है, वह उपदेश सद्गुरु ने मुझे प्रदान किया है।

सुरति समांणी निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यंभ दुवार ॥२२॥

शब्दार्थ सुरत=प्रभु-प्रेम, इड़ा। निरति=संसार से वैराग्य अर्थात् प्रभु का ध्यान, पिंगला। स्यंभदुवार=शम्भु का द्वार, शिव का स्थान, ब्रह्मरन्ध्र।

साधारण अर्थ - साधक की समाधि में प्रभु के प्रेम वास हो जाने पर अर्थात् समाधिस्थ अवस्था में प्रभु का ही ध्यान करने से प्रभु की प्राप्ति सम्भव है। जब प्रभुभक्ति का साधना मे सम्बन्ध हो जाता है तो शम्भु (प्रभु) के दर्शन हो जाते हैं।

साधनापरक अर्थ—जब इड़ा पिंगला से मिल जाती है और पिंगला मूलाधार से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं; अर्थात् मूलाधार चक्र का भेदन कर देती है तब ही प्रभु-प्राप्ति सम्भव है, क्योंकि कुण्डलिनी के लिए ब्रह्म नाड़ी का मार्ग खुल जायेगा

और वह ब्रह्मरंध्र में पहुंच जायेगी जहां शिव— परमशिव— का वास है। इड़ा पिंगला के इस मिलन से ही ब्रह्म प्राप्ति हो गई।

सुरति समांणीं निरति मैं, अजपा मांहैं जाप।
लेख समांणा अलेख मैं, यूं आपा मांहैं आप ॥२३॥

शब्दार्थ—अजपा=मौन ध्यान। जाप=प्रभु नाम स्मरण। लेख=साकार ब्रह्म। अलेख=निराकार ब्रह्म। आपा=प्रभु, ब्रह्म, परमात्मा। आप=अपनत्व, आत्मा से तात्पर्य है।

इड़ा पिंगला में मिल गई, जिससे नाम स्मरण की ध्वनि शान्त हो मौन ध्यान में परिणत हो गई। इस स्थिति में आकर साकार निराकार में समा गया; अर्थात् केवल निराकार ब्रह्म का ही ध्यान रहा इस प्रकार परमात्मा से आत्मा का मिलन हो गया।

आया था संसार मैं, देषण कौं बहु रूप।
कहै कबीरा संत हौ, पड़ि गयां नजरि अनूप ॥२४॥

इस नानारूपात्मक जगत में विविध सांसारिक उपादानों को देखने के लिए ही मेरा जन्म हुआ था, किन्तु कबीरदास जी कहते हैं कि मुझे इस संसार में आकर ब्रह्म के दर्शन हो गये।

अंक भरे भरि भेटिया, मन मैं नांहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिलैं, जब लग दोइ सरीर ॥२५॥

शब्दार्थ—अंक=गोद, आलिंगन। जब लग=जब तक।

मैं प्रिय से प्रेमविभोर हो कस-कस कर आलिंगनबद्ध हुआ, फिर भी मन में धैर्य नहीं। वह एक प्राण दो तन चाहता; मन तो परमात्मा में एकाकार होना चाहता है, किन्तु कबीरदास जी कहते हैं कि जब दो शरीर हैं तब तक एकाकार कैसे हो सकते हैं? यह द्वैत ही आत्मा और परमात्मा के मिलन में बाधक है।

सचु पाया सुख ऊपनां, अरु दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहजैं गये, जब साईं मिल्या हजूरि ॥२६॥

शब्दार्थ—सचु पाया=शान्ति प्राप्त हुई। सुख ऊपनां=सुख उत्पन्न हुआ। दिल=हृदय। दरिया पूरि=प्रेम से आपूर्ण उसी प्रकार जैसे नदी जल से।

कबीरदास कहते हैं कि दयालु प्रभु के मिलते ही हृदय की वेदना शान्त हुई एवं सुख उत्पन्न हुआ। हृदय उसी प्रकार प्रेम से परिपूर्ण हो गया जिस प्रकार नदी जल से। नदी का जल अपने साथ नाले आदि के गन्दे जल को भी बहाकर स्वच्छ कर देता है, उसी प्रकार इस प्रेम-जल में या प्रेम-सरिता में मेरे समस्त पाप बह गये।

धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया नहीं तारा।
तब हरि हरि के जन होते, कहै कबीर बिचारा ॥२७॥

शब्दार्थ—तोया=जल। तारा=अग्नि पुंज से तात्पर्य है।

कबीरदास कहते हैं कि इस संसार में सब नश्वर है, अनश्वर तो केवल प्रभु

और प्रभु-भक्त हैं। यदि पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि आदि पंचभूतों से निर्मित यह सृष्टि विनष्ट हो जाय तो भी प्रभु और प्रभु-भक्तों की स्थिति रहेगी क्योंकि उनकी महिमा अमर है।

जा दिन कृतमनां हुतां, होता हट न पट।
हुता कबीरा राय जन, जिनि देखै औघट घट ॥२८॥

शब्दार्थ—कृतमनां=कृत्रिम। हट=हाट। पट=वस्त्र, किन्तु यहाँ तात्पर्य क्रय-विक्रय या सांसारिक क्रिया-व्यापार से है। औघट=ब्रह्म। घट=हृदय।

जब यह माया बन्धनों से परिपूर्ण मिथ्या (कृत्रिम) संसार नहीं था, तब न तो यहाँ बाजार था और न क्रय-विक्रय व्यापार, तात्पर्य सांसारिक क्रिया व्यापार (जहाँ व्यक्ति 'ज्यों-ज्यों सुरझ्यौ चहत है, त्यौं-त्यों उरझ्यौ जात') से है। तब भी यहाँ प्रभु भक्त थे, जो हृदय में उस ब्रह्म के दर्शन करते हैं।

विशेष—(१) शंकर के अद्वैत के समान संसार को 'मिथ्या' (कृत्रिन) कहा है।

(२) 'हट न पद—कबीर ने क्रिया व्यापार के लिए केवल पट-वस्त्र के विक्रय को ही चना, उन जैसे 'मसि कागद चुन छूने वाले संत के लिए यह स्वाभाविक था कि अपने जुलाहे के व्यवसाय से वे शब्दावली और प्रतीक ग्रहण करते।

थिति पाई मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ ॥२९॥

शब्दार्थ—थिति=योग की स्थिति, ध्यानवस्था। थिर=स्थिर, शान्त। अनिन कथा=अनन्य कथा, प्रेम-कथा,। तनि=तन, शरीर। आचरी=आचरण किया।

सद्‌गुरु की सहायता से मन योगावस्था में ध्यानावस्थित हो गया, जिससे चित्त शान्त हो गया। इस शरीर ने प्रेम कथा अर्थात् प्रेम साधना का आचरण किया, जिससे हृदय में त्रिभुवन पति परमात्मा के दर्शन किये।

हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निस बासुरि सुख निध्य लह्या, जब अंतरि प्रगट्या आप ॥३०॥

शब्दार्थ—हरि संगति=प्रभु मिलन। मोह की ताप=व्यर्थ के मोहजनित आकर्षणों की दौड़। सुखनिध्य=सुखनिधि। आप=स्वयं तत्त्व अर्थात् ब्रह्म।

प्रभु-मिलन से मेरा चित्त शान्त हो गया एवं संस. : के मायामोह के विविध आकर्षणों की दौड़ समाप्त हो गई। उस ब्रह्म के हृदय में प्रकट होने से मैं रात-दिन आनन्द निधि का सुख प्राप्त करता हूं।

तन भीतरि मन मानियां, बाहरि कहा न जाइ।
ज्वाला तैं फिरि जस भया, बुझी बलंती लाइ ॥३१॥

शब्यार्थ—बलंती=बलवान, प्रबल। लाइ=आग, विष-वासनाओं की तीव्र उत्कंठा।

हृदयस्थ मन प्रभु का दास हो गया है किन्तु प्रत्यक्ष रूप से उसकी अभिव्यक्ति

नहीं की जा सकती। जलती हुई तृष्णा की ज्वाला प्रभु-भक्ति के जल में परिवर्तित हो गई और प्रचंड वासना-अग्नि समाप्त हो गई।

तत पाया तन बीसर्यौं, जब मन धरिया ध्यान।
तपनि गई सीतल भया, जब सुनि किया असनान ॥३२॥

शब्दार्थ—वीसर्यौ=बसिर गया, सुधि जाती रही। तपनि=दुःख। सुनि=शून्य, ब्रह्म-जल।

जब मन प्रभु-भक्ति में संलग्न हुआ तभी साधक को ब्रह्म की प्राप्ति हुई एवं उसे शरीर की सुधि जाती रही क्योंकि वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गईं। साधना के द्वारा शून्य से स्रवित अमृत में स्नान करने से समस्त दुःख नष्ट हो गये और अपार शान्ति प्राप्त हुई।

जिनि पाया तिनि सू गह्या, रसनां लागी स्वादि।
रतन निराला पाइया, जगत ढंढोल्या बादि ॥३३॥

शब्दार्थ—रसना = जीभ। ढंडौल्या=डिडोरा पीटना। बादि=व्यर्थ।

कबीरदास जी ढोंगी साधुओं को जो व्यर्थ ही, अलख लख की पुकार लगाते हैं, लक्ष्य करके कहते हैं कि जो उस ब्रह्म की प्राप्ति कर लेते हैं, वे फिर उसे छोड़ते नहीं बल्कि प्रेममय प्रभु से वे एकाकार हो जाते हैं। उस अलौकिक मिलन का स्वाद ही ऐसा मधुर है कि जिह्वा उस रस को छोड़ना नहीं चाहती। यह जगत व्यर्थ ही उसकी प्राप्ति के आनन्द का वर्णन करता है, उस अनुपम रत्न को तो प्राप्त करके ही जाना जा सकता है।

भाव यह है कि ब्रह्म-प्राप्ति का आनन्द वाणी का विषय नहीं, उसको तो पाकर ही जाना जा सकता है।

कबीर दिल स्याबति भया, पाया फल संम्रथ्थ।
सायर मांहि ढढोलतां, हीरै पड़ि गया हथ्थ ॥३४॥

शब्दार्थ—स्याबति=परिपूर्ण। संम्रथ्थ=समृद्ध, अनुपम। सायर=सागर। ढंढीलता=ढूंढ़ते हुए।

कबीरदास कहते हैं कि उस अनुपम फल-ब्रह्म को पाकर हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो गया। वह अद्भुत रत्न इस भवसागर के मध्य की अन्य वस्तुओं की खोज में भटकते हुए हाथ पड़ गया।

विशेष—कबीर मानते हैं कि ब्रह्म की प्राप्ति इसी जगत के बीच सम्भव है।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांहि।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहि ॥३५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि जब मुझ में अहं का दर्प था, तब प्रभु का निवास मुझमें नहीं था किन्तु अब अहं के नष्ट हो जाने पर वहाँ प्रभु ही प्रभु हैं, 'मैं' नहीं। जब मैंने ज्ञान दीपक लेकर अपने अन्तःकरण को देखा तो मेरे हृदय का समस्त अन्धकार दूर

हो गया।

विशेष—तुलना कीजिए—

"आप यहाँ होते हैं गोया जब दूसरा नहीं होता।"

जा कारणि मैं ढूंढता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊणला, लागि न सकौं पाइ ॥३६॥

शब्दार्थ—जा कारणि=जिस कारण को अर्थात् ब्रह्म को। धन=स्त्री, आत्मा। पिव=प्रियतम, ब्रह्म। पाइ=पैर चरण।

जिस ब्रह्म की खोज में मैं सर्वत्र भटक रहा था, वह सम्मुख आ गया किन्तु मैं उससे तदाकार न हो सका। पाप में मलिन जीवात्मा रूपी पत्नी प्रिय-ब्रह्म के उज्ज्वल स्वरूप से कैसे आत्म-साक्षात्कार करती? इसी संकोच के कारण वह (आत्मा) पति (ब्रह्म) के चरण भी न छू सकी।

जा कारणि मैं जाइ था, सोई पाई ठौर।
सोई फिरि आपण भया, जासूं कहता और ॥३७॥

शब्दार्थ—सरल है।

जिस ब्रह्म की खोज में मैं अन्यत्र जा रहा था, उसे अपने ही स्थान पर पा गया अर्थात् हृदय में ही पा गया। फिर वही परमात्मा जिसे मैं अपने से भिन्न कोई और स्वरूप समझे हुए था, वही मुझे अपना लगा क्योंकि आत्मा और परमात्मा दोनों एकाकार हो गये।

कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ।
तेज पुंज पारस धणीं, नैनूं रहा समाइ ॥३८॥

शब्दार्थ—पुंज=समूह। धणीं=समृद्ध, मुक्त। नैन=आँखों में।

कबीर कहते हैं कि मैंने उस ब्रह्म को दत्तचित्त होकर देखा है, उस की सौंदर्य महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। वह अमित प्रकाशवान एवं पारस के समान है, जो अन्य को भी अपने प्रभाव से कंचन बना देता है। ऐसा अद्भुत ब्रह्म मेरे नेत्रों में समाया हुआ है।

मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं।
मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं ॥३९॥

शब्दार्थ—मानसरोवर=(१) मानसरोवर, (२) हृदय जीव हंसा=(१) हंस, (२) मूत्र। मुकता=मोती। अनत=अत्यन्त।

हृदय का मानसरोवर भक्ति जल से आपूर्ण है जिसमें हंस—आत्माएँ अर्थात् प्रेमीजन अथवा साधु क्रीड़ाएँ कर मुक्ति चुगती हैं। इसमें उन्हें बड़ा आनन्द आ रहा है, इसीलिए वे उड़कर, विमुख होकर अन्य साधनाओं को नहीं अपना सकतीं (क्योंकि 'कै हंसा मोती चुगैं, कै भूखे मर जाँय')।

गगन गरजि अमृत चवै, कदली कवल प्रकास।

तहाँ कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास ॥४०॥

शून्य-रूपी आकाश में अनहदनाद-रूपी बादल गरज कर अमृत की वर्षा करते हैं एवं मेरुदण्ड रूपी बदली के ऊपर (सहस्रदल) कमल विकसित हो रहा है। ऐसे स्थान पर या तो कबीर ही पहुँचा है या कोई प्रभु के अनन्य भक्त।

भाव यह है कि साधना बड़ी दुर्गम है, जिसे पार कर बिरले ही ब्रह्म से साक्षात्कार कर पाते हैं।

नींव बिहूँणां देहुरा, देह बिहूँणां देव।
कबीर तहां विलंबिया, करे अलष की सेव ।।४१।।

शब्दार्थ—देहुरा = देवालय, मन्दिर। देह बिहूंणां = शरीर रहित निराकार। अलष = ब्रह्म।

जहाँ विना आधार के ब्रह्म का मन्दिर है एवं ब्रह्म भी निराकार है, ऐसे शून्य में कबीर की वृत्ति रम गई है। अब वह निरन्तर उस अखल ब्रह्म की सेवा कर रहा है।

देवल मांहैं देहुरी, तिल जेहै बिसतार।
मांहैं पाती मांहि जल, मांहैं पूजणहार ।।४२।।

शब्दार्थ—देवल = मन्दिर। तिल जेहै = तिल के समान।

शून्य के मन्दिर में जो ब्रह्मरन्ध्र रूपी देव प्रतिमा है, उसका विस्तार एक तिल के बराबर है। इनकी अर्चना के लिए बाह्य उपादानों की आवश्यकता नहीं; शरीर के भीतर ही अर्चना के लिए जल, सुमन आदि हैं और वहीं मन रूपी पुजारी है।

कबीर कवल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूर।
निस अंधियारी मिटि गई, बागे अनहद नूर ।।४३।।

शब्दार्थ—कंवल = सहस्रदल कमल। प्रकासिया = विकसित हुआ। ऊग्या = उदित हुआ। सूर = सूर्य—ज्ञान का। निसि अंधियारी = अन्धकारपूर्ण रात्रि। बागे = बाजे। अनहद = ब्रह्मरन्ध्र से कुण्डलिनी के विस्फोट समय और बाद का आनन्ददायी शब्द जिनमें रोम-रोम से ब्रह्म की सत्ता का आभास होता है।

कबीर कहते हैं कि ज्ञान के निर्मल सूर्योदय से सहस्रदल कमल विकसित हो गया। इससे जीवात्मा की अज्ञान की अंधकारपूर्ण रात्रि नष्ट हो गई, एवं ब्रह्म-प्राप्ति पर अनहद का तूर्यनाद होने लगा।

अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।
आवगति अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान ।।४४।।

शब्दार्थ—नीझर = निर्झर। आवगति = अमृत।

प्रेम सहित प्रभु में ध्यान लगाने से अगम्य ब्रह्म हृदय में प्रकट होता है। इस ब्रह्म ज्ञान के उत्पन्न होने पर अनहद नाद के साथ ब्रह्मरन्ध्र से अमृत स्रवित होने लगता है (जिसका पान कर साधक अमर हो जाता है।)

आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि।
ताका पांणी को हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि ॥४५॥

शब्दार्थ—आकासे=शून्य में। मुखि औंधा कुवाँ=सहस्रदल कमल या ब्रह्म-रन्ध्र। पाताले=मूलाधार चक्र में।

शून्य में सहस्रदल कमल अधोमुख कुएँ के समान स्थित है एवं कुण्डलिनी पाताल अर्थात् मूलाधार में स्थित है (साधना से षट्चक्रों का भेदन करते हुए कुण्डलिनी को आकाश में पहुँचाकर उससे स्रवित अमृत का पान ही योगी का लक्ष्य है)। इस सहस्रदल कमलरूपी अधोमुख कुएँ के जल (अमृत) को कोई प्रबुद्ध आत्मा ही पा सकती है। मैं सब मनुष्यों को देखकर ही ऐसा कहता हूँ कि कोई बिरला ही इसका पान कर सकता है (अर्थात् प्रबुद्ध आत्माएँ बहुत कम हैं।)

सिव सकती दिसि कौण जुजोवै, पछिम दिसी उठै धूरि।
जल मैं स्यंघ जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि ॥४६॥

शब्दार्थ—सिव=शिव। सकती=शक्ति। दिशि=दिशा। कौण=कौन। स्यंघ=सिंह, मन। मछली=कुण्डलिनी।

हे नमाज पढ़ने वाले मुल्लाजी! इधर पश्चिम दिशा में तो धूल उड़ती है अर्थात् कुछ भी प्राप्त नहीं होता। उधर कोई नहीं देखता जहाँ शून्य में शिव और शक्ति के दर्शन होते हैं। प्रेम भक्ति के जल में यदि मन निवास करे और कुण्डलिनी रूपी मछली ब्रह्मनाड़ी के माध्यम से सहस्रदल कमल रूप खजूर (ऊँचाई के लिए कहा) पर चढ़े तभी उनके दर्शन हो सकते हैं।

अंमृत बरिसै हीरा निपजै, घटा पड़ै टकसाल।
कबीर जुलाहा भया पारषू, अनभै उतर्या पार ॥४७॥

शब्दार्थ—निपजै=उत्पन्न होना। पारषू=पारखी। अनभै=निर्भीक होकर।

उस प्रभु मिलन सुख का वर्णन करते हुए ही कबीर कहते हैं कि वहाँ अमृत निर्झर निरन्तर प्रवाहित होता एवं ज्ञान के मुक्ता वहाँ उत्पन्न होते हैं तथा अनहदनाद होता रहता हैं। कबीर जुलाहा भी उस प्रभु रूपी हीरे का पारखी हो गया है और इस संसार सागर से निर्भीक होकर पार हो गया है; अर्थात् उसने मोक्ष प्राप्त कर ली है।

ममिता मेरा क्या करै, प्रेम उघाड़ी पौलि।
दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौड़ि ॥४८॥१७०॥

शब्दार्थ—ममिता=माया-मोह। पौलि=पोल, रहस्य। दयाल=दयालु, परमात्मा। सूल=पथ कंटक। सौड़ि=लिहाफ।

जब प्रेम ने मुझे प्रभु-प्राप्ति का मार्ग दिया तो भला सांसारिक माया-मोह क्या अहित कर सकते हैं? प्रभु के दर्शन होने से पाप शूलों का बोझ (जिसको मैं ढोता था) वैसे ही सुखपूर्ण हो गया जैसे लिहाफ जाड़ों में बोझ होने पर भी सुखदायी

लगता है।

भाव यह है कि प्रभु-मिलन से पाप भी पुण्य बन गये।

६. रस कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में कबीर ने ब्रह्मानन्द के स्वरूप का तथा तज्जन्य प्रभाव का वर्णन किया है। कबीर का कहना है कि जो इस रस का पान कर लेता है उसके सारे सांसारिक क्लेश और दुख दूर हो जाते हैं और वह आवागमन तथा जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है। यह रस पीने में बहुत ही मधुर होता है, किन्तु इसका पीना अत्यंत कठिन कार्य है, क्योंकि यह सहज ही नहीं मिल जाता, इसके लिए पान करने वाले को अपना सर्वस्व त्याग देना पड़ता है। इसे पीने का अधिकारी वही मनुष्य हो सकता है जो अपना सिर उतार कर साधना की वेदी पर चढ़ा दे।

इस रस का प्रभाव भी अपार होता है। जिसने इसे पी लिया, फिर उसका नशा कभी नहीं उतरता। वह भक्त अहर्निश नशे में मस्त होकर मदोन्मत्त हाथी की भाँति विचरण करता रहता है। इस नशे के कारण भक्त को फिर न तो सांसारिक भय ही रहते हैं और न सांसारिक आकर्षणों के प्रति अनुराग। वह आशा-निराशा, सुख-दुख, अपना-पराया आदि भावों से भी मुक्त हो जाता है और हृदय की संकीर्णता भी समाप्त हो जाती है। इसे पान करने से पूर्व जिस हृदय रूपी सरोवर में प्रभु-प्रेम का जल इतना थोथा था कि उसमें मन रूपी घड़ा डूबता ही नहीं था, वहाँ अथाह जल हो जाता है।

जो इस रस का आस्वादन कर लेता है, फिर उसे और कोई रस अच्छा नहीं लगता। इस रस की एक बूँद भी मनुष्य को मिल जाये तो उसका जीवन अमर हो जाता है और वह कर्मों की कालिमा से छूटकर स्वर्ग के समान निष्कलंक और तेजस्वी बन जाता है।

कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुँभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि ॥१॥

शब्दार्थ—थाकि=थकान, क्लेश से तात्पर्य है। पाका=पक्का। कलस=(कलश) घड़ा।

कबीर कहते हैं कि कि मैंने प्रभुभक्ति के रस को इतना पान किया है कि सांसारिक क्लेश आदि समाप्त हो गये हैं। कुम्भकार का पकाया हुआ घड़ा जिस प्रकार पुनः चाक पर नहीं चढ़ाया जाता, उसी प्रकार प्रभुभक्ति में पगे हुए जन पुनः इन संसार-चक्र में नहीं पड़ते। वे आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।

राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ हैं, मांगै सीस कलाल ॥२॥

शब्दार्थ—रसाइन=रसायन। रसाल=मधुर। कलाल=मदिरा विक्रेता अर्थात् सद्गुरु।

प्रभु-भक्ति का प्रेम रस पीने में बड़ा मधुर है (और वह मधुर से मधुरतम

होता जाता है)। कबीर कहते हैं कि इसका पान करना बड़ा कठिन कार्य है, क्योंकि गुरु रूपी कलाल साधना के लिए सर्वस्व त्याग चाहता है।

विशेष—कबीर के प्रेम का सिद्धान्त ही ऐसा है जिसमें साधक को सर्वस्व त्याग, शीशसमर्पण की बार-बार चेतावनी है—

"यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुंई धरै, तब पैठें घर माहिं॥

कबीर भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपै सोई पिवै, नहीं तो पिया न जाइ॥३॥

शब्दार्थ—भाठी=भट्ठी, जिससे मदिरा खींची जाती है। बहुतक=बहुत से।

कबीर कहते हैं कि मदिरा विक्रेता गुरुरूपी कलाल के यहाँ भट्ठी पर बहुत से मदिरा (प्रेमरस, प्रभुभक्ति) का पान करने के लिये आ बैठे हैं, किन्तु इन मदिरा पान की इच्छा वालों (साधकों) में वही पान कर सकता है जो अपना शीश साधना की वेदी पर चढ़ा दे।

भाव यह है कि प्रभु-प्राप्ति के लिए सर्वस्व त्याग करना पड़ता है, प्रत्येक सम्भव कष्ट के लिये तैयार रहना पड़ता है।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

हरि रस पीया जांणिये, जे कबहू न जाइ खुमार।
मैमंता घूंमत रहै, नांही तन की सार॥४॥

शब्दार्थ—खुमार=नशा। मैमंता=मस्त। सार=सुधि।

ब्रह्मानन्द की मदिरा का पान उसी ने किया समझो जिसका नशा कभी नहीं उतरता। यह रंग ही ऐसा है जिस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता (सूरदास प्रभु कारी कामरी चढ़ै न दूजौ रंग)। वह तो मदमस्त हाथी के समान इधर-उधर घूमता है। (जिसे केवल प्रभु से प्रयोजन है) तथा उसे अपने शरीर की सुधि नहीं रहती।

विशेष—प्रभु-भक्ति का रस अलौकिक है एवं शरीर पार्थिव, उसको पाकर भला पार्थिव का ध्यान कैसे रह सकता है, इसीलिए कहा है "नाहीं तन की सार।'

मैमंता तिण नां चरै, सालै चिता सनेह।
बारि जु बांध्या प्रेम कै डारि रह्या सिरि षेह॥५॥

शब्दार्थ—मैमंता=मदमस्त हाथी। तिण=तृण।

मदमस्त हाथी तृण ग्रहण नहीं करता, उसे तो प्रेम की चिन्ता धधक कर व्यथित करती रहती है। यदि उसे प्रेम के द्वार पर बांध दिया जाय तो अपने शीश पर धूल डालता रहता है, अर्थात् अपने अहं को महत्त्वहीन या अस्तित्वहीन बनाना चाहता है।

विशेष—हाथी स्नान के उपरान्त अपने शरीर पर सूंड़ से धूल डालकर क्रीड़ा करता है। कबीर ने इसी से यह अर्थ लिया कि वह अपने शीश पर धूल डालकर अहं, अभिमान को दूर कर रहा है। भाव यह है कि प्रेम-साधना में प्रवृत्त होने पर अभिमान

या अहं शेष नहीं रहता।

मैमंता अविगत रता, अकलप आसा जीति।
राम अमलि माता रहै, जीवत मुकति प्रतीति ॥६॥

शब्दार्थ—अकलप=निर्भय, संकल्प-विकल्प रहित। अमलि= नशा, प्रभाव माता रहै=मदोन्मत्त रहना।

प्रभु-भक्त रस में मदमत्त साधक ब्रह्म की प्राप्ति में लीन रहता है एवं वह निर्भय भाव से, संकल्प रहित हो, सांसारिक आशाओं (आकर्षणों) को जीत लेता है। यदि उस पर प्रभु-भक्ति का यह रस (प्रभाव) चढ़ा ही रहे तो वह अवश्य ही जीवन्मुक्त हो जाता है।

विशेष - जीवन्मुक्त साधक के लक्षण भगवान् कृष्ण ने गीता में बताते हुए इसी संकल्प-विकल्प रहित मनःस्थिति पर बड़ा बल दिया है—

जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलि न्हाइ।
देवल बूड़ा कलस सूं, पंषि तिसाई जाइ ॥७॥

शब्दार्थ—सर=सरोवर, मन=हृदय। मैंगल=मदमत्त हाथी, भक्त। देवल= मन्दिर, संसार। कलस सूं=चोटी रूप में स्थित कलश तक।

जिस हृदय रूपी सरोवर में प्रभु-प्रेम जल इतना थोड़ा और उथला था कि मन रूपी घट भी नहीं डूबता था अर्थात् मन भी वहाँ आनन्द नहीं पाता था वही अब प्रभु-भक्ति जल के बढ़ जाने से प्रभु-प्रेम का मदमस्त साधक वहाँ मलमल कर स्नान करता है, अर्थात् उस जल में स्नान करने से उज्ज्वल से उज्ज्वल होता जाता है। अब तो वहाँ अथाह जल है जिसमें देवालय भी चोटी तक डूब गया है अर्थात् संसार अपने समस्त मायामय आकर्षणों सहित साधक की दृष्टि से तिरोहित हो गया है, किन्तु आत्मा रूपी पक्षी अब भी प्रभु-प्रेम जल की ओर अधिक प्राप्ति के लिए तृषित है।

सबै रसांइण मैं किया, हरि सा और न कोइ।
तिल इक घट मैं संचरै, तौ सब तन कंचन होइ ॥८॥१६८॥

शब्दार्थ—रसांइण=रसायन या रसास्वादन। कंचन=सोना।

कबीर कहते हैं कि मैंने जितने भी रस (आनन्द) हैं सबका रसास्वादन कर लिया किन्तु प्रभु-प्रेमरस के समान और कोई मधुर रस नहीं। यदि इस प्रभु-भक्ति रस का तिल—लेश-मात्र भी हृदय घट में संचरित हो जाय तो समस्त शरीर स्वर्ण—अमर—बन जाय। अथवा सम्पूर्ण शरीर पापमुक्त हो कंचन के समान शुद्ध हो जाय।

७. लांबि कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में आत्मा और परमात्मा के मध्य आये हुये व्यवधान की ओर संकेत करते हुए बताया गया है कि जीवन की प्यास तभी बुझ सकती है जब हरि-दर्शन का आनन्द प्राप्त हो जाये, अन्यथा चाहे कोई जितना ज्ञान प्राप्त कर ले, चाहे जितनी भक्ति प्राप्ति कर ले, यह तृष्णा ज्यों की त्यों बनी रहती है। हरि-दर्शन का एकमात्र उपाय यही है कि हरि के प्रति इतना उत्कट अनुराग किया जाये कि व्यक्ति

स्वयं को और अपनी सीमाओं को पूर्णतया विस्मृत कर दे। इस साधना-सोपान पर पहुँच कर ही वह उस परमतत्व में इस प्रकार मिल गया है, जिस प्रकार कि पानी की एक बूँद सागर में मिलकर अपने अस्तित्व को ही भुलाकर तदाकार हो जाती है।

कया कमंडल भरि लिया, उज्ज्वल निर्मल नीर।
तन मन जोबन भरि पिया, प्यास न मिटी सरीर ॥१॥

शब्दार्थ—कया = काया, शरीर।

शरीर रूपी कमंडल में मैंने ज्ञान का उज्ज्वल एवं भक्ति का पवित्र जल भर लिया एवं बड़ी लगन से जीवन के सुन्दरतम समय में इसका पान किया, किन्तु फिर भी इस शरीर की तृषा शान्त नहीं हुई।

मन उलट्या दरिया मिल्या, लागा मलि मलि न्हांन।
थाहत थाह न आवई, तूं पूरा रहिमांन ॥२॥

शब्दार्थ—दरिया = सरिता। रहिमांन = दयालु।

मन संसार से विमुख हुआ तो उसे प्रभु-भक्ति की सरिता कलकल कलरव करती मिल गई, जिसमें भक्त मल-मलकर निमज्जन करने लगा। हे प्रभु! आप अत्यन्त दयालु हैं, प्रयत्न करने पर भी आपकी वास्तविक थाह नहीं मिलती है।

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समद में, कत हेरी जाइ ॥३॥

शब्दार्थ—हेरत-हेरत = देखते-देखते। हिराइ = खो जाना। समद = समुद्र। हेरी = पता लगाना।

आत्मा कहती है कि हे सखि! प्रभु को खोजते-खोजते मैं स्वयं प्रभु में खो गये हूँ। जो बूंद समुद्र में जाकर मिल जाती है उसको देखना असम्भव है, उसी प्रकार परमात्मा रूपी संसार में आत्मा रूपी बूँद का पता नहीं लगाया जा सकता।

भाव यह है कि प्रभु मिलनोपरान्त साधक को अपने पृथक् अस्तित्व की प्रतीति नहीं रह जाती।

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समंद समाना बूँद में, सो कत हेर्या जाइ ॥४॥१७२॥

कबीर कहते हैं कि प्रभु को खोजते-खोजते आत्मा थक गई। समुद्र बूँद में समा गया है अर्थात् ईश्वर हृदय में बस गया है, उसे अब किस भाँति देखा जा सकता है?

८. जर्णा कौ अंग

अंग-परिचय—ईश्वर मन और वाणी से अगम्य तथा अगोचर है। उसके स्वरूप का किसी प्रकार भी वर्णन नहीं किया जा सकता, इसीलिए दर्शन-शास्त्र उसके विविध रूपों का सूक्ष्म विश्लेषण करने के पश्चात् उसे 'नेति-नेति' कहने पर विवश हो जाते हैं। प्रस्तुत अंग में कबीर की भी यही विवशता दृष्टिगोचर होती है। वे कहते हैं कि

यदि मैं ब्रह्म को भारी कहूँ तो भय है कि लोग उसे साकार ही न मान लें और यदि हल्का कहूँ तो यह असत्य कथन होगा, क्योंकि ब्रह्म हल्का तो है नहीं। अतः जिस ब्रह्म को कभी आँखों से देखा ही नहीं, उसके स्वरूप का ठीक वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है ? और यदि मैं यह कहूँ कि मैंने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है और उसी के आधार पर मैं उसके स्वरूप का निरूपण कर रहा हूँ तो कोई भी व्यक्ति इस बात पर विश्वास नहीं कर सकता। इसलिए इस विषय में तो यही कहा जा सकता है कि वह जैसा है, वैसा ही है।

इसीलिए यही उचित जान पड़ता है कि ब्रह्म के स्वरूप का वास्तविक निरूपण करने का प्रयत्न ही न किया जाये, क्योंकि अन्तोगत्वा यह प्रयत्न निष्फल ही सिद्ध होगा। ठीक तो यही है कि इस रहस्य को रहस्य ही बना रहने दिया जाय और व्यक्ति अपनी ससीम सीमाओं में ही उसकी आराधना करे। इसी में उसका हित है और इसी से वह मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूँ तौ झूठ।
मैं का जांणों राम कूं, नैनूं कबहुँ न दीठ ॥१॥

शब्दार्थ—दीठ=देखना।

यदि मैं उस ब्रह्म को भारी कहता हूँ तो भय है कि कहीं लोग उसे साकार न मान लें वह तो निराकार है। निराकार होने के कारण उसे हल्का कह दूं तो यह मिथ्या है, वह अपने अमित गुणों के कारण हल्का नहीं है। सत्य बात तो यह है कि भला मैं उस ब्रह्म को क्या जानूं, नेत्रों ने कभी उसके दर्शन ही नहीं किये।

भाव यह है कि ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता।

विशेष—सब प्रकार से प्रभु का स्वरूप निरूपण करने में असमर्थ कबीर उसे 'नेति-नेति' कहने को ही बाध्य होते हैं।

दीठा है तो कस कहूँ, कह्यां न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहो, तूं हरिषि हरषि गुण गाइ ॥२॥

शब्दार्थ—पतियाइ= विश्वास करना।

यदि मैंने प्रभु के दर्शन किये भी हैं तो अभिव्यक्ति कैसे करूँ, क्योंकि वह तो मूकास्वादनवत् है। यदि उस दर्शन से प्राप्त ब्रह्म का वर्णन करूँ तो कौन विश्वास करेगा, क्योंकि वह अत्यन्त अद्भुत है। इसलिए उनके स्वरूप-परिचय का प्रयत्न व्यर्थ है। वे जैसे भी हैं वैसे ही रहें। हे मन ! तू प्रसन्न हो-होकर, उल्लास सहित, उनका गुणगान करता रह।

ऐसा अद्भुत जिनि कथै, अदभुत राखि लुकाइ।
बेद कुरानौं गमि नहीं, कह्या न को पतियाइ ॥३॥

शब्दार्थ—जिनि=मत। लुकाइ= छिपाकर। गमि=पहुँच।

हे साधक या मन ! तू ऐसे (पूर्वोक्त) वर्णित अद्भुत ब्रह्म के वर्णन का व्यर्थ प्रयास क्यों करता है। तू उस अद्भुत को रहस्य ही बना रहने दे। उस तक तो वेद

एवं पुराणादि शास्त्रों की भी पहुंच नहीं है। वह उनकी सीमा से भी परे है। फिर तेरे कहे का तो विश्वास ही कौन करेगा ?

करता की गति अगम है, तूं चलि अपणें उनमान।
धीरैं धीरैं पाव दे, पहुँचैंगे परवान ॥४॥

शब्दार्थ— करता=कर्त्ता, ब्रह्म। उनमान=मार्ग। परवान=लक्ष्य, ब्रह्म-प्राप्ति।

ब्रह्म की गति अगम्य है, वह निस्सीम ही जो ठहरा, किन्तु ओ ससीम साधक ! तू अपनी सीमाओं को ध्यान में रखता हुआ धैर्यपूर्वक साधना में प्रवृत्त हो। यह निश्चित है कि इस विधि से हम अपने लक्ष्य—ब्रह्म को अवश्य ही प्राप्त करेंगे।

पहुँचेंगे तब कहैंगे, अमड़ैंगे उस ठांइ।
अजहूँ बेरा समंद मैं, बोलि बिगूचैं कांइ ॥५॥१७७॥

शब्दार्थ—अमड़ेंगे=उमड़ेंगे, रहेंगे। बिगूचैं=नष्ट करें।

कबीरदास कहते हैं कि उस प्रभु के विषय में अभी क्या कहा जा सकता है, जब हम उस तक पहुँच जायेंगे तो वहाँ भरपूर आनन्द प्राप्त करेंगे और तभी उसके विषय में कुछ कहा जा सकता है। अभी तो अपनी नौका बीच समुद्र में है (साधना-मार्ग में है), तट (ब्रह्म) अभी बहुत दूर है फिर व्यर्थ के प्रलाप में हम समय क्यों नष्ट करें ?

भाव यह है कि दत्तचित्त होकर साधना के द्वारा जब ब्रह्म को प्राप्त कर लिया जाता है, तभी उसके स्वरूप का वर्णन करना सम्भव है।

९. हैरान कौ अंग

अंग-परिचय—ब्रह्म अगम्य और अगोचर है। उसके न तो स्वरूप का यथातथ्य वर्णन किया जा सकता है और न उसे सहज में प्राप्त ही किया जा सकता है। इसीलिए यदि पंडितों से उसके स्वरूप और प्राप्ति के विषय में कुछ कहा जाये तो वे विश्वास नहीं करते। जब उसे अगाध और एक कहा जाता सभी को यह सुनकर भारी आश्चर्य होता है। वह ब्रह्म सभी मनुष्यों के हृदयों में बसा हुआ है, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि फिर भी कोई उसे ठीक प्रकार से जान नहीं पाता। इससे अधिक हैरानी का विषय और क्या हो सकता है ?

पंडित सेती कहि रहे, कह्यां न मानें कोइ।
ओ अगाध एका कहैं, भारी अचिरज होइ ॥१॥

शब्दार्थ—सेती=से।

मैं पण्डितों से उस ब्रह्म के अद्भुत स्वरूप का वर्णन करता हूँ तो ये उसका विश्वास ही नहीं करते। जब मैं उस ब्रह्म को अथाह एवं एकतत्व अर्थात् परम तत्व कहता हूँ तो इन्हें अत्यन्त आश्चर्य होता है।

बसे अपंडी पंड में, ता गति लखै न कोइ।
कहै कबीरा संत हौ, बड़ा अचंभा मोहि ॥२॥१७६॥

शब्दार्थ—अपंडी=निराकार। पंड=शरीर।

मनुष्य के शरीर—हृदय—में ही वह निराकार ब्रह्म निवास करता है, किन्तु फिर भी कोई उसका दर्शन नहीं कर पाता। कबीर कहते हैं कि सन्तजनो! मुझे इस बात पड़ा आश्चर्य है कि साधना से लोग उसे प्राप्त क्यों नहीं करते ?

१०. लै को अंग

अंग-परिचय—इस अंग में ब्रह्म-प्राप्ति के कतिपय साधनों का उल्लेख किया गया है। ब्रह्म-लोक सहज गम्य नहीं है। वह तो उस वन के समान है जहां न तो सिंह का प्रवेश है, न कोई पक्षी उड़कर वहाँ जा सकता है, न वहाँ पर दिन होता है और न रात। उस अगम्य ब्रह्मलोक तक पहुँचने का साधन यही है कि साधक सुषुम्णा रूपी ढेंकुली से सहस्रदल कमल रूपी कूप का पानी निकालकर उसका पान करे; अर्थात् सुषुम्णा को जागृत करके अपनी वृत्तियों को सहस्रदल कमल पर स्थापित कर दे। यदि कोई तीर्थ आदि का भ्रमण करके उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा तो उसका यह प्रयत्न निस्सार ही रहेगा क्योंकि समस्त तीर्थ इस शरीर में ही विद्यमान हैं। गंगा और यमुना रूपी इड़ा और पिंगला भी इसी में अवस्थित हैं सहज एवं शून्य के घाट भी इसी में हैं। अतः जब तक यौगिक साधनाओं द्वारा शरीर रूपी तीर्थराज में स्नान नहीं किया जायेगा, तब तक ब्रह्म की प्राप्ति असम्भव ही है।

जिहि वन सीह न संचरै, पंखि उड़ै नहीं जाइ।
रैनि दिवस का गमि नहीं, तहां कबीर रह्या ल्यौ लाइ ॥१॥

शब्दार्थ—सीह=सिंह। लै=लय, लगन। रैनि दिवस=सूर्य चन्द्र।

जिस वन में सिंह का भी प्रवेश नहीं है, जहाँ पक्षी भी उड़कर नहीं जा सकता, जहाँ सूर्य और चन्द्र की पहुँच नहीं है, ब्रह्म के ऐसे अगम्य स्थल पर कबीर ने अपनी लगन लगा ली है।

भाव यह है कि अगम्य प्रभु की प्राप्ति के लिए दत्तचित्त होकर साधना में प्रवृत्त होना वांछनीय है।

सुरति ढीकुली लेज ल्यौ, मन नित ढोलनहार।
कँवल कुवाँ में प्रेम रस, पीवै बारंबार ॥२॥

शब्दार्थ—ढीकुली=सिंचाई करने के लिए कुएं से पानी निकालने का एक उपकरण। लेज=रस्सी, इस ढेंकुली में रस्सी भी काम आती है, साधनापक्ष में लगन ही रस्सी है। ल्यौ=लगन। ढोलनहार=डोल, पानी निकालने का एक पात्र। कँवल कुवाँ=कमल कुआँ, सहस्रदल कमल का कुआँ।

सहस्रदल कमल रूपी कुएँ में प्रेम का अमृत-रस भरा हुआ है। साधक सुरति—प्रेम-सुषुम्णा—की ढेकुली और लगन की रस्सी से मन के डोल अथवा बाल्टी में इस रस को भर कर बारम्बार पान करता है।

विशेष—सांगरूपक अलंकार ।

गंग जमुन उर अंतरैं, सहज सुंनि ल्यौ घाट ।
तहाँ कबीरै मठ रच्या, मुनि जन जोवैं बाट ।।३।।

शब्दार्थ—गंग=इड़ा । जमुन=यमुना, पिंगला । सहज=सहज समाधि । सुंनि=शून्य ।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-प्राप्ति के लिए तीर्थ यात्रा की क्या आवश्यकता है समस्त तीर्थ शरीर में विद्यमान है । गंगा और यमुना इड़ा और पिंगला नाड़ी के रूप में शरीर (उर) के भीतर ही अवस्थित हैं जिनके सहज एवं शून्य जैसे घाट हैं । ऐसे ही पर कबीर की आत्मा ने मठ, अपना निवास स्थान बना लिया है, बड़े-बड़े मुनिजन इस स्थान पर अपना निवास बनाने की प्रतीक्षा करते ही रह गए ।

विशेष—सद्गुरु के बताये हुए रहस्य से निज लक्ष्य में ध्यान लगाने को सहज ध्यान या सहज समाधि कहते हैं । इस समाधि में किसी प्रकार के बाह्याडम्बर (आसन मुद्रा आदि) की आवश्यकता नहीं पड़ती है, इसीलिए इसे सहज-समाधि कहते हैं ।

११. निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग

अंग-परिचय—कबीर ने आत्मा को नारी के रूप में चित्रित किया है और परमात्मा को पति के रूप में । प्रस्तुत अंग में आत्मा उस पतिव्रता नारी के समान चित्रित की गई है, जो निष्काम भाव से अपते पति से मिलने के लिए अत्यन्त आतुर है और उसके दर्शन-प्राप्ति के लिए विविध उपायों में संलग्न है ।

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री केवल अपने पति को छोड़कर और किसी अन्य पुरुष की ओर देखती भी नहीं, इसी प्रकार कबीर की आत्मा परमात्मा को सम्बोधित करते हुए कहती है कि हे अनंत गुणवान प्रियतम ! मेरी प्रीति केवल तुमसे है । यदि मैं और किसी से हँसूंगी तथा बोलूंगी तो इससे मेरा पतिव्रत धर्म कलंकित हो जायेगी । उस आत्मा का अपने प्रियतम के प्रति इतना अनन्य भाव है कि वह चाहती है कि उसका प्रियतम जब उसकी आँखों में आ जायेगा तो वह अपनी आँखों को मूँद लेगी ताकि न तो उसका प्रियतम फिर अन्यत्र जा सके और न कोई उसे देख सके । आत्मा का स्वत: कोई रूप नहीं होता । वह तो परमात्मा का ही एक अंश होती है, इसीलिए कबीर ने कहा है कि मेरा मुझ पर कुछ नहीं है । मुझ पर जो कुछ भी है, वह सब प्रियतम का है । अतः मुझे उसी का उस पर सर्वस्व न्यौछावर कर देना चाहिए । वह आत्मा रूपी निष्कामी पतिव्रता नारी अपने प्रियतम के प्रति इतना अधिक उत्कट अनुराग रखती है कि अपनी आँखों में काजल भी नहीं लगाती, क्योंकि जिन आँखों में उसका प्रियतम बसा हुआ है, वहाँ न तो काजल लगाना उपयुक्त ही है और न एक स्थान पर दो वस्तुएँ ठहर सकती हैं, इसलिए अपनी माँगों में केवल सिंदूर ही भरती है । जिस प्रकार समुद्र में स्थित सीप केवल स्वाति नक्षत्र की बूंद के लिए ही तरसती रहती है और अहर्निश उसी का स्मरण करती रहती है, उसी प्रकार वह पति-

व्रता भी सर्वथा अपने पति की स्मृति में ही रत रहती है। संसार के अन्य आकर्षणों तथा विषयों से उसका कोई लगाव नहीं होता।

प्रियतम जहाँ भी मिल जायें, वहीं स्वर्ग बन जाता है। कबीर की आत्मा भी इसीलिए कहती है कि मुझे मुक्ति का कोई लोभ नहीं है। यदि नरक में भी उसे मेरे प्रियतम का दर्शन हो जाये तो मैं नरक की यातनाएँ सहन करने के लिए भी हर्ष से तैयार हूँ। ब्रह्म-ज्ञान सबसे बड़ा और उत्तम ज्ञान है। जिसने उस ब्रह्म को जान लिया है, फिर उसके लिए कुछ भी जानने के लिए शेष नहीं रह जाता और यदि उसका ज्ञान नहीं हुआ है तो संसार के सारे ज्ञान व्यर्थ हैं। जब तक भक्ति में निष्काम भाव बना रहता है, तभी तक भक्ति श्रेष्ठ और उत्तम है और उसी के द्वारा प्रियतम की प्राप्ति हो सकती है। यदि भक्ति सकाम है तो परमात्मा नहीं मिल सकता क्योंकि वह तो निष्काम है और निष्काम सकाम को किस प्रकार मिल सकता है ? आशा वही सफल है जो राम के प्रति हो। इसके अतिरिक्त और किसी बात की आशा करना तो व्यर्थ है, क्योंकि अन्त में उसका परिणाम दुखप्रद ही होगा। जो मनुष्य भगवान् को छोड़कर और किसी वस्तु की आशा करते है उनकी स्थिति उस मनुष्य के समान दयनाय है जो पानी में रहकर भी प्यासा मरता है। इसलिए यदि मनुष्य का केवल एक ब्रह्म से ही मन लगा रहेगा तो उसका निर्वाह हो जायेगा और यदि वह परमात्मा और संसार दोनों से एक साथ अनुरक्त होना चाहेगा तो उसकी स्थिति अवश्य डांवाडोल बन जायेगी। केवल भगवान् का आश्रय ही, इस कलियुग में भी, मनुष्य को सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त कर सकता है। अतः आत्मा को उसी अनन्य भाव से स्वयं को भगवान् के हाथों में सौंप देना चाहिए जिस प्रकार कुत्ता अपने स्वामी के प्रति अपना सर्वस्व निछावर कर देता है और वह जिस ओर भी उसकी रस्सी खींचता है, वह उसी ओर बिना किसी हिचक के चलता रहता है, जिस मनुष्य के मन में प्रभु-प्रेम का दृढ़ विश्वास नहीं है, उसे परमात्मा की कभी प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः हमें उसके प्रति दृढ़ विश्वास और उसके स्वागत के लिए हर मूल्य पर तैयार रहना चाहिए।

कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत।
जै हँसि बोलों और सौं, तौं नील रंगाऊँ दंत ॥१॥

शब्दार्थ—प्रीतड़ी=प्रेम। गुणियाले=गुणवान्। नील रंगाऊं दंत=(मुहावरा) अपने को कलंकित करूं।

हे अनन्त गुणवान् प्रियतम (ब्रह्म) कबीर का प्रेम तो केवल आपसे है। जो मैं अन्य किसी से हंसूं-बोलूं; अर्थात् अन्य किसी से प्रेम करूं तो स्वयं को कलंकित करूं।

नैनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झंपेउं।
नां हौं देखौं और कूं, नां तुझ देखन देउं ॥२॥

शब्दार्थ—अंतरि=अन्दर। झंपेऊँ=मूंद लेना।

प्रियतम ! तुम मेरे नेत्रों में आकर बस जाओ, जैसे ही आप आओगे मैं एक दम नेत्र मूंद लूंगी। तब मैं तेरे अतिरिक्त अन्य किसी को न देखूंगी और न अन्य की दृष्टि तुझ पर पड़ने दूंगी।

मेरा तुझ मैं कुछ नहीं, जो कुछ है सा तोर।
तेरा तुझकौं सौंपता, क्या लागै है मोर ॥३॥

हे प्रभु ! मुझ में मेरा अपना तो कुछ भी नहीं है जो कुछ भी अस्थिचर्म का शरीर और यह जीवन है वह आपके द्वारा दिया हुआ है। यदि मैं अपने इस जीवन और शरीर को तेरी साधना में समर्पित कर दूं तो मेरा क्या जायेगा, जिसकी वह वस्तु है उसी के निमित्त तो दूंगा, फिर मेरा इसमें क्या बड़प्पन ?

कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैनूं रमाइया रमि रह्या, दूजा कहां समाइ ॥४॥

शब्दार्थ—स्यंदूर=सिंदूर। नैनूं=नेत्रों में।

कबीर दास जी कहते हैं कि सौभाग्यवती पतिव्रता अपनी मांग में सिंदूर ही भरती है, उसमें कालिख नहीं भरी जा सकती। जहाँ एक वस्तु का उपयुक्त स्थान है वहाँ दूसरी वस्तु नहीं आ सकती। मेरे नेत्रों में तो (सर्वत्र रमण करने वाला) राम बसा हुआ है, फिर भला इसमें किसी अन्य (सांसारिक आकर्षण) के लिए स्थान कैसे हो सकता है ?

कबीर सीप समंद की, रटै पियास पियास।
ससदहि तिणका वरि गिणै, स्वांति बूंद की आस ॥५॥

शब्दार्थ—समंद=समुद्र। समदहि=(समुद्रहि) समुद्र को। तिणका=तृण-तुल्य।

कबीरदास जी कहते हैं कि स्वाति नक्षत्र की बूंद की आशा में सीप प्यास ही प्यास रटती रहती है। उस बूंद के सम्मुख वह सम्पूर्ण सागर-जल को तृण-तुल्य समझती है।

भाव यह है कि जिसका जिससे प्रेम होता है, उसके लिए उससे बढ़कर और कोई पदार्थ नहीं होता।

विशेष—अन्योक्ति अलंकार है।

कबीर सुख कौं जाइ था, आगैं आया दुख।
जाहि सुख घरि आपणैं, हम जाणौं अरु दुख ॥६॥

शब्दार्थ—जाहि सुख घरि आपण=हे सुख तू मुझ से बिदा ले।

कबीर कहते हैं कि मैं संसार-दुख की प्राप्ति के लिए जा रहा था, अर्थात् ऐहिक सुख लालसा में भटक रहा था, तभी मेरा साक्षात्कार प्रभुवियोगजन्य दुःख से हो गया; अर्थात् आत्मा ब्रह्म के वियोग में मिलनाकुल हो गई। अब इस विरह में ही मुझे इतना अपार आनन्द प्राप्त होता है कि मेरे लिए संसार-सुख निरर्थक एवं त्याज्य ही है, इसलिए ओ संसार-सुख ! तू मुझ से बिदा हो जा।

दोजग तौ हम अंगियां, यहु डर नाहीं मुझ्झ ।
भिस्त न मेरे चाहिए, बाझ पियारे तुझ्झ ।।७।।

शब्दार्थ—दोजग=दोजख, नरक । अंगियां=अंगीकार करना, स्वीकार करना । भिस्त=बहिश्त, स्वर्ग । बाझ=रहित, अतिरिक्त ।

कबीर कहते हैं कि मैं यदि नरक-यातना में पड़ूं और मुझे वहाँ प्रभु-दर्शन हों तो मुझे कोई आपत्ति नहीं; अत: मैं नरक से भयभीत नहीं हूँ । किन्तु हे प्रभु ! आपके अभाव में मुझे स्वर्ग-सुख भी त्याज्य हैं ।

जे वो एक जांणियां, तो जांण्या सब जांण ।
जे ओ एक न जांणियाँ, तो सबहीं जांण अजांण ।।८।।

शब्दार्थ—जाँण=ज्ञान ।

यदि किसी ने उस एक परब्रह्म को जान लिया तो समझिये कि उसे संसार का समस्त ज्ञान हृदयंगम हो गया है और यदि किसी ने केवल उस ब्रह्म को न जानकर सब कुछ जान लिया है तो उसका समस्त संचित ज्ञान अज्ञान ही है ।

भाव यह है कि सच्चा ज्ञान ब्रह्मज्ञान है ।

विशेष—सभंगपद यमक अलंकार ।

कबीर एक न जांणिया, तो बहु जांण्यां क्या होइ ।
एक तैं सब होत है, सब तैं एक न होइ ।।९।।

शब्दार्थ—एक ब्रह्म । बहु=ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य समस्त ज्ञान ।

कबीर कहते हैं कि यदि किसी ने एक परब्रह्म प्रभु को न जानकर संसार के विविध ज्ञान प्राप्त कर लिये हैं तो उनसे क्या लाभ ? क्योंकि सबका मूल जो ब्रह्म है उसको बिना जाने उससे उत्पन्न उपादानों का ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है ? उस एक ब्रह्म से ही सबकी उत्पत्ति होती है । यदि समस्त संसार की वस्तुएँ मिलकर भी उस एक ब्रह्म को उत्पन्न करने का प्रयास करें तो असम्भव है ।

जब लग भगति सकांमता, तब लग निर्फल सेव ।
कहै कबीर वैं क्यूं मिलैं, निहकांमी निज देव ।।१०।।

शब्दार्थ—सकांमता=कामनामय । निर्फल=निष्फल, फल रहित । सेव=ईश्वर-सेवा । निहकांमी=निष्कामी ।

जब तक भक्ति कामनामय है तब तक प्रभु की समस्त सेवा व्यर्थ है, उसके द्वारा ब्रह्म दर्शन नहीं हो सकता । कबीरदास जी कहते हैं कि कामनायुक्त भक्ति से वे निष्कामी परमात्मा—स्वामी—किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं ? अर्थात् निष्काम सेवा से ही निष्कामी ब्रह्म की प्राप्ति संभव है ।

आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास ।
पांणी मांहैं घर करैं, ते भी मरैं पियास ।।११।।

शब्दार्थ—पाँणी=पानी, जल ।

मनुष्य को केवल प्रभु प्राप्ति की ही इच्छा करनी चाहिए, क्योंकि समस्त

आशाएँ उसी से पूर्ण होती हैं। अन्य सांसारिक कामनाएँ अन्त में निराशा में ही परिणत होती हैं क्योंकि वे मृगतृष्णा की भाँति मनुष्य को भटकाती हैं और उनका फल कुछ नहीं होता। जो मनुष्य इस एक रामप्राप्ति के अतिरिक्त अन्य सांसारिक इच्छाएँ रखते हैं वे तो ऐसे ही हैं जो जल में रह कर भी प्यासे मरते हैं।

भाव यह है कि उन्हें उन सांसारिक आशाओं के प्राप्त होने पर भी शान्ति प्राप्त नहीं होती।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार।

जे मन लागै एक सूं, तौ निरबाल्या जाइ।
तूरा दुइ मुखि बाजणां, न्याइ तमाचे खाइ ॥१२॥

शब्दार्थ—निरबाल्या = निर्वाह हो जायेगा, मुक्ति हो जायेगी। तूरा= तुरही। न्याइ = न्याय, समान। बाजणां = बजाने से।

यदि मनुष्य का मन एक परब्रह्म ही पर आसक्त हो जाय तो निर्वाह हो जायेगा और यदि प्रभु और संसार अर्थात् माया-आकर्षण दोनों से प्रेम किया तो जीव को दुःखों के थपेड़े उसी प्रकार सहन करने पड़ेंगे, जिस प्रकार तुरही को दो मुखों से बजने के कारण हाथ के प्रहार सहन करने पड़ते हैं।

कबीर कलियुग आइ करि, कीये बहुतज मीत।
जिन दिल बंधी एक सूं, ते सुखु सोवै नचींत ॥१३॥

शब्दार्थ—बहुतज = बहुत से। नचींत = निश्चित।

कबीर कहते हैं कि मनुष्य इस कलि संसार में आकर विविध आकर्षणों के प्रपंचों में पड़ता है, किन्तु जिसने अपना चित्त उस परब्रह्म की भक्ति में लगा दिया वह निश्चित होकर सुख-निद्रा में सोता है, उसे सांसारिक बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है।

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नांउँ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खेंचै तित जाउँ ॥१४॥

शब्दार्थ—कूता = कुत्ता। जेबड़ी = रस्सी। जित = जिधर। तित = उधर।

कबीर कहते हैं कि मैं राम (ब्रह्म) का कुत्ता हूँ और मेरा नाम मोती (मुक्त) है। मेले गले में राम-नाम की रस्सी बँधी हुई है; अर्थात् मैं उसी के द्वारा संचालित होता हूँ। कुत्ते को उसका स्वामी जिधर चाहता है खींच ले जाता है, उसी भाँति मेरे स्वामी राम मुझे जिधर घुमाते हैं, घूम जाता हूँ।

तो तो करै त बाहड़ौं, दुरि दुरि करैं तो जाउँ।
ज्यूं हरि राखै त्यूं रहौं, जो देवैं सो खाउँ ॥१५॥

कबीर कुत्ते के रूपक द्वारा ही अपनी भक्ति भावना का परिचय देते हुए कहते हैं कि यदि वह स्वामी-ब्रह्म अपने कुत्ते (मुझ, दास) को 'तो—तो' करके पुचकारते हैं तो प्रभु के और भी अधिक निकट आ जाता हूँ और यदि स्वामी दुत्कार दें तो दूर चला जाता हूँ, जिस प्रकार भी प्रभु रखना चाहेंगे वैसे ही मैं (आत्मा) रह

लूंगा एवं वह जो कुछ भी प्रदान कर देते हैं, उसे खाकर अपना जीवन-यापन कर लूंगा।

मन प्रतीति न प्रेम रस, नाँ इस तन मैं ढंग।
क्या जाणौं उस पीव सूं, कैसें रहसी रंग ॥१६॥

कबीर कहते हैं कि मन को प्रभु-प्रेम पर दृढ़ विश्वास नहीं है तथा न यह शरीर उन उपकरणों से परिचित है जो प्रिय मिलन के लिए उपयुक्त हैं। फिर भला मैं उस प्रियतम से साक्षात्कार के समय कैसे रंग-रेलियां करूँगी ?

भाव यह है कि मैं प्रभु-मिलन के आचार-व्यवहार से परिचित नहीं हूँ।

उस संम्रथ का दास हौं, कदे न होइ अकाज।
पतिव्रता नाँगी रहै, तो उसही पुरिस कौं लाज ॥१७॥

शब्दार्थ—संम्रथ=सामर्थ्यवान्, ब्रह्म। कदे=कभी भी। अकाज=हानि, अमंगल।

कबीर कहते हैं कि मैं सामर्थ्यवान् प्रभु का भक्त हूँ, जिससे कभी अमंगल नहीं होगा। यदि पतिव्रता नारी (आत्मा) नग्न-तन रहे तो यह परब्रह्म परमेश्वर की लज्जा का प्रश्न है क्योंकि कोई कहेगा कि यह अमुक व्यक्ति (भगवान्) की ही वधू है जो इस प्रकार नग्न है। अतः लज्जा उस प्रभु को ही होनी चाहिए कि उसका भक्त शीलादि गुणों से हीन है, नग्न से यहाँ यही तात्पर्य है।

घरि परमेसुर पांहुणाँ, सुणौं सनेही दास।
षट रस भोजन भगति करि, ज्यूं कदे न छाड़ै पास ॥१८॥२००॥

शब्दार्थ—घरि=घर। परमेसुर=परमेश्वर। पांहुणाँ=अतिथि।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-प्रेमी भक्तो, सुनो ! इस हृदय रूपी घर में प्रभु रूपी अतिथि पधारे हैं। जिस प्रकार अतिथि की अभ्यर्थना विविध भोगादि से की जाती है, उसी प्रकार भक्ति रूपी षट्रस व्यंजन प्रभु को परोस कर उनसे प्रेम करना चाहिए जिससे वे कभी भी हमारा साथ न छोड़ दें।

विशेष—रूपक अलंकार।

१२. चितावणी कौ अंग

अंग-परिचय—संसार नश्वर और क्षणभंगुर है। इसके आकर्षणों में पड़कर ही मनुष्य परमात्मा को विस्मृत कर देता है। अतः प्रस्तुत अंग में संसार की नश्वरता और क्षणभंगुरता का वर्णन करते हुए कबीर ने मनुष्य को चेतावनी दी है कि वह इस संसार के विषयों में न पड़कर भगवान् का स्मरण करता रहे।

संसार की नश्वरता और क्षणभंगुरता का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि यहाँ पर जो व्यक्ति आता है, वह केवल कुछ ही दिनों का मेहमान होता है और शीघ्र ही पुनः मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। चाहे किसी व्यक्ति के पास कितने ही ऐश्वर्य से परिपूर्ण साधन हों, किन्तु यदि उसके मन में भगवान् की भक्ति नहीं है तो

वे सब ऐश्वर्य व्यर्थ हैं, क्योंकि जिन महलों में कभी सातों स्वरों के साथ छत्तीसों राग गाये जाते थे; अर्थात् अत्यन्त आमोद-प्रमोद हुआ करते थे, वे महल अब खाली पड़े हुए हैं और उन पर बैठकर कौवे बोल रहे हैं। इस संसार में जिसने भी जन्म लिया है, वही मृत्यु को प्राप्त हुआ है। मृत्यु मनुष्यों में कोई भेद-भाव नहीं रखती। उसके लिए चाहे कोई राजा हो या रंक हो, अवसर आने पर सभी को अपना ग्रास बनाती है। इस शरीर में जो दस इन्द्रियाँ हैं, वे चोरों के समान हैं। जिस प्रकार चोर चुपके-चुपके सारा धन चुराकर ले जाते हैं, उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ भी अनजाने मनुष्य के सारे सात्विक भावों को नष्ट करती रहती हैं। इन चोरों से मुक्ति मनुष्य को तभी मिल सकती है, जब वह ईश्वर के नाम-स्मरण में तल्लीन हो जाये।

संसार की भाँति यह शरीर भी नश्वर और क्षणभंगुर है। इसके सौन्दर्य पर भी मनुष्य को कभी भी गर्व नहीं करना चाहिए क्योंकि यह तो उस टेसू के फूल के समान है जो चार दिन फूलकर फिर ठूंठ बन जाता है। इसी प्रकार इस शरीर का सौन्दर्य भी क्षणभंगुर है। जिस प्रकार सांप शीघ्र ही अपनी केंचुली छोड़ देता है, उसी प्रकार शीघ्र ही शरीर का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अतः इस अस्थि और चर्म से युक्त शरीर पर भूलकर भी गर्व नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो मस्तक कभी ताजों से सुशोभित होते हैं, उन्हें भी एक दिन जंगल में सूने स्थान पर गड्ढे में पड़े हुए देखा गया है। जब मनुष्य मर जाता है तो उसका सारा शरीर जलकर भस्म हो जाता है और उसके सौन्दर्य के स्थान पर केवल मुट्ठी भर राख रह जाती है। जब शरीर एक बार नष्ट हो जाता है तो वह फिर दोबारा नहीं आता। उसकी स्थिति उस मंदिर जैसी होती है जो ढह कर धूलि-धूसरित हो जाता है और उसके स्थान पर लम्बी-लम्बी घासें उग आती हैं। वस्तुतः यह शरीर तो लाख के उस मंदिर के समान है जो हीरे-मोतियों से तो जड़ा हुआ है, किन्तु जिसकी आयु बहुत ही कम है, जो आग की एक चिनगारी से ही राख बन जाता है।

इस संसार में रहने वाले मनुष्य भी मूर्ख और धोखेबाज होते हैं। वे राम का नाम तो स्मरण करते नहीं हैं, और दूसरे लोगों को ठगने में ही लगे रहते हैं। अतः मनुष्य यहाँ पर बड़ी-बड़ी इच्छाएँ लेकर आता है, किन्तु वह कर कुछ भी नहीं पाता। हरि की भक्ति के बिना यह जीवन धिक्कारने के योग्य है, क्योंकि जिन लोगों ने हरि को विस्मृत कर दिया, उनकी गर्दन बगुले की भाँति सदैव लज्जा से नीचे झुकी रहती है।

अतः कबीरदास मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि हे मनुष्य! तू संसार के विषय-वासनाओं को छोड़कर हरि की भक्ति में लग जा, क्योंकि यह मनुष्य शरीर फिर तुझे दोबारा आसानी से नहीं मिल सकता। इस शरीर के दो ही उद्देश्य हैं—भगवान् की भक्ति और साधुओं की सेवा। यदि कोई व्यक्ति चाहे कि वह सांसारिक पदार्थों में लिप्त रहकर भी भक्ति करता रहे, तो यह समझना उसकी मूर्खता है, क्योंकि जिस प्रकार एक ही स्तम्भ से दो हाथी नहीं बांधे जा सकते, उसी

प्रकार एक ही मन से प्रभु और संसार के प्रति अनुराग नहीं किया जा सकता। इन माया के आकर्षणों में पड़कर तो मनुष्य की स्थिति उस मनुष्य के समान हो जाती है जो अपने ही हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारता है। यह संसार विषम कष्टों एवं दुःखों से परिपूर्ण है, यह एक विकट बंधन है जिसमें मनुष्य जाने-अनजाने अपने को बन्दी बनाए रखता है। इन दुःखों से और इन बन्धनों से छूटने का एकमात्र उपाय है भगवान् की भक्ति करना। केवल राम-नाम की ओट लेकर ही मनुष्य इन दुःखों से तथा बंधनों से बच सकता है। इसके अतिरिक्त उसके लिए और कोई उपाय बचने का नहीं है।

इस संसार के सम्बन्ध भी झूठे और स्वार्थपूर्ण हैं। यहाँ माता-पिता आदि के जो सम्बन्ध हैं, वे सब स्वार्थ से भरे हुए हैं और शीघ्र ही नष्ट होने वाले हैं। अतः कबीर संसार, जीवन, शरीर और सांसारिक सम्बन्धों की नश्वरता और क्षणभंगुरता का मार्मिक वर्णन करते हुए मनुष्य को चेतावनी देते हैं कि वह इन बन्धनों में न पड़ कर भगवान् की भक्ति और साधुओं की संगति करे तभी उसका कल्याण होगा।

कबीर नौबति आपणीं, दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर पटन ए गली, बहुरि न देखै आइ ॥१॥

शब्दार्थ—नौबति=नगाड़े की ध्वनि, राजा महाराजाओं एवं धनाढ्य व्यक्तियों के द्वार पर प्रातः सायं या अवसर विशेष पर इसे बजाया जाता था। पुराने महलों या किलों में प्रवेश द्वार के पश्चात् ही नौबतखाना मिलता है। पुर=नगर। पटन=बाजार। बहुरि=फिर।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! इस क्षणभंगुर संसार में अपने ऐश्वर्य और वैभव का प्रदर्शन कुछ दिनों के लिए कर सकते हो। फिर जब काल अपना पंजा पसार कर मृत्यु के मुख में सुला देगा तब न तो इस नगर, न इस बाजार और न इन गलियों अर्थात् संसार के पुनः दर्शन हो सकेंगे।

भाव यह है कि जब इस संसार के माया-आकर्षण नश्वर हैं तो मनुष्य अनश्वर प्रभु का ध्यान क्यों नहीं करता है?

जिनकै नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि।
एकै हरि के नाँव बिन, गए जन्म सब हारि ॥२॥

शब्दार्थ—मैंगल=मस्त हाथी। बारि=द्वार। नाँव=नाम।

जो ऐसे ऐश्वर्यशाली थे कि उनके द्वार पर नौबत बजा करती थी एवं मस्त हाथी झूमते थे, वे भी एक प्रभु के नाम के अभाव में अपने जीवन को व्यर्थ खो बैठे।

ढोल दमामा दुड़बड़ी, सहनाई संगि भेरि।
औसर चल्या बजाइ करि, है कोई राखै फेरि ॥३॥

शब्दार्थ—दमामा=नगाड़ा। दुड़बड़ी=डुगडुगी। भेरी=एक वाद्य विशेष जो मुँह से बजाया जाता है।

प्रत्येक मनुष्य ढोल, नगाड़े, डुगडुगी एवं शहनाई के साथ भेरी बजाता हुआ

अर्थात् अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार भोग भोगता हुआ काल के आ जाने पर मृत्यु को प्राप्त हो गया। उनका ऐश्वर्य और वैभव मृत्यु को न रोक सका। संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो वैभवशाली मनुष्यों तक को काल के गाल से बचा सकती।

सातौं सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग।
ते मन्दिर खाली पड़े, बैंसण लागे काग॥४॥

शब्दार्थ—सातौं सबद = सप्त स्वर, इनके अतिरिक्त और कोई स्वर नहीं होता। यहाँ कबीर का तात्पर्य सातों वाद्य से भी हो सकता है, सप्त वाद्य हैं—झांझ, मृदंग, शंख, शहनाई, बीन, बांसुरी, ढोल। बैसण = (बैठण) बैठना।

जहाँ सप्त स्वरों के गान अथवा सप्त वाद्य वैभव एवं ऐश्वर्य का उद्घोष करते थे; अर्थात् वैभव का प्रत्येक उपकरण जहाँ उपस्थित था और जहाँ घर-घर आनन्दोल्लास छाया रहता था, वे ही स्थान अब जन-शून्य हो गए और उन पर कौवे बैठने लगे।

कबीर थोड़ा जीवणां, माड़े बहुत मँडाण।
सबही ऊभा मेल्हि गया, राय रंक सुलिताण॥५॥

शब्दार्थ—माड़े बहुत मँडाल = आनन्दोल्लास के विविध आयोजन किये। ऊभा = साज-सज्जा। मेल्हि गया = नष्ट हो गया।

कबीर कहते हैं कि मनुष्य जीवन को क्षणिक जानते हुए भी अपने आनन्दोल्लास के अनेक उपकरण जुटाता है, साज-सम्भाल खड़े करता है; किन्तु कठोर काल के द्वारा यह सब क्षणभर में नष्ट कर दिया जाता है। एवं धनिक, राजा, भिखारी सब सम्भाल करते ही करते संसार से चले जाते हैं।

इक दिन ऐसा होइगा, सब सूं पड़ैं बिछोह।
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ॥६॥

शब्दार्थ—बिछोह = अलग होना। किन = क्यों नहीं।

कबीर कहते हैं कि एक दिन ऐसा आयेगा जब काल संसार के समस्त सम्बन्ध विच्छिन्न कर देगा। इसलिए हे राजा, राणा, छत्रपति अर्थात् सब मनुष्यो! तुम पहले से ही सावधान क्यों नहीं हो जाते?

भाव यह है कि तुम उस अनश्वर प्रभु की भक्ति करो।

कबीर पटण कारिवां, पंच चोर दस द्वार।
जम रांणौं गढ़ भेलिसी, सुमिरि लै करतार॥७॥

शब्दार्थ—पटण = नगर, यहाँ शरीर से तात्पर्य है। कारिवां = कारवां, सार्थवाह। पंच चोर = काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह। दस द्वार = शरीर से आत्मा के निकलने के दस छिद्र ही दस द्वार माने गये हैं—दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासिका-विवर, एक मुख, एक मल द्वार, एक मूत्रछिद्र, एक ब्रह्मरन्ध्र। जमराणौं = यमराज। गढ़ = किला, दुर्ग अर्थात् शरीर। भेलिसी = नष्ट करेगा।

कबीर कहते हैं कि यह शरीर का कारवां आत्मारूपी धन को लेकर (इस

संसार में) चल रहा है। जिस प्रकार कारवाँ को लूटने के लिए चोर-लुटेरे लगे रहते हैं, उसी भाँति काम, क्रोध, मद, लोम, मोह ये पाँच चोर इसे अपहृत करने के चक्कर में हैं। यदि कारवाँ स्वयं भी सुरक्षित न हो तो स्थिति और भी चिन्तनीय हो जाती है। इस शरीर में भी दस द्वार हैं, न जाने कब कहाँ से आत्मा रूपी धन निकल जाय। कारवाँ जिस दुर्ग में अपनी सुरक्षा के लिए ठहरता है यदि वह ही नष्ट हो जाये तो कारवाँ का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, इसी भाँति जब यमराज आकर मृत्यु के द्वारा इस शरीर रूपी दुर्ग को नष्ट कर देंगे, तो सब कुछ समाप्त हो जायेगा। इस लिए हे मनुष्य उस स्वामी—ब्रह्म—का भजन कर ले (जिससे तेरा धन—आत्मा सुरक्षित रह सके)।

विशेष—सांगरूपक अलंकार है।

कबीर कहा गरबियौ, इस जीवन की आस।
टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास ॥८॥

कबीर कहते हैं कि इस क्षणिक जीवन पर अपनी समस्त आशायें पल्लवित कर गर्व करना व्यर्थ है। यह जीवन तो पलाश वृक्ष की भाँति कुछ दिन अपनी आभा बिखराता है, फिर वह पलाश-विटप ठूँठ (पत्र विहीन—कुसुमों की तो बात ही क्या ?) हो जाता है। यही स्थिति जीवन की है। कुछ दिन संसार में रहने के पश्चात् यह अस्थि-चर्ममय शरीर क्षार हो जाता है।

कबीर कहा गरबियौ, देहा देखि सुरंग।
बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं, ज्यूं कांचली भुवंग ॥९॥

शब्दार्थ—देहा=देह, शरीर को। सुरंग=सुन्दर रंग की। भुवंक=भुजंग।

कबीरदास जी कहते हैं कि शरीर के सौन्दर्य को देखकर गर्व करना अनुचित है। यह तो एक बार कुछ क्षणिक समय के लिए प्राप्त होता है। आत्मा के द्वारा शरीर छोड़ दिये जाने पर उसी भाँति पुनः धारण नहीं किया जाता जिस प्रकार सर्प केंचुली का एक बार परित्याग कर उसे पुनः धारण नहीं कर सकता।

कबीर कहा गरबियौ, ऊँचे देखि अवास।
काल्हि पर्यूं भ्वैं लेटणां, ऊपरि जामैं घास ॥१०॥

शब्दार्थ—अवास=घर। भ्वैं=भू, पृथ्वी।

कबीर कहते हैं कि हे मानव ! तू अपने वैभव और ऐश्वर्यसूचक ऊँचे-ऊँचे महल और अट्टालिकाओं को देखकर व्यर्थ गर्व करता है। तू नहीं जानता कि शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होकर तुझे कब्र में लेटना पड़ेगा, अर्थात् मिट्टी में मिल जाना पड़ेगा और उस पर (वह) घास खड़ी हो जायेगी (जिसे तू आज पैरों से कुचलता है)।

कबीर कहा गरबियौ, चाँम पलेटे हड्ड।
हैंवर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देबा खड्ड ॥११॥

शब्दार्थ—चाँम=चर्म। लपेटे=पलेटे हुए। हड्ड=अस्थियाँ। हैंबर =(हय-

वर) श्रेष्ठ घोड़ा। देत्रा=दिये जायेंगे, डाले जाएंगे। खड=खड्डा, गड्ढा, कब्र से तात्पर्य है।

कबीर कहते हैं कि इस अस्थिचर्ममय शरीर का गर्व करना व्यर्थ है। जिनका वैभव इतना महान था कि वे श्रेष्ठ घोड़ों पर बैठे छत्र धारण कर चलते थे उनको एक दिन मृत्यु होने पर कब्र में जाना पड़ा, अपना अस्तित्व मिट्टी में मिला देना पड़ा।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार।

कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस।
नाँ जांणौं कहाँ मारिसी, कै घरि कै परदेस।।१२।।

शब्दार्थ—सरल है।

कबीरदास जी कहते हैं कि इस क्षणभंगुर जीवन पर क्या गर्व किया जाये, क्योंकि मृत्यु सर्वदा ही इसके साथ लगी रहती है। न जाने कब कहाँ देश या विदेश में वह जीवन की समाप्ति कर दे।

यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के ब्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि।।१३।।

शब्दार्थ—सेमर=सेंवल, एक कुसुम विशेष। झूठै रंगि=झूठा आकर्षण।

यह संसार ऐसा ही सुन्दर है जैसे सेमर कुसुम बाहर से तो बड़ा सौन्दर्यशाली होता है, किन्तु भीतर उसमें कुछ तत्व नहीं होता (तोता उसमें चोंच मारता है कुछ प्राप्ति की आशा से किन्तु अन्ततः उसे निराश होना पड़ता है)। इस संसार के क्षणिक समय में इन माया के आकर्षणों में मनुष्य को अपनी वास्तविक स्थिति—कि यह संसार आत्मा के लिए परदेश है—विस्मृत नहीं करनी चाहिए।

विशेष—उपमा अलंकार।

जांमण मरण विचारि करि, कूड़े कांम निवारि।
जिनि पंथूं पुझ चालणां, सोइ पंथ सँवारि।।१४।।

शब्दार्थ—जांमण=जन्म। कूड़े काम=बुरे काम। निवारि=निवारण करना। चालणां=चलना है। सँवारि=सँभाल ले, अपना ले।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू जन्म-मरण, आवागमन की व्यथा को ध्यान में रखकर वासना प्रेरित कुकर्मों का परित्याग कर दे। जिस मार्ग (प्रभु प्राप्ति का मार्ग) पर तुझे अन्ततः चलना है, तू उसे अभी से अपना ले।

बिन रखवाले बाहिरा, चिड़ियें खाया खेत।
आधा प्रधा ऊबरै, चेति सकै तौ चेति।।१५।।

शब्दार्थ—रखवाले=रक्षक, गुरु। चिड़ियें=वासना या माया के पक्षी। आधा-प्रधा=थोड़ा-बहुत।

हे मनुष्य! सद्गुरु रूपी रक्षक के अभाव में तेरे प्रभु-भक्ति के खेत को कुछ तो चोर (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह ये पांच चोर) उड़ा ले गये और कुछ माया या वासना की सुन्दर चिड़ियों ने खा लिया। अब वह थोड़ा-बहुत बचा है, यदि मंगल

संसार में) चल रहा है। जिस प्रकार कारवाँ को लूटने के लिए चोर-लुटेरे लगे रहते हैं, उसी भाँति काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह ये पाँच चोर इसे अपहृत करने के चक्कर में हैं। यदि कारवाँ स्वयं भी सुरक्षित न हो तो स्थिति और भी चिन्तनीय हो जाती है। इस शरीर में भी दस द्वार हैं, न जाने कब कहाँ से आत्मा रूपी धन निकल जाय। कारवाँ जिस दुर्ग में अपनी सुरक्षा के लिए ठहरता है यदि वह ही नष्ट हो जाये तो कारवाँ का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, इसी भाँति जब यमराज आकर मृत्यु के द्वारा इस शरीर रूपी दुर्ग को नष्ट कर देंगे, तो सब कुछ समाप्त हो जायेगा। इस लिए हे मनुष्य उस स्वामी—ब्रह्म—का भजन कर ले (जिससे तेरा धन—आत्मा सुरक्षित रह सके)।

विशेष—सांगरूपक अलंकार है।

कबीर कहा गरबियौ, इस जीवन की आस।
टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास ॥८॥

कबीर कहते हैं कि इस क्षणिक जीवन पर अपनी समस्त आशायें पल्लवित कर गर्व करना व्यर्थ है। यह जीवन तो पलाश वृक्ष की भाँति कुछ दिन अपनी आभा बिखराता है, फिर वह पलाश-विटप ठूँठ (पत्र विहीन—कुसुमों की तो बात ही क्या ?) हो जाता है। यही स्थिति जीवन की है। कुछ दिन संसार में रहने के पश्चात् यह अस्थि-चर्ममय शरीर क्षार हो जाता है।

कबीर कहा गरबियौ, देहा देखि सुरंग।
बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं, ज्यूं कांचली भुवंग ॥६॥

शब्दार्थ—देहा=देह, शरीर को। सुरंग=सुन्दर रंग की। भुवंक=भुजंग।

कबीरदास जी कहते हैं कि शरीर के सौन्दर्य को देखकर गर्व करना अनुचित है। यह तो एक बार कुछ क्षणिक समय के लिए प्राप्त होता है। आत्मा के द्वारा शरीर छोड़ दिये जाने पर उसी भाँति पुनः धारण नहीं किया जाता जिस प्रकार सर्प केंचुली का एक बार परित्याग कर उसे पुनः धारण नहीं कर सकता।

कबीर कहा गरबियौ, ऊँचे देखि अवास।
कालि्ह पर्यु भ्वैं लेटणां, ऊपरि जामैं घास ॥१०॥

शब्दार्थ—अवास=घर। भ्वैं=भू, पृथ्वी।

कबीर कहते हैं कि हे मानव ! तू अपने वैभव और ऐश्वर्यसूचक ऊँचे-ऊँचे महल और अट्टालिकाओं को देखकर व्यर्थ गर्व करता है। तू नहीं जानता कि शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होकर तुझे कब्र में लेटना पड़ेगा, अर्थात् मिट्टी में मिल जाना पड़ेगा और उस पर (वह) घास खड़ी हो जायेगी (जिसे तू आज पैरों से कुचलता है)।

कबीर कहा गरबियौ, चांम पलेटे हड्ड।
हैंवर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देबा खड्ड ॥११॥

शब्दार्थ—चांम=चर्म। लपेटे=पलेटे हुए। हड्ड=अस्थियां। हैंवर =(हय-

वर) श्रेष्ठ घोड़ा। देवा=दिये जायेंगे, डाले जाएंगे। खड=खड्डा, गड्ढा, कब्र से तात्पर्य है।

कबीर कहते हैं कि इस अस्थिचर्ममय शरीर का गर्व करना व्यर्थ है। जिनका वैभव इतना महान था कि वे श्रेष्ठ घोड़ों पर बैठे छत्र धारण कर चलते थे उनको एक दिन मृत्यु होने पर कब्र में जाना पड़ा, अपना अस्तित्व मिट्टी में मिला देना पड़ा।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार।

कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस।
नाँ जांणौं कहाँ मारिसी, कै घरि कै परदेस॥१२॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीरदास जी कहते हैं कि इस क्षणभंगुर जीवन पर क्या गर्व किया जाये, क्योंकि मृत्यु सर्वदा ही इसके साथ लगी रहती है। न जाने कब कहाँ देश या विदेश में वह जीवन की समाप्ति कर दे।

यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के ब्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि॥१३॥

शब्दार्थ—सेमर=सेंवल, एक कुसुम विशेष। झूठै रंगि=झूठा आकर्षण।

यह संसार ऐसा ही सुन्दर है जैसे सेमर कुसुम बाहर से तो बड़ा सौन्दर्यशाली होता है, किन्तु भीतर उसमें कुछ तत्व नहीं होता (तोता उसमें चोंच मारता है कुछ प्राप्ति की आशा से किन्तु अन्ततः उसे निराश होना पड़ता है)। इस संसार के क्षणिक समय में इन माया के आकर्षणों में मनुष्य को अपनी वास्तविक स्थिति—कि वह संसार आत्मा के लिए परदेश है—विस्मृत नहीं करनी चाहिए।

विशेष—उपमा अलंकार।

जांमण मरण विचारि करि, कूड़े कांम निवारि।
जिनि पंथूं तुझ चालणां, सोइ पंथ सँवारि॥१४॥

शब्दार्थ—जांमण=जन्म। कूड़े काम=बुरे काम। निवारि=निवारण करना। चालणां=चलना है। सँवारि=सँभाल ले, अपना ले।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू जन्म-मरण, आवागमन की व्यथा को ध्यान में रखकर वासना प्रेरित कुकर्मों का परित्याग कर दे। जिस मार्ग (प्रभु प्राप्ति का मार्ग) पर तुझे अन्तंतः चलना है, तू उसे अभी से अपना ले।

बिन रखवाले बाहिरा, चिड़ियें खाया खेत।
आधा प्रधा ऊबरै, चेति सकै तौ चेति॥१५॥

शब्दार्थ—रखवाले=रक्षक, गुरु। चिड़ियें=वासना या माया के पक्षी। आधा-प्रधा=थोड़ा-बहुत।

हे मनुष्य! सद्गुरु रूपी रक्षक के अभाव में तेरे प्रभु-भक्ति के खेत को कुछ तो चोर (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह ये पांच चोर) उड़ा ले गये और कुछ माया या वासना की सुन्दर चिड़ियों ने खा लिया। अब यह थोड़ा-बहुत बचा है, यदि मंगल

चाहता है तो अब भी सावधान हो प्रभु-भक्ति में प्रवृत्त हो।

विशेष—अन्योक्ति अलंकार।

हाड़ जलै ज्यूं लाकड़ी, केस जलैं ज्यूं घास।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास ॥१६॥

शब्दार्थ—सरल है।

मृत्यु हो जाने पर इस शरीर का कोई उपयोग नहीं। मृतक की हड्डियाँ लकड़ी के समान एवं सुन्दर केश-राशि घास तुल्य जल जाती है। इस समस्त शरीर को जलता देखकर कबीर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जीवन में कुछ नहीं है, अतः वह इससे विरक्त (प्रभु भक्ति में प्रवृत्त हो) गया है।

कबीर मंदिर ढहि पड़्या सैंट भई सैंवार।
कोइ चेजारा चिणि गया, मिल्या न दूजी बार ॥१७॥

शब्दार्थ—सैंट=एक घास जो प्रायः कब्र पर उग आती है। सैंवार=सिवार, पानी की एक घास। चेजारा=चिनने वाला, राज।

कबीरदास जी कहते हैं कि इस शरीर रूपी मन्दिर का निर्माता इसे बनाकर फिर नहीं मिला, जीवन भर उसकी प्रतीक्षा की। यहाँ तक कि यह शरीर रूपी मंदिर नष्ट भी हो गया, और उस पर सैंट और सिवार उग आयीं।

विशेष—कबीर ने यहाँ जल और थल दोनों की घास का उल्लेख इसलिए किया है कि यदि शव का दाह संस्कार कर अस्थि विसर्जन जल में किया गया तो उस पर सिवार नामक घास उग आती है और यदि शव को कब्र में दफना दिया गया तो कब्र पर सैंट नामक घास उग आती है।

कबीर देवल ढहि पड़्या, ईंट भई सैंवार।
करि चिजारा सों प्रीतिड़ी, ज्यूं ढहै न दूजी बार ॥१८॥

शब्दार्थ—प्रीतिड़ी=प्रेम।

कबीर कहते हैं कि यह शरीर रूपी देवालय नष्ट हो गया और उसकी अस्थि रूपी ईंटों पर काई भी जम गई। (जल में अस्थि-विसर्जन के कारण) उसका कोई अस्तित्व न रहा। किन्तु फिर उसका पुनर्निर्माण (पुनर्जन्म) होगा। अतः हे मनुष्य! तू उसके निर्माता प्रभु से प्रेम कर जिससे मन्दिर को दूसरी बार ढहना न पड़े; अर्थात् फिर जन्म न लेना पड़े।

कबीर मंदिर लाख का, जड़िया हीरैं लालि।
दिवस चारि का पोषणां, बिनस जाइगा कालि्ह ॥१९॥

शब्दार्थ—लाष=लाक्षा, लाख। बिनस=नष्ट हो जायेगा।

कबीरदास जी कहते हैं कि यह शरीर रूपी मन्दिर लाक्षा से निर्मित है तथा इसकी शोभा भी क्षणिक है, वह शीघ्र ही (पाण्डवों के लिए बने) लाक्षागृह के समान जल कर नष्ट हो जाएगा।

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बांधी एह।
दिवस चारि का पेषणां, अंति षेह की षेह ॥२०॥

शब्दार्थ—सकेलि=सकेर कर, एकत्रित कर। पुड़ी=पुड़िया। षेह=धूल।

कबीर कहते हैं कि यह शरीर कुछ नहीं, मिट्टी को सकेर कर, एकत्रित कर, वनाई गई पुड़िया है। इसकी स्थिति क्षणिक है (फिर तो पुड़िया फट ही जाती है)। फिर यह शरीर रूपी पुड़िया नष्ट हो जाने पर धूल में ही मिल जायेगी।

विशेष—अलंकार—रूपक।

कबीर जे धंधै तौ धूलि, बिन धंधै धूलै नहीं।
ते नर बिनठे मूलि, जिनि धंधै में ध्याया नहीं ॥२१॥

शब्दार्थ—धंधे=कर्म। धूलि=धुलना, स्वच्छ होना। बिनठे मूलि=जड़ से ही नष्ट हो गये।

कबीर जी कहते हैं कि जो मनुष्य संसार में कर्म करता है उसका मन स्वच्छ हो जाता है, उज्ज्वल हो जाता है। जो मनुष्य कर्म नहीं करते उनका चित्त स्वच्छ-निर्मल रहता है, किन्तु कर्म करते हुए भी ब्रह्म-प्राप्ति-मार्ग में प्रवृत्त हुआ जा सकता है, कर्म करते हुए जिस व्यक्ति ने ब्रह्म का ध्यान नहीं किया उसका तो जड़ से ही विनाश हो गया।

विशेष—इससे सिद्ध होता है कि कबीर के अनुसार प्रभु-प्राप्ति संसार में रहकर ही सम्भव है।

कबीर सुपनैं रैनि के, ऊघड़ि आये नैंन।
जीव पड़्या बहु लूटि मैं, जागै तौ लैंण न दैण ॥२२॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर यहाँ स्वप्न का उदाहरण देकर व्यक्ति की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार स्वप्नावस्था में कोई अत्यधिक धन देखकर लूट-मार में लग जाये, किन्तु जागने पर उसे कुछ भी प्राप्त न हो, उसी प्रकार व्यक्ति माया-भ्रम में पड़ा हुआ आदान-प्रदान में लगा हुआ है, किन्तु (गुरु कृपा से) अज्ञान दूर हो जाने पर वह माया-व्यापार से विरक्त हो जाता है।

विशेष—रूपक अलंकार।

कबीर सुपनैं रैनि कै, पारस जीय मैं छेक।
जे सोऊं तौ दोइ जणां, जागूं तौं एक ॥२३॥

शब्दार्थ—पारस—पारस स्वरूप परमात्मा जो आत्मा को भी अपने परस तत्व में समाहित कर परमात्मा ही बना देता है। छेद=भेद।

कबीर कहते हैं कि अज्ञानरात्रि में जीव सुप्तावस्था में पड़ा माया के आकर्षणों के स्वप्नों में तल्लीन है। इसी अज्ञान की सुप्तावस्था के कारण ब्रह्म और जीव में इतनी दूरी हो गयी कि उनका पृथक् अस्तित्व परिलक्षित होता है। यदि मैं इसी अज्ञानावस्था में पड़ा सोता रहता हूँ तो यह द्वैत भावना बनी रहती है और यदि जागकर,

ज्ञानयुक्त होकर, वास्तविक स्थिति को देखता हूँ तो ज्ञान होता है कि ब्रह्म और जीव एक ही हैं।

कबीर इस संसार में, घणै मनिष मतिहींण।
राम नाम जांणें नहीं, आए टापा दीन ॥२४॥

शब्दार्थ—घणें=अत्यधिक। टापा=झाँसा देना, धोखा देना।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में मनुष्य बहुत बड़ी संख्या में मूर्ख हैं। वे राम-नाम का महत्व तो जानते नहीं, प्रभु-प्राप्ति के अन्य बहुत से व्यर्थ उपाय बताकर संसार को धोखा देना चाहते हैं।

कहा कियौ हम आइ करि, कहा कहैंगे जाइ।
इत के भए न उत के, चाले मूल गँवाइ ॥२५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि हमने संसार में आकर कौनसा अच्छा कार्य किया? अब अपने उस स्वामी से, जिसने हमें इस लोक में भेजा है, क्या जाकर कहेंगे? हमने न तो ऐसे कर्म किये जिनसे यहाँ लोक में जीवन सुधरता (जीवन भर व्यर्थ मृग-जल की भांति माया-आकर्षणों के पीछे दौड़ते रहे) और न ऐसे सत्कर्म किये कि परलोक का मार्ग ही सुधरता। प्रभु ने जो यह आत्मा हमें निर्मल और स्वच्छ पवित्र रूप में प्रदान की थी उसकी पवित्रता, स्वच्छता और निर्मलता सब कुछ यहाँ नष्ट कर जा रहे हैं।

आया अणआया भया, जे बहुरता संसार।
पड़्या भुलांवां गाफिला, गये कुबुधी हारि ॥२६॥

शब्दार्थ—अण आया= न आने के समान। बहुरता=विविध आकर्षणों में आसक्त। गाफिलां=बेहोश, असावधान।

कबीर कहते हैं कि जो व्यक्ति इस संसार में विविध माया-आकर्षणों में पड़ा हुआ है, आसक्त है, उसका जन्म वृथा ही है, इस संसार में न आने के बराबर ही है। वे इन संसार-आकर्षणों के भ्रम में पड़े हुए है इस दुर्बुद्धि के कारण ही वे अपने जीवन के दाव को हार जाते हैं।

कबीर हरि की भगति बिन, ध्रिग जीमण संसार।
धूंवाँ केरा धौलहर, जात न लागै बार ॥२७॥

शब्दार्थ—ध्रिग=धिक्कार। धौलहर=महल। जात=नष्ट होते।

कबीर कहते हैं कि प्रभुभक्ति के बिना संसार में जीवन धारण करना धिक्कार है। मनुष्य को प्रभुभक्ति करनी चाहिए क्योंकि जीवन का अस्तित्व धुएं के महल सदृश क्षणिक है।

विशेष—(१) उपमा अलंकार।

(२) 'धुवाँ केरा धौलकर' उपमा शंकरी वेदान्तियों के समान कबीर ने दी है, तुलसी आदि ने भी इस उपमा का प्रयोग किया है।

जिहि हरि की चोरी करी, गये राम गुण भूलि ।
ते बिधना बागुल रचे, रहे अरध मुखि झूलि ॥२८॥

शब्दार्थ—सरल है ।

जिन मनुष्यों ने उस संसार में आकर प्रभुभक्ति का कर्तव्य पूर्ण नहीं किया और उनके गुणों को विस्मृत कर बैठे, उन्हीं को ब्रह्म ने बगले का जन्म दिया जो अपने मुख (लज्जावश) नीचे किए खड़े रहते हैं ।

विशेष—फलोत्प्रेक्षा अलंकार ।

माटी मलणि कुंभार की, घणीं सहै सिरि लात ।
इहि औसरि चेत्या नहीं, चूका अब की घात ॥२९॥

शब्दार्थ—सरल है

हे मनुष्य ! तेरी दशा कुम्भकार की उस मिट्टी के समान है जो गूंथे जाने पर बार-बार लातों के आघात सहती है । तूने भी अनेक जन्मों में आवागमन और संसार यातना भोगी है । यदि तू इस जन्म में सावधान नहीं हुआ और ऐसे सुकृत्य न किये जो तुझे इस संसार चक्र से मुक्त कर आवागमन से छुड़ा दें तो समझ ले कि अवसर चूक गया और तुझे फिर वही यातनाएं भोगनी पड़ेंगी ।

इहि औंसरि चेत्या नहीं, पसु ज्यूं पाली देह ।
राम नाम जान्या नहीं, अति पड़ी मुख षेह ॥३०॥

शब्दार्थ—षेह=धूल ।

हे मनुष्य ! यदि तू इस जन्म में भी सावधान नहीं हुआ एवं पशु के समान केवल अपना शरीर ही पालता रहा, अर्थात आहार, निद्रा, मैथुन आदि पाशविक प्रवृत्तियों में ही लगा रहा है और प्रभुभक्ति नहीं कर सका तो अन्त में तुझे नष्ट हो मिट्टी में मिल जाना पड़ेगा ।

विशेष—उपमा अलंकार ।

राम नाम जाण्यौं नहीं, लागी मोटी षोड़ि ।
काया हांडी काठ की, ना ऊं चढ़ै बहोड़ि ॥३१॥

शब्दार्थ—मोटी=बहुत बड़ा । षोड़ि=दोष । बहोड़ि=बहोरि, पुनः, दूसरी बार ।

हे मनुष्य ! तूने राम नाम अर्थात् प्रभुभक्ति को न जानकर बड़ा भारी पाप किया । अब तुझे इसका (प्रभुभक्ति का) अवसर नहीं मिलेगा क्योंकि जिस प्रकार काठ की हांडी दूसरी बार नहीं चढ़ती, उसी भाँति मनुष्य जीवन भी पुनः प्राप्त नहीं होता ।

विशेष—उदाहरण अलंकार ।

राम नाम जाण्यां नहीं, बात बिनंठी मूल ।
परत इहां ही हारिया, परति पड़ी मुखि धूलि ॥३२॥

शब्दार्थ—बिनंठी=विनष्ट ।

हे मनुष्य ! तूने प्रभु-भक्ति का महत्व न जानकर बिल्कुल ही, अर्थात् जड़ से ही, बात बिगाड़ दी । व्यर्थ के सांसारिक धन्धों में तूने अपनी शक्ति नष्ट कर दी और अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो (कब्र में जाकर) मुख में धूलि ही पड़ेगी ।

विशेष—कबीर यह कहना चाहते हैं कि मनुष्य को अपनी शक्ति संसार के व्यर्थ कार्यों में नष्ट न कर प्रभुभक्ति में ध्यान लगाना चाहिए ।

राम नाम जाण्यां नहीं, पाल्यो कटक कुटुम्ब ।
धंधा ही में मरि गया, बाहर हुई न बम्ब ।।३३।।

शब्दार्थ—कटक=असंख्य । धन्धा=सांसारिक कार्य । बम्ब=एक वाद्य विशेष जिसे एक बहुत बड़ा ढोल कहा जा सकता है ।

हे मनुष्य ! तूने प्रभु-भक्ति नहीं की । सेना के समान संख्यातीत कुटुम्ब के पालन ही में जूझता रहा इसीलिए संसार कर्मों में उलझते हुए समस्त जीवन बीत गया, मृत्यु आ पहुँची । किन्तु तेरा अहं फिर भी न गया ।

मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार ।
तरवर थैं फल झड़ि पड़्या, बहुरि न लागै डार ।।३४।।

शब्दार्थ—मनिषा=मानव का । थैं=(तैं) से । बहुरि=फिर से ।

कबीरदास कहते हैं कि यह मानव जन्म बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है, और यह शरीर बारम्बार प्राप्त नहीं होता । जिस प्रकार एक बार वृक्ष से फल झड़ जाने पर वह शाखा पर दूसरी बार नहीं लगाया जा सकता, उसी भाँति इस मानव जन्म में शरीर के एक बार नष्ट हो जाने पर यह पुनः प्राप्त नहीं हो सकता (अतः मानव ! प्रभु-भक्ति कर) ।

कबीर हरि की भगति करि, तजि विषिया रस चोज ।
बार बार नहीं पाइए, मनिषा जन्म की मौज ।।३५।।

शब्दार्थ—रस चोज=आन्दोल्लास । मौज=आनन्द ।

कबीरदास कहते हैं कि मानव जन्म-प्राप्ति का सौभाग्य बारम्बार प्राप्त नहीं होता, अतः हे मनुष्य विषय-वासना युक्त मायापूर्ण क्षणिक आनन्द और सुखों का परित्याग कर प्रभु की भक्ति में प्रवृत्त हो (वही वास्तविक आनन्द है जिसके सम्मुख सांसारिक आनन्द फीके और तुच्छ हैं) ।

कबीर यहु तन जात है, सकै तौ ठाहर लाइ ।
कै सेवा करि साध की, कै गुण गोबिंद के गाइ ।।३६।।

शब्दार्थ—ठाहर लाइ=ठिकाने से लगा, सम्भाल ले ।

कबीरदास जी कहते हैं कि हे मनुष्य ! यह मानव-जन्म व्यर्थ ही नष्ट हुआ जा रहा है । अब भी समय है, यदि इसे सम्भाल सकता है तो सम्भाल कर उचित पथ पर प्रवृत्त हो जा । या तो तू साधुओं की सेवा कर अथवा फिर प्रभु का गुणगान कर। इन दोनों से ही तेरा अज्ञान दूर होगा और तेरी मुक्ति सम्भव है ।

कबीर यहु तन जात है, सकै तौ लेहु बहोड़ि।
नागे हाथूं ते गये, जिनकै लाख करोड़ि ॥३७॥

शब्दार्थ—बहोड़ि=वापिस। नागे=खाली।

कबीरदास कहते हैं कि हे मनुष्य! यह मानव जन्म यों ही (प्रभु-भक्ति बिना) बीता जा रहा है, अब भी यदि चाहते हो तो इसे पुनः अपने सुकृत्यों से प्राप्त करने का प्रयत्न कर लो। ऐसे कार्य करो और प्रभु-भक्ति करो जिससे यह जन्म पुनः प्राप्त हो सके। व्यर्थ संसार में माया के पीछे बावले बने क्यों फिरते हो? जिनकी लाखों और करोड़ों की सम्पत्ति थी वे भी यहाँ से खाली हाथ ही गये।

भाव यह है कि संसार के समस्त आकर्षण कार्य हैं।

विशेष—दृष्टांत अलंकार।

यहु तन काचा कुंभ है, चोट चहूँ दिसि खाइ।
एक राम के नाँव बिन, जदि तदि प्रलै जाइ ॥३८॥

शब्दार्थ—जदि तदि=जब तब।

यह शरीर कच्चे घट के सदृश है जो चारों ओर से कुम्भकार की थपकी की चोट खाता है। यह शरीर भी सांसारिक यातनाओं के आघात सह रहा है। एक राम नाम के अभाव में ही यह पुनः संसार में जन्म लेकर वासना अग्नि में दहता है, यदि राम नाम का सम्बल ले तो इस आवागमन से मुक्त हो जाय।

विशेष—रूपक अलंकार।

यह तन काचा कुंभ है, लियां फिरै था साथि।
ढबका लागा फूटि गया, कछू न आया हाथि ॥३९॥

शब्दार्थ—ढबका=धक्का, ठसक, हल्की सी चोट।

यह शरीर उस कच्चे घड़े के समान कोमल और अनिश्चित-भविष्य है, जिसे साथ लिये फिरते हैं और तनिक-सी चोट लगने पर घड़ा फूट जाता है, उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है और हाथ में कुछ शेष नहीं रह जाता।

विशेष—रूपक अलंकार।

काँची कारी जिनि करै, दिन दिन बधै बियाधि।
राम कबीरै रुचि भई, याही ओषदि साधि ॥४०॥

शब्दार्थ—काँची=केंचुली, शरीर। जिन=मत। बियाधि=व्याधि।

हे मनुष्य! तू अपनी इस शरीर रूपी केंचुली को वासना के पंक से काली मत कर। काल रूपी व्याध तुझे दिन-प्रतिदिन अपना लक्ष्य बनाता बढ़ा आ रहा है। कबीर ने तो अपनी रुचि प्रभु-भक्ति में लगा दी है, यही सांसारिक तापों की एकमात्र औषधि है।

कबीर अपनें जीवतैं, ए दोइ बातैं धोइ।
लोभ बड़ाई कारणैं, अछता मूल न खोइ ॥४१॥

शब्दार्थ—जीवतैं=मन से।

कबीरदास कहते हैं कि मनुष्य तू अपने मन से दो बातें निकाल दे ; एक तो लोभ और दूसरी प्रशंसा से उत्पन्न दर्प। इन दोनों के ही कारण तू व्यर्थ संसार में भटक कर अपने अमूल्य धन—प्रभु-भक्ति – को खो रहा है।

खंभा ऐक गइंद दोइ, क्यूं करि बंधिसि बारि।
मानि करै तौ पीव नहीं, पीव तौ मानि निवारि ॥४२॥

शब्दार्थ—गइंद=(गयन्द) हाथी। बारि=द्वार।

कबीरदास कहते हैं कि हे मानव! तेरे पास एक ही हृदय रूपी स्तम्भ है, उससे दो हाथी—प्रभु-भक्ति और अहं—नहीं बांधे जा सकते। यदि तू अपने अहं की रक्षा करना, हृदय में उसे स्थान देना चाहता है तो प्रभु-प्राप्तिअ सम्भव है, यदि तू केवल मात्र प्रभु को चाहता है तो अपने अहं का परित्याग कर दे।

दीन गँवाया दुनी सौं, दुनी न चाली माथि।
पांइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणै हाथि ॥४३॥

शब्दार्थ—दीन=धर्म। दुनी=दुनिया, संसार के आकर्षण।

संसार में माया-आकर्षणों में लिप्त रह कर जीव प्रभु को भूल गया, किन्तु जिस संसार के पीछे उसने अपना धर्म नष्ट कर दिया, वह मरने पर उसके साथ नहीं गया। इस प्रकार जीवात्मा ने स्वयं अपनी उन्नति का मार्ग अवरुद्ध कर लिया।

यहु तन तौ सब बन भया, करंम भए कुहाड़ि।
आप आप कूं काटि हैं, कहै कबीर बिचारि ॥४४॥

शब्दार्थ—कुहाड़ि=कुल्हाड़ा।

यह शरीर वन के समान है जिसके नाश के लिए कर्मों की कुल्हाड़ी प्रस्तुत है। कर्मों की कुल्हाड़ी अपने ही शरीर को काट रही है ; अर्थात् कुकर्मफल भोगने से व्यक्ति का जीवन नष्ट हुआ जा रहा है।

विशेष—उपमा अलंकार।

कुल खोयां कुल ऊबरैं, कुल राख्यां कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटि लै, सब कुल रह्या समाइ ॥४५॥

शब्दार्थ—कुल=वैभवपूर्ण प्रलोभन। कुल=सारतत्त्व-प्रभु। निकुल=कुल रहित होकर, सांसारिक प्रलोभनों से विरक्त होकर। कुल=समस्त आनन्दोपकरण।

सांसारिक वैभव के समस्त आकर्षणों को त्याग कर ही उस सारतत्व ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है। यदि जीव मायाजन्य आकर्षणों में ही उलझा रहा तो प्रभु-प्राप्ति सम्भव नहीं। हे जीव! तू इन वैभवपूर्ण प्रलोभनों से विरक्त होकर ब्रह्म से मिल क्योंकि वह समस्त आनन्दोल्लास का केन्द्र है, समग्र संसार उसी में समाया हुआ है।

विशेष—यमक अलंकार।

दुनिया के धोखैं मुवा, चलै जु कुल की कांणि।
तब कुल किसका लाजसी, जब ले धर्या मसांणि ॥४६॥

शब्दार्थ—कांणि=गौरव। लाजसी=लज्जा करता है। मंसांणि=श्मशान।

जो मनुष्य कुल गौरव के पीछे सांसारिक माया-मोह में उलझा रहा वह व्यर्थ संसार के धोखे में आकर जीवन गँवा बैठा। मृत्यु के कारण जब शरीर को श्मशान की गर्हित भूमि में ले जाकर पटक दिया गया, तब किसका कुल लज्जित हुआ ? अर्थात् किसी का भी नहीं।

विशेष—महात्मा कबीर यह कहना चाहते हैं कि जीव ने प्रभु-भक्ति, साधु-सेवा—ऐसे सुकृत्य क्यों न किये जिससे उसका नाश न होता।

दुनियाँ भाँडा दुख का, भरी मुहांमुह भूष।
अदया अलह राम की, कुरहै ऊँणीं कूष ॥४७॥

शब्दार्थ—भाँडा=बर्तन। मुहांमुह=लबालब। भूष=भूख, अभाव से तात्पर्य। अदया = अकृपा। अलह=अल्लाह, श्रेष्ठ। कूष=भण्डार।

यह संसार कुछ नहीं, केवल दुःखों का स्थान मात्र (पात्र) है जो अभावों से पूर्णरूपेण भरा हुआ है। श्रेष्ठ राम की अकृपा से, अर्थात् परब्रह्म राम की कृपा बिना यहाँ जो बड़े-बड़े कोषागार हैं वे भी खाली रहते हैं।

भाव यह है कि सब कुछ राम कृपा से ही प्राप्य है।

विशेष—रूपक अलंकार।

जिहि जेवड़ी जग बंधिया, तूं जिनि बंधै कबीर।
ह्वैसी आटा लूंण ज्यूं, सीना सँवा सरीर ॥४८॥

शब्दार्थ—जेवड़ी=रस्सी, माया बंधन। लूंण=लोथ (नमक नहीं)

जिस माया बंधन में समस्त संसार बँधा हुआ है, हे कबीर ! तू उस माया रज्जु में न बँध। अन्यथा तेरा यह कंचन सदृश शुद्ध शरीर आटे की लोथ के समान मुक्के—संसार यातना के प्रबल आघात—सहेगा और बारम्बार गूंथा और रूंधा जायगा।

भाव यह है कि माया के बंधन में पड़ने से तेरी मुक्ति नहीं होगी और आवागमन के चक्र में पड़कर संसार की यातनायें सहेगा।

कहत सुनत जग जात है, विषै न सूझैं काल।
कबीर प्यालै प्रैम कै, भरि भरि पिवै रसाल ॥४९॥

शब्दार्थ— विषै=विषय।

संसार के समस्त मनुष्य मुक्ति आदि के लिए उपदेश देते हुए भी विषय-वासना के मार्ग पर चले जा रहे हैं। उन्हें विषय-वासना जनित आनन्द में अपनी मृत्यु—नाश दृष्टिगत नहीं होता। कबीर (साधुजन से तात्पर्य है) प्रभु-प्रेम रस के प्यालों को भर-भर कर पी रहा है, जिसमें उसे अमित आनन्द प्राप्त हो रहा है।

कबीर हद के जीव सूं, हित करि मुखां न बोलि।
जे लागे बेहद सूं, तिन सूं अंतर खोलि ॥५०॥

शब्दार्थ—हद के जीव सूँ=सांसारिक मनुष्य से—जो पूर्णरूपेण संसार में संलिप्त है। हित करि=पेम से। बेहद=निस्सीम प्रभु।

कबीर जी कहते हैं कि मनुष्य ! जो मनुष्य संसार की विषय-वासना में संलिप्त हैं, उनसे प्रेम भाव से वार्तालाप नहीं करना चाहिये। दूसरी ओर जो निस्सीम प्रभु-प्राप्ति के मार्ग में प्रवृत्त हैं उनसे अपने हृदय की समस्त बात बता दो अर्थात् पूर्ण प्रेम उन्हीं से रखो।

कबीर केवल राम की, तूं जिनि छाड़ै ओट।
घण अहरणि बिचि लोह ज्यूं, घणी सहैं सिर चोट ॥५१॥

शब्दार्थ—ओट=आश्रय। घण=भारी हथौड़ा। अहरणि=लोहे की एक पीठिका सी जिस पर रखकर गरम-गरम लोहे पर चोट मारकर उसे वांछित रूप दिया जाता है। इसे निहाई कहते हैं।

कबीर जी कहते हैं कि हे जीवात्मा ! तू राम का आश्रय मत छोड़। प्रभु के आश्रय के बिना तू संसार में पड़ी उसी प्रकार दुःखों की चोट खाती रहेगी जिस भाँति निहाई पर रखे हुए लोहे पर भारी हथौड़े की निरन्तर चोटें पड़ती हैं।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार।

कबीर केवल राम कहि, सुध, गरीबी झालि।
कूड़ बड़ाई बूड़सी, धारी पड़सी कालि ॥५२॥

शब्दार्थ—झालि=झेल ले। कूड़=व्यर्थ के, मिथ्या।

कबीर जी कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू केवल राम नाम का स्मरण कर अपनी इस निर्धनता में ही प्रसन्न रह। यह जो मिथ्या सांसारिक वैभव है जो भव-सागर में डुबाने वाला है, पतन के गर्त में पहुँचाता है यदि इसी को सत्य समझकर तूने प्रभु-भक्ति की उपेक्षा की तो फिर तुझे बहुत दुःख उठाने पड़ेंगे।

काया मंजन क्या करैं, कपड़ धोइम धोइ।
उजल हूवा न छूटिए, सुख नी दड़ीं न सोइ ॥५३॥

शब्दार्थ—मंजन=रगड़-रगड़ कर स्नान। छूटिए=मुक्त होना।

हे मनुष्य ! शरीर को वारम्वार नहलाकर और कपड़ों को खूब धो-धोकर ही तू समझता है कि तू पवित्र हो गया; किन्तु पूर्ण पवित्रता के लिए अन्तर की स्वच्छता भी आवश्यक है। इस वाह्य आवरण के ही उज्ज्वल होने से मुक्ति सम्भव नहीं, अतः शरीर और वस्त्रों को ही स्वच्छ रख कर सुख की नींद मत सो, मन की शुद्धि में प्रवृत्त हो।

उजल कपड़ा पहरि करि, पान सुपारी खांहि।
एकै हरि का नांव बिन, बाँधे जमपुरि जांहि ॥५४॥

चाहे कोई कितना ही उज्ज्वल परिधान धारण कर, पान सुपारी खाकर साज-सज्जा करे, इससे मुक्ति सम्भव नहीं। एक प्रभु के नाम-स्मरण के अभाव में मनुष्य यमपुरी की यातना को भोगते हैं।

तेरा संगी को नहीं, सब स्वारथ बंधी लोइ।
मनि परतीति न ऊपजै, जीव बेसास न होइ ॥५५॥

शब्दार्थ—बंधी=बंधे हुए। लोइ=लोग।

हे जीवात्मा ! सब सांसारिक सम्बन्धी स्वार्थ के कारण तुझसे सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं, तेरा वास्तविक साथी-मित्र, सम्बन्धी—इनमें कोई नहीं। जब तक मन में प्रभु-प्रेम उत्पन्न नहीं होता, तब तक जीव को अपनी मुक्ति का विश्वास नहीं होता।

माँइ बिड़ाणी बाप बिड़, हम भी मंझि बिड़ांह।
दरिया केरी नाव ज्यूं संजोगे मिलियांह ॥५६॥

शब्दार्थ—बिड़ाणी=विनष्ट होने वाली। बाप बिड़=पिता भी नष्ट होने वाला।

कबीरदास कहते हैं कि मनुष्य ! तू संसार के माया-मोह में मत पड़; क्योंकि यह मिथ्या है। यहाँ माता, पिता, आदि के जो सम्बन्ध हैं वे सब नष्ट होने वाले हैं और हम भी इस भव-सागर के मध्य ही नष्ट हो जायेंगे। हम सब एक जगह एकत्रित हुए हैं यह तो उसी प्रकार का आकस्मिक संयोग है जैसे नदी के बीच तैरती नौका में कोई कहीं से कोई कहीं से आकर कुछ क्षण के लिए मिल जाता है और (जीवन) धारा के समाप्त होते ही सब अलग-अलग हो जाते हैं।

अलंकार— उपमा।

इत प्रघर उत घर, बणजण आये हाट।
करम किरांणां बेचि करि, उठि न लागे बाट ॥५७॥

शब्दार्थ—प्रघर=घर पर, परदेश। बणजण=व्यापार।

जीवात्मा कहती है कि यह संसार तो हमारे लिए परदेश है, हमारा वास्तविक घर तो ब्रह्म के पास ही है। इस संसार (परदेश) में तो हम उसी प्रकार कर्म का व्यापार करने आये हैं जैसे कोई सौदागर दूसरे देश में अपना सामान बेचकर लौट जाता है। इसलिए इस कर्म के क्रय-विक्रय व्यापार को शीघ्र समाप्त कर अपने घर के मार्ग में प्रवृत्त क्यों नहीं होते।

नांन्हां काती चित्त दे, महँगे मोलि बिकाइ।
गाहक ताजा राम है, और न नेड़ा आइ ॥५८॥

शब्दार्थ—नांन्हां काती=बारीक सूत कातने वाली, सुन्दर कर्म ही बारीक सूत हैं।

हे जीवात्मा ! तू नन्हा, बारीक, सुन्दर सूत कात, अर्थात् शुभ कर्म कर; क्योंकि वह अच्छे दामों में बिकता है। शुभ कर्मों का फल अच्छा मिलता है। इस शुभ कर्म रूपी सुन्दर सूत के एकमात्र ग्राहक राजा राम ही हैं, अन्य कोई इस शुभ-कर्म-राशि को विकृत करने के लिए पास भी नहीं आ सकता।

डागल उपरि दौड़णां, सुख नींदड़ी न सोइ ।
पुनैं पाये द्यौंहड़े, ओछी ठौर न कोइ ॥५९॥

शब्दार्थ—डागल = ऊबड़-खाबड़ भूमि, साधना की विकट वनस्थली। द्यौंहड़े=देवालय, पंचभूतों से निर्मित मानव शरीर से तात्पर्य है।

हे मनुष्य ! तुझको सावना की विकट वनस्थली पर दौड़ना है जो सुगम नहीं है, इसलिए तू सुख-निद्रा में अचेत मत रह, सावधान होकर प्रभु भक्ति में प्रवृत्त हो। सुकृतों के बदले में तुझे यह देवालय के समान सुन्दर शरीर (जीवन से तात्पर्य है) प्राप्त हुआ है। प्रभु-भक्ति विना इसे व्यर्थ नष्ट मत होने दे।

मैं मैं बड़ी बलाइ है, सकै तौ निकसी भाजि ।
कब लग राखौं हे सखी, रूई पलेटी आगि ॥६०॥

शब्दार्थ—मैं मैं=अहं। वलाइ=वला, आफत, यहाँ पाप या बीमारी के अर्थ में प्रयोग किया है।

अहं एक बहुत बड़ा रोग है जो मनुष्य को नाश की ओर ले जाता है। इसे दूर किया जा सकता है, अतः शीघ्रातिशीघ्र इसका परित्याग कर दो अन्यथा यह नाश करके रहेगा। रुई में लिपटी हुई अग्नि कुछ समय ही तक शान्त रह सकती है, अन्ततः तो वह लपटों में परिवर्तित होकर सर्वस्व भस्मसात् कर देगी। इसी प्रकार यह अहं अधिक समय तक अपने विषाक्त प्रभाव को नहीं रोक सकता।

विशेष—उपमा अलंकार।

मैं मैं मेरी जिनि करैं, मेरी मूल बिनास ।
मेरी पग का पैषड़ा, मेरी गल की पास ॥६१॥

शब्दार्थ—विनास=विनास। पैंषड़ा=बंधन। पास=पाश, फाँसी का फंद।

हे मनुष्य ! मैं-मैं अर्थात् अहं का दर्प क्यों प्रदर्शित करता है। यह अहं तो विनाश का मूल कारण है। यही अहं पैरों में पड़े हुए बंधन और गले में पड़े हुए फाँसी के फन्द के समान हैं जो मृत्यु प्रदान करते हैं।

कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवणहार ।
हलके हलके तिरि गये, बूड़े तिनि सिर भार ॥६२॥२६२॥

शब्दार्थ—कूड़े=रद्दी, बेकार। हलके-हलके=शुद्ध आत्मा वाले। बूड़े= डूब गये।

कबीर कहते हैं कि यह जीवन नौका बड़ी जर्जर है और इसका मल्लाह (जिनसे यह चालित है) भी बेकार है। ऐसी अवस्था में इस संसार सागर से वे ही पार पा सके जो पाप का बोझ न होने कारण शुद्ध आत्मा थे और जिनकी आत्मा पाप बोझ से लदी थी, वे डूब गये।

विशेष—कबीर की यह तुलना बड़ी समीचीन है, क्योंकि पानी में हल्की वस्तु तैर जाती है और भारी डूब जाती है।

१३. मन कौ अंग

अंग-परिचय—मन की दृढ़ता पर ही साधना की सफलता आधारित होती है। मन अत्यन्त चंचल होता है, इसीलिए इसको वश में किये बिना किसी भी प्रकार की साधना में सफलता मिलनी कठिन है। अतः प्रस्तुत अंग में कबीर ने मन की चंचलता का अनेक प्रकार से वर्णन करते हुए बताया है कि मन बहुत चंचल होता है, इसीलिये मनुष्य को कभी भी इसके वश में नहीं होना चाहिए। मन ही प्रभु-भक्ति में सबसे प्रबल बाधक होता है। साथ ही यह बहुत आडम्बरी भी होता है। देखने में तो ऐसा लगता है जैसे यह प्रभु की भक्ति कर रहा हो, किन्तु वास्तव में यह माया-जनित आकर्षणों की ओर दौड़ रहा होता है। जो व्यक्ति अपने मन को नहीं मारता; अर्थात् इस पर नियन्त्रण नहीं करता, उसे बाद में अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं और अपने कर्मों पर पछताना पड़ता है। प्रभु-प्राप्ति का सबसे सरल मार्ग यही है कि पहले मन को वश में कर लिया जाये क्योंकि मन सत्य और असत्य का विवेक रखते हुए भी असत्य मार्ग पर चला करता है और यह बड़े दुःख की बात है क्योंकि यदि हाथ में जलते हुए दीपक को लिये हुए कोई व्यक्ति कुँए में गिर जाये तो इससे अधिक दुःख की बात और क्या हो सकती है ?

चंचलता के अतिरिक्त द्विविधा भी मन का एक कर्म है। जब तक मन में द्विविधा बनी रहती है, तब तक कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। हृदय के भीतर आत्मा का दर्पण होते हुए भी उसमें ब्रह्म दिखाई नहीं देता। इस द्विविधा को समाप्त करने का एक ही मार्ग है और वह यह है कि इसका पूर्ण प्रेम प्रभु के प्रति समर्पित कर दिया जाये। इसी प्रेम के कारण मन सांसारिक विषयों से उदासीन हो जाता है और यही उदासीनता प्रभु-भक्ति का कारण बनती है। यदि मन चंचल न हो तो यह सहज ही मनुष्य को परम पद पर पहुँचा देता है, और यही इस चराचर का कर्ता, नियामक तथा ब्रह्म बन सकता है। मन पानी से भी पतला, धुएँ से भी अधिक फीका और पवन की गति से भी तेज चलने वाला होता है। यदि मनुष्य इसको अपने वश में नहीं करता तो यह मनुष्य को अपने वश में करके उसे सांसारिक विषय-विकारों के गहरे कूप में इस प्रकार डाल देता है कि उसका फिर उस कूप से निकलना मुश्किल होता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि मस्त हाथी के समान झूमने वाले इस मन को संयम का अंकुश लगा-लगाकर अपने वश में किया जाये, पाँचों तत्त्वों के बाण चढ़ाकर तथा शरीर-रूपी धनुष कसकर मन रूपी मृग का वध किया जाये।

मन कै मतै न चालिये, छांडि जीव की बांणि।
ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूठा आंणि ॥१॥

शब्दार्थ—मतै = मत के अनुसार, इच्छानुसार। बांणि = बान, आदत, टेव। ताकू = तकुआ, चरखे में सूत कातने की लौहशलाका। अपूठा = कच्चा।

कबीरदास जी कहते हैं कि हे जीव ! तू मन की इच्छानुसार न चल मन का,

अनुगामी मत बन; क्योंकि वह तो सर्वदा विषय-वासना में संलिप्त रहता है। मन की इस माया में ही लिप्त रहने की यह आदत छुड़ा दे। जिस प्रकार तकुए पर चढ़े कच्चे सूत को खींच कर उसके केन्द्र स्थल या लक्ष्य पिंदिया पर ही चढ़ा दिया जाता है, उसी प्रकार प्रभु भक्ति में अपरिपक्व इस मन को ब्रह्म में लगा दो।

विशेष—उपमा अलंकार।

चिंता चिंति निवारिये, फिरि बूझिये न कोइ।
इंद्री पसर मिटाइये, सहजि मिलैगा सोइ ॥२॥

शब्दार्थ—चिन्ता = सांसारिक चिन्ताएं। सहजि = आसानी से।

सांसारिक चिन्ताओं को मन से निकाल कर तथा इन्द्रियों का विविध विषयों में जो प्रसार है उसे समाप्त कर देने से ही प्रभु-भक्ति का मार्ग खुल जायगा। तब किसी से ब्रह्म-प्राप्ति का उपाय पूछने की आवश्यकता नहीं; वह स्वयं ही, अनायास ही प्राप्त हो जाएगा।

आसा का ईंधण करूँ, मनसा करूं बिभूति।
जोगी फेरी फिल करौं, यौं बिनना वैं सूति ॥३॥

शब्दार्थ—ईंधण = जलाने का सामान—लकड़ी आदि।

सांसारिक आशाओं का ईंधन कर मन को जलाकर क्षार में परिवर्तित कर दूं; अर्थात् मन को कामना रहित कर दूं। फिर संसार से विरक्त हो योगी के समान प्रभु की खोज में चक्कर काटता रहूँ। इस प्रकार इस कर्म सूत को कात कर ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है।

कबीर सेरी सांकड़ी, चंचल मनवां चोर।
गुण गावैं लैलीन होइ, कछू एक मन मैं और ॥४॥

शब्दार्थ—सेरी = मार्ग। सांकड़ी = सांकरी, कम चौड़ी। लैलीन = तल्लीन।

कबीर कहते हैं कि प्रभु प्राप्ति का मार्ग बड़ा संकीर्ण है और यह मन, जो साधना का मूलाधार है, चंचल और चोर के समान लोभी वृत्ति का है। यह कपटी मन प्रत्यक्ष में तो लगता है कि प्रेममग्न होकर प्रभु का गुणगान कर रहा है, किन्तु इसके भीतर माया-जनित आकर्षणों को प्राप्त करने की इच्छाएं घर किए हुए हैं।

कबीर मारूँ मन कूं, टूक टूक ह्वै जाइ।
विष की क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछताइ ॥५॥

शब्दार्थ—क्यारी = फसल से तात्पर्य है। लुणत = काट कर।

कबीर कहते हैं कि इस चंचलवृत्ति मन को इतना मारूंगा कि यह टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। पहले तो इसने विषय-वासना के विष की फसल बो दी। अब उसे काटने में पछताता है। अपने कुकर्मों का फल तो भोगना ही पड़ेगा।

इस मन कौ बिसमल करौं, दीठा करौं अदीठ।
जे सिर राखौं आपड़ा, तौ पर सिरिज अंगीठ ॥६॥

शब्दार्थ—बिसमिल = अधमरा, सांसारिक विषयों की चेतना से रहित। दीठ

करौं अदीठ=उस अदृश्य, निराकर ब्रह्म का दर्शन करूं।

कबीर कहते हैं कि इस मन को अधमरा कर, सांसारिक विषयों से उपराम कर मैं उस निराकर परमात्मा के दर्शन करूँगा। यदि मैंने साधना में अपना शीश समपर्ण नहीं किया तो इस सिर पर (नरक-यातना) अंगीठी की आग पटकी जाये।

विशेष—सभंगपद यमक अलंकार।

मन जांणै सब बात, जाणत ही औगुण करै।
काहे की कुसलात, कर दीपक कूंवै पड़ै ॥७॥

शब्दार्थ—जाणत=जानना। कूंवै=कुएँ में।

मन सदसद् विवेक को रखते हुए भी अवगुण, पाप कर्म, करता है। जानते हुए भी बुराई या पाप करना अत्यन्त शोचनीय है। यदि कोई पंथ प्रशस्त करने वाला दीपक हाथ में लेकर चलने पर भी कुएँ में गिर पड़े तो इससे भी अधिक दुःख की क्या वात होगी ?

हिरदा भीतरि आरसी, मुख देषणां न जाइ।
मुख तौ तौपरि देखिए, जे मन की दुविधा जाइ ॥८॥

शब्दार्थ—आरसी=दर्पण।

हृदय के भीतर ही आत्मा का दर्पण है, किन्तु उसमें ब्रह्म का मुख दिखाई नहीं देता। दर्पण में मुख तो तभी देखाई दे सकता, जब दर्पण स्थिर हो, किन्तु चंचल मन उस आत्मा के निर्मल शीशे को स्थिर नहीं रहने देता, इसीलिए ब्रह्म का मुख उस आत्मा के दर्पण में दृष्टिगत नहीं होता। यदि मन सांसारिक विषयों में अपने चांचल्य का परित्याग कर दे तो ब्रह्म का दर्शन सम्भव है।

मन दीयाँ मन पाइए, मन बिन मन नहीं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ ॥९॥

शब्दार्थ—मन=मन। मन पाइये=प्रभु कृपा प्राप्ति। मन बिन=संसार में मन बिना अर्थात् संसार से उपराम। अनल=अग्नि, निरंजन ज्योति। अकांसा=शून्य प्रदेश।

प्रभु को अपने मन का प्रेम देकर ही उनकी कृपा प्राप्त की जा सकती है। संसार से उपराम हुए व्यक्ति का चित्त ही प्रभु-भक्ति में प्रवृत्त होता है। संसार से उपराम मन (जिसे योगसाधना में उन्मनी अवस्था कहते हैं) उस सृष्टि के समान है जिसके आकाश में अग्नि अर्थात् निरंजन ज्योति के दर्शन होते हैं।

विशेष—यमक अलंकार।

मन गोरख मन गोविंदौ, मन हीं औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपैं करता सोइ ॥१०॥

शब्दार्थ—गोरख=नाथ-पन्थ के नौ नाथों में प्रमुख एक नाथ एवं तान्त्रिक गोरखनाथ। गोबिन्दौ=प्रभु से तात्पर्य है। औघड़=एक प्रकार के साधु।

व्यक्ति का मन स्वयं ही गोरखनाथ अर्थात् महान् सन्त, गोविद एवं औघड़

साधु है। भाव यह है कि वही इन पदों पर पहुँचाने वाला है। यदि मन को प्रयत्न-पूर्वक वश में रखा जाये तो यही इस चराचर का कर्त्ता, नियामक ब्रह्म बन सकता है।

एक ज दोसत हम किया, जिस गलि लाल कबाइ।
सब जग धोबी धोइ मरै; तौ भी रंग न जाय ॥११॥

शब्दार्थ—दोसत=मित्र। गलि=कण्ठ में। कबाई=कपड़ा, वस्त्र।

कबीर कहते हैं कि हमने मन को ऐसा मित्र बना लिया है कि जिसके गले में प्रभु-प्रेम से परिपूर्ण लाल वस्त्र सुशोभित हैं। इस प्रेम-पूर्ण वस्त्र का रंग इतना गाढ़ा है कि यदि समस्त संसार के धोबी इसे धोने के प्रयत्न में अपना जीवन समाप्त कर दें तो भी उसका प्रेम रंग दूर नहीं हो सकता।

विशेष—'जिस गलि लाल कबाइ' में वस्त्र का रंग लाल इसलिए बताया कि यह लाल रंग प्रेम-सूचक है।

पांणीं हीं तैं पातला, धूंवां ही तैं झीण।
पवनां बेगि उतावला, सो दोसत कबीरै कीन्ह ॥१२॥

शब्दार्थ—पांणी=जल। पातला=पतला। पवनां=वायु। उतावला=तीव्र।

कबीर कहते हैं कि जो मन पानी से भी पतला, धूएँ से भी अधिक झीना, पवन की गति से भी तीव्र है उसे मैंने अपना मित्र बना लिया है। भाव यह है कि अब मन उनके कहने में है, वश में है।

कबीर तुरी पलांणियां, चाबक लीया हाथि।
दिवस थकां साईं मिलौं, पीछैं पड़िहै राति ॥१३॥

शब्दार्थ—तुरी=घोड़ा। राति=रात्रि, मृत्यु की अचेतनावस्था।

कबीर कहते हैं कि मैंने मन रूपी घोड़े को अपने वश में कर, आगामी आकांक्षाओं के लिये संयम कोड़ा हाथ में ले लिया है। अब मैं चाहता हूँ कि जीवन-रूपी दिवस के अवसान से पूर्व ही परमात्मा के दर्शन कर लूँ, अन्यथा फिर मृत्यु रूपी रात्रि आकर मुझे अचेतावस्था में डाल देगी।

मनवा तौ अधर बस्या, बहुतक झींणां होइ।
आलोकत सचु पाइया, कबहूँ न न्यारा सोइ ॥१४॥

शब्दार्थ—अधर=निराधार। सचु=सत्य ब्रह्म।

यह अत्यन्त झीना मन संसार से विलग होकर रह रहा है। ज्ञान के प्रकाश से उसे सत्य स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति हो गई है, अब यह उनसे कभी विलग नहीं हो सकता।

मन न मार्‌या मन करि, सके न पंच प्रहारि।
सील साच सरया नहीं, इंद्री अजहूं उघारि ॥१५॥

शब्दार्थ—मन करि=संकल्प सहित। पंच=काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह।

हे मानव ! तूने संकल्पपूर्वक मन को नहीं मारा, इसी कारण तू काम, क्रोध मद, लोभ, मोह को नष्ट नहीं कर सका। इस मन के अधःपतन से ही तेरे अन्दर शील, सत्य और श्रद्धा आदि के सद्गुणों का लोप हो गया है। इन्द्रियों पर अब भी अधिकार कर ले, विषय-प्रसार में इसे प्रवृत्त मत होने दे—तभी कल्याण हो सकता है।

विशेष—अनुप्रास अलंकार।

कबीर मन बिकरै पड़्या, गया स्वाद कै साथि।
गलका खाया बरजता, अब क्यूं आवै हाथि॥१६॥

शब्दार्थ—विकरै=विकारों में। बरजता=वर्जित करता।

कबीर कहते हैं मन सांसारिक विषय-वासनाओं के विकारों में पड़ गया है। वह तो इन्द्रिय-जनित आनन्दोल्लास में ही लग गया है। भला अब उसे कैसे वश में किया जा सकता है। जो खाद्य वस्तु गले तक पहुंच चुकी है उसके लिए मना करने क्या लाभ ? वह तो पेट में ही पहुँचती है, उसका रोकना सामर्थ्य से बाहर है। इसी प्रकार जो मन विषय-वासना के अग्राह्य रसों का पान कर चुका है, अब उसे कैसे वर्जित किया जा सकता है ?

भाव यह है कि मन को विषय-वासनाओं में पहले ही न पड़ने देना चाहिये।

विशेष—निदर्शना अलंकार।

कबीर मन गाफिल भया, सुमरिण लागै नांहि।
घणीं सहैगा सासनां, जम की दरगह मांहि॥१७॥

शब्दार्थ—गाफिल=अचेत। घणीं=अत्यधिक। सांसना=वेदनाएँ, यातनाएँ।

कबीर कहते हैं कि मन सांसारिक विषयोपभोगों के रस में अचेत हो गया है, इसीलिए वह प्रभु नाम-स्मरण में नहीं लगता। उसे अपने इन पापकर्मों का भोग उस समय भोगना पड़ेगा जब यमलोक में जाकर उसे यातनाएँ सहनी पड़ेंगी।

कोटि कर्म पल मैं करैं, बहु मन बिषिया स्वादि।
सतगुर सबद न मानई, जनम गँवाया बादि॥१८॥

शब्दार्थ—सबद=शब्द, यहाँ उपदेश से तात्पर्य है। बादि=व्यर्थ।

कबीर कहते हैं कि यह मन इन्द्रियों के विषय रस से प्रेरित होकर पल भर में करोड़ो दुष्कृत्य करता है और प्रभु भक्ति में प्रवृत्त करने वाले सद्गुरु के उपदेश-वचनों का भी यह पालन नहीं करता। अतः इसने अपना जीवन व्यर्थ में नष्ट कर डाला है।

मैमंता मन मारि रे, घटहीं मांहैं घेरि।
जबहीं चालै पीठि दे, अंकुस दे दे फेरि॥१९॥

शब्दार्थ—मैमंता=मदमस्त हाथी। घटहीं मांहैं=हृदय के अन्तर से।

हे साधक ! इस मन रूपी मदमस्त हाथी को हृदय के भीतर ही घेरकर

मार दे। जब भी यह किंचित् भी साधना-विमुख हो तो बारम्बार संयम का अंकुश लगाकर इसे उचित पथ पर ले आ।

विशेष—अनुप्रास अलंकार।

मैंमंता मन मारि रे, नांन्हां करि करि पीसि।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीसि॥२०॥

शब्दार्थ—सीसि=शीश, शून्य प्रदेश, ब्रह्माण्ड। सुन्दरी=आत्मा।

हे साधक ! मन रूपी मदमस्त हाथी को मार-मार कर, संयम से वश में कर ले तथा अपने कर्मों के आटे को बारीक अर्थात् सुन्दर पीस। इस उपाय के द्वारा ही ब्रह्माण्ड में परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं जिससे आत्मा प्रसन्न होकर सुख-लाभ करेगी।

कागद केरो नाँव री, पांणी केरी गंग।
कहै कबीर कैसें तिरूं, पंच कुसंगी संग॥२१॥

शब्दार्थ—गंग=सरिता से तात्पर्य है, 'गंगा' नदी विशेष नहीं। पंच=पांचों इन्द्रियां।

यह संसार रूपी सरिता माया जाल से परिपूर्ण है, जिसके भीतर इस जीर्ण शरीर की नौका के द्वारा कैसे तरा जा सकता है ? फिर घात में पाँच चोर—काम, क्रोध, मद, लोह, मोह—लगे हुए हैं। कबीर कहते हैं कि इस कठिन परिस्थिति में मैं कैसे संसार-सरिता को पार करूं ?

विशेष—उपमा अलंकार।

कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता काल्हि।
डूंगरि बूठा मेह ज्यूं, गया निवांणां चालि॥२२॥

शब्दार्थ—डूंगरि=टीला। निवांणां चालि=निम्नगामी होकर।

कबीर कहते हैं कि मेरा जो निर्मल मन कल था वह न जाने अब कहां चला गया है। जिस भाँति टीले पर हुई वर्षा का जल क्षणभर उस पर रुककर निम्नगामी हो चलता है, उसी प्रकार इस मन पर पड़े गुरु के वचनों का प्रभाव केवल क्षणभर के लिए हुआ, फिर वह पतनोन्मुख हो चला।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार।

मृतक कूं धी जौं नहीं, मेरा मन बीहै।
बाजै बाव बिकार की, भी मूवा जीवै॥२३॥

शब्दार्थ—बाव=तन्त्री। विकार=सांसारिक विषय। मूवा=मृतक।

साधक ने अपना मन संयम द्वारा सांसारिक विषयों से मृतक तुल्य उपराम कर लिया है, उसे निर्लेप अवस्था में यह भी पता नहीं कि मेरा मन भी है। भाव यह है कि वह अपने मन के अस्तित्व के विषयों में भी शंकालु हो जाता है। किन्तु यदि सांसारिक विषयों से उपराम इस चित्त के पास रास रंग की तनिक भी आहट पहुँच जाय तो वह पुनः जीवित हो जाता है, फिर पूर्ववत् पाप कर्म करने लगता है।

काटी कूटी मछली, छींकै धरी चहोड़ि।
कोई एक अषिर मन बस्या, दह मैं पड़ी बहोड़ि ॥२४॥

शब्दार्थ—मछली=मन। छींकैं=ब्रह्मरन्ध्र। चहोड़ि=सहेज कर। दह=तालाब, संसार पंक।

साधक ने मन रूपी मछली को काट-कूटकर (संयमित कर) ब्रह्मरन्ध्र या शून्य रूपी छींके में सम्भाल कर रख दिया था, किन्तु संसार की वासनाओं का एक अक्षर भी कान में पड़ते ही वह मन रूपी मछली छींके पर से गिरकर पुन: संसार रूपी तालाब के पंक में आ पड़ी।

कबीर मन पंषी भया, बहुतक चढ़्या अकास।
उहां हीं तै गिरि पड़्या, मन माया के पास ॥२५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि मेरा मन-पक्षी होकर प्रभु-प्राप्ति के मार्ग, शून्य प्रदेश में, बहुत दूर तक चढ़ चुका था। फिर उसी उच्च स्थान (ब्रह्मरन्ध्र) के पास से जो गिरा तो माया के पास ही आकर रम गया। साधनापरक अर्थ वैसा ही है जैसा कि उपर्युक्त 'साखी' में दर्शाया गया है।

भगति दुवारा संकड़ा, राई दसवैं भाइ।
मन तो मैंगल ह्वै रह्यो, क्यूं करि सकै समाइ ॥२६॥

शब्दार्थ—गुवारा=द्वार। संकड़ा=संकीर्ण। भाइ=भाग, अंश। मैंगल=मस्त हाथी।

कबीर कहते हैं कि भक्ति का द्वार अत्यन्त संकीर्ण है। वह राई के दशमांश के बराबर है (राई स्वयं ही बहुत छोटी होती है, उसके भी दशम भाग के बराबर)। मेरा मन मदमस्त हाथी के समान चंचल है, फिर भला उसमें कैसे प्रवेश कर सकता है?

विशेष—'भगति दुवारा संकड़ा' में प्रतीत होता है कि 'भगति' से कबीर का तात्पर्य ब्रह्म से है क्योंकि योग-साधना में यह मान्यता है कि ब्रह्मरन्ध्र में एक बहुत सूक्ष्म राई बराबर बिन्दु होता है, इसी बिन्दु से अमृत का स्रवण माना जाता है। वैसे 'भगति' का अर्थ भक्ति लेने से भी अर्थ हो जाता है।

करता था तौ क्यूं रह्या, अब करि क्यूं पछताय।
बोवै पेड़ बंबूल का, अंब कहां तें खाय ॥२७॥

शब्दार्थ—अंव=आम।

हे मनुष्य! जिस समय तूने ये कुकर्म किये थे उस समय तुझे यह ध्यान क्यों नहीं हुआ कि मुझे ऐसे कर्म नहीं करने चाहिएं। अब उन कर्मों के फलस्वरूप दुःख उठाने पर क्यों पछताता है? तूने अपने कुकर्मों से बबूल वृक्ष बोये थे तो उनका फल शूल ही प्राप्त हो सकते हैं, मधुर रसाल (आम, सुख) कहां से खा सकता है?

विशेष—निदर्शना अलंकार।

काया देवल मन धजा, बिषै लहरि फहराइ।
मन चाल्यां देवल चलै, ताका सरंस जाइ ॥२८॥

शब्दार्थ—देवल = देवालय, मन्दिर। धजा = ध्वजा।

इस शरीर रूपी मन्दिर पर मन की ध्वजा फहरा रही है जो विषयरूपी वायु के संस्पर्श से लहराती है, चालित होती है। जिसका शरीर मन के अनुसार विषयों में प्रवृत्त होने लगे उसका सर्वनाश ही समझिए।

भाव यह है कि जिस प्रकार मन्दिर के ऊपर सर्वोच्च सत्ता ध्वजा की होती है, उसी भाँति शरीर पर मन का अधिकार है। यह मन विषय वासनाओं में शरीर को लगाकर सर्वस्व नाश कर देता है।

विशेष—रूपक अलंकार।

मनह मनोर्थ छाँड़ि दे, तेरा किया न होइ।
पाँणीं मैं घीव नीकसे, तौ रूखा खाइ न कोइ ॥२९॥

शब्दार्थ—मनोर्थ = मनोरथ, महत्वाकांक्षाएँ। घीव = घी।

हे मन! तू अपनी महत्वाकांक्षाएँ छोड़ दे, क्योंकि जो कुछ तू चाहता है वह सब सम्भव नहीं। यदि पानी से घी निकलने लग जाय, तो फिर रूखी रोटियाँ कोई न खाये। सब घी का ही सेवन करें।

विशेष—"पांणीं में घीव नीकसे" के समान तुलसी ने भी "वारि विलोयो" की उपमा दी है।

काया कसूं कमांण ज्यूं, पंचतत्त करि बांण।
मारौं तौ मन मृग कौं, नहीं तौ मिथ्या जांण ॥३०॥२९२॥

शब्दार्थ—पंचतत्त = पंचतत्व, 'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा।'

मैं पाँचों तत्व के बाण चढ़ाकर इस शरीर रूपी धनुष को कस लूंगा। फिर इसके द्वारा यदि मैं मन रूपी चंचल मृग का वध कर दूं तब तो ठीक है अन्यथा मेरे (समस्त) उपदेश को मिथ्या समझना।

विशेष—उपमा अलंकार।

१४. सूषिम मारग कौ अंग

अंग-परिचय—ब्रह्म का प्राप्त करना आसान नहीं है। उसके लिए जो साधना की जाती है, वह भी सूक्ष्म और कठिन होती है। प्रस्तुत अंग में कबीर ने साधना की सूक्ष्मता का वर्णन किया है। इस साधना का मार्ग अत्यन्त अगम्य है, जिसे प्राप्त कर लेना हर व्यक्ति का कार्य नहीं है। जो इसको प्राप्त कर लेते हैं, वे व्यक्ति आवागमन के बंधन से छूटकर ब्रह्मलोक में अपार आनन्द का भोग करते हैं। जो व्यक्ति सांसारिक प्रलोभनों में फँसे हुए होते हैं, वे तो यह भी नहीं जानते कि इस मार्ग का स्वरूप क्या है? साधक अत्यन्त प्रयत्न और साधना के साथ इस मार्ग में चलता है, किन्तु उसे हर समय यही आशंका बनी रहती है कि न जाने कब उसका मन भटक जाये और वह अपने मार्ग से च्युत हो जाये। यह मार्ग ज्ञान से गम्य है। जो व्यक्ति बिना ज्ञान का

आलंबन लिए हुए इस मार्ग के छोर तक पहुँच जाना चाहते हैं, वे वस्तुतः मूर्ख हैं और वे केवल सांसारिक यंत्र में फँसने के और कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाते। प्रभु तक जाने का यह मार्ग अत्यन्त कठिन है। विरले ही इसे पार कर पाते हैं। जब साधक अपनी समस्त इन्द्रियों को वश में करके इस मार्ग पर चलता है तो भले ही यह मार्ग अत्यन्त कठिन सही, भले ही इस तक चींटी, राई, पवन और मन की गति न सही, किन्तु साधक इसे पार करके ब्रह्मलोक तक पहुँच ही जाता है। इस मार्ग में ठीक प्रकार से चलने के लिए गुरु का उपदेश आवश्यक है।

कौंण देस कहां आइया, कहु क्यूं जांण्यां जाइ।
उहु मार्ग पावैं नहीं, भूलि पड़ै इस मांहि ॥१॥

शब्दार्थ—उहु मार्ग,=वह मार्ग, ब्रह्म-प्राप्ति का पथ।

आत्मा मूल रूप से शून्य प्रदेश की निवासी है, किन्तु वह यहाँ संसार में आ गयी है, इसी को लक्ष्य कर कबीर कहते हैं कि न जाने किस देश का निवासी यहाँ (संसार में) आ गया है, भला फिर तत्व को किस प्रकार जाना जा सकता है? इस आत्मा को साधना का उपयुक्त मार्ग तो मिल नहीं पा रहा है। अतः यह पथ-विभ्रष्ट हो इस संसार में भटक रही है।

उतीथैं कोई न आवई, जाकूं बूझौं धाइ।
इतथैं सबै पठाइये, भार लदाइ लदाइ ॥२॥

शब्दार्थ—उतीथैं=उधर से। इतथैं=इधर से।

कबीर कहते हैं कि साधना का मार्ग अत्यन्त अगम है, किसी से भी इसका पता नहीं चल पाता क्योंकि जो इसे पार कर लेते हैं वे तो इधर मृत्यु-लोक में लौटते नहीं, शून्य-स्वर्ग में रमे रहते हैं, फिर भला मैं किससे दौड़कर वहाँ का समाचार पूछूँ। मार्ग के ज्ञान के बिना ही सब इधर से व्यर्थ के सम्भार लाद-लाद कर साधना पथ में चले जाते हैं।

सबकूं बूझत मैं फिरौं, रहण कहै नहीं कोइ।
प्रीति न जोड़ी राम सूं, रहण कहां थैं होइ ॥३॥

शब्दार्थ—सरल है।

मैं सबसे यह पूछता फिरता हूँ कि साधना में व्यवहार कैसा है, किन्तु कोई भी उस व्यवहार की स्थिति को नहीं बता पाता। इन सांसारिक मनुष्यों ने प्रभु से प्रेम तो कभी किया नहीं फिर भला ये कैसे इस संसार में रह सकते हैं, शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

चलौं चलौं सबको कहै, मोहि अंदेसा और।
साहिब सूं पर्चा नहीं, ए जांहिगें किस ठौर ॥४॥

शब्दार्थ—अंदेसा=शंका। साहिब=ब्रह्म। पर्चा=परिचय।

कबीर कहते हैं कि समस्त साधक उस अगम्य मार्ग की ओर जाने का संकल्प करते हैं किन्तु मुझे इनकी सफलता में आशंका है। किसी का भी प्रभु से तो परिचय

है नहीं, पता नहीं न जाने किस स्थल पर जाकर ये रुकेंगे अर्थात् व्यर्थ इधर-उधर भटकते रहेंगे।

जाइबे कौं लागा नहीं, रहिबे कौं नहीं ठौर।
कहै कबीरा संत हौ, अबिगति की गति और ॥५॥

शब्दार्थ—जागा नहीं=ज्ञान नेत्र नहीं खोले।

कबीर कहते हैं कि प्रभु के पास जाने के लिए तो मैंने अपने ज्ञान नेत्र, विवेक नेत्र, खोले ही नहीं और इस संसार के विषय-वासना पंक में रहने के लिए स्थान नहीं है। कबीर कहते हैं कि हे साधुजनो! ब्रह्म उससे भिन्न है अथवा ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग उससे भिन्न है जो सामान्य रूप से संसार ने समझ रखा है।

भाव यह है कि साधना-मार्ग में वाह्याडम्बरों की आवश्यकता नहीं।

कबीर मारिग कठिन है, कोई न सकई जाय।
गए ते बहुड़े नही, कुशल कहै को आइ ॥६॥

शब्थार्थ—वहुड़े=लौटे।

कबीरदास जी कहते हैं कि प्रभु तक जाने का मार्ग अत्यन्त कठिन है। कोई वहाँ पहुंच नहीं सकता; और जो वहाँ पहुंच जाते हैं, वे वहां से लौटते नहीं, अतः उस पंथ का विवरण कौन दे? इसीलिये साधना मार्ग की अगम्यता अगम्यता ही बनी हुई है।

विशेष—मलिक मुहम्मद जायसी ने भी 'पद्मावत' के 'पद्मावती-नागमती-विलाप खण्ड' में दिल्ली का वर्णन करते हुए प्रभु-प्राप्ति के मार्ग के विषय में ऐसा ही कहा है—

"सो दिल्ली अस निबुहर देसू। कोई न बहुरा कहै सन्देसू॥
जो गवनैं सो तहाँ का होई। जो आवै किछु जान न सोई॥"

जन कबीर का सिषर घर, बाह सलैली सैल।
दाव न टिकै पपीलका, लोगनि लादे बैठा ॥७॥

शब्दार्थ—जन=दास, भक्त। सिषर=शून्य शिखर, ब्रह्मरन्ध्र। सलैली सल=कीचड़ आदि से दुर्गम पर्वतीय मार्ग।

भक्त कबीर का वास्तविक घर तो शून्य शिखर पर स्थित ब्रह्मरन्ध्र है, जहाँ तक पहुँचने का मार्ग बड़ा ही दुर्गम, बाधाओं के पंक से भरा हुआ है। वहाँ तो चींटी (जीवनमुक्त साधकों) के भी पैर नहीं रुक सकते और यहाँ से लोग पाप कर्मों के बोझ से वैल के समान लद कर साधना-पथ पर चलने को उद्यत हैं।

विशेष—योग-साधना में साधक सुषुम्णा नाड़ी के मध्य में स्थित ब्रह्मनाड़ी के द्वारा कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगामी कर शून्य शिखर पर पहुँचने का प्रयास करता है इसे 'पिपीलिका गति' कहते हैं, जो इस गति को साधता है उसे कबीर नेयहाँ 'चींटी' वताया है।

जहां न चींटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराइ ।
मन पवन का गमि नहीं, तहां पहूँचे जाइ ॥८॥

शब्दार्थ - सरल है ।

कबीर कहते हैं कि जिस शून्य स्थल पर चींटी चढ़ नहीं सकती एवं राई भी वहाँ नहीं ठहर सकती, सर्वगामी और तीव्रगामी पवन तथा मन की भी जहाँ गति नहीं हैं, वहाँ मैं पहुँच चुका हूँ ।

कबीर मारग अगम है, सब मुनिजन बैठे थाकि ।
तहां कबीरा चलि गया, गहि सतगुर की साषि ॥६॥

शब्दार्थ—साषि=सीख, उपदेश ।

कबीर कहते हैं कि ब्रह्म प्राप्ति का जो मार्ग पूर्ण अगम्य है, जिसकी दुर्गमता से मुनिजन भी थककर बैठ गये, वहाँ कबीर सद्गुरु के उपदेश को ग्रहण करके पहुँच गया है ।

सुर नर थाके मुनि जनां, जहां न कोइ जाइ ।
मोटे भाग कबीर के, तहां रहे घर छाइ ॥१०॥३०२॥

शब्दार्थ—मोटे भाग=बड़े भाग्य ।

जिस प्रभु के पास तक पहुँचने में देवता, मुनिगण और मनुष्य असफल हो बैठ रहे, जहाँ कोई भी न जा सका, वहाँ कबीर का स्थायी वास हो गया है—यह उसके लिए बहुत बड़े भाग्य की बात है ।

१५. सूषिम जनम कौ अंग

अंग-परिचय—साधना का मार्ग अत्यन्त कठिन है । जीवात्मा सहजावस्था के इस सूक्ष्म मार्ग का रहस्य सहज ही नहीं जान पाती । इसका रहस्य जान लेने के लिए पहले उसे वह अज्ञान दूर कर देना पड़ता है, जिसके कारण वह संसार को ही सब-कुछ समझ बैठा है । जब जीव इस मार्ग के रहस्य को समझकर इस पर चल देता है तो उसे सफलता मिल जाती है और वह ब्रह्मलोक में पहुँच जाता है । फिर वह जन्म-मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ता, बल्कि वह जीवन्मुक्त हो जाता है ।

कबीर सूषिम सुरति का, जीव न जांणै जाल ।
कहै कबीरा दूरि करि, आतम अदिष्टि काल ॥१॥

शब्दार्थ—सूषिम=सूक्ष्म । जाल=रहस्य ।

कबीर कहते हैं कि जीवात्मा सहजावस्था के सूक्ष्म मार्ग का रहस्य नहीं जानती । अतः हे जीव ! अपनी आत्मा का यह अज्ञान दूर कर, जिसके कारण तू इस संसार को ही सत्य समझ बैठा है, तभी तुझे उस मार्ग का ज्ञान हो सकता है ।

विशेष—यहाँ 'सुरति' का तात्पर्य 'सहजावस्था' से ही है, नाड़ी विशेष से नहीं । कबीर के समय तक बहुत से साधनापरक शब्दों के अर्थ परिवर्तित हो चुके थे, अतः उन्होंने कहीं किसी शब्द को किसी अर्थ में तो कहीं दूसरे अर्थ में प्रयुक्त किया है ।

प्रांण पंड कौं तजि चलै, मूवा कहै सब कोइ ।
जीव छतां जांमैं मरै, सूषिम लखै न कोइ ॥२॥३०४॥

शब्दार्थ—पंड=पिंड, शरीर । मूवा=मर गया । छतां=जीवित रहते हुए भी । सूषित=सूक्ष्म, ब्रह्म ।

प्राण जब शरीर का परित्याग कर देते हैं तो उसे मृतक कहते हैं । जीवात्मा जीवित रहते हुए भी अनेक बार जन्म-मरण में पड़ती है ; अर्थात् साधक जीवित रहते हुए भी संरार से निर्लेप रहकर जीवन्मुक्त हो जाता है । ब्रह्म को कोई नहीं देख पाता ।

विशेष—अन्तिम चरम में ब्रह्म को अप्राप्य बताकर कबीर कोई विरोधाभास उपस्थित नहीं कर रहे हैं, अपितु केवल ब्रह्म-प्राप्ति की कठिनता प्रदर्शित करना चाहते हैं ।

१६. माया कौ अंग

अंग-परिचय—आत्मा और परमात्मा के मिलने में सबसे बड़ी बाधा माया होती है । यह नाना रूप धारण करके मनुष्य को ठगती रहती है और उसे ब्रह्म-प्राप्ति से दूर करती रहती है । प्रस्तुत अंग में कबीर ने माया के विविध रूपों का वर्णन किया है और मनुष्य को चेतावनी दी है कि वह इन रूपों के चक्कर में न में आये ।

कबीर ने माया के विविध रूपों का वर्णन करते हुए बताया है कि यह माया पापिनी सांसारिक आकर्षणों का फंदा अपने हाथ में लिये हुए है और प्रयत्न करने पर मनुष्य को इसमें फँसा लेती है । जिस प्रकार वेश्या का पूर्ण उपभोग कोई भी व्यक्ति नहीं कर पाता, उसी प्रकार माया का पूर्ण उपभोग भी कोई व्यक्ति नहीं कर सकता, क्योंकि इसका कार्य तो मनुष्य को सांसारिक बंधनों में फँसा देना ही है । इस प्रकार यह मनुष्य को प्रभु-भक्ति से विमुख कर देती है और उस पर अपना गहरा और कुप्रभाव डालती है कि उसे कभी भी राम का नाम लेने की सुधि नहीं आती । जो लोग माया के वशीभूत होकर भी प्रभु-भक्ति करना चाहते हैं, वे वास्तव में ढोंगी हैं, क्योंकि ऊपर से तो वे हरि-भक्त दिखाई पड़ते हैं, किन्तु उनके हृदयों में मायाजन्य अनेक प्रकार के विकार भरे हुए होते हैं । इस माया के विषय-चक्कर से वही व्यक्ति बच पाता है, जिस पर गुरु की कृपा होती है और उसी व्यक्ति की यह दासता स्वीकार करती है, अर्थात् उसके वश में रहती है । माया सन्तों की दासी होती है और खड़ी-खड़ी उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करती रहती है । किन्तु वे इसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते, बल्कि इसे लातों से और छड़ियों से मारते रहते हैं ।

माया अमर है और इसके साथी आशा, तृष्णा आदि भी ऊपर हैं । इसीलिए शरीर के नष्ट हो जाने पर भी माया, आशा और तृष्णा नष्ट नहीं होती । तृष्णा के कारण ही लोग धन का संचय करते-करते मर जाते हैं और उसका उपभोग नहीं

कर पाते। वे यह भी नहीं समझ पाते कि धन का प्रयोजन उपयोग करना है, इसका संचय करना नहीं है। क्योंकि धन तो सांसारिक वस्तु है, जो यहीं रह जाता है, कोई भी आज तक इसे अपने साथ नहीं ले गया है।

माया की भाँति तृष्णा भी मनुष्य के मन को विविध प्रकार से भटकाती रहती है। यह उस व्यभिचारिणी स्त्री के समान है जो मनुष्य को सहज ही पथ-भ्रष्ट कर देती है। तृष्णा कभी नष्ट नहीं होती, बल्कि अहर्निश बढ़ती ही जाती है। सभी कभी इसके चक्कर में फँस जाते हैं और हरि से विमुख होकर दम्भी और अहंकारी बन जाते हैं। दम्भ और अहंकार भी मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाले हैं। यदि किसी मनुष्य ने माया का तो परित्याग कर दिया, किन्तु दम्भ और अहंकार से वह विमुक्त नहीं हुआ तो उसके लिये माया का परित्याग भी व्यर्थ है, क्योंकि दम्भ और अहंकार के भाव उसे पतन की ओर ले जाने में सफल हो ही जायेंगे। वास्तविकता तो यह है कि दम्भ और अहंकार माया के ही अन्य रूप हैं, क्योंकि दम्भ के कारण ही मनुष्य राम को तुच्छ समझ कर तथा स्वयं को संसार का स्वामी समझ कर संसार की माया में लिप्त हो जाता है, अर्थात् वह माया के पाश में बँध जाता है।

अन्त में, कबीर मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि माया अनेक रूप धारिणी है। वह नारद आदि महर्षियों को भी जाल में फँसा लेती है, इसलिए मनुष्य को इससे सदैव सतर्क और सावधान रहना रहना चाहिए।

जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया बेसां लाइ।
रामचरन नीकाँ गही, जिनि जाइ जनम ठगाइ ॥१॥

शब्दार्थ—हटवाड़ा=हाट, बाजार। बेसां=वेश्या।

कबीरदास कहते हैं कि संसार एक बाजार है, जिसमें इन्द्रियों के स्वाद रूपी अनेक विषय-वासनाओं के ठग एवं माया रूपी वेश्या जीव को ठगने का, अपने जाल में फंसाने का उपक्रम करते हैं। हे मानव! यदि तुम निष्ठा-पूर्वक प्रभु-आश्रय ग्रहण करोगे, प्रभु भक्ति में प्रवृत्त होंगे, तो तुम्हारा कल्याण हो सकता है, तब ये ठग और माया रूपी वेश्या तुम्हारे जीवन-धन को ठगने में असमर्थ होंगे।

कबीर माया पापणीं, फंध ले बैठी हाटि।
सब जग तौ फंधै पड़्या गया, कबीरा काटि ॥२॥

अलंकार—रूपक।

शब्दार्थ—पापणीं=पापिनी, व्यभिचार, पाप आदि कर्मों में प्रवृत्त होने वाली माया से तात्पर्य है। फंद=जाल, पाश। फंधै=पाश में। काटि=तोड़ना।

कबीर कहते हैं कि माया पापिनी वेश्या है, जो इस संसार के बाजार में अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए पाश लिये हुए हैं। समस्त संसार इस मायापाश में आबद्ध है, किन्तु कबीर (साधुजनों से तात्पर्य है) उसे काट चुका है, अर्थात् प्रभु-भक्ति में ही उसकी रुचि है, माया के विषयों में नहीं।

विशेष—रूपक अलंकार।

कबीर माया पापड़ीं, लालै लाया लोग।
पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै बिजोग ॥३॥

शब्दार्थ—लालै लाया=अपने आकर्षण पाने की लालसा जगाना। इहै=यही।

कबीरदास कहते हैं कि माया पापिनी वेश्या है, जो अपने आकर्षण के द्वारा जीव में विषय-वासनाओं की लालसा जगाती है। जिस प्रकार वेश्या पर (स्वकीया के समान) किसी का अधिकार नहीं होता, और न वह किसी एक की होकर रह पाती है, इसलिए उसका कोई पूर्ण उपभोग नहीं कर पाता उसी भाँति माया के विविध आकर्षणों पर एक व्यक्ति-विशेष का पूर्ण अधिकार नहीं होता, यदि होता भी है तो कुछ समय के लिए। माया के विविध विषयों की अप्राप्ति में ही संसार दुःख (वियोग) भोगता है।

विशेष—रूपक एवं काव्यलिंग अलंकार।

कबीर माया पापणीं हरि सूं करै हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम ॥४॥

शब्दार्थ - हराम=विमुख से तात्पर्य है। कड़ियाली=कड़ी, शृंखला।

कबीरदास जी कहते हैं कि यह माया ऐसी पापिन है कि जीव को प्रभुविमुख कर देती है। यह जीव के मुख से कड़वी वचनावली का निरन्तर उच्चारण कराकर राम-नाम कहने का अवसर नहीं देती।

भाव यह है कि माया प्रभु-भक्ति में बाधक है।

जाणौं हरि कौं भजौं, मो मनि मोटी आस।
हरि बिचि घालै अंतरा, माया बड़ी बिसास ॥५॥

शब्दार्थ— मोटी आस=विषय-वासनाओं की तृष्णा। घालै=डालना। बिसास=विश्वासघातिनी।

प्रत्यक्षतः ऐसा लगता है कि मैं (ढोंगी साधक) प्रभु-भक्ति में तल्लीन हूँ, किन्तु मेरे मन में माया ने विषय-वासनाओं की अदम्य तृष्णा बसा रखी है। यह माया बड़ी विश्वासघातिनी है जो इन विषय-वासनाओं के द्वारा प्रभु और जीव के बीच अन्तर डाल देती है।

विशेष—कबीर ने माया को विश्वासघातिनी इसलिए बताया है कि वह अपने जनक प्रभु से जीव को विमुख करती है।

कबीर माया मोहनी, मोहे जांण सुजांण।
भागां ही छूटै नहीं, भरि भरि मारै बांण ॥६॥

शब्दार्थ—जांण=ज्ञानी। सुजांण=सुजान, चतुर।

कबीर कहते हैं कि माया ऐसी आकर्षक है कि सामान्य मनुष्यों की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े ज्ञानी एवं चतुर भी इसके आकर्षण में सम्मोहित हो गये हैं। यदि

कोई जंजाल से भागकर विमुक्त होना चाहे तो असम्भव है, क्योंकि यह तान-तान कर मोहक बाणों की वर्षा कर व्यक्ति को अपने जाल में फँसा लेती है।

कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खाँड।
सतगुर की कृपा भई, नहीं तो करती भाँड ॥७॥

शब्दार्थ—भाँड=एक जाति विशेष जिसका सामाजिक स्थान अत्यन्त निकृष्ट है। यहाँ नष्ट होने से तात्पर्य है।

कबीर कहते हैं कि माया बड़ी सम्मोहक एवं खांड के समान मीठी है। सद्‌गुरु ने कृपा कर इसके जाल से विमुक्त कर दिया, अन्यथा यह तो मुझे नष्ट करके ही छोड़ती।

विशेष—उपमा अलंकार।

कबीर माया मोहनी, सब जग घाल्या घांणि।
कोई एक जन ऊबरै, जिन तोड़ी कुल की कांणि ॥८॥

शब्दार्थ—घाल्या=अपने चक्र में लपेट लिया। घांणि=घानी, तेली जिस गहरे से पात्र में सरसों आदि डालकर तेल निकालता है उसे घानी कहते हैं, यह काठ की बनी होती है। कुल की कांणि=कुल मर्यादा अर्थात् लोक-परम्परा।

कबीर कहते हैं कि माया बड़ी सम्मोहक है जिसने अपनी घानी में समस्त संसार को डाल रखा है। कोई एकाध व्यक्ति ही, जिसने संसार की स्वाभाविक परम्परा का परित्याग किया हो, इसके जाल से बच पाते हैं।

कबीर माया मोहनी, मांगी मिलै न हाथि।
मनह उतारी झूठ करि, तब लागी डोलै साथि ॥९॥

शब्दार्थ—मनह=मन से।

कबीर कहते हैं कि यह मोहिनी माया माँगने पर, प्रयत्न करने पर, प्राप्त नहीं होती, क्योंकि मायाजन्य आकर्षणों का कितना ही भोग क्यों न किया जाय, फिर भी इन्द्रियाँ अतृप्त रहती हैं। किन्तु जब इसे मिथ्या, भ्रम-मात्र जानकर मन को इसके आकर्षण से पृथक् कर दिया जाय तो यह पीछे-पीछे फिरती है।

भाव यह है कि माया का परित्याग करने में ही अधिक आनन्द एवं मंगल है।

माया दासी सन्त की, ऊंभी देइ असीस।
बिलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस ॥१०॥

शब्दार्थ—ऊंभी=खड़ी-खड़ी, आज्ञा मानने वाली से तात्पर्य है।

कबीर कहते हैं कि माया सन्तों की दासी है जो खड़ी-खड़ी ही उनकी आज्ञा का पालन करती है। वे इसका उपयोग प्रभु को भजते हुए करते हैं और इस पर भी इसे मुँह नहीं लगाते, लातों और छड़ियों की मार से इसकी खबर लेते हैं।

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया शरीर।
आसा त्रिष्णां नाँ मुई, यौं कहि गया कबीर ॥११॥

शब्दार्थ—मुई=मरी, नष्ट हुई।

कबीर कहते हैं कि आवागमन के चक्र में पड़कर शरीर बारम्बार नष्ट हुआ, किन्तु किसी भी जन्म में माया का आकर्षण एवं मन की विषयों के पीछे दौड़ समाप्त न हुई। न कभी सांसारिक कामनाओं एवं तृष्णा का अन्त हुआ।

आसा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ।
सोइ सूबे धन संचते, सो ऊबरे जे खाइ ॥१२॥

शब्दार्थ—आसा=तृष्णा।

संसार का समस्त वैभव आदि समाप्त हो जाता है, किन्तु यह तृष्णा फिर भी जीवित रहती है। मनुष्य आवागमन के चक्र में पड़-पड़ कर बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं, किन्तु फिर भी सांसारिक तृष्णा का अन्त नहीं होता। जिन्होंने इस तृष्णा से प्रचालित हो धन का संचय किया, वे ही इस संसार में नष्ट हुए अथवा आवागमन के चक्र में पड़े। जिन व्यक्तियों ने धन का खूब उपयोग किया, वे मुक्त हो गये।

कबीर सो धन संचिये, जो आगैं कूं होइ।
सीस चड़ायें पोटली, ले जात न देख्या कोइ ॥१३॥

संसार की स्थिति यह है कि मनुष्य अपनी सामान्य, आवश्यक आवश्यकताओं, जिनके अभाव में उसके जीवन का पूर्ण विकास सम्भव नहीं, को काटकर धन-संचय कर अभावों के संसार में जीवन व्यतीत करता है। इसी को लक्ष्य कर कबीर कहते हैं कि धन संचय उसी स्थिति में उपादेय है जबकि आगामी समय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह पर्याप्त हो। व्यर्थ पेट काटकर धन एकत्रित कर उसे सर्वदा अपने साथ लगाये तो फिर सकते हो, किन्तु मृत्यूपरान्त कोई भी इसे ले जाता नहीं देखा गया है।

विशेष—इस साखी का एक दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! सांसारिक धन-संग्रह में क्यों लगा हुआ है, ऐसे धन का संचय कर, ऐसे सुकृत्य कर जो परलोक में भी तेरे काम आ सकें—जिनके बल पर तू मुक्त हो जाय। इस सांसारिक धन की गठरी को मृत्यु के पश्चात् अपने साथ ले जाता कोई नहीं देखा, सब यहां का यहीं रह जाता है।

त्रिया त्रिष्णां पापणीं, तासु प्रीति न जोड़ि।
पैंड़ी चढ़ि पाछां पड़ै, लागै मोटी खोड़ि ॥१४॥

शब्दार्थ—त्रिया स्त्री। पापणीं=पापिनी, वेश्या से तात्पर्य। खोड़ि=अपराध, पाप।

तृष्णा एक व्यभिचारिणी स्त्री है जो मन को विविध विषयों में भटकाती रहती है या विविध विषयों में मन का गमन कराती रहती हैं। हे जीव! तू इससे प्रेम-सम्बन्ध स्थापित मत कर, तू इसके जाल में मत फँस। यह तो पीछे पड़कर जीव को आकर्षित कर लेती है, किन्तु इसके संसर्ग से फिर अनेक पापों का भागी बनना पड़ता है।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

त्रिष्णां सांची नां बुझैं, दिन दिन बधती जाइ।
जवासा के रूष ज्यूं, घण मेहां कुमिलाइ ॥१५॥

शब्दार्थ—बधती = बढ़ती। रूष = वृक्ष। घण = घना, अधिक।

कबीर कहते हैं कि इस सांसारिक तृष्णा रूपी लता को पल्लवित करने से नष्ट नहीं किया जा सकता, उससे तो यह दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। इसका नाश तो प्रभु-भक्ति की अजस्र वर्षा से ही सम्भव है, जिस प्रकार जवासा जितनी अधिक वर्षा होती जाती है उतना ही सूखता जाता है।

विशेष—(१) विभावना अलंकार।

(२) आक और जवास ग्रीष्म में तो हरे रहते हैं, किन्तु वर्षा प्रारम्भ होते ही सूखने लगते हैं। अन्य कवियों ने भी अपनी अनुभूति को आक जवास के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

कबीर चग की को कहैं, भौ जलि बूड़ै दास।
पारब्रह्म पति छाड़ि करि, करैं मानि की आस ॥१६॥

शब्दार्थ—भौ जलि = भव जल, संसार सागर।

कबीर कहते हैं कि सामान्य सांसारिक प्राणियों की कौन कहे, इस संसार-सागर में भक्त जन भी डूब गये, किन्तु भगत तभी डूबते हैं जब वे पारब्रह्म परमेश्वर, स्वामी को भूलकर सांसारिक मान के इच्छुक हो जाते हैं, उनमें अहं आ जाता है।

माया तजी तौ का भया, मानि तजी नहीं जाइ।
मानि बड़े मुनियर मिले, मानि सबनि कौं खाइ ॥१७॥

शब्दार्थ—मुनियर = मुनिवर, श्रेष्ठ मुनिगण। मिले = मिट्टी में मिले, नष्ट हो गये।

हे साधक यदि तू माया से असम्पृक्त हो गया तो कोई विशेष महत्व की बात नहीं। तूने अपने मान, अहं, का तो परित्याग नहीं किया। यही अहं सब नष्ट कर देगा।

रांमहि थोड़ा जांणि करि, दुनियां आगै दीन।
जीवा कौं राजा कहैं, माया के आधीन ॥१८॥

शब्दार्थ—थोरा = हीन।

हे मनुष्य! तूने प्रभु को तुच्छ समझकर संसार को अधिक महत्त्व दिया, संसार में ही उलझा रहा। तू उस जीव को ही वास्तविक राजा, स्वामी समझ बैठा जो मायाधीन होकर वैभवपूर्ण ढंग से रहता है।

रज वीरज की कली, तापरि साज्या रूप।
रांम नांम बिन बूड़िहै, कनक कामणीं कूप ॥१९॥

शब्दार्थ—साज्य = बनाया। बूड़िहै = डूबेगा, नष्ट हो जायेगा।

हे मनुष्य! तू अपने ऊपर क्या गर्व करता है, तू है ही क्या, पुरुष के वीर्य

और स्त्री की रज जैसी वस्तुओं से निर्मित एक कली है जिस पर तूने यह साज-सज्जा का आडम्बर कर रखा है। तू प्रभु-भक्ति बिना स्वर्ण अर्थात् धन और कामिनी रूपी कुएँ में गिरकर नष्ट हो जायेगा।

विशेष—सभंग यमक अलंकार।

माया तरवर त्रिबिध का, सांखा दुख संतान।
सीतलता सपिनै नहीं, फल फीको तनि ताप ॥२०॥

शब्दार्थ—त्रिविध = त्रिगुणात्मक, दैहिक, दैविक, भौतिक सन्तापों से युक्त।

कबीरदास जी कहते हैं कि माया दैहिक, दैविक, भौतिक संतापों से युक्त त्रिगुणात्मक वृक्ष है, दुःख और संताप ही इसकी शाखाएँ हैं। सामान्य वृक्ष की छाया शीतल एवं फल मधुर होता है, किन्तु इस माया-वृक्ष के आश्रय में शीतलता-सुख स्वप्न में भी प्राप्त नहीं और इसका फल फीका है, ये सब अर्थात् छाया और फल शरीर को दुख ही प्रदान करते हैं।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

कबीर माया डाकणीं, सब किसही कौं खाइ।
दांत उपाड़ौं पापणीं, जे सन्तौं नेड़ी जाइ ॥२१॥

शब्दार्थ—डाकणीं = पिशाचिनी। उपाड़ों = उखाड़ूँ। नेड़ी = पास।

कबीर कहते हैं कि यह माया पिशाचिनी है जो संसार के सब ही मनुष्यों को खाती है। यदि यह साधु-जनों के पास भी फटकी तो मैं इस पापिनी के दांत उखाड़ दूंगा, इसे नष्ट कर दूंगा।

नलनी सायर घर किया, दौं लागी बहुतेणि।
जलही माहैं जलि मुई, पूरब जनम लिषेणि ॥२२॥

शब्दार्थ—सायर = सागर, माया। दौं = अग्नि, विभिन्न यातनाएं एवं भवताप

कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार कमलिनी जल में रहती है, उसी भांति आत्मा ने इस संसार (की माया) को अपना निवास-स्थान बना लिया है, किन्तु वहाँ बहुत से दुख एवं संसार ताप उसे दग्ध करने लगे। इस प्रकार यह आत्मा इस संसार रूपी जल में ही रहते हुए जल मरी, नष्ट हो गई। यह आश्चर्यजनक परिणाम उसके पूर्वजन्म के दुष्कृत्यों का ही था।

विशेष—अलंकार—यमक, विरोधाभास एवं रूपकातिशयोक्ति।

कबीर गुण की बादली, तीतरबानीं छांहि।
बाहरि रहे ते ऊबरे, भीगे मन्दिर मांहि ॥२३॥

शब्दार्थ—गुण = सत, रज, तम—त्रिगुण। तीतरबानीं = तीतरवर्णी, तीतर के पंखों के समान छितरी-छितरी सी, किन्तु रंग तीतर के पंखों जैसा नहीं होता, उसके रंग के छितराये होने के ही कारण उसे तीतरबानी कहा जाता है।

कबीर कहते हैं कि यह त्रिगुणात्मक माया की तीतरवर्णी घटा बिना बरसे,

बिना अपने प्रभाव दिखाये नहीं रहती। जो इस घटा की छाया से बाहर रहे, माया-विमुक्त रहे वे मुक्त हो गये, माया उन पर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकी, किन्तु जो शरीर रूपी आवास के अन्दर रहे अर्थात् माया आकर्षणों में ही शरीर को लगा दिया वे भीग गये, माया ने उन पर अपना पूरा प्रभाव कर दिखाया।

विशेष—अलंकार – रूपक, विरोधाभास।

कबीर माया मोह की, भई अँधारी लोइ।
जे सूते ते मुसि लिए, रहे बसत कूं रोइ ॥२४॥

शब्दार्थ – लोइ = (लोयन) नेत्र। सूते = सुषुप्त, अज्ञान-निद्रा में। मुसि = ठग लिये। बसत = वस्तु, सारतत्व, ब्रह्म।

कबीर कहते हैं कि इस माया-मोह के अज्ञान-अंधकार ने नेत्र बन्द कर दिये हैं, उससे उचित पथ नहीं सूझता। जो व्यक्ति इस अज्ञानांधकार की अवस्था में अचेत हो अपने वास्तविक लक्ष्य को भूल जाते हैं, अन्ततः उन्हें सार-तत्व—ब्रह्म—की प्राप्ति के लिए पछताना पड़ता है कि काश! हम भी प्रभु को प्राप्त कर पाते।

संकल ही तै सब लहै, माया इहि संसार।
ते क्यूं छूटैं बापुड़े, बांधे सिरजनहार ॥२५॥

शब्दार्थ—संकल = कुण्डी, जिससे द्वार बन्द होता है, शृंखला। बातुड़े = बेचारे।

समस्त संसार माया की शृंखलाओं में बँधा हुआ है, वे बेचारे जीव किस प्रकार माया-बंधन से विमुक्त हो सकते हैं जो संसारकर्ता ब्रह्म को भी माया-संलिप्त बताते हैं।

बाड़ि चढ़तीं बेलि ज्यूं, उलझी आसा फंध।
तूटै पणि छूटै नहीं, भई म बाचा बंध ॥२६॥

शब्दार्थ—बाड़ि = बाड़, किसी बेल के चढ़ाने के लिए ग्रामों में प्रायः कांटों की एक बाड़ सी लगा देते हैं, यह प्रायः बबूल वृक्ष की शाखाओं को गाड़कर बनायी जाती है। पंध = फंदा। तूटै = टूट। वाचाबन्ध = वचनबद्ध।

यह माया इस संसार रूपी बाड़ के ऊपर चढ़ाई गई एक बेल है जो विविध आशाओं, लालसाओं के फंद में उलझी हुई है; अर्थात जीव को आशा, तृष्णा के फन्द में उलझा लेती है। यदि जीव इससे अपना सम्बन्ध समाप्त कर दे तो भी यह संसार से नहीं छूट सकती जैसे कोई बचनबद्ध व्यक्ति, हानि होने पर भी; अपने बचनों का परित्याग नहीं करता।

विशेष—उपमा रूपक अलंकार।

सब आसण आसा तणां, निर्वति कै को नांहि।
निबरति कै निबहै नहीं, परर्वति परपंच मांहि ॥२७॥

शब्दार्थ—आसण = स्थिति। तणां = नीचे। निर्वति = निवृत्ति। परिर्वति-प्रवृत्ति।

संसार के समस्त प्राणियों पर आशा—लालसा—का प्रभु है, कोई भी इस संसार से निवृत्त नहीं। भला जो व्यक्ति प्रवृत्ति मार्ग के टण्टों में फँसा हुआ है वह निवृत्ति मार्ग का निर्वाह कैसे कर सकता है?

भाव यह है कि संसार से तटस्थ होकर, प्रवृत्ति मार्ग का परित्याग करके ही निवृत्ति वैराग्य (ईश्वर से राग)—उत्पन्न हो सकती है।

कबीर इस संसार का, झूठा माया मोह।
जिहि घरि जिना बंधावणा, तिहि घरि तिता अँदोह ॥२८॥

शब्दार्थ—वंधावणा=आनन्दोल्लास। तिता=उतना ही। अंदोह=दुःख।

कबीर कहते हैं कि संसार का माया-आकर्षण मिथ्या है, यहां तो सर्वत्र दुख ही दुख है। जहां बहुत अधिक आनन्दोल्लास है, अथवा जहाँ जितना अधिक आनन्द-मंगल दिखाई देता है, वहाँ दुख भी उतना ही अधिक है।

माया हमसौं यों कह्या, तू मति दे रे पूठि।
और हमारा हम बलू, गया कबीरा रूठि ॥२९॥

शब्दार्थ—दे रे पूठि=पीठ देना, विमुख होना। हम बलू=अपना बल, आत्मबल।

कबीर कहते हैं कि माया ने मुझ से यह कहा कि तू मुझ से विमुख मत हो—इसीलिए माया ने विविध आकर्षण प्रस्तुत किये; किन्तु यह मेरा आत्मबल है कि मैं माया से अप्रसन्न हो गया, उससे सम्बन्ध विच्छेद कर दिया।

बगली नीर बटालिया, सायर चढ़्या कलंक।
और पखेरू पी गये, हंस न बोवै चंच ॥३०॥

शब्दार्थ—बगली=बगुला, माया से तात्पर्य है। बटालिया=समाप्त कर दिया। सायर=सागर। पखेरू=पक्षी सामान्य, सांसारिक जीव। हंस=मुक्तात्मा।

माया रूपी बगुली ने आत्मा के जल को समाप्त कर दिया, उसका तेज समाप्त कर दिया। इससे वह शरीर रूपी सागर कलंकित हो गया—बहुत से पापों, दोषों का भागी हो गया। अन्य सांसारिक जीव तो इस गन्दे जल को पी गये अर्थात् माया में संलिप्त हो गये, किन्तु जो मुक्तात्मा (हंस) हैं, उन्होंने इस माया जल को छुआ तक नहीं।

विशेष—(१) सांगरूपक, रूपकातिशयोक्ति।

(२) मुक्तात्माओं की इस संसार में स्थिति 'पद्मपत्रमिवाम्भसि' तुल्य मानते हैं।

कबीर माया जिनि मिलै, सौ बरियां दे बांह।
नारद से मुनियर गिले, किसी भरोसौ त्यांह ॥३१॥

शब्दार्थ—गिले=नष्ट कर दिये।

यदि माया अपने शत-शत आकर्षणों से तुझे अपने फन्दे में फँसाना चाहे तो भी तू उसके चक्कर में मत आ। इस माया का क्या भरोसा कि कहां विनाश के गर्त

में डाल दे। ऋषिश्रेष्ठ नारद तक को भी इसने भ्रष्ट कर दिया।

माया की झल जग जल्या, कनक कांमिणीं लागि।
कहु धौं किहि विधि राखिये, रुई पलेटी आगि ॥३२॥३४६॥

शब्दार्थ—झल = अग्नि। पलेटी = लपेटी हुई।

स्वर्ण—धन—और कामिनी की माया—अग्नि में जलकर समस्त जगत् भस्म हो गया, नष्ट हो गया। जिस प्रकार रुई में लपेटी हुई अग्नि अधिक समय तक अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रह सकती, उसी भाँति कनक और कामिनी के संसर्ग में पड़ा मनुष्य अधिक समय तक नहीं टिक सकता, उसका विनाश निश्चित है।

विशेष—निदर्शना अलंकार।

१७. चांणक कौ अंग

अंग परिचय—इस अंग में कबीर ने बताया है कि सांसारिक विकारों में आबद्ध होने के कारण मनुष्य भगवान् से विमुख हो जाता है और अनेक प्रकार की यातनाओं को सहन करता रहता है। भगवान् की भक्ति और सर्वशक्तिमत्ता को भूलकर वह केवल मनुष्य का ही सहारा लेता है, जिसका कोई फल नहीं निकलता, बल्कि सांसारिक दुःख और भी अधिक प्रबल बनकर उसे कष्ट पहुँचाते रहते हैं। वह रात-दिन अपने उदर-पूर्ति के साधनों में ही लगा रहता है और अपना पेट भरने के लिए अच्छे तथा बुरे कर्मों की भी चिन्ता नहीं करता। जिसके कारण उसका पतन हो जाता है। उस समय उसकी स्थिति उस गड़रिये के समान हो जाती है जो भेड़ को लाता तो है ऊन प्राप्त करने के लिए और भेड़ ऊन न देकर उसकी कपास को भी खाने लगती है।

सांसारिक विकारों से दूर रखने के लिए कबीर मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि हे मनुष्य! यह कलियुग बड़ा पापी है। इसके कुप्रभाव से संन्यासियों का बचना भी मुश्किल हो जाता है, वे भी सांसारिक आकर्षणों में फँसकर अपना कर्त्तव्य भूल जाते हैं। अतः तुझे इस कलियुग से बहुत अधिक सावधान और सतर्क रहने की आवश्यकता है। तुझे न तो वेद-शास्त्रों के चक्कर में पड़ना चाहिए और न धार्मिक सम्प्रदाय के बंधनों में। यदि कोई व्यक्ति चारों वेदों का ज्ञाता भी हो जाये, किन्तु उसके मन में हरि के प्रति प्रेम नहीं है, तो उसका सारा ज्ञान बेकार है। इसी प्रकार धार्मिक सम्प्रदाय भी व्यक्ति को पथ-भ्रष्ट करते हैं, उसे मुक्ति का मार्ग नहीं दिखाते क्योंकि धार्मिक सम्प्रदाय में अधिकांशतः वे लोग होते हैं जो आडम्बरी होते हैं। वे पानी को तो छानकर पीते हैं, किन्तु अपने विकारग्रस्त मन को शुद्ध नहीं करते।

कबीर ने धर्म के नाम पर होने वाले आडम्बरों का भी इस अंग में उल्लेख किया है। ज्ञान के दिखावे का खंडन करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि ज्ञान का उपयोग नहीं किया जाता तो वह व्यर्थ है और ऐसा ज्ञानी व्यक्ति उस तोते के समान है जो दूसरों को तो राम का नाम सुनाता है, किन्तु स्वयं राम की भक्ति नहीं करता। इसी प्रकार उन्होंने तीर्थों की भी निंदा की है। तीर्थों के गंदे पानी में स्नान करने से

किसी प्रकार भी मुक्ति संभव नहीं है, यदि मन में राम का वास नहीं है। मोह-ममता भी मुक्ति के प्रबल बाधक तत्व हैं। जो व्यक्ति अपने-पराये के बंधन में बँधे हुए हैं, वे सांसारिक दुःखों में दिन-रात तड़पते रहते हैं। उन्हें मुक्ति की भी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः यदि मनुष्य मुक्ति प्राप्ति करना चाहता है तो उसे बाहरी आडम्बरों का परित्याग करके सच्चे मन से राम की भक्ति करनी चाहिए।

जीव बिलंब्या जीव सौं, अलव न लखिया जाइ।
गोबिंद मिलै न झल बुझै, रही बुझाइ बुझाइ ॥१॥

शब्दार्थ—बिलंब्या=सहारा लिया, आश्रय लिया। अलष=निराकार ब्रह्म। झल=अग्नि, संसार ताप।

मनुष्य मनुष्य का व्यर्थ सहारा लेता है जिसका कोई फल नहीं निकलता। कोई भी उस निराकार ब्रह्म की खोज में तत्पर नहीं होता, जिससे शान्ति-लाभ की आशा है। जब तक प्रभु-मिलन नहीं होगा तब तक सांसारिक तापों का शमन भी असम्भव है—यह बात बारम्बर (कबीर द्वारा) समझ कर कही गई है।

इही उदर कै कारणें, जग जांच्यौ निस जाम।
स्वांमीं-पणौ जु सिर चढ्यो, सर्या न एको काम ॥२॥

शब्दार्थ—स्वामी-पणौं=स्वामित्व, अहंभाव। सर्या=सिद्ध हुआ।

इस पेट के ही कारण मैंने अहर्निश—सर्वदा सांसारिक प्राणियों से भिक्षा माँगी। इस दीनता की स्थिति में भी मैं अपने को सांसारिक वस्तुओं का स्वामी मान बैठा, मुझ में अहंभाव जागृत हो गया जिसके कारण मेरा पतन हुआ। एक भी कार्य सिद्ध न हो सका, न तो लोक में सुखी जीवन व्यतीत किया और न परलोक में सुखी-जीवन प्राप्त हो सकेगा; क्योंक प्रभु-भक्ति तो की ही नहीं।

स्वांमीं हूँणां सोहरा, दोद्धा हूँणां दास।
गाडर आंणीं ऊन कूं, बांधी चरै कपास ॥३॥

शब्दार्थ—हूँणां=होना। सोहरा=सहल, आसान। दोद्धा=दुर्लभ, कठिन। दास=भक्त। गाडर=भेड़।

मनुष्य स्वयं स्वामी होने का दम्भ सरलता से कर सकता है किन्तु भक्त बनना, जिसमें सर्वस्व समर्पण की आवश्यकता है, कठिन है। यदि प्रभु-भक्ति के अन्तर्गत यह भावना बनी रही तो सब व्यर्थ हो जाता है भक्ति ही नहीं रहती, ठाक उसी प्रकार जैसे किसी भेड़ को लाया तो ऊन प्राप्ति के लिए जाय किन्तु वह बँधी हुई ही घर में रखी कपास भी खा जाय।

विशेष—निदर्शना अलंकार।

स्वांमीं हूवा सीतका, पैकाकार पचास।
राम नांम कांठै रह्या, करैं सिषां की आस ॥४॥

शब्दार्थ—सीतका=कणभर, थोड़ी-सी सम्पत्ति। पैकाकार=पैरवीकार, अनुचर। कांठै=कष्ट में। सिषां=शिष्य।

हे मनुष्य ! तू कणभर सम्पत्ति का स्वामी होकर ही दम्भ में भर गया। इसी दर्प—वैभव के प्रदर्शनार्थ तूने पचासों—बहुत से—सेवक रख रखे हैं। हे धूर्त ! कभी तूने हृदय से राम नाम नहीं लिया, केवल मुँह से एकाध बार प्रभु का नामोच्चारण किया उसी से अपने को भक्ति का अधिकारी मान यह कामना करता है कि लोग मेरा शिष्यत्व ग्रहण करें ? कैसा मिथ्या दम्भ है तेरा।

कबीर तष्टा टोकणीं, लीए फिरै सुभाइ।
राम नांम चीन्हैं नहीं, पीतलि ही कै चाइ ॥५॥

शब्दार्थ—तष्टा=तसला। टोकणों=टोकनी—पात्र विशेष। सुभाई=स्वभाव। चाई=चाव, इच्छा।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तू अपनी स्वाभाविक वृत्तियों—भूख की परितृप्ति के लिए यह तसला और टोकनी आदि पात्र, व्यर्थ के उपादान, उठाये-उठाये फिरता है। इस पीतल की (दोनों पात्र प्रायः पीतल के ही होते हैं) को तू ढोये फिरता है, किन्तु राम नाम के बहुमूल्य रत्न को नहीं पहचानता।

भाव यह है कि सांसारिक तृष्णाओं की प्राप्ति में तो अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहा है, प्रभु भक्ति नहीं करता।

कलि का स्वांमीं लोभियां, पीतलि धरी षटाइ।
राज दुवारां यों फिरै, ज्यूं हरिहाई गाइ ॥६॥

शब्दार्थ—लोभिया=लोभी। हरिहाई=हरियाली के लोभ से दूसरे के खेतों में चुगने वाली गाय, जो हटाने पर भी नहीं हटती।

कबीर कहते हैं कि इस कलियुग में स्वामी और संन्यासी लोभी हैं। उनकी बाह्य विरक्तता उसी प्रकार अवास्तविक है जैसे पीतल खटाई से चमका देने पर क्षणिक समय के लिए चमकीला हो जाता है। भीतर से उसका हृदय लोभासक्त है। वे लोभ से वशीभूत हो वैभवशाली द्वारों पर इसी प्रकार टूटते हैं या बार-बार आते हैं जैसे हरियाली के लोभ में पड़ी हुई गाय दूसरे के खेत में बार-बार हटाने पर भी आ जाती है।

विशेष—उपमा अलंकार।

कलि का स्वांमीं लोभिया, मनसा धरी बधाइ।
दैंहि पईसा ब्याज कौं, लेखां करतां जाइ ॥७॥

शब्दार्थ—मनसा=इच्छाएँ, अभिलाषाएँ।

कलियुग का संन्यासी बड़ा लोभी है जिसने अपनी इच्छाओं का अत्यधिक विस्तार कर रखा है। उनकी स्थिति यहाँ तक गिरी हुई है कि रुपया-पैसा ब्याज पर देकर पोथियों में उसके ब्याज का लेखा-जोखा करते रहते हैं, फिर भला संन्यास कैसा ?

कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोइ।
लालच लोभी मसकरा, तिनकूं आवर होइ ॥८॥

शब्दार्थ—मुनियर = मुनिवर। मसमरा = मसकरा, विदूषक।

कबीर कहते हैं कि आज कलिकाल में कैसा बुरा समय आ गया है कि श्रेष्ठ मुनिगण, त्यागी, संन्यासी, मिलते ही नहीं। आज समाज में धन के लोभी विविध तृष्णाओं के लालच में पड़े हुए एवं अपनी हाव-भाव-क्रीड़ा से दूसरों को रिझाने वाले साधुओं का ही सम्मान रह गया है।

विशेष - कबीर ने प्रस्तुत साखी के माध्यम से अपने समय के ढोंगी साधुओं पर करारा व्यंग्य किया है।

चारिउँ बेद पढ़ाइ करि, हरि सूं न लाया हेत।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूंढै खेत ॥९॥

शब्दार्थ—बालि = बाल, गेहूँ, जौ आदि के ऊपर आने वाली दानों की मंजरी।

हे साधु! तू चारों वेद पढ़कर भी प्रभु से प्रेम न कर सका। इस संसार का सार तत्व प्रभु-भजन, जो किसी खेत में बाल के समान था, जो कबीर ले गया अब तत्वदर्शी पौराणिक तो प्रभु रूपी उस अमूल्य बाल के लिए संसार (खेत) में भटक रहा है।

बांह्मण गुरू जगत का, साधूं का गुरु नांहि।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिऊं बेदां मांहि ॥१०॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि तत्वदर्शी पौराणिक ब्राह्मण चाहे समस्त संसार का गुरु हो, वह साधु का गुरु नहीं हो सकता; क्योंकि उसे प्रेम-दृष्टि प्राप्त है। वह बेचारा ब्राह्मण तो चारों वेदों की भूलभुलैया में ही भटककर अपना जीवन व्यर्थ नष्ट कर रहा है।

साषित सण का जेवड़ा, भीगां सूं कठठाइ।
दोइ अषिर गुरु बाहिरा, बाध्या जमपुरि जाइ ॥११॥

शब्दार्थ—साषित = शाक्त। जेवड़ा = रस्सी। कठठाइ = कड़ी होना।

कबीर कहते हैं कि शाक्त तो सन की रस्सी के समान है जो इस संसार के विषय-भोगों में लिप्त होकर माया बन्धनों में अधिकाधिक जकड़ा जाता है। वह प्रभु के नाम और गुरु कृपा के बिना यमपुरी को बांध कर ले जाया जाता है।

विशेष—कबीर शाक्तों के कट्टर विरोधी हैं, इसकी पुष्टि प्रस्तुत साखी से भली-भाँति हो रही है।

पाड़ोसी सू रूसणां, तिल तिल सुख की हांणि।
पंडित भये सरावगी, पाणी पीवें छांणि ॥१२॥

शब्दार्थ—पड़ोसी = पड़ौसी। रूसणां = रूठना। सरावगी = जैन साधु।

कबीर कहते हैं कि बाह्याचारी साधुओं के ढकोसले तो देखो कि जैन-सम्प्रदाय

में दीक्षित होने पर जीव-हित के विचार से पानी तक भी छानकर पीते हैं और दूसरी ओर अपने पड़ौसी तक से लड़कर अपना जीवन कटुमय बना लेते हैं जिससे प्रतिक्षण सुख की समाप्ति होती चली जाती है।

पंडित सेती कहि रह्या, भीतरि भेद्या नांहि।
औरूं कौं परमोधतां, गया मुहरकां मांहि ॥१३॥

शब्दार्थ—सेती=श्वेती, श्वेत वस्त्रधारी। भेद्या=भेदन करना, प्रविष्ट होना। परमोधतां=प्रबोध देते हुए। मुहरकां=वध स्थान।

श्वेत वस्त्रधारी पण्डित पोथी-पत्रों के ज्ञान का कथन ही कर रहा है, उस ज्ञान ने उसके अंतस्तल में प्रवेश नहीं किया जिससे वह स्वयं-कथित मार्ग का भी अनुसरण कर सकता। यह ढोंगी, बाह्य-ज्ञान से लदा पण्डित दूसरों को तो पाप से बचने का उपदेश देता रहा, किन्तु स्वयं घोर पाप करता रहा।

चतुराई सूव पढ़ी, सोव पंजर मांहि।
फिरि प्रमोधै आंन कौं, आपण समझै नांहि ॥१४॥

शब्दार्थ—पंजर=पिंजड़ा। प्रमोधै=उपदेश देना।

कबीर बाह्य थोथे ज्ञान की निस्सारता पर व्यंग्य करते कहते हैं कि हे पंडित! यदि तू पोथियों का ज्ञान बटोर कर उसका कथन करता फिरता है और उस पर आचरण नहीं करता तो इसमें कौन-सी बड़ी बात है? ऐसा ज्ञान तो लोह-पिंजर में बन्द तोते को भी होता है जो दूसरों को बार-बार राम नाम सुनाता है, किन्तु स्वयं भक्ति का, राम नाम का मर्म नहीं समझता।

रासि पराई राषतां, खाया घर का खेत।
औरों कौं प्रमोधतां, मुख मैं पड़िया रेत ॥१५॥

शब्दार्थ—रासि=अन्न की ढेरी।

पौराणिक पण्डित पर, जो दूसरों को उपदेश देता फिरता है और स्वयं उपदेशित मार्ग पर नहीं चलता, व्यंग्य करते हुए कबीर कहते हैं कि उसकी दशा ऐसे कृषक के समान है जो अपना खेत लापरवाही से पशुओं से उजड़वा देता है और फिर दूसरे की अन्न-राशि की रखवाली करके ही कुछ अन्न प्राप्त करना चाहता है। वह दूसरों को ही शिक्षा देता हुआ अपना जीवन नष्ट कर लेता है।

विशेष—उपमा अलंकार।

तारा मंडल बैसि करि, चन्द बड़ाई खाइ।
उदै भया जब सूर का, स्यूं तारां छिपि जाइ ॥१६॥

शब्दार्थ—सरल है।

ढोंगी अल्पज्ञ पण्डित अज्ञानांधकार में पड़े हुए मनुष्यों के सम्मुख ही अपनी ज्ञान-गठरी खोलकर सम्मान प्राप्त करता है किन्तु जब कोई ज्ञानी मनुष्य सम्मुख आ जाता है तो छिप जाता है, उनके सम्मुख यह बोल भी नहीं सकता। इसकी स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे चन्द्रमा नक्षत्र-मण्डल में अपनी प्रभा विकीर्ण कर प्रशंसा

प्राप्त करता है किन्तु जब प्रातःकाल में तेजपुंज सूर्य—वास्तविक प्रकाश—का उदय होता है तो वह नक्षत्रों सहित छिप जाता है।

विशेष—उपमा अलंकार।

देषण के सबको भले, जिसे सीत के कोज।
रवि कै उदै न दीसहीं, बँधै न जल को पोट ॥१७॥

शब्दार्थ—देषण=देखने में। सीत=शीत, यहाँ बर्फ से तात्पर्य है। उदै=उदित होने पर। दीसहीं=दृष्टिपात होना। पोट=गठरी।

ये ढोंगी, बाह्याडम्बरी पण्डित देखने में तो बड़े भले लगते हैं क्योंकि अज्ञानांधकार में पड़े पण्डित के लिए ये वास्तविक ज्ञानी हैं, किन्तु जब व्यक्ति में ज्ञान का सूर्य उदय होता है, तब इनका अस्तित्व नहीं ठहर सकता, तब तो इनकी स्थिति वैसी ही होती है जैसी शीत-ऋतु में हिम (कुहरे) के बने किले बड़े मनोरम प्रतीत होते हैं किन्तु सूर्य के उदित होने पर उनका अस्तित्व नष्ट हो जाता है, वर्फ पिघलकर पानी बन जाती है, किलों की आकृतियाँ समाप्त हो जाती है।

विशेष—उदाहरण अलंकार।

तीरथ करि करि जग मुवा, डूँघै पांणीं न्हाइ।
रांमहि रांम जपंत डां, काल घसीट्या जाइ ॥१८॥

शब्दार्थ—डूँघै=उथला, गदले से तात्पर्य है। जपंत डां=जपता हुआ।

कबीर कहते हैं कि तीर्थों के गदले पानी में स्नान करते-करते सम्पूर्ण संसार नष्ट हो गया बाहर मुँह से राम-नाम का उच्चारण करते हुए भी उन्हें मृत्यु - नाश घसीट कर ले गया।

भाव यह है कि उपासना के बाह्याडम्बरों से मुक्ति सम्भव नहीं, उसके लिए हृदय से प्रभु-भक्ति वांछनीय है।

कासी कांठैं घर करैं, पीवैं निर्मल नीर।
मुकति नहीं हरि नांव बिन हौं कहै दास कबीर ॥१९॥

शब्दार्थ—कासी कांठैं=काशी में निवास करते हुए।

भक्त कबीर कहते हैं कि चाहे कोई शिवनगरी काशी में निरन्तर वास करे, उसे अपना घर ही बना ले और कलि-मलहरणी, पाप-नाशिनी गंगा का पवित्र जल पीये तो भी प्रभु-भक्ति के बिना उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है।

कबीर इस संसार की, समझाऊँ कै बार।
पूंछ ज पकड़ै भेद की, उतर्‌या चाहै पार ॥२०॥

शब्दार्थ—भेद=द्वैत, यह भावना कि प्रभु और अंश जीव पृथक् हैं, माया का अर्थ भी लिया जा सकता है।

कबीर कहते हैं कि मैं इस अबोध संसार को कितना समझाऊँ? यह तो प्रभु और आत्मा का अन्तर मानकर इस भव-सागर के पार जाना चाहते हैं, जो असम्भव है। अथवा संसार माया के आश्रय में रहकर भव-सागर पार करना चाहता है, यह कैसे सम्भव है?

कबीर मन फूल्या फिरैं, करता हूँ मैं ध्रंम ।
कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखैं भ्रंम ॥२१॥

शब्दार्थ—ध्रंम=धर्म । क्रम=कर्म । चेत=सावधान होकर, ज्ञानसम्पन्न होकर । भ्रंम=भ्रम, माया-भ्रम ।

कबीर कहते हैं कि व्यक्ति व्यर्थ ही फूला-फूला फिरता है, यह गर्व करता है कि मैं धर्माचरण करता हूँ; किन्तु वह ज्ञानयुक्त हो माया-भ्रम दूर कर यह नहीं देखता कि वह कितने कोटि कुकर्मों का भार अपने सिर पर ले इस संसार से जाता है ।

मोर तोर की जेवड़ी, बलि बंध्या संसार ।
कांसि कंडूवा बासुत कलित, दाझण बारंबार ॥२२॥३६८॥

शब्दार्थ—मोर-तोर=ममत्व-परत्व । कांसि= कांस, सुई की नोक के समान एक घास विशेष । कंडूवा – यह भी एक घातक घास ही होती हैं, जिसे कन्डुवा या कन्डवा कहते हैं । दाझण=जलना ।

जिस प्रकार बलि पर चढ़ाया जाने वाला बकरा बन्धन में बँधा पड़ा रहता है उसी प्रकार संसार ममत्व-परत्व के माया बन्धन में जकड़ा पड़ा है । पुत्र एवं स्त्री अर्थात् परिवार रूपी कांस एवं कन्डुवे के कारण जीवात्मा को बारम्बार आवागमन चक्र में पड़ कर संसार तापों में दग्ध होना पड़ता है ।

विशेष—उपमा अलंकार ।

१८. करणीं बिना कथणीं कौ अंग

अंग-परिचय—मनुष्य कहता कुछ और है, और करता कुछ और है, यही प्रवृत्ति उसके पतन का कारण है और जब तक उसकी वाणी और कर्मों में समन्वय नहीं हो जाता, तब तक वह ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकता, यही बात कबीर ने इस अंग में बताई है। वे कहते हैं कि यदि व्यक्ति दूसरों को तो अनेक प्रकार के उपदेश देता फिरे और स्वयं उन पर आचरण न करे तो उसका उपदेश देना व्यर्थ है और उसका वह ज्ञान भी व्यर्थ है। उसका इस प्रकार का कोरा ज्ञान तो केवल बालू की दीवार समझना चाहिए, जो तनिक से धक्के से धूल-धूसरित हो जाती हैं। इसके विपरीत, जो व्यक्ति कुछ कहता है, वही करता है तो वह श्रेष्ठ है और भगवान् सदैव उसके समीप रहते हैं। जिन व्यक्तियों के कथन और कर्म में समन्वय नहीं है, वे श्वान के समान हैं और अपने ही पापों के कारण मृत्यु का ग्रास बनते हैं। इस संसार में ऐसे भी भक्त दिखाई देते हैं जो केवल प्रभु-भक्ति के पद गा-गाकर स्वयं को प्रभु का भक्त समझ बैठे हैं और उन्होंने परम ब्रह्म के रहस्य को समझा नहीं है। ऐसे भक्त दिखावे के भक्त हैं, उनकी वास्तविकता तो कुछ और ही है ।

अतः कबीर मनुष्य को समझाते हैं कि यदि वह ब्रह्म को प्राप्त करना चाहता है तो उसे अपनी वाणी और कर्म में समन्वय स्थापित करना चाहिए; अर्थात् वह जो

कुछ कहे, उसी पर मनोयोगपूर्वक आचरण करे ।

कथणीं कथी तौ क्या भया, जे करणीं न ठहराइ ।
कालबूत के कोट ज्यूं, देषत ही ढहि जाइ ॥१॥

शब्दार्थ—कथणीं=कथन, ज्ञानोपदेश से तात्पर्य है । करणीं=कर्म । कालबूत=कलावत्तू, मेहराव के कंगूरे बनाने के लिए एक कच्चा आधार, जब असली कंगूरा बन जाता है तो इसे हटा देते हैं, कच्ची मिट्टी के होने के कारण यह बड़ा नाजुक होता है, छूते ही यह टूट जाता है । इसी नाजुकपन की अभिव्यक्ति कबीर ने "देषतही ढहि जाइ" द्वारा की है ।

कबीर कहते हैं कि जिसने केवल उपदेश ही बघारा और उस उपदेश का स्वयं आचरण न किया, वह मनुष्य ज्ञानियों के मध्य अथवा सत्य की कसौटी पर टिक नहीं पाता । जिस प्रकार कालबूत के बने कंगूरे तनिक सी ठसक में ही ढह जाते हैं, उसी भाँति ये मनुष्य तनिक सी सत्य की परीक्षा पर डावांडोल हो जाते हैं ।

विशेष=उदाहरण अलंकार ।

जैसी मुख तैं नीकसै, तैसी चालै चाल ।
पारब्रह्म नेड़ा रहे, पल मैं करै निहाल ॥२॥

शब्दार्थ—नेड़ा=समीप । निहाल=प्रसन्नचित्त, आनन्दित ।

हे मनुष्य! जैसा सुन्दर उपदेश तू दूसरों को देता है यदि स्वयं उसका आचरण करे तो प्रभु सर्वदा तेरे समीप रहें और तुझे क्षणभर में मुक्त कर प्रसन्न कर देंगे ।

जैसी मुष तैं नीकसै, तैसी चालै नांहि ।
मानिष नहीं ते स्वान गति, बांध्या जमपुर जाँहि ॥३॥

शब्दार्थ—स्वानगति=श्वानगति ।

जो दूसरों को सुन्दर उपदेश देते हैं और स्वयं उनका पालन नहीं करते, वे मनुष्य नहीं हैं, अपितु श्वान हैं और वे अपने पापों के कारण बंदी बनकर यमलोक चले जाते हैं ।

पद गोएँ मन हरषियां, साषी कह्यां अनंद ।
सो तत नांव न जाँणियां, गल मैं पड़िया फंध ॥४॥

शब्दार्थ—तत=तत्व या उसका सार । फन्ध=फन्दा, मृत्यु का बंध ।

जो मनुष्य प्रभु-भक्ति के पद गा-गाकर और साखियों में उपदेश देकर ही अपने को प्रभु-भक्त समझ बैठे, उन्होंने उस पूर्ण ब्रह्म के रहस्य को नहीं समझा अतः अन्त तक वे काल-पास में पड़े रहे, मुक्त नहीं हो सके ।

करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड ।
जाणैं बूझै कुछ नहीं, यौंही आंधां रूंड ॥५॥३७३॥

शब्दार्थ—तूंड=हाथी की सूंड, किन्तु यहाँ व्यंग्यार्थ से मुख अर्थ लिया जाऐगा ।

जो मनुष्य राम-नाम को समझे बिना, हृदय के योग से रहित मुंह उठा कर उच्च स्वर से कीर्तन करता है वह रण क्षेत्र में लड़ते हुए धड़ के समान है जिसे कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता —चाहे कोई भी तलवार से मरे, उसे तो मारने से काम ।

१९. कथणीं बिना करणीं कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में कबीर ने बताया है कि वाणी की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है । जो व्यक्ति केवल कहते रहते हैं, और अपने कथन पर स्वयं आचरण नहीं करते, वे पापी हैं और जन्मजन्मान्तरों तक आवागमन के चक्कर में पड़े रहते हैं । इसके विपरीत, जो व्यक्ति कहते कुछ नहीं हैं, बल्कि जो कहना चाहते हैं, उस पर स्वयं आचरण करते हैं, वे व्यक्ति पाप-मुक्त होकर मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं । पुस्तकों का ज्ञान प्राप्त कर-करके तो सारा संसार मर गया, किन्तु पंडित कोई भी नहीं बना । सच्चा पंडित वही है जो वेद-शास्त्रों के अध्ययन को छोड़कर राम की महिमा का ज्ञान प्राप्त करता है और स्वयं भी उस ज्ञान पर आचरण करता है ।

मैं जांन्यूं पढ़िबौ भलौ, पढ़िवा थें भलौ जोग ।
रांम नांम सूं प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग ॥१॥

शब्दार्थ—पढ़िबौ=पुस्तकों का पठन । थैं=(तैं) से । जोग=योग । भल-भल=भले ही ।

कबीर कहते हैं कि यह मैं जानता हूँ कि शास्त्रादि का पढ़ना बड़ा अच्छा है, किन्तु उससे भी कहीं अच्छा योग-सधना करना है (जिसके द्वारा प्रभु में चित्त लगाया जाता है) । इसलिए हे साधक ! तू प्रभु-भक्ति में प्रवृत्त हो वही काम्य है, चाहे अन्य मनुष्य तेरी कितनी ही निन्दा क्यों न करें ।

कबीर पढ़िबा दूरि करि, पुसतक देह बहाइ ।
बांवन आषर सोधि करि, ररै ममैं चित लाइ ॥२॥

शब्दार्थ—आषिर=अक्षर । ररैं='रा' अक्षर । ममै='म' अक्षर ।

कबीर कहते हैं कि हे साधक ? तू पढ़ना छोड़कर इस शास्त्रादि के ढेर को जल में बहा दे, क्योंकि उससे श्रेष्ठ प्रभु-भक्ति है । इसलिए तू इन समस्त ग्रन्थों का सार केवल दो अक्षर 'रा' और 'म' समझ कर प्रभु-भक्ति में ही अपना हृदय लगा ।

कबीर पढ़िबा दूरि करि, आथि पढ़्या संसार ।
पीड़ न उपजी प्रीति सूं, तो क्यूं करि करै पुकार ॥३॥

शब्दार्थ—आथि=(अस्ति) अन्त । पीड़=पीड़ा ।

कबीर कहते हैं कि हे साधक ! तू शास्त्रादि का पाठ छोड़ दे, क्योंकि इससे मुक्ति सम्भव नहीं, इसके पाठ के पश्चात् भी संसार का अन्त होता है । यदि हृदय में प्रभु प्रेम की पीड़ा उत्पन्न नहीं हुई तो पोथी पढ़-पढ़कर राम-नामोच्चारण से क्या लाभ ?

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ ॥४॥३७७॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि समस्त संसार धर्मग्रन्थों के ढेर को पढ़ते-पढ़ते ही नष्ट हो गया किन्तु कोई पूर्ण ज्ञानी न हो सका। यदि कोई प्रभु नाम का केवल एक शब्द 'राम' जान जाय तो उन धर्मग्रन्थों को पढ़े बिना भी वह पूर्ण पण्डित हो जाता है।

२०. कामी नर कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में कबीर ने यह बताया है कि जो लोग काम-भावना के वश में होते हैं, वे मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं और उन्हें किसी प्रकार मुक्ति का लाभ नहीं हो सकता है। इस काम-भावना का मूल कारण नारी है। नारी तीनों लोगों में विषपूर्ण नागिन के समान है, जो मनुष्यों को विषय-वासना का विष उगलकर डसती रहती है। यह उस मधुमक्खी के समान है, जो पास जाने पर तुरन्त काट लेती है। जो मनुष्य पर-स्त्री में अनुरक्त रहता है और चोरी के बल पर समृद्ध होता रहता है, वह कुछ दिनों के लिए भले ही फलता-फूलता दिखाई दे, किन्तु अन्ततोगत्वा वह समूल नष्ट हो जाता है। पर नारी के सुन्दर आकर्षण से बिरले व्यक्ति ही बच पाते हैं, क्योंकि उसका संसर्ग खांड के समान मधुर होता है। किन्तु उसका अन्त अत्यन्त दुखप्रद होता है, इसको कोई नहीं सोचता। दूसरे की स्त्री से प्रेम करने में दोष ही दोष हैं। इसका संसर्ग लहसुन के खाने के समान है; अर्थात् जिस प्रकार लहसुन की दुर्गन्धि नहीं छिप सकती, इसी प्रकार परस्त्री-गमन का दोष भी नही छिपाया जा सकता।

जब तक मन में विषय-वासनाएँ हैं, तब तक सब नर और नारी नरक के समान दुखदाई हैं। नारी का प्रेम मनुष्य की उस बुद्धि का हरण कर लेता है जो सत्य और असत्य, पुण्य और पाप में भेद करती है। नारी का संसर्ग मनुष्य को सब प्रकार के सुखों से वंचित कर देता है। न तो उसे आत्मज्ञान ही प्राप्त होता है और न मुक्ति ही। नारी और धन ये दोनों विषाक्त फल के समान हैं, बल्कि नारी तो धन से भी अधिक विषाक्त है, क्योंकि धन का विष तो तभी चढ़ता है जब मनुष्य उसका उपभोग करता है, किन्तु नारी का विष तो उसे देखने मात्र से ही चढ़ जाता है। न जाने कितने लोग नारी के आकर्षण में फँसकर समूल नष्ट हो गये हैं फिर भी सांसारिक मनुष्य इस बात को नहीं समझ पाया है कि सारे सांसारिक विषयों में जूठन नारी है, वह नरक का कुण्ड है, जिससे कोई बिरला व्यक्ति ही बच सकता है।

कामी मनुष्य कभी भी हरि का स्मरण नहीं करता, न उसके मन में किसी प्रकार की लज्जा होती है, उसमें सत्य और असत्य, कर्त्तव्य और चेतावनी देते हुए कहते हैं कि जब तक मन में काम-वासना विद्यमान है, तब तक गृहस्थी और संन्यासी में कोई भेद नहीं है। अतः यदि मनुष्य उसकी प्राप्ति और मुक्ति लाभ चाहता है तो उसे काम-

भावनाओं को समूल नष्ट कर देना चाहिए।

कांमणि काली नागणीं, तीन्यूं लोक मझारि।
रांम सनेही ऊबरे, विषई खाये झारि ॥१॥

शब्दार्थ—कांमणि=कामिनी, नारी। नागणीं=नागिन। मंझारि=मध्य में।

नारी तीनों लोकों में—सर्वत्र—नागिन के समान विषपूर्ण है। इसने विषय-वासना में सिक्त जीवों को तो डस लिया है. केवल प्रभु-भक्त ही इसके प्रभाव से बच सके हैं।

विशेष—तीन लोक—स्वर्ग, मर्त्य, पाताल।

कांमणि मींनीं षाणि की, जे छेड़ौं तौं खाइ।
जै हरि चरणां राचियाँ, तिनके निकटि न जाइ ॥२॥

शब्दार्थ—मींनीं=मक्खी। षांणि=खांड, मधुरता के साधर्म्य से मधु अर्थ। राचियां=अनुरक्त।

नारी मधुमक्खी के सदृश है जो इसके पास जाओगे तो यह तुम्हें काट कर खा जायेगी, दूर रहोगे तो तुम्हारे पास भी नहीं भटक सकती। जो प्रभु-भक्ति में अनुरक्त हैं, यह उनके पास नहीं जाती और उन्हें अपने विषाक्त प्रभाव से प्रभावित नहीं कर सकती।

विशेष—उपमा अलंकार।

पर नारी राता फिरैं, चोरी बिढ़ता खांहि।
दिवस चारि सरसा रहैं, अंति समूला जांहि ॥३॥

शब्दार्थ—राता=अनुरक्त। बिढ़ता=वृद्धि पाया हुआ, समृद्ध। सरसा=पल्लवित होना। समूला=मूल सहित।

कबीर कहते हैं कि जो मनुष्य परस्त्री में अनुरक्ति रखता है एवं चोरी के धन-बल पर समृद्ध होता है वह कुछ समय के लिए भले ही फल-फूल ले, अन्त में समूल नष्ट होना पड़ता है। क्योंकि इन कुकृत्यों से लोक एवं परलोक दोनों ही बिगड़ते हैं।

पर-नारी पर-सुन्दरी, बिरला बंचै कोइ।
खातां मींठी खांड सी, अंति कालि विष होइ ॥४॥

शब्दार्थ—विरला=कोई।

दूसरे की पत्नी तथा दूसरे की सुन्दर नारी के आकर्षक प्रभाव कोई से बिरला ही मुक्त होगा। परस्त्री संसर्ग-सुख के समान मधुर है, किन्तु जिस प्रकार खांड़ बाद में पेट को हानि पहुँचाती है, इसी प्रकार यह परस्त्री-प्रेम अन्ततः विषदायक सिद्ध होता है।

विशेष—(१) उपमा अलंकार। (२) खाँड जब खाते हैं तो मधुर लगती ही है किन्तु उससे पेट खराब हो जाता है, जिससे और रोग उत्पन्न होने की आशंका

रहती है।

पर नारी कै राचणैं, औगुण है गुण नांहि।
षार समंद मैं मंछला, केता बहि बहि जांहि ॥५॥

शब्दार्थ—राचएँ = प्रेम में। षार = खारी।

दूसरे की स्त्री के प्रेम में दोष ही दोष हैं, गुण या लाभ कुछ भी नहीं। वासना के इस आकर्षण-रूपी समुद्र में न जाने कितनी जीवरूपी मछलियाँ वह जाती हैं।

भाव यह है कि संसार-प्रवाह में जीव वासना का परित्याग नहीं कर पाता और परस्त्रीगामी हो जाता है, जबकि इससे हानि ही हानि हैं।

पर नारी को राचणौं, जिसी ल्हसन की षांनि।
षूणैं बैसि रषाइए, परगट होइ दिवानि ॥६॥

शब्दार्थ—राचणौं = प्रेम, अनुरक्ति। ल्हसण = लहसुन। षानि = खाना। षूणैं = (कूणे) कोने में। रषाइए = रखवाली कीजिए।

परस्त्री-प्रेम लहसुन खाने के समान ही है जो किसी प्रकार से भी दूसरों से नहीं छिप सकता। चाहे आप कोने में बैठकर, अत्यन्त सतर्कतापूर्वक, यह प्रयत्न करें कि यह प्रकट न हो तो भी वह प्रकट होकर ही रहता है, किसी के रोके नहीं रुकता।

विशेष—उपमा अलंकार।

नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम।
कहै कबीर ते रांम के, जे सुमिरैं निहकाम ॥७॥

शब्दार्थ—वासयामय।

कबीर कहते हैं कि जब तक शरीर विषय-वासनाओं में संलिप्त है तब तक नर-नारी सभी नरक में पड़े हुए हैं। वास्तविक प्रभु भक्त वे ही हैं जो राम को विषय-वासनाओं की कामना से रहित होकर भजते हैं।

नारी सेती नेह, बुधि बिवेक सबही हरै।
कांइ गमावैं देह, कारिज कोई नां सरै ॥८॥

शब्दार्थ--कांइ = क्यों ?

स्त्री का प्रेम बुद्धि और सदसद् विवेक सबका ही हरण कर लेता है। हे जीव! तू इस स्त्री-प्रेम में अपनी शक्तियों का ह्रास क्यों कर रहा है ? इससे कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता।

नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग।
बेगि छाड़ि पछिताइगा, ह्वै है मूरति भंग ॥९॥

शब्दार्थ—मूरति = शरीर।

विविध प्रकार के सुस्वादु भोजनों का सुख एवं स्त्री के प्रेम का सुख, हे मनुष्य! तू इन दोनों का परित्याग कर दे अन्यथा जब इन्हीं इन्द्रिय सुखों में रत रहने पर शरीर

नष्ट हो जायेगा तो तू पछतायेगा।

नारि नसावै तीनि सुख, जा नर पासैं होइ।
भगति मुकति जिन ग्यान मैं, पैसि न सकई कोइ ॥१०॥

शब्दार्थ—नसावै=नष्ट करती है। पैसि न सकई कोइ=कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता।

नारी का संसर्ग मनुष्य को तीन सुखों से वंचित कर देता है। वे हैं भक्ति, मुक्ति एवं आत्मज्ञान (ब्रह्मज्ञान)। नारी के संसर्ग में रहकर इन तीनों की प्राप्ति असम्भव है।

एक कनक अरु कांमनीं, विष फल कीएउ पाइ।
देखै ही थैं विष चढ़ै, खाँयें सूं मरि जाइ ॥११॥

शब्दार्थ—कनक=सोना, सांसारिक बन्धन।

एक तो स्वर्ण अर्थात् धन और दूसरे नारी—ये दोनों विषाक्त फलों के समान हैं। एक को (स्त्री को) देखने से ही विष चढ़ जाता है और दूसरे (धन) को भोगने से विष चढ़ता है।

एक कनक अरु कांमनीं, दोऊ अगनि की झाल।
देखें ही तन प्रजलै, परस्यां ह्वै पैमाल ॥१२॥

शब्दार्थ—झाल=लपट। पैमाल=नष्ट होना।

स्त्री और स्वर्ण (धन) दोनों ही अग्नि की प्रज्वलित लपटों के समान हैं। इनको देखने मात्र से शरीर जलने लगता है एवं स्पर्श करते ही मनुष्य नष्ट हो जाता है।

कबीर भग की प्रीतड़ी, केते गए गडंत।
केते अजहूं जाइसी, नरकि हसंत हसंत ॥१३॥

शब्दार्थ—भग=स्त्री-सम्भोग।

कबीर कहते हैं कि स्त्री-सम्भोग के सुख से विनष्ट होकर न जाने कितने लोग कब्र में गड़ गये, नष्ट हो गये, किन्तु फिर भी संसार इससे सावधान नहीं होता और आज भी कितने ही मनुष्य (अधिकांश) हँसते-हँसते पतन मार्ग को अपनाते हैं।

विशेष—वीप्सा अलंकार।

जोरू जूठणि जगत की, भले बुरे का बीच।
उत्यम ते अलगे रहैं, निकटि रहैं तें नीच ॥१४॥

शब्दार्थ—जोरू=पत्नी, किन्तु यहां 'नारी' सामान्य जातिवाचक से तात्पर्य है। उत्यम=उत्तम, श्रेष्ठ।

स्त्री समस्त सांसारिक विषयों की जूठन है। यही व्यक्ति के भले-बुरे का भेद बताती है। जो इससे दूर रहते हैं वे ही श्रेष्ठ हैं और जो इसके संसर्ग में रहते हैं वे नीच हैं।

नारी कुंड नरक का, बिरला थंभै बाग।
कोइ साधू जन ऊबरै, सब जग मूवा लाग ॥१५॥

शब्दार्थ—थंभै=थामना, पकड़ना, रोकना। बाग=लगाम।

नारी-संसर्ग नरक के कुण्ड के समान यातनामय एवं घृणास्पद है। कोई विरला मनुष्य ही अपने मन रूपी अश्व की लगाम को उधर जाने से रोक पाता है। ऐसी मनःसाधना कोई-कोई साधु ही कर पाता है अन्यथा समस्त जगत् उसके सम्पर्क से नष्हटो मृत्यु को प्राप्त हो रहा है।

विशेष—रूपक अलंकार।

सुंदरि थैं सूली भली, बिरला बंचै कोइ।
लोह निहाला अगनि मैं, जलिबिल कोइला होय ॥१६॥

शब्दार्थ – निहाला = डालना।

कबीर कहते हैं कि नारी से तो शूली (मृत्यु) अच्छी है। इसके घातक प्रभाव से तो कोई विरला ही बच पाता है। जिस प्रकार लोहे जैसे कठोर पदार्थ को भी अग्नि जलाकर कोयला बना देती है, उसी भाँति चाहे कोई कितना ही दृढ़ चरित्र व्यक्ति क्यों न हो, नारी सबको भ्रष्ट कर देती है।

विशेष—दृष्टांत अलंकार।

अन्धा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल।
और गुनह हरि बकससी, कांमीं डाल न मूल ॥१७॥

शब्दार्थ—अन्धा=ज्ञानान्ध। संसय=संशय। गुनह=गुनाह, दोष, पाप। डाल न मूल=न तो उसकी शाखा रहती है और न जड़; अर्थात् पूर्ण रूपेण नष्ट हो जाता है।

अज्ञानान्ध व्यक्ति संसार का नाश होता देखकर सी सावधान नहीं होता, (वह विषय-वासना में ही फँसा रहता है) इसीलिए उसका क्लेश एवं दुख विनष्ट नहीं होता। संसार कहता है कि प्रभु नामस्मरण से सब कुछ क्षमा कर देता है, किन्तु प्रभु सब दोष एवं पाप अवश्य नष्ट कर देते हैं लेकिन केवल कामी पुरुष को वे नहीं छोड़ते। उसका तो वे सर्वस्व नष्ट कर देते हैं।

भगति बिगाड़ी कांमियां, इंद्री केरै स्वादि।
हीरा खोया हाथ थैं, जनम गंवाया बादि ॥१८॥

शब्दार्थ—कांमियाँ=कामीजनों ने। केरै=के। बादि=व्यर्थ।

कामी पुरुषों ने इन्द्रिय-रसों के स्वाद में पड़कर भक्ति मार्ग का नाश कर दिया, वे भक्ति से विचलित हो गये। उन्होंने प्रभु-भक्ति रूपी अमूल्य हीरा अपने हाथ से खो विषय-वासना के फेर में पड़कर अपना जीवन व्यर्थ नष्ट कर दिया।

विशेष—(१) रूपक अलंकार।

(२) कबीर ने मानव-जन्म का एकमात्र उद्देश्य, काम्य, प्रभु-भक्ति को ही माना है।

कामीं अमीं न भावई, विषई कौं ले सोधि ।
कुबधि न जाई जीव की, भावै स्यंभ रहौ प्रमोधि ॥१६॥

शब्दार्थ—अमीं = अमृत । स्यंभ = शम्भु, ईश्वर से तात्पर्य है ।

कामी पुरुष को भक्ति रूपी अमृत रुचिकर नहीं लगता, वह तो इन्द्रियों के विषयों की ही खोज में रहता है (या विषयों को ही खोज लेता है) चाहे स्वयं प्रभु आकर कामान्ध जीव को समझावें; किन्तु उसकी दुर्मति नहीं जा सकती ।

विषै बिलंबी आत्मां, ताका मजकण खाया सोधि ।
ग्यान अंकुर न ऊगई, भावै निज प्रमोध ॥२०॥

शब्दार्थ—बिलम्बी = संलिप्त । कजकण = मज्जा (हड्डी के भीतर एक तत्व) का कण, सारतत्व से तात्पर्य है । प्रमोध = प्रबोध ।

विषय-संलिप्त आत्मा के सारतत्व को विषय-प्रवृत्ति इस प्रकार खा जाती है जैसे अन्नकण में से घुन (एक कीड़ा विशेष) उसका सार-सार खा जाता है, फिर यह दाना बोने पर अंकुर के रूप में नहीं फूटता, उसी प्रकार विषयी पुरुष के खोखले अस्तित्व में ज्ञान का अंकुर नहीं उपजता—सामान्य गुरु की तो बात ही क्या चाहे स्वयं प्रभु उसे समझावें ।

विशेष—दृष्टांत अलंकार ।

विषै कर्म की कंचुली, पहरि हुआ नर नाग ।
सिर फोड़ै सूझै नहीं, को आगिला अभाग ॥२१॥

शब्दार्थ—सिर फोड़ै = भरसक प्रयत्न करने पर भी ।

विषय-वासना से परिचालित कर्मों की केंचुकी को धारण कर मनुष्य उसी प्रकार अन्धा हो गया है जिस भाँति सर्प केंचुकी धारण करने पर अन्धा हो जाता है । सिर पटक-पटक कर प्रयत्न करने पर भी सर्प निर्मोक (केंचुली) से ढका होने पर आत्म-स्वरूप को नहीं देख पाता, इसी भाँति विषयान्ध भरसक प्रयत्न करने पर भी आत्मस्वरूप—प्रभु—को नहीं जान पाता । न जाने यह उसका कौनसा पूर्वकृत अभाग्य है ।

विशेष—दृष्टांत अलंकार ।

कामी कदे न हरि भजै, जपै न केसौ जाप ।
रांम कह्यां थैं जलि मरै, को पूरिबला पाप ॥२२॥

शब्दार्थ—कदै = कभी । केसौ = केशव, प्रभु ।

कामी पुरुष कभी भी प्रभु का भजन नहीं करता, वह हरि नाम लेता ही नहीं है । न जाने यह उसके पूर्वजन्म के कौन से पापों का फल है कि वह राम कहते ही जल मरता है; अर्थात् जब वह दूसरों से प्रभु-नाम सुनता है तो क्रुद्ध हो जाता है ।

कांमी लज्या नां करै, मन मांहै अहिलाद।
नींद न मांगै सांथरा, भूष न मांगै स्वाद ॥२३॥

शब्दार्थ—अहिलाद=आह्लाद। सांथरा=शय्या। भूष=भूख।

कामी मनुष्य अपने कुकृत्यों पर लज्जित नहीं होता, अपितु इन्द्रिय रस से तृप्ति हो जाने पर वह मन ही मन आह्लादित होता है। जिस प्रकार निद्राभिभूत व्यक्ति शैया नहीं चाहता कहीं भी पड़कर सो जाता है; जिस प्रकार भूखा व्यक्ति स्वाद नहीं देखता जो मिल जाता है खा लेता है, उसी भाँति कामी सदसद् विवेक का परित्याग किये रहता है।

विशेष—उदाहरणमाला अलंकार।

नारि पराई आपणी, भुगत्या नरकहिं जाइ।
आगि आगि सबरो कहै, तामैं हाथ न बाहि ॥२४॥

शब्दार्थ—भुगत्या=भोग करने पर। बाहि=डाल।

दूसरे की स्त्री का अपनी पत्नी के समान भोग करने से मनुष्य नरकगामी होता है। हे मनुष्य! जिस नारी को समस्त (श्रेष्ठ) संसार ने अग्नि-अग्नि कहकर घातक बताया है, तू उसी अग्नि में अपना हाथ मत जला।

कबीर कहता जात हौं, चेतै नही गँवार।
बैरागी गिरही कहा, कामी वार न पार ॥२५॥

कबीर कहते हैं कि मैं संसार-हित के लिए निरन्तर नारी के अवगुणों की चर्चा करता आ रहा हूँ, किन्तु फिर भी मूर्ख लोग सावधान नहीं होते। क्या वैरागी और क्या गृहस्थ दोनों में कामीजनों का अभाव नहीं है।

ग्यांनी तौ नीडर भया, मांनैं नांही शंक।
इन्द्री केरे बसि पड़्या मूँचै बिषै निसंक ॥२६॥

शब्दार्थ—शंक=शंका।

जिसे यत्किंचित् ज्ञान है वह तो अपने को ज्ञानी समझकर अपने आचरण के विषय में पूर्ण निश्शंक हो गया। भला वह ज्ञानी कैसा जो इन्द्रियों के वश में पड़कर पूरी तरह से विषयों का भोग कर रहा है।

भाव यह है कि ज्ञान के लिए विषय-वासना-परित्याग आवश्यक है।

ग्यांनी मूल गँवाइया, आपण भये करता।
ताथैं संसारी भला, मन मैं रहे डरता ॥२७॥४०४॥

ज्ञानी व्यक्ति ने अपने को जगत् का कर्ता समझकर अपनी मूल सम्पत्ति अर्थात् सामान्य बुद्धि भी गँवा दी। उससे तो श्रेष्ठ सामान्य सांसारिक व्यक्ति है जो मन में प्रभु से डरता हुआ अपने आचरण के प्रति सचेत रहता है।

२१. सहज कौ अंग

अंग-परिचय—कबीर के आविर्भाव से पूर्व नाथ और सिद्ध समुदाय काफी लोकप्रिय हो चुके थे। सहज साधक और सहज समाधि इन समुदायों के सर्वाधिक

प्रचलित शब्द थे जो कबीर के समय तक आते-आते विकृत हो चुके थे । अर्थात् लोग इन शब्दों का प्रयोग केवल जनता पर प्रभाव डालने के लिए ही करते थे। इनके प्रयोग पक्ष की ओर स्वयं उपदेष्टा भी ध्यान नहीं देते थे । प्रस्तुत अंग में कबीर ने बताया है कि सहज साधक कौन हैं, वे कहते हैं कि 'सहज' शब्द की रट तो सभी लोग लगाते रहते हैं, किन्तु सहज शब्द का अर्थ कोई नहीं जानता । जो साधक सहज रूप से सारे विषय-विकारों का त्याग कर देता है, पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है, वही सहज-साधक कहलाता है और ऐसे ही साधक को सहज ही प्रभु का साक्षात्कार हो जाता है ।

सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैं कोइ ।
जिन्ह सहजैं विषया तजी, सहज कहीजै सोइ ॥१॥

शब्दार्थ—चीन्हैं=जानना ।

कबीरदास कहते हैं कि सब व्यर्थ 'सहज-सहज' की दुहाई देते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि सहज को कोई नहीं जानता । जिसने अपने स्वभाव से विषय-वासनाओं का परित्याग कर दिया अथवा जिसने सुगमतापूर्वक विषय-लालसा का परित्याग कर दिया, उसी को 'सहज-साधक' कहा जा सकता ।

विशेष—पुनरुक्ति अलंकार ।

सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैं कोइ ।
पाँचू राखै परसती, सहज कहीजै सोइ ॥२॥

शब्दार्थ—पाँचू=पाँचों इन्द्रियों को । परसती=वश में ।

सब व्यक्ति 'सहज' की, 'सहज-साधना' की पुकार लगाते हैं किन्तु उसे वास्तविक अर्थों में पहचानता कोई नहीं । कबीर के दृष्टिकोण में जो व्यक्ति पाँचों इन्द्रियों को अपने आधीन, अपने नियन्त्रण में रखे, उसे ही 'सहज-साधक' कहा जा सकता है ।

सहजैं सहजैं सब गए, सुत बित कांमणि कांम ।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कबीरा राम ॥३॥

शब्दार्थ—सहज-सहजैं=शनैः-शनैः । बित=वित्त ।

कबीर कहते हैं कि संसार में धीरे-धीरे सम्पत्ति, पुत्र, पत्नी सब कुछ विनष्ट हो जाता है । भक्त कबीर (अपनी भक्ति के कारण ही) उस प्रभु से मिलकर एकाकार हो गया ।

सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैं कोइ ।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ ॥४॥४०८॥

संसार में सब सहज-सहज पुकारते हैं किन्तु वास्तविक 'सहज' (प्रभु) को कोई नहीं पहचान सका । जिस व्यक्ति को सुगमता से प्रभु मिल जाये वही 'सहज-साधक' है ।

२२. सांच कौ अंग

अंग-परिचय—समस्त संसार विषय-वासनाओं में पड़कर संसार और जीवन की सत्यता को भूलकर असत्य वस्तुओं को ही भ्रमवश सत्य मान बैठा है। इस अंग में कबीर ने बताया है कि वास्तव में सत्य क्या है। वे कहते हैं कि कर्मों का योग सत्य और अनिवार्य है। जो व्यक्ति जैसे कार्य करेगा, उसे वैसे ही फल भोगने पड़ेंगे। जिस प्रकार व्यक्ति यदि किसी साहूकार से उधार लेता है और समय पर उसका धन नहीं लौटता तो उसकी बड़ी दुर्दशा होती है, इसी प्रकार जो व्यक्ति इस जीवन में भगवान् की भक्ति नहीं करता तो उसे अन्त में पछताना पड़ता है। यदि मनुष्य का मन सच्चा है और सत्य भावना से ही उसने सारे कार्य किये हैं तो भगवान् के समक्ष अपने कार्यों का हिसाब देते समय उसे अत्यन्त आनन्द का अनुभव होगा, चित्रगुप्त के बहीखाते में उसका हिसाब ठीक औरसही निकलेगा। यदि उसने सत्य भावना सें प्रेरित होकर कार्य नहीं किये हैं तो जब उसके कार्यों का हिसाब देखा जायेगा तो उसे बहुत ही लज्जित होना पड़ेगा, क्योंकि तब उसके कुकर्मों का वार-पार नहीं होगा।

संसार में धर्म के नाम पर लोग प्रायः अधर्म और आडम्बर रचते हैं। काजी ढोंग रचकर दिन में पाँच बार नमाज पढ़ता है, किन्तु अपनी जीभ के स्वाद के लिए अनेक निर्दोष जीवों की हत्या भी करता है। एक ओर बन्दिगी और एक ओर जीव हत्या! अगर यह असत्याचरण का ढोंग नहीं तो और क्या है? वस्तुतः काजी और मुल्ला दोनों ही भ्रम में हैं। वे प्रसन्न होकर इस समय तो जीव-हत्या कर रहे हैं, किन्तु खुदा के सामने अपने कुकर्मों का हिसाब देते समय उन्हें अपनी गर्दन ही झुकानी पड़ेगी।

यदि मन शुद्ध नहीं है तो हज और काबे की यात्रा भी केवल एक प्रकार का आडम्बर है। आडम्बरों से मनुष्य को कभी सच्ची शान्ति नहीं मिला करती।

मुसलमानों की भाँति हिन्दू भी धर्म के नाम पर कम मिथ्याचरण नहीं करते। एक ओर तो वे अपने आराध्य की पूजा करते हैं और दूसरी ओर आनंद पूर्वक बैठकर माँस तथा मदिरा का सेवन करते हैं और शाक्त निरीह जीवों को बलिवेदी पर चढ़ाते हैं और फिर प्रसाद-रूप में उसे ग्रहण करके अपनी जिह्वा की तृप्ति करते हैं। इस प्रकार के ढोंग और असत्याचरण मनुष्य को पतन की ओर ही ले जाते हैं।

अन्त में कबीर ने बताया है कि इन मिथ्याचरणों को छोड़कर सत्याचरण करना ही मुक्ति और ब्रह्म प्राप्ति का एकमात्र साधन है। सत्य तो यह है कि जिन लोगों ने यह जान लिया है कि इस सृष्टि में ब्रह्म ही सब कुछ है, वे कभी भी मिथ्या आचरण नहीं करते और मोह तथा माया से दूर रहते हैं।

कबीर पूंजी साह की, तूं जिन खोवै ष्वार ।
खरी बिगूचनि होइगा, लेखा देती बार ॥१॥

शब्दार्थ—साह=साहू, धन देने वाला श्रेष्ठी। ष्वार=बेकार, व्यर्थ । खरी=खड़ी, उपस्थिति । बिगूचनि=आफत । लेखा=हिसाब ।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू उस ईश्वर रूपी सेठ का दिया हुआ जीवन-धन व्यर्थ नष्ट मत कर । अन्यथा जिस दिन वह इसके कर्मों का हिसाब लेगा तब बड़ी आफत खड़ी हो जायगी ।

लेखा देणां सोहरा, जे दिल साँचा होइ ।
उस चंगे दीवांन मैं, पला न पकड़ै कोइ ॥२॥

शब्दार्थ—लेखा=हिसाब । सोहरा=अच्छा, भला । चंगे=श्रेष्ठ । दीवान=दरबार । पला=पल्ला, दामन, वस्त्र का छोर ।

यदि तुम्हारा मन सच्चा है और सत्य भावना से प्रेरित होकर ही समस्त कर्म किये हैं तो प्रभु को कर्मों का हिसाब देने में तुम्हें आनन्द आयेगा, प्रसन्नता होगी, उस सत्यता के कारण ही प्रभु के उस श्रेष्ठ दरबार में तुम्हारा कोई दामन नहीं पकड़ सकता, कोई तुम में कुछ कमी नहीं निकाल सकता ।

कबीर चित चमंकिया, किया पयाना दूरि ।
काइथि कागद काढ़िया, तब दरिगह लेखा पूरि ॥३॥

शब्दार्थ—चमंकिया=चमत्कृत हुआ, आनन्दित हुआ । पयाना=प्रयाण । दूरि=अदृश्य लोक को । काइथि=कायस्थ, चित्रगुप्त से तात्पर्य है । दरिगह=दरबार ।

कबीर कहते हैं कि जब भरे दरबार में ईश्वर के लेखा-नियन्त्रक चित्रगुप्त ने मेरे कर्मों का हिसाब निकाला तो वह पूर्ण निकला । मेरी आत्मा इससे प्रसन्न हो गयी एवं उसने दूर देश के लिए प्रयाण किया ।

भाव यह है कि कबीर अपने सत्कर्मों के कारण ही जीवन्मुक्त हो गया ।

काइथि कागद काढ़िया, तब लेखै वार न पार ।
जब लग सांस सरीर मैं, तब लग रांम सँभार ॥४॥

जब जीवनोपरान्त चित्रगुप्त तेरे कर्मों का हिसाब निकालकर देखेगा तो तेरे कुकर्मों, पापों का कोई वार-पार नहीं होगा, वे असीम होंगे । अतः शरीर में जब तक प्राण हैं, तू राम-नाम जप, जिससे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं ।

यहु सब झूठी बंदिगी, बरियाँ पंच निवाज ।
साचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज ॥५॥

शब्दार्थ—बंदिगी=अर्चना, पूजा । बरियां पंच=पाँच बार ।

हे काजी ! तू दिन में पाँच-पाँच बार नमाज पढ़ता है, यह पूजा तो निरर्थक है क्योंकि तू सर्वदा सत्य को नष्ट कर झूठी प्रार्थना को महत्व देता है, तू ऐसा निन्दनीय कर्म क्यों करता है ? भाव यह है कि काजी ! तेरी पूजा-प्रार्थना सत्याश्रित होनी चाहिए, तू नमाज की उन आयतों का पालन करे तभी पूजा सच्ची है ।

कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ।
चढि मसीति एकै कहै, दरि क्यूं साचा सोइ ॥६॥

शब्दार्थ—हतै = मारता है, बध करता है। मसीति = मस्जिद। एक = ब्रह्म एक ही है, खुदा एक ही है। दरि = दरबार, प्रभु का दरबार।

कबीर कहते हैं कि काजी का ढोंग तो देखो कि जब वह रसना के स्वादवश हो जीव की हत्या करता है तब सोचता है कि यह जीव (बकरा, गौ आदि) और ब्रह्म दो हैं, किन्तु मस्जिद में अजान लगाते समय यही कहता है कि खुदा एक है। भला ईश्वर के दरबार में यह किस प्रकार सच्चा कहला सकता है ?

विशेष—मस्जिद में अजान लगाते समय "या अल्लाह लिल्लाह···अ अ अ" की जो ध्वनि की जाती है उसका अर्थ यही है कि खुदा एक है जो सर्वव्यापक है।

काली मुलां भ्रंमियां, चल्या दुनीं कै साथि।
दिल थैं दीन बिसारिया, करद लई जब हाथि ॥७॥

शब्दार्थ—भ्रमिया = भ्रमग्रस्त। दुनीं = दुनिया, संसार की स्वाभाविक गति' जो विषय-वासना में हीं पड़ा हुआ है। दीन = धर्म। बिसारिया = विस्मृत कर दिया। करद = कटार।

कबीर कहते हैं कि यह काजी और मुल्ला दोनों ही माया-भ्रम में, अज्ञान में पड़े हुए हैं। यह अपने धर्म (कि ईश्वर एक है) को हृदय से पूर्णरूपेण विस्मृति कर देते हैं जब जीव-वध के लिए कटार हाथ में लेते हैं।

जोरी करि जिबहै करैं, कहते हैं ज हलाल।
जब दफतर देखैगा दई, तब ह्वैगा कौंण हवाल ॥८॥

शब्दार्थ—जोरी करि = बलपूर्वक। जिबहै = वध। दफ्तर = हिसाब से तात्पर्य। दई = प्रभु। हवाल = रक्षक।

मुसलमानों पर व्यंग्य करते हुए कबीर कहते हैं कि बलपूर्वक जीव का प्राण ले लेते हैं और उसे बड़े गौरव से 'हलाल' कहते हैं, किन्तु इनको सब पता चल जायेगा, जब ईश्वर इनके कर्मों का हिसाब देखकर कुकर्मों का दण्ड देगा तब कौन रक्षा करेगा ?

जोरी कीयां जुलम है, मांगै न्याव खुदाइ।
खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहे मुँहि खाइ ॥९॥

शब्दार्थ—खालिक = ईश्वर। दरि = द्वार।

जीव-वध में इस प्रकार बल-प्रयोग करना भारी अपराध है। ईश्वर तो तुमसे सब जीवों के प्रति न्याय-दया चाहता है। जब ईश्वर के द्वार पर वह खूनी खड़ा होगा तो इसके मुख पर ताबड़-तोड़ प्रहार किये जायेंगे, इसे भी वैसी ही यातना दी जायेगी, जैसी यह निरीह जीव को देता है।

सांई सेती चोरियां, चोरां सेती गुझ ।
जांणंगा रे जीवड़ा, मार पड़ंगी तुझ ।।१०।।

शब्दार्थ—साईं=प्रभु । सेती=से । गुझ=मित्रता । जीवड़ा=जीवात्मा ।

प्रभु से तू चोरी करता है और जो काम, क्रोध, मद, लोभ मोह आदि विषयों के चोर हैं, उनसे तू मित्रता रखता है । तेरे इस विपरीत आचरण के कारण जब तुझे प्रभु दण्ड देंगे तभी तेरी बुद्धि ठिकाने आयेगी ।

सेष सबूरी बाहिरा, क्या हज कावै जाइ ।
जिनकी दिल स्याबति नहीं, तिनकौं कहाँ खुदाइ ।।११।।

शब्दार्थ—सेष=शेख । सबूरी=सब्र, सन्तोष । हज=मक्का मदीना की तीर्थ यात्रा को मुसलमान हज कहते हैं । कावै=काबा, मक्का में एक पत्थर, जिसमें मुसलमान बड़ी श्रद्धा रखते हैं । स्याबति=पूर्ण, पक्का, सच्चा ।

हे शेख ! तू संतोष से तो बहुत दूर है फिर भला तुझे हज और काबा दर्शन से शान्ति कैसे मिल सकती है ? जिनका हृदय सच्चा नहीं है उन्हें ईश्वर कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता ।

खूब खांड है खीचड़ी, माँहि पड़ैं टुक लूंण ।
पेड़ां रोटी खाइ करि, गला कटावै कौंण ।।१२।।

शब्दार्थ—खांड=खांड के समान मधुर । टुक=थोड़ा सा । लूंण=नमक ।

खिचड़ी जैसे साधारण भोजन में थोड़ा-सा नमक पड़ा हो, वही खांड के समान मधुर भोजन है । पेड़ा और रोटी खाकर बाद में मृत्यूपरान्त अपना गला कौन कटावे ।

विशेष—पेड़ा और रोटी खाकर गला कटाने की बात कबीर ने इसलिए कही कि ऐश्वर्यमय जीवन बिताने के लिए अनुचित साधन अपनाकर धनोपार्जन करना पड़ता है । इस पाप के लिए उसे मृत्यु के पश्चात् दण्ड भोगना पड़ता है । अतः इस दण्ड से बचने के लिए सादा जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर बताया है ।

पापी पूजा बैंसि करि, भखैं मांस मद दोइ ।
तिनकौं दष्या मुकति नहीं, कोटि नरक फल होइ ।।१३।।

शब्दार्थ - बैंसिं करि=बैठकर । मद=मदिरा या मादक द्रव्य । दष्या=दशा । मुकति=मुक्ति, मोक्ष ।

पापी लोग पूजा के नाम पर आनन्दपूर्वक बैठकर मांस और मदिरा का सेवन करते हैं । ऐसे पापियों की मुक्ति सम्भव नहीं, उन्हें करोड़ों नरकों की यातनायें सहनी पड़ती हैं ।

विशेष—कबीर का इंगित यहाँ शाक्तों की ओर है जो भैंसें व बकरे आदि की बलि चढ़ाकर मदिरा का सेवन करते हैं ।

सकल वरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खाँहि ।
हरि दासनि की भ्राँति करि, केवल, जमपुरि जाँहि ॥१४॥

शब्दार्थ—सकति=शक्ति ।

शाक्त शक्ति की पूजा बलि देकर करते हैं और फिर समस्त वर्णों के सदस्य उसे प्रसाद रूप में ग्रहण कर खाते हैं । लोग अर्थ, भ्रमवश, अपने को प्रभु-भक्त समझते हुए नरक में जाने का मार्ग अपनाते हैं ।

कबीर लज्या लोक की, सुमिरै नाँही साच ।
जानि बूझि कंचन तजें, काठा पकड़ै काच ॥१५॥

शब्दार्थ—लज्जा=लाज ।

कबीर कहते हैं कि मनुष्य लोकलाजवश कुरीतियों का पालन करता है एवं सत्य को विस्मृत कर देता है । इस प्रकार जान-बूझकर वह स्वर्ण रूपी प्रभु-भक्ति का परित्याग कर कांच, मिथ्या आचरणों को अपनाता है ।

कबीर जिनि जिनि जांणियाँ, करता केवल सार ।
सो प्राँणीं काहै चलै, झूठे जग की लार ॥१६॥

शब्दार्थ—जिनि-जिनि=जिन्होंने । करता=कर्ता, ब्रह्म । लार=पंक्ति ।

कबीर कहते हैं कि जिन-जिन लोगों ने यह जान लिया कि इस सृष्टि में ब्रह्म ही सब कुछ है वे मोह में पड़कर इस मिथ्या संसार के अनुकूल आचरण नहीं करते ।

झूठे कौ झूठा मिलै, दूणाँ बधै सनेह ।
झूठे कूं सांचा मिलै, तब ही तूटै नेह ॥१७॥४२५॥

शब्दार्थ—दूणां=दुगुना । बधै=बढ़ता है । तूटै=टूट जाता है । नेह=प्रेम ।

यदि मिथ्याचारी को मिथ्याचारी ही मिल जाय तो दोनों में दुगुना प्रेम बढ़ जाता है । किन्तु यदि झूठे शिष्य को सच्चा सद्गुरु मिल जाय तो उसका संसार से प्रेम सम्बन्ध टूट जाता है और माया-मोह दूर हो जाता है ।

२३. भ्रम विधौंसण कौ अंग

अंग-परिचय—इस संसार के प्राणी अनेक प्रकार के भ्रमों से ग्रस्त हैं । कबीर ने इस अंग में उनमें से कुछ भ्रमों का वर्णन करते हुए मनुष्यों को चेतावनी दी है कि वे इनसे छुटकारा पा लें, यदि वे अपनी मुक्ति चाहते हैं ।

सबसे पहले कबीर ने मूर्ति-पूजा का खंडन किया है । वे कहते हैं कि इस संसार के प्राणी भी कितने मूर्ख हैं जो पत्थर को भगवान् मानकर उसकी पूजा करते हैं । उन्होंने अपने ढोंग से समस्त पृथ्वी पर पत्थरों की मूर्तियों को प्रस्थापित कर दिया है और घोषणा करते हैं कि उन्होंने मुक्ति का मार्ग ढूंढ़ निकाला है । यह सब भ्रम है और इससे जीवन्मुक्त न होकर मनुष्य जीवन के बंधनों में और अधिक बँधता जाता है । जो मूर्ति बोल नहीं सकती, उसे पूजने से किस प्रकार लाभ हो सकता है । मूर्ति की पूजा करने से मन का सन्ताप दूर नहीं होता, बल्कि पुजारी इस प्रकार माया

के आकर्षणों में संलग्न रहता है जिस प्रकार काला वस्त्र ओढ़कर मनुष्य कुकर्म करता रहे और स्वयं को धर्माचारी कहलाने का दावा करे।

मूर्ति-पूजा की भाँति तीर्थाटन भी व्यर्थ है। तीर्थ, व्रत आदि बाह्याचार जंगली वेर के समान हैं जो समस्त संसार पर छाकर उसे अपने प्रभाव से प्रभावित किये हुए हैं। यह प्रभाव तो उस मिथ्याचार को जन्म देता है जिसका विष सभी लोगों को नष्ट करने वाला है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो तीर्थराज मनुष्य के हृदय में ही विद्यमान है। उसका मन मथुरा, हृदय द्वारिकापुरी और समस्त शरीर काशी के समान है। अतः यदि मनुष्य मुक्ति प्राप्त करना चाहता तो ये सारे आडम्बर छोड़कर उस भगवान् की सच्चे मन और प्रेम से भक्ति करनी चाहिए, जो उसके हृदय में ही रमा हुआ है।

पाँहण केरा पूतला, करि पूजैं करतार।
इही भरोसै जे रहे, ते बूड़े काली धार ॥१॥

शब्दार्थ—पाँहण=पाहन, पत्थर। पूतला=मूर्ति। काली=काल की, मृत्यु की।

कैसा भ्रम है कि संसार पत्थर की मूर्ति को ईश्वर मानकर पूजता है। जो मनुष्य भी इस मूर्ति को प्रभु मानते रहे वे विनाश की काली धारा में डूब गये।

विशेष—उपमा अलंकार।

काजल केरी कोठरी, मसि के कर्म कपाट।
पाँहनि बोई पृथमीं, पंडित पाड़ी बाट ॥२॥

शब्दार्थ—पृथमीं=पृथ्वी। पाड़ी=निकाली। बाट=राह, मार्ग।

पंडितों ने अपने ढोंग से समस्त पृथ्वी पर पत्थरों की मूर्तियों को प्रस्थापित कर दिया, इस पर भी वे कहते हैं कि हमने मुक्ति का मार्ग ढूंढ़ निकाला है। एक पाप कर यह धोखा देना ही है जैसे काजल की कोठरी में काले कर्मों—कुकर्मों—की किवाड़ लगा देना।

विशेष—दृष्टांत अलंकार।

पाँहन कु का पूजिए, जे जनम न देई जाब।
आँधा नर आसामुखी, यौंहीं खोवै आब ॥३॥

शब्दार्थ—जाब=जवाब, उत्तर। आँधा=अज्ञानी। आब=पानी, सम्मान।

कबीरदास कहते हैं कि भला पत्थर को पूजने से क्या लाभ जो जीवनपर्यन्त (चाहे कितनी भी पूजा क्यों न की जाय) कोई उत्तर नहीं देता। अज्ञानी मनुष्य विभिन्न महत्वाकांक्षाओं के वशीभूत हो पत्थर पूजकर व्यर्थ अपना आत्मसम्मान नष्ट करता है क्योंकि वह मनुष्य होकर पत्थर के सम्मुख झुकता है अथवा वह व्यर्थ ही पत्थर पूजने में जन्म नष्ट करता है।

हम भी पाँहन पूजते, होते रन के रोझ।
सतगुर की कृपा भई, डारया सिर थैं बोझ ।।४।।

शब्दार्थ—रोझ=खच्चर, गदहे के समान ही भारवाही पशु जो गधे से कुछ बड़ा एवं अधिक पुष्ट होता है।

कबीरदास कहते हैं कि जिस भाँति समस्त संसार पूर्ति-पूजा कर रहा है, वैसे ही हम करते और रणक्षेत्र में रसद ढोने वाले खच्चरों के समान ही जीवनभार ढोते हुए होते, किन्तु वह तो सद्गुरु की कृपा हो गई कि उसने (ज्ञानचक्षु प्रदान कर) मूर्तियों का भार सिर से उतार दिया। भाव यह है कि सद्गुरु के उपदेश ने मुझे मूर्तिपूजा के अन्ध-विश्वास से बचा लिया।

जेती देखौं आतमा, तेता सालिगराम।
साधू प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सू कांम ।।५।।

शब्दार्थ—प्रतषि=प्रत्यक्ष।

संसार में जितने मनुष्य हैं उतनी ही शालिग्राम की मूर्तियाँ (बहुदेवोपासना पर व्यंग्य)। हे मूर्खो ! साधु ही साक्षात् देवता है, पत्थर की पूजा न कर उसकी संगति करो।

सेवैं सालिगराम कूँ, मन की भ्रांति न जाइ।
सीतलता सुपनैं नहीं, दिन दिन अधकी लाइ ।।६।।

शब्दार्थ—भ्रांति=संशय, दुःख, क्लेश। अधकी=अधिक।

शालिग्राम (मूर्ति) पूजा से मन का सन्ताप दूर नहीं हो सकता। इस पत्थर पूजा से शान्ति तो स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होती, दिन-प्रतिदिन हृदय का दाह बढ़ता जाता है क्योंकि मनोकामना पत्थर-पूजा से पूर्ण नहीं होती, असफल होने पर वेदना ही हाथ आती है।

सेवैं सालिगराम कूं, माया सेती हेत।
वोढैं काला कापड़ा, नाँव धरावैं सेत ।।७।।

शब्दार्थ—हेत=प्रेम। वोढ़ें=ओढें। सेत=श्वेत।

हे मनुष्य ! तू प्रभु मूर्ति की तो पूजा करता है एवं माया आकर्षणों में संलिप्त रहता है। तू कुकर्मों का काला वस्त्र ओढ़कर भी धर्माचारी (श्वेत, सेत) कहलाने की कामना करता है ?

जप तप दीसैं थोथरा, तीरथ व्रत बेसास।
सूवै सँबल सेविया, यौं जग चल्या निरास ।।८।।

शब्दार्थ—थोथरा=थोथा, निस्सार, व्यर्थ। सूवै=सुआ, शुक, तोता। सवल= एकसेमर वृक्ष विशेष जिसका फल बड़ा आकर्षक होता है, तोता अपनी चोंच मारकर जब उसे फोड़ता है तो वह खोखला निकलता है, वेचारा तोता निराश हो जाता है।

कबीर कहते हैं कि जप-तप, तीर्थ, व्रत एवं विभिन्न देवताओं में विश्वास

सब निस्सार दृष्टिगत होता है। इनके ऊपर आश्रितं व्यक्ति अन्त में उसी प्रकार निराश होता है जैसे तोता सेमर के फल के ऊपर आश्रित रहकर निराश होता है।

विशेष—उपमा अलंकार।

तीरथ त सब बेलड़ी, सब जग मेल्या छाइ।
कबीर मूल निकंदिया, कौंण हलाहल खाइ ॥९॥

शब्दार्थ—बेलड़ी=जंगली बेल से तात्पर्य है जो अन्य वनस्पति को आच्छन्न कर जकड़-सा लेती है।

तीर्थ, व्रत आदि बाह्याचार सब जंगली बेल के समान है जो समस्त संसार पर छाकर उसे अपने प्रभाव में किये हुए है। कबीर ने इस मिथ्या बाह्याचार रूपी लता को समूल नष्ट कर दिया, भला उसके विषाक्त फलों को कौन खाता? भाव यह है कि बाह्याचार से उत्पन्न दु:खों को कौन भोगे।

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जाँणि।
दसवाँ द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछाँणि ॥१०॥

शब्दार्थ—दसवाँ द्वारा=दशम द्वार, ब्रह्मरन्ध्र।

कबीरदास कहते हैं कि व्यर्थ इधर-उधर तीर्थों में भटकने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य का मन ही मथुरा है, हृदय द्वारकापुरी एवं समस्त शरीर को ही काशी जानो जिसमें ब्रह्मरन्ध्र ही मन्दिर का द्वार है, वहाँ अपनी शक्तियाँ केन्द्रित कर निरंजन पुरुष की ज्योति से साक्षात्कार करना ही श्रेय है।

विशेष—रूपक और अनुक्रम अलंकार।

कबीर दुनियाँ देहुरै, सीस नवाँवण जाइ।
हिरदा भीतरि हरि बसै तूं ताही सौं ल्यौ लाइ ॥११॥४३६॥

शब्दार्थ—देहुरै=मन्दिर। ल्यौं=ध्यान।

कबीर कहते हैं कि साधक ससार मन्दिर में जाकर पूजा करने का व्यर्थ उपक्रम करता है। प्रभु तो हृदय के भीतर निवास करते हैं, तू उसी में अपनी वृत्तियों को केन्द्रित कर प्रभु-प्राप्ति का प्रयत्न कर।

२४. भेष कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में कबीर ने उन लोगों का खण्डन किया है जो वेश तो साधु का बनाये रखते हैं, किन्तु जिनके मन में विकार भरे रहते हैं। वे कहते हैं कि वह मनुष्य ढोंगी है, जो हाथ में माला लेकर तो ब्रह्म का जाप करता रहता है किन्तु जिसका मन सांसारिक विषय-विकारों से भरा हुआ होता है। इस प्रकार के आडम्बरपूर्ण जाप से कोई लाभ नहीं होता। जब तक मन की चंचलता बनी हुई है और वह चारों ओर विषय-भोगों के लिए दौड़ता फिर रहा है, तब तक माला का जाप करना व्यर्थ है। इस संसार में ऐसे अनेक मनुष्य दिखाई देते हैं जो वैसे तो मनसुखी माला धारण किए हुए हैं, किन्तु प्रभु से नाममात्र को भी प्रेम नहीं करते।

वास्तविकता यह है कि सच्ची माला तो मन की है, अर्थात् जब तक मन को वश में नहीं किया जाता, तब तक अन्य पूजा और जाप तथा अनेक प्रकार के वेश निरर्थक तथा बेकार हैं। यदि माला पहनने से प्रभु मिल जाया करता तो सबसे पहले वह अरहट को मिलाता, जो बाल्टियों की माला हर समय धारण किये रहती है।

माला की भांति केशों का मुंडाना भी एक प्रकार का ढोंग हैं। यदि मनुष्य के हृदय में भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम है, वह सब प्राणियों से निष्कपट और सरल व्यवहार करता है, तो उसे एक न एक दिन भगवान् की प्राप्ति अवश्य हो जायेगी, चाहे वह केश रखे अथवा कटवा डाले। जब तक मन में विषय और विकार भरे हुए हैं, तब तक केशों का रखना अथवा मुंडाना व्यर्थ है, क्योंकि सच्ची भक्ति केशों को मुंडाने अथवा रखने से नहीं आती, बल्कि मन को विषय-वासनाओं से दूर करने से आती है।

तिलक आदि भी व्यर्थ और आडम्बरपूर्ण हैं। मन अशुद्ध है तो तिलक और छापा लगाने से कोई काम नहीं चल सकता। बल्कि ऐसा व्यक्ति सांसारिक दुःखों से दग्ध होता रहता है।

भ्रम ही समस्त अज्ञान और दुःख का कारण है। जब तक मनुष्य का भ्रम दूर नहीं हो जाता और वह गुरु की कृपा प्राप्त करके भगवान् से परिचय प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे न तो शांति मिलती है और न मुक्ति। जब तक आत्मा का परमात्मा से परिचय नहीं हो जाता, तब तक साधक के मन में प्रभु-भक्ति का उल्लास उत्पन्न नहीं होता और वह काम, क्रोध, मद आदि विकृत भावों से छुटकारा नहीं पा सकता।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य बाहरी आडम्बरों को छोड़कर सच्चे हृदय से प्रभु की भक्ति करे, तभी उसका कल्याण होगा, मुक्ति मिलेगी।

कर सेती माला जपै, हिरदै बहै डंडूल।
पग तौ पाला मैं गिल्या, भाजण लागी सूल ॥१॥

शब्दार्थ—डंडूल=आंधी या बवंडर। पाला=हिम। गिल्या=गल जाना। सूल=शूल, वेदना।

हे ढोंगी! तू हाथ से तो माला फेरता है अर्थात् बाह्य प्रदर्शन द्वारा भक्तात्मा होने का स्वांग भरता है वैसे तेरे हृदय में विषय-वासनाओं का बवंडर खड़ा रहता है। अब इस विषय-वासना में पड़े रहकर अपना पैर गला यदि तू यह समझे कि इससे वेदना दूर हो जायेगी तो यह मूर्खता होगी।

कर पकरैं अंगुरी गिनै, मन धावै चहुँ वोर।
जाहि फिरांयां हरि मिलै, सो भया काठ की ठोर ॥२॥

शब्दार्थ—गिनैं=गिनना, गणना करना। वोर=ओर। फिरायां=वृत्ति दूसरी ओर करने से। काठ की ठोर=काष्ठवत् जड़ जिस पर उपदेश आदि का कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ता।

हे ढोंगी ! तू हाथ में माला लेकर अंगुलियों से उसके मनकाओं को गिनता रहता है और तेरा मन अन्यत्र भटकता रहता है। जिस मन को संसार से विमुख कर प्रभु-भक्ति में लगाने से प्रभु मिलते वह मन तो बाह्याचारों एवं विषय-वासनाओं में पड़कर काष्टवत् जड़ हो गया है, अब प्रभु-भक्ति किसके द्वारा की जाय।

माला पहरैं मनसुषी, तार्थं कछु न होइ।
मन माला कौं फेरताँ, जुग उजियारा सोइ ॥३॥

शब्दार्थ—मनसुषी=एक प्रकार की माला का नाम।

हे साधक ! तू इस (काष्ठ की) माला को व्यर्थ घुमा रहा है, इससे कुछ लाभ नहीं होने का। यदि तू मन रूप माला को फेर दे, मन को मायाजन्य आकर्षणों एवं विषय-वासना से परिपूर्ण संसार से हटाकर प्रभु-भक्ति में लगा दे, तो इहलोक और परलोक दोनों प्रकाशित हो जायेंगे।

विशेष—रूपक अलंकार।

माला पहरे मनसुषी बहुतें फिरैं अचेत।
गाँगी रोलै बहि गया, हरि सूं नाँहीं हेत ॥४॥

शब्दार्थ—अचेत=असावधान, अज्ञानी। गांगी=गंगा के। रोलै=धारा प्रवाह। हेत=प्रेम, भक्ति।

इस संसार में मनमुखी माला धारण कर घूमने वाले अज्ञानी बहुत से हैं। जिन्होंने प्रभु से प्रेम नहीं किया, वे तो ऐसे ही हैं जैसे कोई गंगा के पास स्नान के लिए आकार उसके प्रवाह में बह जाय।

कबीर माला काठ की, कहि समझावे तोहि।
मन न फिरावै आपणां, कहा फिरावै मोहि ॥५॥

शब्दार्थ— सरल है।

कबीर कहते हैं कि हे साधक ! यह काष्ठ की जड़ माला तुझे समझाती है कि मुझे फिराने से क्या लाभ, अपना मन संसार की ओर से फिराकर प्रभु-भक्ति की ओर क्यों नहीं करता।

भाव यह है कि साधक ! माला फिराना सच्ची साधना नहीं, संसार से चित्तवृत्ति को हटा प्रभु में केन्द्रित करना ही सच्ची भक्ति है।

कबीर माला मन की, और संसारी भेष।
माला पहर्याँ हरि मिलै तौ अरहट कै गलि देष ॥६॥

शब्दार्थ—भेष=दिखावा, प्रदर्शन मात्र। अरहट=रहट, पानी निकालने वाला कुएं में लगा हुआ सिंचाई का एक यन्त्र विशेष, जिसमें बाल्टियों की माला होती है।

कबीर कहते हैं कि वास्तविक माला तो मन की ही है जिसे संसार से फिराकर प्रभु-भक्ति में लगाना है और सब मालाएँ (मनमुखी, चन्दनादि की) तो सांसारिक, बाह्य, प्रदर्शन मात्र हैं। यदि माला के धारण करने से ही प्रभु-प्राप्ति हो जाती हो तो

रहट को भी प्रभु-प्राप्ति हो जाती ।

माला पहर्यां कुछ नहीं, रुल्य मूवा इहि भारि ।
बाहदि ढोल्या हींगलू, भीतरि भरी भँगारि ॥७॥

शब्दार्थ—रुल्य = दवा कर । मूवा = मरना । ढोल्या = ढोने, भार ढोने से तात्पर्य है । हींगलू = भगवा रँगे हुए चोले, जिन्हें साधु धारण करते हैं । भँगारि = विषय-वासनाओं की गन्दगी ।

माला धारण करने से प्रभु-भक्ति सिद्ध नहीं होती, व्यर्थ शरीर ही इसके भार से दबकर मरता है । हे साधक ! इस बाह्य वेश-भूषा के आडम्बर से साधु बनने से क्या लाभ, तेरे मन में तो विषय-विकारों की गन्दगी भरी हुई है ।

माला पहर्यां कुछ नहीं, काती मन कै साथि ।
जब लग हरि प्रगटै नहीं, तब लग पड़ता हाथि ॥८॥

शब्दार्थ—काती = माया-आकर्षणों की कतरनी, कतर-ब्यौंत ।

जब तक मन विषय-वासना के क्षेत्र में कतरब्यौंत करता रहेगा तब तक माला पहनकर प्रभु भक्ति का आडम्बर करने से क्या लाभ । माला की मनकाओं पर तो हाथ तभी तक पड़ता है, जब तक प्रभु दिखाई नहीं देते, क्योंकि उनके प्रेममय स्वरूप के सम्मुख इन बाह्य-मिथ्याचारों का अस्तित्व कहाँ ?

माला पहर्यां कुछ नही, गांठि हिरदा की खोइ ।
हरि चरनूं चित राखिये, तौ अमरापुर होइ ॥९॥

शब्दार्थ – गांठि = माया-जनित, द्वैत-भावना । अमरापुर = अमरपुरी, स्वर्ग, कबीर का तात्पर्य मुक्तात्माओं के लोक से है ।

हे साधक ! माला धारण करने से क्या लाभ, तू अपने हृदय के मायाजनित द्वैत को दूर कर दे । यदि तू प्रभुचरणों में अपना चित्त लगाये रखेगा तो निश्चय ही मुक्तात्माओं के लोक में पहुँच जायगा ।

माला पहर्यां कुछ नही, भगति न आई हाथि ।
माथो मूंछ मुंडाइ करि, चाल्या जगत के साथि ॥१०॥

शब्दार्थ—सरल है ।

माला धारण करने से कोई लाभ नहीं, उससे भक्ति की प्राप्ति भी सम्भव नहीं । हे साधक ! तू शीश और मूँछ मुँडवा कर ढोंगी संसार के समान साधु होने का स्वांग करता है भला—

"मूँड़ मुँड़ाये हरि मिलैं, तो सब कोय लेइ मुँडाय ।"

सांईं सेंती सांच चलि, औरां सूं सुध भाइ ।
भावै लंबे केस करि, भावै घुरडि मुड़ाइ ॥११॥

शब्दार्थ—साँच चलि = सच्चा आचरण कर । सुध भाइ = सुधिपूर्वक, सरल और निष्कपट व्यवहार । भावै = रुचिकर हो ।

हे मनुष्य प्रभु के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कर एवं अन्य सांसारिक

प्राणियों से भी सरल और निष्कपट व्यवहार रख, साधु होने के लिए यही पर्याप्त एवं वांछनीय है। इतना करने के पश्चात् फिर चाहे तो लम्बे-लम्बे केश धारण कर जटा बनाओ या सिर मुँडाकर रहो उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

केसों कहा बिगड़िया, जे मूँडै सौ बार।
मन कौं काहे न मूँडिए जामैं बिषै बिकार ॥१२॥

शब्दार्थ—केसों=बालों ने।

कबीरदास कहते हैं कि भला इन बालों ने क्या अहित किया जो इनको बारम्बार मुँडा देता है। तू अपने मन को विषय विकारों के प्रभाव से हटाकर स्वच्छ क्यों नहीं करता? यह मन ही तो विषय वासनाओं का केन्द्र है।

मन मैंवासी मूडि ले, केसौं मूँडै कांप।
जे कुछ किया सुमन किया, केसौं कीया नांहि ॥१३॥

शब्दार्थ—मैंवासी=मदमस्त या डाकू।

हे साधु! तू बारम्बार शीश क्यों मुँड़ाता है, मन रूपी डाकू को क्यों नहीं मूँडता, स्वच्छ करता। जो कुछ भी पाप कर्म किये हैं वे मन ने किए हैं, केशों ने नहीं।

विशेष—रूपक अलंकार।

मूँड मुँडावत दिन गए, अजहूँ न मिलिया रांम।
रांम नांम कहु क्या करै, जै मन के औरै कांम ॥१४॥

शब्दार्थ—दिन गए=आयु का समय व्यतीत हो चला।

शीश मुँडाते-मुँडाते आयु व्यतीत हो गई, किन्तु आज तक प्रभु-दर्शन नहीं हुए। लोग कहते हैं कि राम-नाम से भी शान्ति प्राप्त न हुई। भला बताइये कि राम-नाम के जिह्वा से उच्चारण मात्र से क्या हो सकता है, जबकि मन तो अन्य आकर्षणों में उलझा रहता है।

स्वांग पहरि सोरहा भया, खाया पीया खूंदि।
जिहि सेरी साधू नीकले, सो तौ मेल्ही मूंदि ॥१५॥

शब्दार्थ—स्वांग पहरि=चमक-दमकपूर्ण, बाह्य वेश-भूषा। सोरहा=सुन्दर। खूंदि=कूद-कूदकर, आनन्दपूर्वक। सेरी=गली, मार्ग। मेल्ही मूँदि=बन्द कर ली।

हे मनुष्य! चमक-दमक पूर्ण बाह्य वेश-भूषा धारण कर आनन्दपूर्वक खाने-पीने में ही मदमस्त बना रहा। हे मूर्ख! अपने इस व्यवहार से तूने अपने लिए उस मार्ग को बन्द कर लिया, जिस पर साधुजन संचरण करते हैं।

बैसनौं भया तौ का भया, बूझा नहीं बवेक।
छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक ॥१६॥

शब्दार्थ—बैसनों=वैष्णव। बूझा=प्राप्त किया। बवेक=ज्ञान। दगध्या=जल चुका है, दुःखित हो चुका है।

छापा-तिलक आदि लगाकर यदि तूने वैष्णव वेष धारण कर लिया तो इससे क्या लाभ ? इस बाह्याडम्बर को धारण कर (हृदय में प्रभु प्रेम न होने पर) संसार से मुक्त नहीं हुआ, वह सांसारिक तापों से दग्ध होता रहा। भाव यह है कि बाह्याचार, वेशभूषा, प्रधान नहीं है, वैष्णव का सच्चा गुण प्रभु-भक्ति, आन्तरिक प्रेम ही है।

तन कौं जोगी सब करैं, मन कौं बिरला कोइ।
सब विधि सहजै पाइए, जे मन जोगी होइ ॥१७॥

कबीरदास कहते हैं कि बाह्याडम्बर से शरीर को तो सब योगी बना सकते हैं किन्तु मन को संसार से विरक्त कर योगी बनाना विरलों के लिए ही सम्भव है। जिसका मन योगी होता है उसे सब सिद्धियाँ स्वयं प्राप्त हो जाती हैं।

विशेष—मन को संसार से विरक्त कर समस्त सिद्धियां प्राप्त करने की बात कबीरदास जी ने इसलिए कही है कि संसार से तटस्थ, निर्लिप्त मन प्रभु भक्ति में लगेगा, और प्रभु-भक्ति समस्त सिद्धि की दाता है ही अतः भक्ति ही कबीर का प्रमुख सम्बल है।

कबीर यहु तौ एक है, पड़दा दींया भेष।
भरम करम सब दूरि करि, सबहीं मांहि अलेष ॥१८॥

शब्दार्थ—यहु तौ=आत्मा और परमात्मा। अलेष=देख।

कबीरदास जी कहते हैं कि आत्मा और परमात्मा एक है, माया-आवरण के कारण ही संसार में जीव और ब्रह्म की सत्ता पृथक्-पृथक् प्रतिभासित होती है। द्वैत का मुख्य, एकमात्र कारण माया-आवरण ही है। हे जीवात्मा ! तू संसार-संशय एवं उससे परिचालित कर्मों का परित्याग कर दे तो तुझे सर्वत्र वह निराकार प्रभु ही दृष्टिगत होगा।

भरम न भागा जीय का, अनंतहि धरिया भेष।
सतगुर परचै बाहिरा, अंतरि रह्या अलेष ॥१९॥

शब्दार्थ—भरम=भ्रम, संशय। जीय=हृदय। भेष=शरीर, जो उसने विभिन्न जन्म-जन्मान्तरों में ग्रहण किये थे।

हे जीवात्मा ! तू संख्यातीत योनियों में भटक रहा है फिर भी तेरा संसार-संशय दूर नहीं होता। जिसे मनुष्य विभिन्न योनियों में भटककर न पा सका, उसी अलख ब्रह्म को सद्गुरु ने बाह्य परिचय मात्र से ही पहचान लिया।

जगत जहंदम राचिया, झूठी कुल की लाज।
तन बिनसैं कुल बिनसि है, गह्यौं न राम जिहाज ॥२०॥

शब्दार्थ—जहंदम=जहन्नुम, नरक, राचिया=सृजा, बनाया है। तन=शरीर, यहाँ जन्म से तात्पर्य है।

संसार में झूठे कुल-गौरव की प्रतिष्ठा के लिए नरक की सृष्टि हो रही है। इस शरीर, जन्म के नष्ट होते ही समस्त कुल-गौरव नष्ट हो जायेगा। इसीलिए हे

मूर्ख ! तू संसार-सागर से पार जाने के लिये राम-नाम रूपी नौका का सम्बल क्यों नहीं पकड़ता ?

विशेष—रूपक अलंकार ।

पष ले बूडीं पृथमीं, झूठी कुल की लार।
अलष बिझायौं भेष मैं, बूडे काली धार ।।२१।।

शब्दार्थ—पष=पक्ष । पृथमीं=पृथ्वी, संसार ।

समस्त संसार कुल-गौरव की आड़ में मिथ्या अहं का प्रदर्शन कर व्यर्थ नष्ट हो गया। बाह्य-वेशभूषा के आडम्बर में पूर्ण ब्रह्म को विस्मृत कर ढोंगी लोग काल-प्रवाह में नष्ट हो गये ।

चतुराई हरि नां मिलै, ए बातां की बात ।
एक निसप्रेही निरधार का, गाहक गोपीनाथ ।।२२।।

शब्दार्थ—ए बातां की बात=सौ बातों की बात, सार तत्व, वास्तविकता । निसप्रेही=निस्पृह, निष्काम ।

वास्तविक बात यह है कि प्रभु की प्राप्ति चतुराई (ज्ञान) से नहीं हो सकती। निस्पृह, निष्काम एवं निराश्रय भक्त को ही प्रभु अपनाते हैं ।

नवसत साजे कांमनीं, तन मन रही सँजोइ ।
पीव कै मनि भावै नहीं, पटम कीयें क्या होइ ।।२३।।

शब्दार्थ—नवसत=नौ+सात=सोलह । साजे=शृंगार । पटम=शृंगार-सज्जा, मंडन आदि ।

कामिनी यदि सोलह शृंगारों से सुशोभित हो तन मन को सुसज्जित करके प्रिय के सम्मुख जाय और तो भी प्रिय को सुन्दर न लगे तो फिर भला ऐसे शृंगार मण्डन से क्या लाभ ? भाव यह है कि बाह्य वेश-भूषा का आडम्बर प्रभु को प्रसन्न नहीं कर सकता उसके लिए तो अमित प्रेम-परिपूर्ण स्वच्छ हृदय की भक्ति की ही आवश्यकता है ।

जब लग पीव परचा नहीं, कन्यां कँवारी जांणि ।
हथ लेवा हौंसैं लिया, मुसकाल पड़ी पिछांणि ।।२४।।

शब्दार्थ—परचा=परिचय, साक्षात्कार से तात्पर्य है ।

जिस भाँति जब तक कुमारिका का प्रियतम से साक्षात्कार नहीं होता (चाहे विवाह हो जाय) तब तक वह कुवाँरी ही कहलाती है, उसी प्रकार जब तक आत्मा का प्रभु से साक्षात्कार नहीं होता तो वह कुवांरी ही कहलाती है चाहे प्रभु-प्राप्ति के (भक्ति) मार्ग पर वह चल पड़े । जिस प्रकार वर कन्या का पाणिग्रहण तो बड़े उल्लासपूर्वक करता है, किन्तु तदनन्तर जीवन की विषम परिस्थितियां अनेक कठिनाइयां उपस्थित कर देती है उसी भाँति आत्मा प्रभु-भक्ति मार्ग पर अग्रसर तो बड़ी प्रसन्नता से हुई, किन्तु बाद में साधना की विकटता उसे विचलित करती है ।

कबीर हरि की भगति का, मन मैं षरा उल्हास ।
मैंवासा भाजै नहीं, हूँण मतै निज दास ॥२५॥

शब्दार्थ—षरा=बहुत । उल्हास=उल्लास आनन्द । मैंवासा=चोर, अहं का दर्प ।

कबीर कहते हैं कि साधक के मन में प्रभु-भक्ति का बड़ा उल्लास है । किन्तु अहंदर्प रूप चोर हृदय से नहीं भागता और वह अपना प्रभाव भक्त पर डालकर उसे पथ-विचलित करना चाहता है ।

मैंवासा मोई किया, दुरिजन काढ़े दूरि ।
राज पियारे रांम का, नगर बस्या भरिपूरि ॥२६॥४६६॥

साधक कहता है मैंने अहं रूपी चोर को मार दिया है एवं काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह रूपी दुर्जनों को दूर कर दिया है । अब मेरे अन्तर-ब्रह्म में प्रभु का ही राज्य रहता है, उसी की भक्ति से परिचालित होकर समस्त कार्य होते हैं ।

२५. कुसगति कौ अंग

अंग-परिचय—कुसंगति साधना में सबसे बड़ी बाधक है । जब तक व्यक्ति कुसंगति में रहता है, तब तक उनके मन पर कुसंगति का ही प्रभाव बना रहता है और यही प्रभाव मनुष्य को हरि-भक्ति की ओर नहीं चलने देता । इसीलिए प्रस्तुत अंग में कबीर ने कुसंगति के दुर्गुणों का विस्तार से वर्णन करते हुए यह बताया है कि मनुष्य को कुसंगति से सदा दूर रहना चाहिए ।

कुसंगति का कुप्रभाव बताते हुए कबीर ने कहा है कि स्वांति नक्षत्र की स्वच्छ बूंद जब पृथ्वी पर आकर गिरती है उसके कुप्रभाव से वह मैली हो जाती हैं, इसलिए व्यक्ति को कभी भी मूर्ख का संग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे किसी भी दशा में कोई लाभ नहीं हो सकता, जिस प्रकार लोहा पानी में नहीं तैर सकता । बल्कि उसका संग भावों को इसी प्रकार विकृत कर देता है जिस प्रकार स्वांति की बूंद सर्प के मुख में गिर जाने पर विष बन जाती है । केला के पास में यदि कोई कांटेदार झाड़ी उग आये तो वह केले के पत्तों को चीर देती है । कुसंगति इतनी बुरी होती है कि यदि इसे मृत्यु का नाम दे दिया जाये तो अनुचित न होगा । जिस प्रकार मक्खी गुड़ से चिपक जाने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार व्यक्ति भी कुसंगति में पड़कर नष्ट हो जाता है । अतः साधक को सदैव कुसंगति से बचना चाहिए ।

निरमल बूंद अकास की, पड़ि गई भोमि बिकार ।
मूल बिनंठा मांनवी, बिन संगीत भठछार ॥१॥

शब्दार्थ—भोमि=भूमि, पृथ्वी । बिनंठा=विष्ट । मांनवी=मनुष्य । भठछार=भट्ठी की राख ।

जिस प्रकार वर्षा की निर्मल बूंद आकाश से पृथ्वी पर गिरकर विकृत हो

जाती है। (गँदले पानी के रूप में वहती है) उसी प्रकार मनुष्य भी सत्संग के अभाव में समूल नष्ट हो भट्ठी की राख के समान व्यर्थ होता है।

विशेष—उदाहरण अलंकार।

मूरिष संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ।
कदली सीप भवंग मुषीं, एक बूंद तिहूँ भाइ ॥२॥

शब्दार्थ—मूरिष=मूर्ख। भवंग=भुजंग, सर्प। तिहु भाइ=तीन रूप।

कबीर कहते हैं कि कभी भी मूर्खों का साथ नहीं करना चाहिए, जिस प्रकार लोहा जल पर नहीं तैर सकता उसी भाँति ये जड़, अाज्ञानी भी सद्विचारों को नहीं अपना सकते। यह संगति का ही प्रभाव है कि स्वाति बूंद विभिन्न संगतियों में पड़कर विभिन्न रूप धारण करती है, यदि वह केले में पड़ती है तो कपूर बनती है, सीप में पड़कर मोती वन जाती है और वही सर्प के मुख में पड़कर विष बन जाती है।

विशेष—यही भाव रहीम के इस पंक्ति में हैं—

'कदली सीप भुजंग-मुख स्वाति बूंद गुन तीन।'

हरिजन सेती रूसणां, संसारी सूं हेत।
ते नर कदे न नीपजैं, ज्यूं कालर का खेत ॥३॥

शब्दार्थ—सेती=से। रूसणां=अप्रसन्न होना। हेत=प्रेम। नीपजैं=पल्लवित होने के अर्थ में, समृद्धि से तात्पर्य। कालर=कल्लर, एक प्रकार की अन उपजाऊ कठोर भूमि, जिसे बन्जर भी कहते हैं।

जो लोग प्रभु-भक्तों से अप्रन्न रहते हैं और संसार-वद्ध लोगों से प्रेम करते हैं वे उसी प्रकार कभी समृद्ध नहीं होते जिस प्रकार बन्जर भूमि में कुछ नहीं उगता। अथवा ऐसे लोगों में कभी भी भक्ति का आविर्भाव नहीं होता जिस प्रकार कल्लर खेत में कुछ नहीं उपजता।

विशेष—उपमा अलंकार।

मारी मरूँ कुसंग की, केला कांठै बेरि।
वो हालै वो चीरिये, साषित संग न बेरि ॥४॥

शब्दार्थ—कांठै=पास, समीप। वेरि=एक पेड़ विशेष जिसमें कांटे होते हैं। हालै=हिलना। चीरिये=फाड़ना। साषित=शाक्त। नबेरि=निवारण।

आत्मा प्रभु से कहती है कि मैं कुसंगति से उसी प्रकार दुखी हूँ जिस प्रकार पास में खड़े वेरी के वृक्ष से केला। बेरी वृक्ष जब पूर्ण स्वच्छन्दता से हिलता है तो उसके कांटे केले के पत्तों को चीर देते हैं उसी भांति मैं भी यहाँ शाक्तों की कुसंगति में पड़कर दुखित हूँ, अतः इन्हें दूर करो।

मेर नींसांणी मीच की, कुसंगति ही काल।
कबीर कहै रे प्राणियां, बांणी ब्रह्म सँभाल ॥५॥

शब्दार्थ—मेर—अहं। प्राणियां=प्राणी।

कबीर कहते हैं कि अहं ही मृत्यु का चिह्न है एवं कुसंगति तो मृत्यु ही है। इसीलिए हे प्राणी ! तू वाणी द्वारा प्रभु भजन कर।

माषी गुड़ मैं गडि रही, पंष रही लपटाइ।
ताली पीटै सिरि धुनैं, मीठै बोई माइ ॥६॥

शब्दार्थ—माषी=मक्खी। ताली पीटै=पंख फड़फड़ाती है। बोई=उत्पन्न होने के अर्थ में। माइ=माया।

कबीर कहते हैं कि आत्मा रूपी मक्खी माया रूपी गुड़ में चिपक गई है, जिस प्रकार मक्खी के पंख भी गुड़ में गड़ जाने पर वह उड़ने में असमर्थ होती है उसी भांति आत्मा भी माया में पूर्ण संलिप्त हो भवबन्धन से नहीं छूट पाती। चाहे मक्खी रूपी आत्मा कितनी भी प्रयत्न करे, किन्तु वह उससे नहीं छूट सकती, माया की मधुरता में ऐसा ही आकर्षण है, जहां माया होगी वहां कभी न छोड़ने वाला आकर्षण अवश्य होगा।

विशेष—रूपक अलंकार।

ऊँचै कुल क्या जनमियां, जे करणीं ऊंच न होइ।
सोवन कलस सुरै भर्या, साधूं निंद्या सोइ ॥७॥४६९॥

शब्दार्थ—सोवन=स्वर्ण। सुरै=मदिरा। निंद्या=निंदा करते हैं।

ब्राह्मण आदि सवर्ण हिन्दुओं पर व्यंग्य करते हुए कबीर कहते हैं कि यदि व्यक्ति के कर्म उच्च नहीं तो उच्च कुल में जन्म होने का क्या गौरव ? स्वर्ण कलश भी यदि मदिरा से परिपूर्ण है तो साधुजन तो उसकी निन्दा ही करेंगे।

२६. संगति कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में कबीरदास ने यह बताया है कि मनुष्य जैसी संगति में बैठता है, उस पर वैसा ही प्रभाव होता है। यदि वह अच्छी संगति में बैठेगा तो उस पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा और यदि वह बुरी संगति में बैठेगा तो उस पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। किन्तु यह प्रभाव तभी पड़ता है, जब मनुष्य का मन उस संगति में रम जाता है। दूसरों के केवल अनुकरण करने से कोई कार्य नहीं बन सकता। यदि कोई व्यक्ति चाहता है कि वह दूसरों का अनुकरण करके ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर ले, अथवा भक्ति प्राप्त कर ले तो यह उसका निरा भ्रम है, क्योंकि देखादेखी न तो प्रभु का परिचय प्राप्त होता है और न भक्ति का रंग चढ़ता है। अतः यदि मनुष्य प्रभु से प्रेम करना चाहता है तो उसे उसकी ओर मनोयोगपूर्वक आकृष्ट होना पड़ेगा। यदि वह सच्चे मन से प्रभु-भक्ति में लगा है। तो संसार की कोई भी बाधा उसे उसके पथ से विचलित नहीं कर सकती, किन्तु जो व्यक्ति माया में संलिप्त हैं, उससे प्रेम करना इतना ही कठिन है जितना कठिन पत्थर में टांकी लगाना अथवा हड्डी तोड़कर उसकी परीक्षा करना। अतः मनुष्य को सोच-समझकर ही किसी संगति में बैठना चाहिए, क्योंकि जैसी संगति होगी, उस पर वैसा ही उसका उसका प्रभाव पड़ेगा।

देखा देखी पाकड़ै, जाइ अपरचै छूटि ।
बिरला कोइ ठाहरै, सतगुर सांमीं मूठि ॥१॥

शब्दार्थ—पाकड़ै=ग्रहण करता है । अपरचै=अपरिचय, परिचय के बिना । साँमीं=सम्मुख । मूठि=मुट्ठी, पूरी शक्ति के साथ वाण प्रहार करने के अर्थ में ।

दूसरे के अनुकरण पर ही प्रभु-भक्ति का मार्ग ग्रहण करना अधिक समय तक नहीं चल पाता । भक्ति-मार्ग (प्रेम-रहस्य) से पूर्ण परिचय न होने के कारण वह छूट जाता है । सद्गुरु के उपदेश रूपी पूर्ण शक्ति से छोड़ गये बाण के सम्मुख प्रभु-भक्ति मार्ग से अनभिज्ञ साधक ठहर नहीं पाता ।

देखा देखी भगति है, कदे न चढई रंग ।
बिपति पड्या यूं छाड़सी, ज्यूं कंचुली भवंग ॥२॥

शब्दार्थ—कदे=कभी भी । भवंग=सांप ।

देखादेखी, अनुकरण मात्र से ही (हृदय में प्रेम न होने पर) कभी भी सच्ची भक्ति नहीं हो सकती । साधना मार्ग में जब विकट स्थिति आती है तो तो ऐसे सच्चे साधक भक्ति को क्षणभर में ऐसे ही त्याग देते हैं जैसे सर्प केंचुली को । भाव यह है कि उनके लिए भक्ति वाहर से लादा हुआ एक निर्मोक मात्र होती है, हृदय के सहज प्रेम से उद्भूत नहीं ।

करिए तौ करि जांणिये, सारीषा सूं संग ।
लीर लीर लोई थई, तऊ न छाड़ै रंग ॥३॥

शब्दार्थ=सारीषा=अपने समान । लीर-लीर=टुकड़े-टुकड़े । लोई=एक प्रकार का वस्त्र-विशेष । थई=हो गई ।

जिससे प्रेम करना है उसे बिलकुल अपने समान ही बना लो जिससे दोनों मिलकर एकमएक हो जायें । लोई को देखो उसने रंग को अपने में ऐसे मिला लिया है कि चीर-चीर होकर फट जाने पर भी वह अपना रंग नहीं छोड़ती ।

विशेष —अनुप्रास अलंकार ।

यहु मन दीजै तास कौं, सुठि सेवग भल सोइ ।
सिर ऊपरि आरास है, तऊ न दूजा होइ ॥४॥

शब्दार्थ—तास कौं=उसको । सेवग=सेवक । आरास=बढ़ई के पास लकड़ी चीरने का एक औजार, यहां विपत्तियों से तात्पर्य है ।

कबीर कहते हैं कि आप अपना मन अर्थात् प्रेम उसी को प्रदान कीजिए जो प्रभु का सच्चा भक्त हो । वह प्रेम में इतना दृढ़ हो गया हो कि चाहे आपत्ति रूपी आरा उसे चीर ही क्यों न दे, नष्ट ही क्यों न कर दे किन्तु वह अपने पंथ से विचलित न हो ।

पांहण टांकि न तौलिए, हाडिन कीजै वेह ।
माया राता मानवी, तिन सूं किसा सनेह ॥५॥

शब्दार्थ—पांहण=पत्थर । हाडि=हड्डी । वेह=विदीर्ण करना । राता=

अनुरक्त। मांनवी=मनुष्य।

जिस प्रकार पत्थर में टांकी लगा कर तोलना एवं हड्डी को तोड़कर परीक्षा लेना कठिन है उसी प्रकार मायासंलिप्त व्यक्ति से भी प्रेम करना कठिन है।

भाव यह है कि मायानुरक्त व्यक्ति प्रेम का पात्र नहीं।

कबीर तासू प्रीति करि, जो निरबाहै ओड़ि।
बनिता विबधि न राचिये, देषत लागै षोड़ि ॥६॥

शब्दार्थ—निरबाहै=निबाहें। ओड़ि=अन्त तक। विवधि=समृद्धि व सम्पत्ति के अर्थ में।

कबीर कहते हैं कि जिससे जीवन पर्यन्त प्रेम-निर्वाह हो उसी से प्रेम करना चाहिए (ऐसा एकमात्र प्रभु ही है) कामिनी और सम्पत्ति में अनुरक्त नहीं होना चाहिए, इनके तो दर्शन मात्र से पाप लगता है।

कबीर तन पंषी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ।
जो जैसी संगति करै, सो तैसे फल खाइ ॥७॥

शब्दार्थ—पंषी=पक्षी।

कबीर कहते हैं कि यह शरीर विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिए बन गया है, जहां इच्छा होती है वहीं उड़ जाता है। यह बुरी संगत का ही परिणाम है, जैसी संगति की है वैसे परिणाम भोगने पड़ेंगे।

काजल केरी कोठड़ी, तैसा यहु संसार।
बलिहारी ता दास की, पैसि र निकसणहार ॥८॥४७७॥

जिस प्रकार काजल की कोठरी में घँसकर कोई बेदाग निष्कलंक नहीं लौटता वैसा ही यह संसार है जिसमें रहकर विषय-वासनाओं की कालिख थोड़ी बहुत अवश्य लग जाती है। कबीर कहते हैं कि मैं उस भक्त की बलिहारी जाता हूँ जो इससे प्रवेश करके प्रभावों से अछूता ही निकल आता है।

विशेष—उपमा अलंकार।

२७. असाध कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में कबीर ने बताया है कि इस संसार में अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जो वेश तो साधु का धारण किये हुए हैं, किन्तु मन से असाधु हैं; अर्थात् उनका मन विषय और विकारों से भरा हुआ है। अतः साधक को किसी का उज्ज्वल वेश देखकर ही उस पर विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। ऐसा व्यक्ति उस बगुले के समान होता है जो दिखाई तो ऐसा देता है जैसे वह किसी गहरे ध्यान में डूबा हुआ हो, किन्तु जब भी कोई मछली उसके पास आती है, वह तुरन्त उसे चट कर जाता है। इसी प्रकार ये वेशधारी साधु जिस व्यक्ति को अपने चंगुल में फँसा लेते हैं, उसे पथ-भ्रष्ट कर देते हैं जिससे वह नाना प्रकार के दुखों और कष्टों को भोगता रहता है। अतः किसी भी व्यक्ति की पहले पूरी थाह ले लेनी चाहिए और उसका विश्वास करना चाहिए।

कबीर भेष अतीति का, करतूति करै अपराध।
बाहरि दीसै साध गति, माहैं महा असाध ॥१॥

शब्दार्थ—अतीत=वैरागी।

कबीर कहते हैं कि वेश तो वैरागी के समान धारण किया हुआ है और कर्म पाप-परिपूर्ण है, जो इस प्रकार बाह्यवरण से साधु दृष्टिगत होते हैं, वे भीतर हृदय में अनेक कलुषताओं से भरे रहते हैं।

उज्ज्वल देखि न धीजिये, बग ज्यूं मांडै ध्यान।
धोरैं बैठि चपेटसी, यूं ले बूड़ै ग्यान ॥२॥

शब्दार्थ—धीजिए=विश्वास कर बैठिए। बग=बक, बगुला। माँड़ै=मछली। धोरैं=पास।

किसी की उज्ज्वल वेश-भूषा देखकर उसके उज्ज्वलमना होने का विश्वास मत कर बैठिए। हो सकता है कि वह मछली की खोज में एक टांग से चुपचाप खड़े बगुले के समान हो। जिस भांति मछली के पास आन पर बगुला उसको चट कर जाता है उसी भांति वह तुमको अपने पूर्ण सम्पर्क में लाकर अपने ज्ञान के साथ ही समाप्त न कर दे।

विशेष—सहोक्ति अलंकार।

जेता मीठा बोलणां, तेता साध न जांणि।
पहली थाह दिखाइ करि, ऊंडै देसी आंणि ॥३॥५८०॥

शब्दार्थ—थाह=पार पाने योग्य उथला पानी। ऊंडै=गहरे पानी में।

कबीर कहते हैं कि जितने भी मृदु भाषी हैं उन सबको ही साधु मत समझो। वे लोग ऐसा ही करते हैं कि पहले उथला जल दिखाकर फिर गहरे पानी में ले जाकर डुबो देते हैं।

२८. साध कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में कबीर ने सत्संगति की महिमा का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि साधुओं की संगति कभी भी निष्फल नहीं जाती और उनकी संगति में बैठने पर फिर किसी प्रकार के दोष लगने का डर नहीं रहता, क्योंकि चन्दन के वृक्ष को कोई भी नीम के समान कड़ुआ नहीं बता सकता। साधु-संगति के बिना तीर्थों का भी कोई प्रयोजन नहीं होता। व्यक्ति चाहे मथुरा जाये, या द्वारिका जाये या जन्नाथ के दर्शन करे, किन्तु यदि उसकी संगति अच्छी नहीं है और उसके हृदय में भगवान् की भक्ति नहीं है तो उसका तीर्थों पर जाना एकदम बेकार है। जब राम सरीखे साधुओं की संगति मिल जाती है तो मनुष्य के सारे कार्य आप से आप सिद्ध होते चले जाते हैं। इसी लिए जिस दिन साधु के दर्शन हो जायें, उस दिन को शुभ समझना चाहिए। जिस प्रकार आक और पलास के बीच में चंदन का वृक्ष उग कर उन्हें भी सुगंधिपूर्ण बना देता है, उसी प्रकार साधु-संगति बुरे व्यक्ति को भी अच्छा

व्यक्ति बना देती है। जो व्यक्ति जान-बूझकर सज्जनों का परित्याग करते हैं और दुष्टों की संगति प्राप्त करते हैं, ऐसे मनुष्यों के पास भूलकर भी नहीं रहना चाहिए, क्योंकि इनकी संगति सदैव कष्टप्रद और पापों की ओर ले जाने वाली होती है। यह संसार काजल की कोठरी के समान है जिसकी सीमाएँ विषय तथा वासनाओं से घिरी हुई हैं। इन सीमाओं का लांघने का; अर्थात् विषय तथा वासनाओं से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय सत्संगति ही है।

कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ।
चंदन होसी बांवना, नींब न कहसी कोइ ॥१॥

शब्दार्थ – निरफल = निष्फल। बांवना = श्रेष्ठ। नीव = नीम।

कबीर कहते हैं कि साधु-संगति कभी भी व्यर्थ नहीं जाती। साधु-संगति से तुम नीम जैसे कड़वे से सुशीतल सुगन्धदायी चंदन बन जाओगे फिर तुम्हें कोई नीम—कड़वा, बुरा—न कह सकेगा।

कबीर संगति साध की, बेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूरि गँवाइसी, देसी सुमति बताइ ॥२॥

शब्दार्थ—दुरमति = दुर्बुद्धि। सुमति = सुबुद्धि।

कबीरदास कहते हैं कि साधु जनों की संगति शीघ्रातिशीघ्र करो। उससे दुर्बुद्धि का नाश एवं सद्बुद्धि की प्राप्ति होती है।

मथुरा जावै द्वारिका, भावै जावै जगनाथ।
साध संगति हरिभगति बिन, कछू न आवै हाथ ॥३॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि मथुरा द्वारिका जगन्नाथ या अन्य तीर्थस्थल चाहे जहाँ चले जाओ किन्तु साधुसंगति और प्रभु-भक्ति के बिना कुछ भी प्राप्ति नहीं हो सकती।

मेरे संगी दोइ जणां, एक बैष्णौं एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नांम ॥४॥

शब्दार्थ=सरल है।

कबीरदास कहते हैं कि मेरे साथी दो ही हैं—एक तो वैष्णव एवं दूसरे प्रभु। प्रभु तो मुक्ति को देने वाले हैं ही, वैष्णव भी प्रभु का नाम स्मरण कर ईश्वर भक्ति में प्रवृत्त करता है।

कबीर बन बन मैं फिरा, कारणि अपणें रांम।
रांम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब कांम ॥५॥

शब्दार्थ—सारे = पूर्ण किये।

कबीर कहते हैं कि अपने प्रभु की खोज में मैं वन-वन भटकता फिरा। मुझे प्रभु के समान ही प्रभु-भक्त मिल गये, जिन्होंने मेरा उद्देश्य सिद्ध कर दिया, मुझे प्रभु से मिला दिया।

कबीर सोई दिन भला, जा दिन संत मिलांहि।
अंक भरे भरि भेटिया, पाप सरीरौं जांहि ॥६॥

शब्दार्थ—सरीरौं=शरीर का।

कबीर कहते हैं कि वही दिवस श्रेष्ठ है, जिस दिन संत-दर्शन हो जांय। उनको प्रेमपूर्वक आलिंगन कर भेंट करने से शरीर के समस्त पाप दूर हो जाते हैं।

कबीर चंदन का बिड़ा, बैठ्या आक पलास।
आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास ॥७॥

शब्दार्थ—बिड़ा=वृक्ष।

कबीर खाई कोट की, पांणीं पिवै न कोइ।
जाइ मिलै जब गंग मैं, तब सब गंगोदिक होइ ॥८॥

शब्दार्थ—कोट=किला। गंगोदिक=गंगाजल।

कबीर कहते हैं कि किले से निकलने वाली गन्दी खाई, नाले का पानी कोई नहीं पीता है किन्तु जब वही नाला गंगाजी में जाकर मिल जाता है तो पवित्र गंगा-जल हो जाता है जिसका सब श्रद्धापूर्वक पान करते हैं।

विशेष—तुलसी से तुलना कीजिए—

"गगन चढ़हिं रज पवन-प्रसंगा।"

जांनि बूझि साचहि तजैं, करैं झूठ सूं नेह।
ताकी संगति राम जी, सुपिनैं ही जिनि देहु ॥९॥

शब्दार्थ—जिनि देहु=मत दो।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! जो जान-बूझकर सज्जनों को परित्याग कर मिथ्याचारियों से सम्बन्ध रखते हैं उनकी संगति मुझे स्वप्न में भी मत दो।

कबीर तास मिलाइ, जासहि यालो तूं बसै।
नहीं तर बेगि उठाइ, नित का गंजन को सहै ॥१०॥

शब्दार्थ—तास=उससे। हियाली=हृदय। गंजन=दुख।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! या तू मेरी भेंट उनसे करा दे जिनके हृदय में तेरा निवास है अन्यथा फिर मेरा जीवन ले ले, नित्य-प्रति कुसंगति का दुख कौन सहन करता रहे?

केती लहरि समंद की, कत उपजै कत जाइ।
बलिहारी ता दास की, उल्टी मांहि समाइ ॥११॥

कबीर कहते हैं कि इस भवसागर में कितनी लहरें उठती और गिरती हैं, कितने मनुष्य आवागमन चक्र में पड़ जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मैं उस भक्त की बलिहारी जाता हूं जो जन्म धारण कर प्रभु-भक्ति के माध्यम से ब्रह्म में लीन हो जाता है।

काजल केरी कोठड़ीं, काजल ही का कोट।
बलिहारी ता दास की, जे रहै रांम की ओट ॥१२॥

यह संसार काजल का कोठरी के समान है जिसकी सीमाएँ विषय-वासनाओं की कालिमाओं से ही युक्त हैं। कबीर कहते हैं कि मैं उस प्रभु-भक्त की बलिहारी जाता हूँ जो संसार में रहकर भी इसकी वासना-कालिमा से दूर रहता है।

विशेष—उपमा अलंकार।

भगति हजारी कपड़ा, तामैं मल न समाइ।
साषित काली काँबली, भावै तहां बिछाइ ॥१३॥४६३॥

शब्दार्थ—हजारी कपड़ा=वह वस्त्र जिसका मूल्य एक सहस्र रुपये हो, बहुमूल्य से तात्पर्य। साषित=शाक्त, यहाँ शाक्त सम्प्रदाय या साधना से तात्पर्य है।

भक्ति उस बहुमूल्य वस्त्र के समान है जिसमें तनिक सा भी पापरूपी मैल छिप नहीं सकता। दूसरी ओर शाक्त साधना वाले कम्बल के समान हैं जिसे चाहो जहाँ बिछा दो।

भाव यह है कि शाक्त साधना भक्ति-सम्प्रदाय की तुलना में निकृष्ट है।

२६. साध साषीभूत कौ अंग

अंग-परिचय—वेशधारी साधु तो अनेक मिल जाते हैं, किन्तु सच्चा साधु कोई बिरला ही होता है। प्रस्तुत अंग में कबीरदास ने सच्चे साधु के लक्षण बताये हैं। वे कहते हैं कि सच्चे साधु में किसी के प्रति वैर की भावना नहीं होती, वह निष्काम भाव से प्रभु की भक्ति में लीन रहता है, चाहे उसे करोड़ों असन्त मिल जायें तो भी वह अपनी साधुता नहीं छोड़ता; अर्थात् कुसंगति का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

साधु का शरीर क्षीण होता है, क्योंकि वह अन्य सांसारिक मनुष्यों की भाँति निरंकुश नहीं होता। वह रात दिन प्रभु की भक्ति में लगा रहता है और रात-दिन प्रभु के वियोग में जल-विहीन मछली की भाँति तड़पता रहता है। वह ज्ञानी होता है, इसलिए उसे अनेक प्रकार की मानसिक अशांतियों का सामना करना पड़ता है, उसके हृदय में सदैव प्रभु-विरह की आग जलती रहती है, उसे नित्य अपने मन से द्वन्द्व करना पड़ता है। वह प्रभु वियोग में इतना दुःखी होता है कि कोई उसके दुःख को नहीं जान पाता। कामिनी से विरक्त होना तथा प्रभु के नाम में अनुरक्त होना ही उसके जीवन का उद्देश्य होता है, क्योंकि उसे पता है कि जब तक मन में कामिनी का आकर्षण है, तब तक प्रभु की प्राप्ति असम्भव है। वह अद्वैत भाव से प्रभु की भक्ति करता है, बिना स्वार्थ के ही सबका आदर करता है और उसके मुख पर दिव्य प्रकाश की झलक सदैव झलकती रहती है, क्योंकि जिस हृदय के भीतर प्रभु का पदार्पण हो जाता है, उसकी निर्मल ज्योति सदैव भासमान रहती है और छिपाने से कभी भी नहीं छिपती।

ऐसे सच्चे साधु संसार में बिरले ही होते हैं क्योंकि यद्यपि प्रभु की ज्योति सभी के हृदयों में निहित होती है, किन्तु कुछ ही व्यक्ति उस ज्योति की महिमा को समझ पाते हैं। ऐसे साधुजनों को ही अकस्मात् प्रभु के दर्शन हो जाते हैं।

निरवैरी निह-कांमता, साईं सेती नेह।
बिषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥१॥

शब्दार्थ—निह-कांमता = निष्कामता, कामना विरत होना। विषिया = विषय-वासनाएँ। अंग = लक्षण, गुण।

कबीरदास कहते हैं कि किसी से वैरभाव न रखना, निष्कामना प्रभु-भक्ति, विषयों से पूर रहना यही सन्तों के लक्षण हैं।

संत न छाड़ै संतई, जे कोटक मिलैं असंत।
चंदन भुवंगा बैठिया, तउ सीतलता न तजंत ॥२॥

शब्दार्थ - भुवंगा = साँप। तजंत = नहीं छोड़ता है।

सन्त करोड़ों असन्तों के बीच में रहकर भी अपनी वृत्ति का परित्याग नहीं कर सकता। चन्दन के वृक्ष पर सर्प लिपटे रहते हैं तो भी वह अपनी शीतलता नहीं त्यागता।

विशेष—(१) अर्थान्तरन्यास अलंकार।

कबीर हरि का भांवता, दूरै थैं दीसंत।
तन षीणां मन उनरनां, जग रूठड़ा फिरंत ॥३॥

शब्दार्थ—भांवता = चाहने वाला, भक्त। दीसंत = दृष्टिगत होता है। षीणां = क्षीण।

कबीरदास कहते हैं कि प्रभु-भक्त दूर से ही दिखाई दे जाता है। उसका शरीर क्षीण, मन उन्मनी अवस्था में अर्थात् भीतर ही केन्द्रित एवं वह संसार से, असम्पृक्त रहता है।

कबीर हरि का भांवता, झीणां पंजर तास।
रैंणि न आवै नींदड़ी, अगि न चढ़ई मास ॥४॥

शब्दार्थ—झीणां = क्षीण।

कबीरदास कहते हैं कि जो प्रभु-भक्त होता है उसका शरीर बड़ा क्षीण होता है क्योंकि वह अन्य सांसारिकों के समान निरंकुश नहीं होता। प्रभु की भक्ति में अनुरक्त रहने के कारण उसे रात को नींद नहीं आती और न वह शरीर से पुष्ट होता है।

अणरता सुख सोवणां, रातै नींद न आइ।
ज्यूं जल टूटै मंछली, यूं बेलत बिहाइ ॥५॥

शब्दार्थ—अणरता = जो अनुरक्त नहीं है। रातै = जो अनुरक्त हैं। टूटै = समाप्त होने पर। बेलत = तड़प कर।

जो प्रभु में अनुरक्त नहीं हैं वे सुख की नींद सोते हैं तथा जिनकी वृत्ति

प्रभु में रमी हुई है वे सुख-निद्रा में सो नहीं पाते। उनकी अवस्था उस मछली के समान होती है जो जल समाप्त होने पर तड़पती है। वे भी प्रभु-वियोग से तड़पते हैं।

जिन कुछ जांण्यां नहीं, तिन्ह सुख नींदड़ी बिहाइ।
मैर अबूझी दूझिया, पूरी पड़ी बलाइ ॥६॥

शब्दार्थ—अबूझी=अज्ञानी। दूझिया=प्रवृत्त होना। बलाइ=विपत्ति।

कबीरदास कहते हैं कि जिन्होंने ज्ञानार्जन का कुछ प्रयत्न नहीं किया उन्होंने सम्पूर्ण आयु सुख-निद्रा में व्यतीत कर दी। मैं अज्ञानी जब उस ब्रह्म को जाननें के लिए साधना में प्रवृत्त हुआ तो प्रभु-वियोग की यह विपत्ति मेरे गले पड़ गई।

जांण भगत का नित मरण, अण जाणें का राज।
सर अपसर समझै नहीं, पेट भरण सूं काज ॥७॥

शब्दार्थ—जांण=ज्ञानी। अण जाणें=अज्ञानियों। राज=आनन्द से तात्पर्य। सर अपसर=अवसर-अनवर। पेट-भरण=जीवन की पाशविक वृत्तियों के लिए।

ज्ञानी का तो नित्य मरण है, क्योंकि उसे वियोग में शत-शत मृत्यु की वेदना को सहन करना पड़ता है। आनन्द तो केवल अज्ञानियों को प्राप्त है जिन्हें प्रभु-भक्ति से कोई प्रयोजन नहीं, केवल जीवन की पाशविक वृत्तियों को ही संतुष्ट करने में उनके कर्तव्य की इति-श्री हो जाती है।

जिहि घटि जांण बिनाण है, तिहिं घटि आवटणां घणा।
बिन षंडै संग्रांम है, नित उठि मन सौं झूझणां ॥८॥

शब्दार्थ—जांण-बिनाण=ज्ञान-विज्ञान। आवटणां=औटना, संतप्त होने के अर्थ में। घणा=अत्यधिक। षंडै=तलवार। झूझणां=युद्ध करना।

कबीरदास कहते हैं कि जिसके हृदय में ज्ञान-विज्ञान है अर्थात् जो विवेकी है उसके हृदय में विरह-वह्नि प्रज्वलित रहती है। उसे नित्य प्रति उठकर अपने मन से द्वन्द्व करना पड़ता है कि वह असद् मार्ग की ओर प्रवृत्त न हो। इस प्रकार बिना तलवार के वहाँ नित्यप्रति युद्ध होता है।

विशेष—विभावना अलंकार।

रांम बियोगी तन बिकल, ताहि न चीन्हैं कोइ।
तंबोली के पांन ज्यूं, दिन दिन पीला होइ ॥९॥

शब्दार्थ—चीन्हैं=पहिचानना।

जो प्रभु-वियोगी होता है उसकी वेदना को कोई नहीं जान पाता। वह तो तमोली की दूकान पर रखे पान के समान दिन प्रतिदिन पीला होता जाता है।

विशेष—उपमा अलंकार।

पीलक दौड़ी साँइयां, लोग कहै पिंड रोग।
छाँनैं लंघण नित करै, राँम पियारे जोग ॥१०॥

शब्दार्थ—पीलक=पीलापन। साँइयाँ=प्रभु। पिंड=पीलिया, एक रोग-विशेष जिसमें व्यक्ति दिन-प्रतिदिन पीला पड़ता जाता है। छाँनैं=क्षीण। लंघण =व्रत।

हे प्रभु! तुम्हारे वियोग में पीड़ित होकर मेरा शरीर दिन-प्रतिदिन पीला पड़ता जाता है, सब यह कहते हैं कि इसे पीलिया हो गया है। राम के वियोग में मैं न कुछ खा सकता हुँ, न पी सकता हूँ इससे मैं और भी क्षीण होता जाता हूँ जिससे प्रियतम से मिलन हो सके।

काम मिलावें रांम कूं, जे कोई जांणें राषि।
कबीर बिचारा क्या करै, जाका सुखदेव बोलैं साषि ॥११॥

शब्दार्थ—सरल है।

यदि कर्मों को उचित रीति से सम्पन्न किया जाय तो कर्म ही प्रभु से मिला देते हैं। ऐसा कहकर मैं कोई मिथ्या तत्व प्रतिपादित नहीं कर रहा हूँ, मेरे कथन की साक्षी तो शुकदेव जी ने भी दी है।

विशेष—कबीर ने अपने वचनों की आप्तता, आर्षता घोषित करने लिये स्थान-स्थान पर वैष्णवों के पूज्य ऋषियों एवं देवताओं द्वारा अपनी वाणी का समर्थन बताया है।

कांमणि अंग बिकरत भया, रत भया हरि नांइ।
साषी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भये कलि मांहि ॥१२॥

शब्दार्थ—कांमणि=कामिनी। रत=अनुरक्त।

कामिनी से विरक्त होना एवं प्रभु के नाम में अनुरक्त होना ही श्रेय है। इसके साक्षी गुरु गोरखनाथ हैं, जिन्होंने कलियुग में भी इस आचरण से अमरता प्राप्त कर ली।

विशेष—गोरखनाथ—"ये एक प्रसिद्ध योगी तथा महात्मा थे, नाथ संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। ये तन्त्र विद्या के आचार्य भी थे, इनके बनाये हुए संस्कृत में ग्रन्थ भी हैं। नौ नाथ तथा चौरासी सिद्धों में इनकी गणना है, गोरखपुर में इनके नाम का मन्दिर भी है।"—कबीर बीजक

जदि बिषै पियारी प्रीति सूं, तब अंतरि हरि नांहि।
जब अंतर हरि जा बसै, तब बिषिया सूं चित नांहि ॥१३॥

शब्दार्थ—विषै=विषय-वासनाएँ।

जब तक विषय-वासनाएं प्रभु-भक्ति से अधिक प्रिय हैं तब तक हृदय में प्रभु का निवास नहीं हो सकता। जब हृदय में प्रभु का वास हो जायगा तब मन विषयों में नहीं लगेगा।

विशेष—तुलना कीजिए।

"तुम अपनायो तब जानिहौ, जब मन फिरि परिहए। (विनय पत्रिका)

जिहि घट मैं संसौ बसै, तिहि घटि राम न जोइ।
राम सनेही दास बिचि, तिणां न संचर होइ॥१४॥

शब्दार्थ—विचि = मध्य में। तिणां = तृण।

जिस हृदय में मायाजनित द्वैत-भावना है उसमें प्रभु का वास नहीं हो सकता प्रभु एवं प्रेमी भक्त में तो इतनी सी भी दूरी नहीं होनी चाहिए जो उनके बीच तृण का भी संचार हो सके।

स्वारथ को सबको सगा, जब सगला ही जांणि।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांणि॥१५॥

शब्दार्थ—सगा = निकट, सम्बन्धी। सगला = सम्पूर्ण।

कबीरदास कहते हैं कि समस्त संसार स्वार्थ सिद्धि के ही कारण सब को अपना सम्बन्धी बनाता है। यदि कोई बिना स्वार्थ ही के अपना आदर करे तो समझिए कि उसमें प्रभु-भक्ति अवशिष्ट है।

जिहि हिरदै हरि आइया, सो क्यूं छांनां होइ।
जतन जतन करि दाबिये, तऊ उजाला सोइ॥१६॥

शब्दार्थ—छांनां = छिपाना।

जिस हृदय के भीतर प्रभु का पदार्पण हो गया वह कैसे छिपाया जा सकता है, उसकी निर्मल ज्योति सर्वदा भासमान रहती है। चाहे ब्रह्म की उस निरंजन ज्योति को दबा-दबाकर मनुष्य कितना भी छिपाने का उपक्रम क्यों न करे तो भी उसका प्रकाश प्रकाशित ही होता रहेगा।

फाटै दीदै मैं फिरौं, नजरि न आवै कोइ।
जिहि घटि मेरा सांइयां, सो क्यूं छांनां होइ॥१७॥

शब्दार्थ—फाटै = खोलकर। दीदै = नेत्र।

मैं नेत्र फाड़-फाड़ कर देख रहा हूँ, किन्तु फिर भी कोई प्रभु-भक्त दृष्टिगत नहीं हो रहा है। जिस हृदय में मेरे स्वामी, ब्रह्म का निवास है वह छिपाया नहीं जा सकता।

भाव यह है कि महात्मा अलग से ही दीख जाते हैं।

सब घटि मेरा सांइयां, सूनी सेज न कोइ।
भाग तिन्हौं का हे सखी, जिहि घटि परगट होइ॥१८॥

शब्दार्थ—घटि = हृदयों में।

सर्वत्र सब प्राणियों में प्रभु बसे हुए हैं, कोई भी हृदय-शय्या उनसे शून्य नहीं हैं। हे सखी! जिसके हृदय में भी वे उत्पन्न हो गए, यह उस जीवात्मा का भाग्य है।

पावक रूपी रांम है, घटि घटि रह्या समाइ।
चित चकमक लागै नहीं, तार्थं धूंवां ह्वै ह्वै जाइ ॥१६॥

शब्दार्थ—पावक=आग।

कबीर कहते हैं कि प्रभु उस अग्नि के समान हैं जो भस्मावृत रह प्रत्येक के हृदय में समायी रहती है, किन्तु उसे चित्त, मन रूपी चकमक पत्थर का स्पर्श नहीं हो पाता जिससे प्रभु रूपी अग्नि के दर्शन नहीं होते, इसलिए केवल धुआँ ही धुआँ (विषय-वासनाओं की कालिमा) ही दृष्टिगत होती है। भाव यह है कि चित्त वृत्तियां प्रभु में केन्द्रित होने पर ही उसका दर्शन सम्भव है।

कबीर खालिक जागिया, और न जागै कोइ।
कै जागै विषई विष भर्या, कै दास बंदगी होइ ॥२०॥

शब्दार्थ—खालिक=प्रभु।

कबीर कहते हैं कि केवल प्रभु ही जगता है और कोई नहीं। या जागता है तो विषयी व्यक्ति जागता है जो नाना भोगों में संलिप्त रहता है या फिर वह प्रभु भक्त ही जागता है जो भक्ति में निमग्न रहता है।

कबीर चाल्यां जाइ था, आगैं मिल्या खुदाइ।
मीरां मुझ सौं यौं कह्या, किन फुरमाई गाइ ॥२१॥५१४॥

शब्दार्थ—फुरमाई=फरमाना। मीराँ=प्रभु, कुछ स्थानों पर भी आज भी मीराँ-नामक देवता की पूजा होती है।

कबीर कहते हैं कि मैं यों ही अपनी धुन में मस्त चला जा रहा था कि आगे प्रभु मिल गये। उन्होंने मुझ से कहा कि तू अपने विचारों को गाकर प्रस्तुत क्यों नहीं करता ? इसलिए मैं अपने विचारों को गा-गा कर प्रस्तुत कर रहा हूँ।

३०. साध महिमां कौ अंग

अंग-परिचय—प्रस्तुत अंग में कबीर ने साधुओं की—सज्जनों—महिमा का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि साधु यदि थोड़े से भी हों तो वे उन असाधुओं की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ हैं जिनके गाँव के गाँव बसे हुए हैं। जहाँ पर साधु निवास करते हैं, वहीं पर वास्तविक शोभा रहती है। जिस नगर में साधुओं का निवास नहीं है, चाहे वह नगर कितना ही सुन्दर और सुशोभित हो, किन्तु वह ऊजड़ प्रदेश के समान ही समझना चाहिए। इसी प्रकार जिस घर में साधुओं की सेवा नहीं होती, वे घर भी श्मशान के समान हैं। किसी भी धनाढ्य की अपेक्षा उस साधु का दर्जा बहुत बड़ा है जो निरन्तर प्रभु की भक्ति में लग रहता है, चाहे वह भिक्षा माँगकर ही अपनी जीविका चलाता हो। इसी प्रकार राजा की रानी की तुलना में वह पनिहारी श्रेष्ठ है जो रात-दिन प्रभु की भक्ति में लगी रहती है। वह माता भी धन्य है जिसने प्रभु-भक्त को जन्म दिया है। इसके विपरीत जिस कुल में किसी प्रभु-भक्त का जन्म नहीं हुआ है। वह कुल कभी भी गौरवशाली नहीं हो सकता और उसके अस्तित्व का

कोई प्रयोजन भी नहीं होता। इसीलिए प्रभु-भक्ति से विहीन होकर ऊँचे-ऊँचे महलों में रहना भी अच्छा नहीं है। वस्तुतः जहाँ साधु होते हैं, वहाँ स्वयं प्रभु निवास करते हैं।

चंदन की कुटकी भली, नां बंबूर की अबरांउँ।
बैश्नों की छपरी भली, नां साषत का बड गाउँ ॥१॥

शब्दार्थ—कुटकी=छोटी सी गठरी से तात्पर्य है। बंबूर=बबूल।,अबराउँ=जंगल। साषत=शाक्त। बड़—बड़ा।

कबीर कहते हैं कि अच्छी वस्तु का थोड़ी मात्रा में प्राप्त होना ही अच्छा है और बुरी वस्तु की बहुत बड़ी मात्रा में प्राप्ति भी अश्रेयस्कर है। चन्दन की लकड़ी का एक छोटा सा बन्डल ही बबूल वृक्ष के वन जिसमें लकड़ी ही लकड़ी होती है, से श्रेष्ठ है। वैष्णवों की एक कुटिया ही शाक्तों के बड़े गांवों से श्रेष्ठ है।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

पुरयाटण सूबस बसै, आनंद ठांयें ठाँइ।
रांम सनेही बाहिरा, ऊजंड़ मेरे भाइ ॥२॥

शब्दार्थ—सूबस=सुरीति ते। बसै=बसा हुआ। ठाँयें ठाँइ=अत्यधिक। बाहिरा=बिना। ऊजंड़=उजाड़, शून्य।

कोई कितने ही सुन्दर ढंग से बसा हुआ नगर हो और उसमें आनन्दोल्लास का वार-पार न हो, किन्तु यदि वह प्रभु-भक्त से शून्य हो तो निश्चय ही वह ऊजड़ शून्य प्रदेश तुल्य है।

विशेष—उपमा अलंकार।

जिहिं घरि साध न पूजिये, हरि की सेवा नाँहि।
ते घर मड़हट सारषे, भूत बसै तिन माँहि ॥३॥

शब्दार्थ—मड़हट=मरघट, श्मशान।

जिस घर में साधु की सेवा एवं प्रभु-भक्ति नहीं है वह घर श्मशान तुल्य शून्य तथा भयानक है। उसके अन्दर तो सांसारिक क्लेशों के भूत घर किये रहते हैं।

विशेष—उपमा अलंकार।

है गै गैंबर सघन घन, छत्र धजा फरराइ।
ता सुख थें भिष्या भली, हरि सुमरत दिन जाइ ॥४॥

शब्दार्थ—है=हय, अश्व। गै=गयंद, हाथी। सघन घन=घनीभूत जनसंख्या। भिष्या=भिक्षा।

यदि किसी के पास हाथी घोड़े, अत्यधिक प्रजा से पूरित ग्राम, शीश पर छत्र एवं महल-अट्टालिकाओं पर फहराती ध्वजा आदि समस्त ऐश्वर्य हो, केवल प्रभु-भक्ति न हो तो ये सब व्यर्थ हैं। दूसरी ओर यदि प्रभु-भक्ति में समस्त दिन

व्यतीत हो जाता है और भिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है तो यह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

हैं गै गैंवर सघन घन, छत्रपती की नारि।
तास पटंतप नां तुलैं, हरिजन की पनिहारि ॥५॥

शब्दार्थ पटंतर=बराबर, समान।

हाथी, घोड़े एवं अमित ऐश्वर्यशाली राजा रानी भी प्रभु-भक्ति की पनिहारिन की तुलना में ही रखी जा सकती हैं, यह उससे हेय है।

क्यूं नृप नारी नींदये, क्यूं पनिहारी कौं मांन।
वा मांग संवारै पीव कौं, वा नित उठि सुमरै रांम ॥६॥

शब्दार्थ—नृप नारी=रानी। नींदये=निंदिता। मान=सम्मान।

राजा की ऐश्वर्ययुक्त रानी की निम्नता एवं प्रभु-भक्त की पनिहारिन की श्रेष्ठता किस कारण वतायी गयी है ? एक (रानी) तो अपने लौकिक प्रियतम के लिए लिए शृंगार-मण्डन करती है और (पनिहारिन) सच्चे स्वामी प्रभु का नित्य प्रति भजन करती है। इसी अन्तर के कारण द्वितीय प्रथम से महान् है।

कबीर धनि ते सुन्दरी, जिनि जाया बैसनौं पूत।
राम सुमरि निरभै हुवा, सब जग गया अऊत ॥७॥

शब्दार्थ—अऊत=निपूत।

कबीर कहते हैं कि वह स्त्री धन्य है जिसने वैष्णव पुत्र-रत्न प्रसूत किया, क्योंकि वह प्रभु को स्मरण कर निर्भय हो जाता है और शेष संसार तो निपूत, निस्संतान, ही रह गया।

कबीर कुल तौ सो भला, जिहि कूल उपजै दास।
जिहिं कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक पलास ॥८॥

शब्दार्थ - सरल है।

कबीर कहते हैं कि वही वंश श्रेष्ठ है जिसमें प्रभु-भक्त जन्म ले। जिस परिवार में प्रभु-भक्त जन्म न ले वह आक और पलाश के समान निष्प्रयोजन है।

साषत बांभण मति मिलै बैसनौं मिलै चंडाल।
अंक माल दे भेटिये, मांनौ मिले गौपाल ॥९॥

शब्दार्थ—साषत बांभण= शाक्त ब्राह्मण। अंक=आलिंगन।

कबीर कहते हैं कि शाक्त ब्राह्मणों से न मिलना ही अच्छा है। उनसे श्रेष्ठ तो वैष्णव चाण्डाल से मिलना है। उस चाण्डाल से तो प्रेमपूर्वक आलिंगनबद्ध होकर ऐसे मिलना चाहिए मानो प्रभु से ही मिलन हो रहा है।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

रांम जपत दालिद भला, टूटी घर की छांनि।
ऊँचे मन्दिर जालि दे, जहां भगति न सारंगपांनि ॥१०॥

शब्दार्थ—दालिद=दरिद्र। सारंगपांनि=विष्णु, वैसे तात्पर्य अनाम ब्रह्म

से ही है।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-भजन; करते हुए दरिद्रता भी भली है चाहे घर की आश्रयस्थली, छप्पर तक क्यों व टूट जायें, अर्थात् दरिद्र से दरिद्रतर अवस्था भी प्रभु-भक्ति करते हुए अच्छी है। ऐसे ऊंचे-ऊंचे आवासों को जहाँ प्रभु की भक्ति नहीं है, जला देना चाहिए।

कबीर भया है केतकीं, भवर सब भये दास।
जहां जहां भगति कबीर की, तहां तहां रांम निवांस ॥११॥१२५॥

शब्दार्थ—केतकी = एक पुष्प विशेष, जिसके चारों ओर भ्रमर-श्रेणी मँडराया करती है।

कबीर केतकी-सुमन सदृश आकर्षण का केन्द्र हो गया है जिसके चारों ओर अन्य भक्त मण्डली लगी रहती है। जहाँ-जहाँ कबीर की भक्ति है वहाँ प्रभु का विकास ही जानो।

विशेष—रूपक अलंकार।

३१ मधि कौ अंग

अंग-परिचय—शास्त्रों में लिखा है कि अति का सर्वथा परित्याग करना चाहिए, क्योंकि किसी भी विषय की अति अन्ततोगत्वा दुखप्रद होती है। कबीर ने भी प्रस्तुत अंग में मध्यम मार्ग को अपनाने की ही सलाह दी है। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति मध्यम मार्ग को अपनाकर चलता है, उसे इस अपार भवसागर को पार करने में देर नहीं लगती। यदि व्यक्ति मध्यम मार्ग को नहीं अपनाता है तो उसके मन में द्विविधा बनी रहती है जो उसको किसी भी निश्चय पर नहीं पहुँचने देती। मध्यम मार्ग का ग्रहण करने से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है, क्योंकि कुण्डलिनी भी सहस्रदल और मूलाधार के मध्य में स्थित है, जो मुक्ति का कारण है। प्रत्येक साधु को अपना घर ऐसे स्थान पर बनाना चाहिए जहाँ प्रत्येक प्रकार की वृत्तियों का सामंजस्य हो। वहीं पर पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होती है, क्योंकि यहाँ पर न तो अधिक शीतलता होती है और न अधिक ऊष्मा, न अधिक तपन होती है और न अधिक ठंड, न अधिक दिन होते हैं और न अधिक रात, न अधिक स्वप्न होते हैं और न अधिक चिन्ता।

महाजनों द्वारा अपनाये गये मार्गों पर चलना भी श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि पंडितों का अनुकरण, जिन्होंने समन्वय प्रवृत्ति का ग्रहण नहीं किया है, श्रेष्ठ नहीं होता, बल्कि सन्ताप और क्लेशों को देने वाला होता है। इसी प्रकार स्वर्ग और नरक के प्रपंच में पड़ना भी ठीक नहीं है। इससे व्यक्ति का केवल मानसिक ह्रास ही होता है, उपलब्धि कुछ भी नहीं होती। अपने धर्म की अतिशय मान्यता के कारण ही हिन्दू और मुसलमान दोनों राम और खुदा का नाम स्मरण करते हुए नष्ट हो गये, किन्तु मुक्ति किसी को भी नहीं मिली। अतः इन नामों के झमेले में न पड़कर यदि सच्चे हृदय से प्रभु का स्मरण किसी भी एक नाम को लेकर किया जाय तो अवश्य ही मुक्ति की प्राप्ति होगी।

इस संसार में सुख किसी को भी प्राप्त नहीं है, न तो अत्यन्त समृद्धिशाली को और न अत्यन्त निर्धन को। सुख उसे ही मिलता है जो सुख और दुख के प्रति तटस्थ भाव रखता है। जिस प्रकार पीली हल्दी और सफेद चूना ये दोनों एक साथ मिल कर लाल रंग में परिवर्तित हो जाते हैं, उसी प्रकार समन्वमात्मक भावना प्रभु के प्रति सच्चा अनुराग उत्पन्न करती है। मध्यम मार्ग के ग्रहण करने पर फिर किसी विशेष वस्तु की कोई महत्ता नहीं रह जाती। उसके लिए काबा और काशी दोनों समान बन जाते हैं।

अतः मध्यम मार्ग का समन्वमात्मक प्रवृत्ति का ग्रहण ही मनुष्य के लिए सुख-पद और शांतिप्रदायक है।

कबीर मधिं अंग जेको रहै, तौ तिरत न लागै बार।
दुहु दुहु अंग सूं लागि करि, डूबत है संसार ॥१॥

शब्दार्थ—मधि = मध्यम मार्ग समन्वयी मार्ग। यह प्रवृत्ति दो विरोधी विचार धाराओं वस्तुओं एवं वातावरण में सामंजस्य कर एक बीच का मार्ग निकालने की पक्षपाती है। कबीर से पूर्व बुद्ध ने 'मध्यमा प्रतिप्रदा' नाम से इसी मध्यम मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। तिरत = तरने में, पार जाने में।

कबीर कहते हैं कि जो जीवन में मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है उसे इस संसार-सागर के पार करने में देर नहीं लगती। दो अति विरोधी मतों के आश्रित होकर ही संसार संघर्ष में पड़कर नष्ट होता है।

कबीर दुविधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि।
यहु सीतल वहु तपति है, दोऊ कहिये आगि ॥२॥

शब्दार्थ—दुविधा = संशय। वहु = वह, किसी एक बात को ग्रहण करना।

कबीर कहते हैं कि दोनों अतिवादी मतों का अनुसरण अश्रेयस्कर है, अतः इस संशय को दूर कर कि दोनों मतों में से किसको अपनाऊँ, तू केवल मध्य मार्ग का अनुसरण कर। यह मत शान्तिदायक एवं दूसरा परितापप्रद है—ऐसा कहना भी दाहक है। इससे भी क्लेश उत्पन्न होता है।

अनल अकासां घर किया, मधि निरन्तर वास।
बसुधा व्यौम विरकत रहै, बिनठा हर बिसवास ॥३॥

शब्दार्थ – अकासां = आकाश, शन्य, ब्रह्मरन्ध्र। बिरकत = विरक्त।

कुण्डलिनी ने ब्रह्मरन्ध्र में जहाँ निरंजन ज्योति प्रकाशित रहती है, वास कर लिया है, इस प्रकार अब वह मूलाधार एवं सहस्रदल कमल के बीच स्थित है। अब आत्मा पृथ्वी (मूलाधार) और आकाश (सहस्रदल कमल) सबसे असम्पृक्त हो गई है, उन्मनी अवस्था में उसका प्रत्येक मिथ्या विश्वास समाप्त हो गया है। इस मध्य मार्ग में पहुँच कर ही उसे आनन्द की प्राप्ति हो पायी।

बासुरि गमि न रैणि गमि, नां सुपनैं तर गंम।
कबीर तहां बिलंबिया, जहां छांहडी न घंम ॥४॥

शब्दार्थ—बासुरि=दिन। छाँहड़ी=छांह, शीतलता। घंम=घाम, धूपताप

कबीर ने अपना निवास ऐसे स्थान को बना लिया है जहां प्रत्येक प्रवृत्ति का सामंजस्य है, वहां मध्यममार्ग का पूर्ण आनंद है। वहां न तो अधिक शीतलता है और न अधिक ताप एवं न दिन को, न रात को और न स्वप्न में कभी भी चिन्ता ही है।

जहि पैंडें पंडित गए, दुनियां परी बहीर।
औघट घाटी गुर कही, तिहिं चढ़ि रह्या कबीर ॥५॥

शब्दार्थ—पैंडैं=पगडण्डी, मार्ग। औघट=संकीर्ण एवं कठिन।

जिस मार्ग पर पण्डित गया उसी पर शेष जनता चल पड़ी किन्तु कोई भी अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सका। सद्गुरु ने कबीर को ऐसी संकीर्ण घाटी का कठिन मार्ग बताया उस पर कबीर ने चढ़कर अपने लक्ष्य (ब्रह्म) को प्राप्त किया।

विशेष—औघट घाटी—औघट घाटी से तात्पर्य साधना की विकट पगडंडी से है। कबीर ने अन्यत्र भी इस दुर्गमता का बोध पिपीलिका आदि से कराया है।

श्रग नृक थैं हूँ रह्या, सतगुर के प्रसादि।
चरन कवंल की मौज मैं, रहिस्यूं अन्तिरु आदि ॥६॥

शब्दार्थ—श्रग=स्वर्ग। नृक=नरक। प्रसादि=कृपा, अनुकम्पा। चरन कवॅल=प्रभु के चरण कमल।

मैं सद्गुरु की कृपा से स्वर्ग और नरक के प्रपंच में न पड़ा। मैं तो प्रभु-भक्ति के आनन्द में अद्यतन आनन्द-मग्न हूँ।

हिंदू मूये राम कहि, मुसलमान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता दुह मैं कदे न जाइ ॥७॥

शब्दार्थ—दुह मैं=दुविधा में। कदे=कभी भी।

हिन्दू राम नाम रटकर अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता के प्रतिपादन में मर मिटे तो मुसलमान खुदा को श्रेष्ठ बताने के चक्कर में नष्ट हो गये। कबीर कहते हैं कि जीवित तो वही हैं जो दोनों नामों को एक ही ब्रह्म के लिए मानकर इस झगड़े में नहीं पड़ते कि कौन श्रेष्ठ है।

दुखिया मूवा दुख कों सुखिया सुख कौं झूरि।
सदा अनंदी रांम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि ॥८॥

शब्दार्थ—झूरि=जूझता रहा।

संसार में दुःखी व्यक्ति सर्वदा अपने दुःख को रोता रहा और जो सुखी है वह और भी सुख-प्राप्ति की आशा में जूझता रहा। वे राम भक्त सर्वदा आनन्दमग्न रहे जो सुख और दुःख को समान समझ उनके तटस्थ हो गये।

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ।
रांम सनेही यूं मिले, दून्यूं बरन गंवाइ ॥९॥

शब्दार्थ—पीयरी=पीली। ऊजल=उज्ज्वल, सफेद।

कबीर कहते हैं कि हल्दी पीले रंग की होती है और चूना श्वेत। जिस प्रकार ये दोनों मिलकर अपने वास्तविक रंग को त्याग सुन्दर अनुरागयुक्त लाल रंग में परिवर्तित हो जाते हैं उसी प्रकार प्रभु-भक्त विविध विरोधी विचारधाराओं को भक्ति के सुन्दर कलेवर में खपा कर सुन्दर रूप प्रदान करते हैं।

काबा फिर कासी भया, रांम भया रहीम।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम ॥१०॥

शब्दार्थ—जीम=खाना।

कबीर कहते हैं कि समन्वयी मध्यमार्गी प्रवृत्ति से मुसलमानों के तीर्थ-स्थल काबा एवं हिन्दुओं के तीर्थ स्थल काशी में कोई अन्तर नहीं रह जाता; दोनों के आराध्य राम और रहीम एक हो जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न विरोधी धाराएँ जो पहले मोटे आटे के समान भद्दी लगती थीं, मध्यम-मार्ग के अनुसरण से सुन्दर मैदा के रूप में परिणत हो गई, इससे प्राप्त आनन्द का कबीर उपभोग कर रहा है।

धरती अरु असमान बिचि, दोइ तूंबड़ा अबध।
षट दरसन संसै पड़्या, अरु चौरासी सिध ॥११॥५२६॥

शब्दार्थ—सरल है।

पृथ्वी और आकाश दो असम्बद्ध तूंबी के समान हैं। इन दोनों के मध्य मार्ग की खोज नहीं की जा सकी। षट्-दर्शन एवं चौरासी सिद्ध भी इस मध्यम मार्ग की खोज में असफल रहे। किन्तु वही मार्ग कबीर ने खोज लिया, जो मूलाधार (पृथ्वी) और शून्य (आकाश) के मध्य उन्मनी अवस्था में अपनी आत्मा को स्थित किए हुए हैं।

विशेष—षट्-दर्शन—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त।

३२. सारग्राही कौ अंग

अंग-परिचय—शास्त्रों में लिखा है कि ज्ञान अनंत है, उसकी सम्पूर्णता को कोई प्राप्त नहीं कर सकता, अतः मनुष्यों को क्षीर-नीर न्याय के अनुसार सार तत्व को ग्रहण करना चाहिए और असार तत्व को छोड़ देना चाहिए। प्रस्तुत अंग में कबीर ने भी यही शिक्षा दी है। वे कहते हैं कि प्रभु का नाम क्षीर के समान है और सांसारिक विषय जल के समान। जिस प्रकार हंस क्षीर-नीर में से क्षीर को ग्रहण करता है और नीर को छोड़ देता है, इसी प्रकार साधु को भी प्रभु के नाम का ग्रहण और सांसारिक पदार्थों का परित्याग कर देना चाहिए। इस संसार में गुण और दोष भी साथ-साथ रहते हैं अतः गुण-दोषों की विवेचना न करके मनुष्य को केवल गुणों का ग्रहण कर लेना चाहिए। इसी प्रकार पृथ्वी पर अनेक प्रकार के फूल

और फल उत्पन्न होते हैं जिनमें से कुछ कड़वे होते हैं और कुछ मीठे। साधु को मीठे फलों को ग्रहण कर लेना चाहिए और कड़वे फलों को छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार सार-ग्रहण के द्वारा ही मनुष्य वास्तविक सुख, आनन्द और शान्ति की प्राप्ति कर सकता है।

षीर रूप हरि नांव है, नीर आन ब्यौहार।
हंस रूप कोइ साध है, तत का जांनणहार ॥१॥

शब्दार्थ—षीर=क्षीर, दुग्ध। नांव=नाम। साध=साधु। तत=सार तत्व, प्रभु।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में दूध के रूप में, प्रभु का नाम है और संसार के अन्य मिथ्या व्यवहार जल के समान हैं—ये दोनों साथ ही साथ तो मिले हुए हैं। कोई हंसात्मा तत्वविद् साधु ही सार तत्व ब्रह्म (दुग्ध) को माया जल से पृथक् कर ग्रहण कर पाता है।

विशेष—यह प्रसिद्ध है कि हंस दुग्ध-मिश्रित जल में से दूध और जल को पृथक्-पृथक् कर दुग्ध को ग्रहण कर लेता है, इसी प्रकार हंसात्मा (मुक्तात्मा) साधु संसार में माया-जल को ग्रहण नहीं करता अपितु अमृत रूप दुग्ध—प्रभु नाम को ही ग्रहण करता है।

कबीर साषत को नहीं, सबै बैशनों जांणि।
जा मुख राम न उचरै, ताही तन की हांणि ॥२॥

शब्दार्थ—उचरै=उच्चरै, उच्चारित होना।

जिस मुख से प्रभु-नाम उच्चारित नहीं होता वही वैष्णव नहीं है, उसी का नाश होता है।

कबीर औगुण नां गहै, गुण ही कौं ले बीनि।
घट घट महु के मधुप ज्यूं, पर आत्म ले चीन्हि ॥३॥

शब्दार्थ—बीन=छांटना। महु=मधु, शहद। चीन्हि=पहिचानना।

कबीर कहते हैं कि दूसरों के अवगुणों पर दृष्टिपात मत कर। केवल उसके गुणों को ही ग्रहण कर लो। जिस प्रकार मधुमक्षिका विविध सुमनों का सारतत्व मधु संचित कर छत्ते का निर्माण करती है, उसी प्रकार तुम दूसरों के चरित्र के सद्‌गुणों को परमात्मा का अंश जानकर अपना लो।

विशेष—उपमा अलंकार।

बसुधा बन बहु भाँति है, फुल्यौ फल्यौ अगाध।
मिष्ट सुबास कबीर गहि, विषम कहै किहि साध ॥४॥५४०॥

शब्दार्थ—सरल है।

यह पृथ्वी विविध भाँति के अच्छे बुरे फल-फूलों से सुसज्जित हैं। कबीर कहते हैं कि हमें वहाँ से मीठे फलों को ही ग्रहण करना चाहिए, कटु फलों को ग्रहण करने से क्या लाभ है?

भाव यह है कि संसार में अच्छे बुरे सब प्रकार के मनुष्य और सदसद् सब प्रकार के तत्व विद्यमान हैं, हमें उनमें से सद् ही सद् को ग्रहण करना चाहिए।

३३. विचार कौ अंग

अंग-परिचय—इस अग में कबीर ने अनेक प्रकार के विचारों को व्यक्त किया है। एक दोहे में यदि इन्होंने यह बताया है कि भावना भेद से ही भक्ति में अन्तर आ जाता है तो अन्य दोहे में यह बताया है कि केवल राम-राम कहने से ही व्यक्ति की मुक्ति नहीं हो जाती, क्योंकि आग-आग चिल्लाने से आग पर पैर रखे बिना कोई मनुष्य जल नहीं सकता। इस प्रकार इस अंग के दोहों में कोई तारतम्य नहीं है, बल्कि प्राय: प्रत्येक दोहे का पृथक् भाव है। इस अंग का सारांश यह है—

इस संसार में प्रभु की सत्ता सत्य है। इसके अतिरिक्त सब असत्य एवं मिथ्या है। मनुष्य को प्रभु की प्राप्ति तभी हो सकती है जब वह अपनी सब वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर लेता है; अर्थात् सांसारिक आकर्षणों से विरत हो जाता है। मनुष्य का शरीर नश्वर और क्षणभंगुर है। यह पानी के बुलबुले के समान है जो एक क्षण उत्पन्न होता है और दूसरे क्षण नष्ट हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति संसार की विषय-वासनाओं में उलझा हुआ है। इस उलझ से वही मनुष्य सुलझ सकता है जिसने भक्ति का सभ्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। कवि असाधारण व्यक्ति होता है। वह उन्हीं शब्दों के प्रयोग से लावण्ययुक्त काव्य की रचना कर देता है जिनको जन-साधारण नित्य प्रति अपनी भाषा में प्रयुक्त करते हैं। भगवान् मोतियों की उस माला के समान हैं जो कच्चे धागे में पिरोई गई हो। यदि इसे शास्त्र आदि के चक्कर में पड़कर सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जायेगा तो यह और भी अधिक उलझ जायेगी। संसार के प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की ज्योति प्रतिबिम्बित है। भक्ति उसी प्रभु की सच्ची है जो निराकार है और सृष्टि के रग-रग में समाया हुआ है।

रांम नांम सब को कहै, कहिबे बहुत विचार।
सोई रांम सती कहै, सोई कौतिग-हार ॥१॥

शब्दार्थ—सती=पतिव्रता। कौतिग-हार=ढोंगी।

प्रभु नाम का उच्चारण तो सभी करते हैं किन्तु इसके पीछे विभिन्न विचारधाराएँ होती हैं। उसी राम का नाम उच्चारण भक्त सती-भाव से करता है और उसी राम नाम का उच्चारण एक ढोंगी प्रदर्शन बनाकर करता है। भावना भेद से ही भक्ति और फल में अन्तर आ जाता है।

आगि कह्यां दाझै नहीं, जे नहीं चंपै पाइ।
जब लग भेद न जांणिये, रांम कह्या तौ कांइ ॥२॥

शब्दार्थ—आगि=आग, अग्नि। दाझै=दग्ध होना। चंपै=रखना।

कबीर कहते हैं कि केवल आग-आग चिल्लाने से ही आग पर पैर रखे बिना पैर नहीं जल सकता। इसी प्रकार जब तक माया और प्रभु का अन्तर ज्ञात न हो जाय तब तक भजन से कोई लाभ नहीं।

कबीर सोचि बिचारिया, दूजा कोई नाँहि।
आपा पर जब चीन्हिया, तब उलटि समाना माँहि ।।३।।

शब्दार्थ—दूजा=अन्य संसार।

कबीर कहते हैं कि मैंने भली प्रकार चिन्तन-मनन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि संसार में प्रभु के अतिरिक्त अन्य कुछ है नहीं। इसी प्रकार जब संसार में मुझे परम तत्व के दर्शन हो गये, तब मेरी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो प्रभु-भक्ति में प्रवृत्त हो गई।

कबीर पाणीं केरा पूतला, राख्या पवन सँवारि।
नांनां बांणी बोलिया, जोति धरी करतारि ।।४।।

शब्दार्थ—सँवारि=सम्भाल कर। नांनां=विविध। जोति=ज्योति, प्रकाश।

कबीर कहते हैं कि मनुष्य पानी के बुलबुले के समान है जिसको प्राण-तत्व की वायु ने सुरक्षित रखा हुआ है अन्यथा यह कब का फूट जाता। इस बुलबुले में ब्रह्म ने अपनी ज्योति, प्रकाश, भर दिया है उसी के कारण यह विविध रूपों में अपना कार्य-कलाप करता है।

नौ मण सूत अलूझिया, कबीर घर घर बारि।
तिनि सुलझाया बापुड़े, जिनि जांणि भगति मुरारि ।।५।।

शब्दार्थ - मण=मन, तौल का एक माप। अलूझिया=उलझ गया। बापुड़े=बिचारे।

कबीर कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति इस संसार में मायादिक प्रपंच रूपी उलझे सूत को सुलझाने में लगा हुआ है, किन्तु इसको वही सुलझा सके हैं जिन्होंने प्रभु भक्ति के मर्म को पहचाना है; अर्थात् प्रभु-भक्त ही इस भव-जाल से मुक्ति पा सके हैं।

आधी साषी सिरि कटै, जोर बिचारी जाइ।
मन परतीति न ऊपजै, तौ राति दिवस मिलि गाइ ।।६।।

शब्दार्थ—साषी=साक्षी।

कबीर कहते हैं कि यदि कोई आस्था एवं विश्वासपूर्वक मेरी आधी साखी का भी पाठ करेगा तो उसकी मुक्ति हो जायगी, किन्तु यदि मन में श्रद्धा और प्रेम नहीं है तो चाहे इन साखियों का गान अहर्निश करो, कोई लाभ नहीं है।

सोई आषिर सोई बैयन, जन जू जू बाचवंत।
कोई एक मेलै लवणि, अमीं रसाइण हुँत ।।७।।

शब्दार्थ—आषिर=अक्षर। बैयन=वचन। जन=जन सामान्य। वाचवंत= बांचते हैं, पाठ करते हैं। लवणि=नमक, सौन्दर्य। अमीं=अमृत। रसांइण= रसमय।

कबीर कहते हैं कि उन्हीं सामान्य अक्षरों और वचनों में जिनका जन-सामान्य

नित्य प्रयोग करते हैं कवि अपने कौशल से ऐसा लावण्य ला देता है कि अमृत भरी रसयुक्त वाणी काव्य हो जाती है।

हरि मोत्यां की माल है, पोई काचै तागि।
जतन करी झंणां घंणां, टूटैगी कहूँ लागि ॥८॥

शब्दार्थ—मोत्यां=मोतियों की। तागि=धागे में। झंणां=झंझट। घणां=अत्यधिक।

कबीर कहते हैं कि प्रभु मोतियों की उस माला के समान है जो कच्चे धागे में पिरोई गई है। यदि इसे शास्त्रादि के चक्कर में पड़कर सुरक्षित रखने की सोचोगे तो यह उलझकर गुत्थी बन जायेगी और सम्भव है कि टूट भी जाय।

भाव यह है कि प्रभु-भक्ति से प्राप्य एवं तर्क से अप्राप्य है, हो सकता है। तर्क आपकी ईश्वर-सम्बन्धी आस्था को ही निर्मूल कर आपको नास्तिक रूप में परिवर्तित कर दे।

विशेष—उपमा अलंकार।

मन नहीं छाड़ै बिषै, बिषै न छाड़ै मन कौं।
इनकौं इहै सुभाव, पूरि लागी जुग जन कौं ॥९॥

कबीर कहते हैं कि मन विषय-वासनाओं में इतना उलझ गया है कि उन्हें छोड़ता ही नहीं और विषय-वासनाएँ भी मन में इतनी घर कर गई हैं कि वे वहाँ से नहीं हटतीं। मन और विषय-विकारों का ऐसा दूसरे से चिपके रहने का स्वभाव है। ये व्यक्ति को आक्रान्त रखते हैं।

खंडित मूल बिनास, कहौ किम बिगतह कीजै।
ज्यूँ जल में प्रतिव्यंब, त्यूँ सकल रांमहिं जांणीजै ॥१०॥

शब्दार्थ—प्रतिव्यंव=प्रतिबिम्ब।

संसार के प्रत्येक पदार्थ में, तत्व में उस प्रभु का प्रतिबिम्ब है (यह दृश्यमान जगत् उसी के प्रकाश से प्रकाशित है)। यदि कोई अनास्थावादी प्रभु में अविश्वास करता है तो वह संसार के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, भला बिना बिम्ब के प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है ? जब प्रतिबिम्ब—संसार—सम्मुख है तो बिम्ब—प्रभु—अवश्य ही होगा।

सो मन सो तन सो बिषै, सो त्रिभवन-पति कहूँ कस।
कहै कबीर व्यदहु नरा, ज्यूं जल पूर्या सकल रस ॥११॥५४९॥

कबीर कहते हैं कि अवतार को, जिसे संसार प्रभु मानकर पूजता है, मैं उसे त्रिभुवन-पति ब्रह्म कैसे कहूँ ? क्योंकि मनुष्य के समान ही वह भी तन-मन-धारी है। इसलिए हे मनुष्यो ! उस निराकार प्रभु की वन्दना करो जो उसी प्रकार समस्त संसार में समाया हुआ है, जिस प्रकार रसों में जल।

३४. उपदेश कौ अंग

अंग-परिचय—प्रस्तुत अंग में कबीर ने विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। सबसे पहले वे इस बात की घोषणा करते हैं कि प्रभु ने उन्हें इस धरातल पर इसीलिए भेजा है कि वे अपनी साखियों द्वारा मनुष्यों के अज्ञान को नष्ट करके उन्हें प्रभु की ओर उन्मुख करें। फिर उन्होंने बताया है कि प्रत्येक कर्म का फल तत्काल मिल जाता है, अतः मनुष्य को कभी भी बुरे कर्म नहीं करने चाहिए। जिस प्रकार किसान बायें हाथ में फसल के पौधे पकड़कर दाहिने हाथ के हँसिया से वही काटता है, जो वह बोता है, इसी प्रकार मनुष्य जैसा कार्य करेगा, उसे उसका वैसा ही फल मिलेगा। जीवन और इसकी वासनाएँ क्षणिक हैं जो देखते-देखते नष्ट हो जाती हैं। संशय मुक्ति-प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधक है। जब तक मनुष्य के मन में संशय बना रहेगा, वह द्विविधा-ग्रस्त बना रहेगा और किसी भी प्रकार द्विविधा-ग्रस्त मन किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा करता। अतः ईश्वर की ओर उन्मुख होने से पूर्व संशय का परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। संन्यासी को विरक्त और गृहस्थ को उदारचित्त वाला होना चाहिए। ये दोनों यदि अपनी सीमाओं का त्याग कर देंगे तो समाज की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायेगी और ये दोनों मुक्ति से भी वंचित रह जायेंगे। जहाँ तक सम्भव हो सके, व्यक्ति को विषय-विकारों में पड़कर अपनी आत्मा को कलुषित नहीं करना चाहिए। मनुष्य को सदैव मधुर वचनों का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के वचनों से दूसरों को भी सुख मिलता है और स्वयं को भी सुख मिलता है। अन्त में, कबीर ने बताया है कि साधक को सदैव सदुपदेशों द्वारा इतना सावधान और सजग रहना चाहिए कि कोई भी विकार उसके मन में प्रवेश न कर सके।

हरि जी यहै विचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौसागर मैं जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर ॥१॥

शब्दार्थ – विचारिया=विचार किया, यहाँ निश्चय किया के अर्थ में। भौसागर=भव-सागर, संसार-समुद्र।

कबीर कहते हैं कि प्रभु ने यही निश्चय कर कहा कि कबीर तुम अनुभव-संचित ज्ञान को साखियों के रूप में संसार के सम्मुख प्रस्तुत करो, कहो। इस संसार समुद्र में बहुत से जीव तरने की आशा में पड़े हैं, कदाचित् कोई इन साखियों का सहारा पाकर ही इस भवसागर से पार हो जाये।

कली काल तत्काल है, बुरा करौ जिनि कोइ।
अन बावैं लोहा दांहिणै, बोवै सु लुणतां होइ ॥२॥

शब्दार्थ—अन=अन्न, फसल के पौधों से तात्पर्य है। बावैं=बायाँ, बायां साथ। लोहा=हँसिया या दांती। दांहिणै=दक्षिण हाथ।

कबीर कहते हैं कि कलियुग में कर्मफल तत्काल प्राप्त होता है अतः बुरे कर्म मत करो। जिस प्रकार कृषक बायें हाथ में फसल के पौधे पकड़कर एवं दाहिने हाथ

में उसको काटने वाली हँसिया लेकर जो बोता है वही काटता है । उसी भांति जैसे कर्म करोगे उसका वैसा ही फल तत्क्षण भोगना पड़ेगा ।

कबीर संसा जीव मैं, कोइ न कहै समझाइ ।
बिधि बिधि बांणी बोलता सो कत गया बिलाइ ॥३॥

शब्दार्थ—संसा = संशय, शंका से तात्पर्य । बिधि बिधि = विविध प्रकार की । बिलाइ = नष्ट हो गया ।

कबीर कहते हैं कि मुझे जीव के अस्तित्व के विषय में विभिन्न आशंकाएं हैं । जो जीवात्मा अभी-अभी भिन्न-भिन्न प्रकार बातें कर रहा था, वह न जाने किधर विलुप्त हो गया । जीव की कैसी क्षणिक स्थिति है ?

कबीर संसा दूरि करि, जांमण मरण भरंम ।
पंचतत तत्तहि मिले; सुरति समाना मंन ॥४॥

शब्दार्थ—जाँमण-मरण = जन्म-मरण ।

इससे पहली साखी में जो शंका उपस्थित की गई थी उसी का समाधान करते हुए कबीर कहते हैं कि हे मन ! तू शंका को दूर कर दे, क्योंकि यह जन्म-मरण तो भ्रम-मात्र है । इस शंका को दूर करने से जीवन्मुक्त हो जायेगा और जिन पंचतत्वों ('क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा') से यह शरीर निर्मिन हुआ हैं वे अपने तत्वों में मिल जायेंगे और तन मन सुरति अवस्था में पहुँच ईश्वर का साक्षात्कार करेगा ।

ग्रिही तौ च्यंता घणी, बैरागी तौ भीष ।
दुहु कात्यां बिचि जीव है, दौ हनैं संतौ सीष ॥५॥

शब्दार्थ—च्यंता = चिंता । घणीं = अधिक । भीष = भिक्षा । दुह कात्याँ = कैंची के दो फलकों का अर्थ । हनै = नष्ट करे ।

कबीर कहते हैं कि गृही तो बहुत सी चिन्ताओं में ग्रस्त हैं और संन्यासी भी भिक्षा की चिन्ता से मुक्त नहीं । इस प्रकार गृहस्थ और संन्यास दोनों अवस्थाओं में जीव उसी प्रकार नष्ट होता है जैसे कैंची के फलकों के बीच कोई वस्त्र आदि । इन दोनों अवस्थाओं में साधु-शिक्षा ही चिन्ताओं को नष्ट कर सकती है ।

बैरागी बिरकत भया, गिरहीं चित्त उदार ।
दुहूं चूकां रीता पड़ै, ताकूं वार न पार ॥६॥

शब्दार्थ—बिरक्त = विरक्त ।

कबीर कहते हैं कि संन्यासी को विरक्त एवं गृहस्थ को उदार-चित्त होना चाहिए । यदि ये दोनों अपने इन प्रकृत गुणों को परित्यक्त कर देंगे तो इतना अनर्थ होगा कि उसकी सीमा नहीं रहेगी ।

जैसी उपजै पेड़ सूं, तैसी निबहै ओरि ।
पैका पैका जोड़तां, जुड़िसी लाष करोड़ि ॥७॥

शब्दार्थ—निबहै ओरि = अन्त तक सुरक्षित रख सके । पैका-पैका = पैसा-

पैसा । जुड़िसी = जुड़ जाता, संग्रह हो जाता है।

कबीर कहते हैं कि जैसा सुन्दर एवं मधुर फल (ग्राम ग्रादि) पेड़ से गिरते समय होता है यदि उसे अन्त तक उसी रूप में सुरक्षित रखा जाय तो वह बहुत ही स्तुत्य प्रयास होगा, उसी भाँति आत्मा जिस निर्दोष और निष्कलंक रूप में उस परम तत्व से पृथक् होते समय प्राप्त हुई थी, यदि वैसी ही निर्मल रहे तो बहुत अच्छा रहेगा।

अब दूसरा भाव व्यक्त करते हुए कबीर कहते हैं कि जीवात्मा ! तूने समस्त जीवन-रत्न व्यर्थ गँवा दिया, प्रभु भक्ति न की। यदि तूने थोड़ा-थोड़ा भी प्रभु-भजन किया होता तो तू इस महान् सुकृत्य से जीवन-मुक्त हो जाता। क्योंकि पैसा-पैसा जोड़कर तो लाख और करोड़ों की सम्पत्ति संगृहीत की जा सकती है।

कबीर हरि के नाव सूं, प्रीति रहै इकतार।
तौ मुख तैं मोती झड़ैं, हीरे अंत न पार ॥८॥

कबीर कहते हैं कि यदि साधक का प्रभु-नाम से निरन्तर और दृढ़ प्रेम बना रहे तो उसके मुख से अनमोल वचनों के मुक्ता झड़ने लगें और उस वचनावली में सारतत्व रूपी अनमोल हीरों का अनन्त भण्डार होगा।

ऐसी बांणी बोलिये, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन कौं सुख होइ ॥९॥

कबीर कहते हैं कि मन के अहं दर्प को नष्ट कर ऐसी वाणी बोलिए कि स्वयं का शरीर भी प्रफुल्लित हो और श्रोता भी उससे आह्लादित हों।

कोइ एक राखै सावधान, चेतनि पहरै जागि।
बरतन बासन सूं खिसै, चोर न सकई लागि ॥१०॥५५९॥

कबीर कहते हैं कि साधक को सदुपदेशों के द्वारा इतना सजग रहना चाहिए, उसे अपनी चेतना को इस प्रकार जागृत रखना चाहिए कि (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह रूपी) पंच चोरों में से कोई भी भीतर न आ सके। यदि बरतन या वस्त्र के खिसकने की भी ध्वनि हो तो उसे जाग जाना चाहिए जिससे चोर पास भी न फटक सके।

भाव यह है कि मन में कोई विकार आते ही साधक को उसे दूर कर देना चाहिए।

३५. बेसास कौ अंग

अंग-परिचय—निर्गुण-सन्तों की साधना में प्रभु के प्रति अडिग विश्वास का बहुत महत्त्व है। जब तक साधक प्रभु के प्रति दृढ़ विश्वास और आस्था अपने मन में उत्पन्न न कर लेगा, तब तक उसे अपनी साधना में सफलता नहीं मिल सकती। प्रस्तुत अंग में कबीर ने इसी विश्वास का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि मनुष्य को सदैव प्रभु पर विश्वास करना चाहिए। यदि उसे भूख लगती है तो उसे संसार

के सामने भूखा-भूखा चिल्लाने से कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि संसार उसकी कुछ भी सहायता नहीं करेगा। बल्कि उसे ईश्वर पर विश्वास रखना चाहिए, क्योंकि जिस ईश्वर ने उसका पेट और मुँह बनाया है, वही उसको भोजन भी देगा। अतः मनुष्य को अपने रचनहार का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए और उसे अपने मन में प्रतिष्ठित कर लेना चाहिए। वह प्रभु तो चिंतामणि के समान है जो मनुष्य की सब चिन्ताओं का निवारण कर देता है। मनुष्य व्यर्थ में ही चिन्ता करता है जबकि उसकी चिन्ताओं से कोई लाभ नहीं होता। अतः उसे सांसारिक विषयों की चिन्ताएँ छोड़कर भगवान् की प्राप्ति की ही चिन्ता करनी चाहिए, क्योंकि यही जीवन का परम उद्देश्य है। भगवान् ने जिस व्यक्ति के भाग्य में जो कुछ लिख दिया है, वही उसे मिलता है, इसलिए भी मनुष्य का चिन्ता करना व्यर्थ है।

जो सच्चे साधु होते हैं, उसका भगवान् पर अचल विश्वास होता है। वे उतना ही ग्रहण करते हैं, जितने की उन्हें आवश्यकता होती है, क्योंकि उनका विश्वास है कि भगवान् सदा उनके साथ हैं, और जब भी उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता पड़ेगी, भगवान् तुरन्त उसका प्रबन्ध कर देंगे। जिस साधु को ऐसा विश्वास होता है, उसे कभी भी नरक की प्राप्ति नहीं हो सकती; अर्थात् वह ब्रह्म-लोक में निवास करने का अधिकारी बन जाता है। भगवान् में विश्वास के कारण ही मनुष्य सब प्रकार के भयों से छुटकारा पा जाता है। क्योंकि जिस व्यक्ति के सिर पर भगवान् का वरद हस्त होता है, उसका कोई भी बाल बाँका नहीं कर सकता। अतः साधु को भगवान् के अतिरिक्त और किसी व्यक्ति के सामने हाथ नहीं फैलाना चाहिए क्योंकि जब भी किसी से याचना की जाती है, तब ही व्यक्ति का मान, महत्ता, प्रेमानन्द, गौरव और गुण सब नष्ट हो जाते हैं।

यह शरीर पांडुर-पुष्प के समान है, जिस पर मन रूपी भ्रमर निवास करता है। इस पुष्प में वह भ्रमर सद्भावों की सुगन्धि पाता है क्योंकि इसका सिंचन राम-नाम रूपी अमृत से होता है और अन्त में इस पर प्रभु का विश्वास रूपी सुन्दर फल लगता है। वही व्यक्ति मुक्ति का अधिकारी बनता है जिसका मन विषय-वासनाओं की कालिमा से रहित होकर मोती के समान उज्ज्वल और निर्मल है और जिसमें प्रभु का विश्वास निहित है। प्रभु की प्राप्ति उसी व्यक्ति को होती है जिसका प्रभु के प्रति अटल और अथाह विश्वास होता है।

जिनि नर हरि जठरांह, उदिकंथै पंड प्रगट कियौ।
सिरजे श्रवण कर चरन, जीव जीभ मुख तास दीयौ॥
उरध पाव अरध सीस, बीस पषां इम रषियौ।
अंन पान जहाँ जरैं, तहां तैं अनल न चषियौ॥
इंहि भाँति भयानक उद्र में, उद्र न कबहुँ छंछरै।
कृसन कृपाल कबीर कहि, इम प्रतिपालन क्यों करै॥१॥

शब्दार्थ— जठरांह=पेट में भी। उदिकंथैं=रज और वीर्य से। पंड=पिंड,

शरीर। तास=उसमें, तात्पर्य मुख में। उरध पाव अरध सीस=ऊपर को पाँव और नीचे को शीश, मातृगर्भ में शिशु की स्थिति उल्टी होती है। बीस पषा=बीस पक्ष अर्थात् दस मास। अन=अन्न खाद्य पदार्थ। पान=पेय, दूध और जल आदि। चषियौ=छुआ नहीं। उद=उदर। छंछरै=खाली रहा। कुसन=प्रभु।

कबीर जीव के जन्म की स्थिति बताते हुए तथा प्रभु-अनुकम्पा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रभु ने माता के गर्भ में रज और वीर्य से मनुष्य-शरीर निर्मित कर कान, हाथ, पैर, प्राण एवं मुख तथा मुख में जीभ का सृजन किया, जिसने ऐसी भयानक जठराग्नि में जहाँ खाद्य और पेय जलकर नष्ट हो जाते हैं ऐसी रक्षा की कि अग्नि का स्पर्श तक न हो सका और १० मास तक गर्भ में उलटे लटका कर परिपालन किया, जिसने ऐसे भयानक (अग्नियुक्त) पेट में मेरे पेट को कभी खाली न रहने दिया, सर्वदा भोजन दिलाया, उन प्रभु की महिमा का गान कहाँ तक करूँ ? और कौन इस प्रकार पालन-पोषण कर सकता है ?

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भांडा घड़ि जिनि मु दिया, सोई पूरण जोग ॥२॥

शब्दार्थ—भांडा=पात्र, उदर से तात्पर्य है। घड़ि=बनाकर। मु=मुँह, मुख।

कबीर कहते हैं कि संसार के सम्मुख भूख-भूख क्यों चिल्लाते हो। तुम्हारा चिल्लाना व्यर्थ है, क्योंकि संसार तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। जिस प्रभु ने पेट बनाकर मुख प्रदान किया है, केवल वही इसे भरने में, भोजन प्रदान करने में समर्थ हैं। अतः उन्हीं का स्मरण कर।

रचनहार कूं चीन्हि लै, खैबे कूं कहा रोइ।
दिल मंदिर मैं पैंसि करि, तांणि पछेवड़ा सोइ ॥३॥

शब्दार्थ—खैबे=खाने को, सांसारिक आवश्यकताओं को। तांणि=तान कर। पछेवड़ा=चादर।

कबीर कहते हैं कि जीव ! तू सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति में क्यों व्यर्थ मर रहा है ? तू अपने सृजनहार को पहचान ले, परमतत्व से साक्षात्कार कर उन्हें हृदय में बसा ले और फिर निश्चिन्त होकर अनन्त सुख की नींद सो जा, जीवन्मुक्त हो जा।

रांम नांम करि बोंहड़ा, बांही बीज अघाइ।
अंति कालि सूका पड़ै, तौ निरफल कदे न जाइ ॥४॥

शब्दार्थ—बोंहड़ा=गेहूँ, जौ आदि की फसल बोने को बाँस की बनी एक नलिका, जिसे कुछ स्थानों पर 'नलका' भी कहा जाता है। इसका लाभ यह होता है कि इससे बीज खूड़ (कतार) में ही गिरता है। बाँही=बीज। अघाई=भरपूर। सूका=वर्षाभाव।

कबीर कहते हैं कि हे साधक ! तू राम-नाम रूपी नलिका के द्वारा हृदय रूपी

क्षेत्र (खेत) में प्रभु-भक्ति का भरपूर बीज बो दे। ऐसा करने से फिर चाहे बाद में सूखा भी रहे, वर्षा न भी हो, तो प्रभु-भक्ति रूपी फसल का फल तुझे अवश्य प्राप्त होगा, वह निष्फल नहीं जा सकती।

विशेष—(१) कबीर यह समझाते हैं कि नामस्मरण द्वारा प्रभु-भक्ति में प्रवृत्त होना चाहिए।

(२) सांगरूपक अलंकार।

च्यंतामणि मन मैं बसै, सोई चित मैं आंणि।
बिन च्यंता च्यंता करै, इहै प्रभू की बांणि ॥५॥

शब्दार्थ—च्यंतामणि=एक मणिविशेष का नाम जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि उससे जो मांगते हैं वही प्राप्त होता है। आंणि=प्रवृत्त कर दे। बांणि=प्रकृति, आदत, स्वभाव।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू चिंतामणि के लिए अन्यत्र क्यों भटकता है। वह ब्रह्मरूप चिंतामणि तो चित्त में ही है, उसमें ही समस्त वृत्तियों को लगा दो। हे मनुष्य! तुझे चिन्ता की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह परम कृपालु ईश्वर चिन्तामुक्त होता हुआ भी सबकी चिन्ता रखता है। वही उसका दयालु स्वभाव है।

कबीर का तूं चिंतवै, का तेरा च्यंता होइ।
अण च्यंता हरिजी करै, जो तोहि च्यंत न होइ ॥६॥

शब्दार्थ—अण-च्यंता=बिना सोचा हुआ, अप्रत्याशित।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू क्यों व्यर्थ चिन्ता करता है, तेरे चिन्ता करने से हो भी तो कुछ नहीं सकता। अतः तू ईश्वर में विश्वास रख निश्चिन्त हो जा क्योंकि वे अप्रत्याशित लाभ कर डालते हैं।

करम करीमां लिखि रह्या, अब कछू न लिख्या जाइ।
मासा घटै न तिल बधै, जौ कौटिक करै उपाइ ॥७॥

शब्दार्थ—करीमां=प्रभु।

कबीर कहते हैं कि जो कुछ प्रभु को तुम्हारे भाग्य में लिखा था वह लिख दिया, अब इसके अतिरिक्त कुछ नहीं लिखा जा सकता। चाहे मनुष्य कोटिशः प्रयत्न क्यों न करे किन्तु उस भाग्य-विधान में किंचित भी घट-बढ़ नहीं हो सकती।

जाकौं जेता निरमया, ताकौं तेता होइ।
रंती घटै न तिल बधै, जौ सिर कूटै कोइ ॥८॥

शब्दार्थ—निरमया=निर्धारित किया है। रती=रंत्ती, तनिक भी।

कबीरदास कहते हैं कि चाहे कोई अधिक प्राप्ति की आशा में कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, किन्तु जितना जिसके लिए निर्धारित है उसको उतना ही प्राप्त हो सकेगा। न तो उसमें तिलभर घट सकता है न तिलभर बढ़ सकता है।

च्यंता न करि अच्यंत रहु, सांई है सम्रथ।
पसु पंखेरू जीव जंत, तिनकी गाड़ि किसा ग्रंथ ॥९॥

शब्दार्थ—संम्रथ=समर्थ, शक्तिमान्। गाड़ि=गणना।

कबीरदास कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू चिन्ता मत कर, क्योंकि प्रभु सब कुछ करने में समर्थ है (प्रभु के समर्थ होते हुए मनुष्य का जिस के विधान में दखल देना शोभा नहीं देता)। मनुष्य की तो बात ही क्या, वह प्रभु तो इन सब संख्यातीत पशु पक्षी तथा जीव-जन्तुओं का भी ध्यान रखता है, जिनकी गणना कोई भी ग्रंथ नहीं कर सका।

संत न बांधै गांठडी, पेट समाता लेइ।
सांई सूं सनमुख रहै, जहां माँगै तहाँ देइ ॥१०॥

शब्दार्थ—गांठड़ी=गठिया, पोटली।

कबीरदास कहते हैं कि सन्त जन अपनी आवश्यकता के अनुरूप ही सामग्री लेते हैं वे संचय के लिए गठड़ी नहीं बाँधते। भगवान् हमेशा उसके सम्मुख रहता है और जब भी मनुष्य उनसे माँगता है। वे उसे खाने के लिए दे देते हैं।

विशेष—इस दोहे का यह पाठान्तर भी मिलता है—

"साधु गाँठ न बाँधई, उदर समाता लेय।
आगे पीछे हरि खड़े, जब माँगे तब देय॥"

रांम नांम सूं दिल मिली, जन हम पड़ी बिराइ।
मोहि भरोसा इष्ट का, बंदा नरकि न जाइ ॥११॥

शब्दार्थ—बिराइ=विराग। इष्ट=भगवान्। बंदा=मैं (कबीर)।

कबीरदास कहते हैं कि मेरा मन प्रभु में अनुरक्त हो गपा और शेष संसार से मुझे विरक्ति हो गई है, मुझे अपने इष्टदेव की अनुकम्पा का विश्वास है कि मुझे नरक की प्राप्ति नहीं होगी।

कबीर तूं काहे डरै, सिर परि हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये, कूकर भुसैं जु लाख ॥१२॥

शब्दार्थ—कूकर=कुत्ता। भुसैं=भौंकें।

कबीरदास कहते हैं कि हे मन ! तू डरता क्यों है, तेरे ऊपर तो प्रभु-अनुकम्पा का वरद हस्त हैं। देख चाहे कितने ही श्वान क्यों न भौंकें, किन्तु हाथी पर चढ़े हुए का आसन नहीं डोल सकता; अर्थात् वह अपदस्थ नहीं हो सकता। उसी भांति कबीर तू साधना-मार्ग में उस उच्च स्थान पर पहुंच चुका है, जहाँ विषय-वासना के श्वान चाहें कितना ही भौंकें, किन्तु तेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

मीठा खांण मधूकरी, भांति भांति कौ नाज।
दावा किसही का नहीं, बिन विलाइति बड़ राज ॥१३॥

शब्दार्थ—दावा=अधिकार।

कबीरदास कहते हैं कि भिक्षा में भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न-निर्मित खाद्य प्राप्त होते हैं जो खांड़ के समान मीठे लगते हैं। इस प्रकार संन्यासी बिना किसी भूप्रदेश के ही राजा के रूप में अपने हृदय साम्राज्य का उपभोग करता है, उस पर किसी का कुछ पर अधिकार नहीं होता।

भाव यह है कि साधु स्वतन्त्र एवं आत्मभोगी है।

मांनि महातम प्रेम रस, गरवा तण गुण नेह।
ऐ सबहीं अह लागया, जबहीं कह्या कुछ देह ॥१४॥

शब्दार्थ · गरवा=गौरव। अह=समाप्त होना।

कबीरदास कहते हैं कि व्यक्ति का मान, महानता, प्रेमानन्द, गौरव, गुण एवं स्नेह ये सब उसी क्षण समाप्त हो जाते हैं जब हम किसी से कुछ देने के लिए कहते हैं।

मांगण मरण समान है, बिरला बंचै कोइ।
कट लबीर रघुनाथ सूं, मतिर मँगावै मोंहि ॥१५॥

शब्दाथ—वंचै=वचना। मतिर=मत।

कबीरदास कहते हैं कि किसी से भी कुछ माँगना मरणतुल्य है, कोई विरला ही इससे बच पाता है। मैं तो प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि तू मुझसे किसी के सम्मुख याचना मत करा।

पांडल पंजर मन भवर, अरथ अनूपम बास।
रांम नांम सींच्या अंमी, फल लागा बेसास ॥१६॥

शब्दार्थ—पांउल=एक पुष्प विशेष जिसका रंग बहुत तेज लाल होता है, भ्रमर इस पर बहुत बैठता है। भवर=भोंरा। अमी=अमृत। बेसास=विश्वास।

कबीरदास कहते हैं कि यह शरीर पांडुर-पुष्प के समान है जिस पर मन रूपी भ्रमर का वास है। इस पुष्प में वह मन रूपी भ्रमर अनुपम अर्थयुक्त अर्थात् सद्भाव रूपी गन्ध पाता है। इस सुमन का सिंचन राम-नाम रूपी अमृत से होता है जिस पर प्रभु विश्वास का सुन्दर फल लगता है।

विशेष—सांगरूपक।

मेर मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म बिसास।
अब मेरे दूजा को नहीं, एक तुम्हारी आस ॥१७॥

शब्दार्थ—मुकता=मुक्त, मोती के समान उज्ज्वल। बिसास=विश्वास।

कबीरदास कहते हैं कि मेरा 'ममत्व' निकल जाने से मैं मुक्त हो गया, या मैं मोती के समान निर्मल और उज्ज्वल हो गया, जिसके कारण मेरा प्रभु में विश्वास हो गया है। हे प्रभु! आपके अतिरिक्त अब मेरा और कोई नहीं, केवल तुम्हारे ही अपनाने की आशा है।

जाकी दिल में हरि बसै, सो नर कलपै कांइ ।
एकै लहरि समंद की, दुख दलिद्र सब जाइ ।।१८।।

शब्दार्थ— कलपै = दुखित होना । समंद = समुद्र । दलिद्र = दरिद्र ।

कबीरदास कहते हैं कि जिस मनुष्य के हृदय में प्रभु का वास है वह व्यर्थ क्यों दुखित होता है अर्थात् उसे किसी प्रकार का दुख नहीं हो सकता । समुद्र की एक लहर ही मुक्ताओं का ढेर लगा कर दुख-दारिद्रय मिटा देती है, उसी भाँति प्रभु अनुकम्पा की एक लहर ही तेरे क्लेशों को विनष्ट कर देगी ।

पद गांये लैलीन ह्वै, कटी न संसै पास ।
सबै पिछोड़े थोथरे, एक बिनां बेसास ।।१९।।

शब्दार्थ—थोथरे = खाली । संसै पास = संशय का पाश ।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! तूने प्रभु-भक्ति के पद तो आत्मलीन होकर गाये, किन्तु फिर भी तेरे भ्रम का निवारण न हो सका क्योंकि एक प्रभु-विश्वास का अभाव था । बिना विश्वास के तो प्रभु-भक्ति के समस्त साधन व्यर्थ हो गये ।

गावण हीं मैं रोज है, रोवण हीं मैं राग ।
इक बैरागी ग्रिह मैं, इक गृहीं मैं बैराग ।।२०।।

शब्दार्थ—रोज = रुदन । ग्रिह = गृहस्थ ।

जिस भाँति गायन में ही रुदन है और रुदन में ही गान, उसी भांति प्रभु विश्वास के होते हुए वैराग्य में भी गृहस्थ रहा जा सकता है और गृहस्थी में भी वैराग्य-साधना हो सकती है—आवश्यकता तो केवल प्रभु-विश्वास की है ।

गाया तिनि पाया नहीं, अण-गांयां थैं दूरि ।
जिनि गाया विसवास सूं, तिन रांम रह्या भरपूरि ।।२१।।५८०।।

जिन लोगों ने यह मिथ्या गर्व किया कि उन्होंने प्रभु-भक्ति की है, उन्हें प्रभु न मिल सका, जिन्होंने उसका गुणगान ही नहीं किया उनसे तो वह बहुत दूर हो गया, किन्तु जिन्होंने विश्वासपूर्वक प्रभु-स्मरण किया उनमें प्रभु पूर्णरूपेण समा गया, अर्थात् उनका प्रभु से साक्षात्कार हो गया ।

३६. पीव पिछांणन कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में कबीर ने बताया है कि ब्रह्म सर्वव्यापक है और सृष्टि के प्रत्येक अंश में रमा हुआ है, इसलिए जो व्यक्ति मंदिर में बंद पत्थर की मूर्ति को ब्रह्म मानते हैं, वे भारी भ्रम में हैं । प्रभु तो समस्त संसार में समाया हुआ है किन्तु वह सांसारिक मोह-माया से निर्लिप्त रहता है । संसार के विषयों में फँस कर आत्मा अपने ऐसे प्रभु के स्वरूप को भूल जाती है । अतः उसे समझना चाहिए कि उसका प्रभु निराकार है जिसके न मुँह है और न माथा; वह तो पुष्प की सुगन्धि से भी सूक्ष्म है । भाव यह है कि ब्रह्म निर्गुण और निराकार है । मनुष्य को ऐसे प्रभु के प्रति ही अपनी भक्ति का प्रयास करना चाहिए ।

संपटि मांहि समाइया, सो साहिब नहीं होइ।
सकल मांड मैं रह्या, साहिब कहिए सोइ ॥१॥

शब्दार्थ—संपटि=सम्पुट, मन्दिर में। साहिब=प्रभु। माँड=ब्रह्माण्ड, संसार। सोइ=उसी को।

कबीरदास कहते हैं कि जो पत्थर का देवता मन्दिर में बन्द है वह परब्रह्म नहीं हो सकता। जो समस्त संसार में सर्वत्र रम रहा है, उसी को ब्रह्म मानना उचित है।

विशेष—मूर्ति पूजा का खंडन है।

रहै निराला मांड थैं, सकल मांड ता मांहि।
कबीर सेवै तास कूं, दूजा कोई नांहि ॥२॥

शब्दार्थ—मांड = ब्रह्माण्ड, संसार। निराला - अलग।

समस्त संसार उस प्रभु में समाया हुआ है तो भी वह सांसारिक माया-मोह से सर्वथा निर्लेप रहता है। कबीर ऐसे ही अनुपम प्रभु की भक्ति करता है, वही उसके एकमात्र आश्रय हैं।

भोलै भूली खसम कै, बहुत किया बिभचार।
सतगुर गुरू बताँइया, पूरिबला भरतार ॥३॥

शब्दार्थ—भलै=भोली आत्मा। विभचार=व्यभिचार, इन्द्रियों के नाना विषयों में गमन करना ही व्यभिचार है। गुरू=मन्त्र। पूरिबला = पहले का। भरतार =भर्ता, पति।

कबीर कहते हैं कि आत्मा संसार-मोह में पड़कर. अपने वास्तविक स्वामी को विस्मृत कर बैठी और संसार की विषय-वासनाओं में गमन कर व्यभिचार किया। जब सद्गुरु ने भक्ति का मन्त्र दिया तो आत्मा ने पूर्व पति को प्राप्त कर लिया।

जाकै मुँह माथा नहीं, नहीं रूपक रूप।
पुहुप बास थैं पतला, ऐसा तत अनूप ॥४॥५८४॥

शब्दार्थ—पुहुप=पुष्प। बास=सुगन्धि।

कबीर उस परब्रह्म का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि न तो जिसके मुख है, न भाल, और न जिसका कोई सौंदर्य और आकार है, जो सुमन-सुगन्ध से भी पतला है वह ऐसा अनुपम तत्व है।

३६. बिर्कताई कौ अंग

अंग-परिचय—विरक्ति ब्रह्म के लिए अनिवार्य है। जब मन की आसक्ति सांसारिक विषयों में रमी रहती है, तब तक कोई भी साधना सफल नहीं होती और आत्मा विकारों के बन्धन में आबद्ध रहती है। इस अंग में कबीरदास ने विरक्ति का वर्णन करते हुए बताया है, कि मैं अब संसार से विरक्त हो गया हूँ और जिस प्रकार

स्फटिक पत्थर में पड़ी हुई दरार को पुनः नहीं जोड़ा जा सकता, उसी प्रकार मेरे मन में पुनः आसक्ति का प्रवेश नहीं हो सकता। बासी दूध की भाँति जो आक के पौधे की भाँति विरक्त होकर फट जाता है, मेरा मन भी संसार की नश्वरता एवं क्षणभंगुरता देखकर उससे अलग हो गया है, उसकी आसक्ति टूट गयी जो टूटे हुए मोति की भांति पुनः नहीं जोड़ी जा सकती। जिस प्रकार जीर्ण वस्त्र पर कोई रंग नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार मेरा मन सांसारिक विषय-विकारों से इतनी दूर चला गया है कि अब उन पर विकारों का कोई प्रभाव नही पड़ सकता।

अपनी विरक्ति का वर्णन करने के पश्चात् कबीर सांसारिक विषयों में आसक्त मनुष्य को सदुपदेश देते हुए कहते हैं कि हे दिल ! तू अपने चित्त को चैतन्यस्वरूप ब्रह्म से लीन करके सांसारिक विषयों के प्रति सावधान क्यों नहीं हो जाता क्योंकि यह संसार तो अनेक प्रकार के सन्तापों का समूह है जिसमें मनुष्य जीवनभर जलता रहता है। संसार की नश्वरता के लिए रोना भी व्यर्थ है, क्योंकि यहाँ की तो प्रत्येक वस्तु नष्ट होने के लिए ही बनी है। अतः तू स्वयं को सम्भाल और अपने चंचल मन पर समय का अंकुश लगाकर अपने वश में कर ले, नहीं तो वह सांसारिक विषयों में बँधकर भटक जायेगा। दूसरों को भक्ति के उपदेश देने की अपेक्षा यहीं अच्छा है कि तू स्वयं उन उपदेशों पर आचरण कर, क्योंकि भगवान सागर के समान सबके हृदय में विद्यमान हैं, जिसे भक्ति की प्यास होगी, वह स्वयं उस सागर के फल का पान करने के लिए उस ओर चल देगा। इस संसार में जो व्यक्ति स्वामित्व की भावना लेकर जीवित रहना चाहता है, वह स्वयं ही अपने लिए दुख और कष्टों का संग्रह एकत्र करता है। अतः इन दुख तथा कष्टों से छूटने का सहज उपाय यही है कि तू स्वामित्व की भावना का परित्याग करके सेवक-भाव से प्रभु के चरणों में तल्लीन होजा। वास्तविकता तो यह है वि इस संसार में ईश्वर के सिवाय न तो किसी का अस्तित्व सच्चा ही है और न कोई अपना हितकारी ही है।

मेरैं मन मैं पड़ि गई, ऐसी एक दरार।
फाटा फटक पषांण ज्यूं, मिल्या न दूजी बार ॥१॥

शब्दार्थ—दरार=सम्बन्ध-विच्छेद की प्रतीक। फटक=स्फटिक, एक पत्थर विशेष।

कबीर कहते हैं कि अब मेरा संसार से सम्बन्ध विच्छेद हो गया है। जिस प्रकार स्फटिक पत्थर में पड़ी दरार को पुनः नहीं जोड़ा जा सकता, उसी भांति अब मेरा मन संसार में नहीं रम सकता।

विशेष—उपमा अलंकार।

मन फाटा बाइक बुरैं, मिटी सगाई साक।
जौ परि दूध तिवास का, ऊफटि हूवा आक ॥२॥

शब्दार्थ—बाइक बुरैं=बुरी बातों से। सगाइ=सम्बन्ध। साक=साख, विश्वास। तिवास=तीन दिवस का। ऊफटि=फट कर।

कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार तीन दिन का रखा बासी दूध, जो आक के पौधे के समान विषाक्त हो जाता है, फट जाता है, उसी भाँति संसार की बुरी बातें देखकर मेरा मन उससे फट गया है, विरक्त हो गया है जिससे सांसारिक सम्बन्ध एवं विश्वास टूट गये हैं।

विशेष—उदाहरण अलंकार।

चंदन भागां गुण करै, जैसै चोली पंन।
दोइ जन भागां नां मिलैं, मुकताहल अरु मंन ॥३॥

शब्दार्थ—मुक्ताहल=मोती।

चन्दन के टुकड़े-टुकड़े करने पर भी वह अपनी सुगन्ध नहीं त्यागता, जिस प्रकार चोली पहनी जाती है, उसी भांति वक्षस्थल पर उसका शीतल लेप किया जा सकता है किन्तु दो वस्तुएं भग्न होने पर टूट जाने पर पुनः नहीं मिल पातीं—एक तो मन और दूसरा मोती।

पासि बिनंठा कपड़ा, कदे सुरांग न होइ।
कबीर त्याग्या ग्यांन करि, कनक कामनी दोइ ॥४॥

शब्दार्थ—बिनंठा=विनष्ट हुआ, फटा-पुराना। सुराग=अच्छा रंग। कनक=सोना। कामनी=नारी।

जिस प्रकार फटे-पुराने जीर्ण वस्त्र पर रंग भली प्रकार नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार संसार से विरक्त मेरे मन पर सांसारिक आकर्षणों का रंग नहीं चढ़ सकता। कबीर ने ज्ञान पाकर स्वर्ण (धन) और कामिनी का परित्याग कर दिया है।

विशेष—दृष्टांत अलंकार।

चित चेतनि मैं गरक ह्वै, चेत्य न देखैं मंत।
कत कत की सालि पाड़िये, गल बल शहर अनंत ॥५॥

शब्दार्थ—गरक ह्वै=लीन होना, डूब कर।

कबीर कहते हैं कि हे मित्र! चित्त को चैतन्यरूप परब्रह्म में लीन कर, सावधान हो क्यों नहीं देखता? इस संसार रूपी बड़े नगर में न जाने कितनी चिन्ताएं एवं ताप हैं तू किस-किस की चिन्ता करेगा? परब्रह्म की आराधना कर स्वयं अपना जन्म सफल कर।

जाता है सो जांण दे, तेरी दसा न जाइ।
खेवटिया की नाव ज्यूं, घणें मिलैंगे आइ ॥६॥

शब्दार्थ—खेवटिया=मल्लाह।

कबीर जीवात्मा को प्रबोध देते हुए कहते हैं कि जो कि संसार छोड़कर जा रहा है उसे जाने दे, व्यर्थ उसके पीछे अश्रुपात मत कर। केवल यह ध्यान रखा कि तेरा आचार-व्यवहार ठीक रहे। तुझसे इस संसार में अनेक लोग आकर उसी प्रकार

मिल जायेंगे जिस प्रकार मल्लाह की नाव के किनारे आ जाने पर बहुत से उसके साथ ही हो लेते हैं।

भाव यह है कि इस आवागमनपूर्ण संसार में जाने वाले की चिन्ता मत कर, जगत के इस धारावाहिक क्रम में तुझे बहुत से मित्र मिल जायेंगे।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

नीर पिलावत क्या फिरै, सायर बर घर बारि।
जो त्रिषावंत होइगा, तो पीवेगा झख मारि ।।७।।

शब्दार्थ—सायर = सागर। त्रिषावंत=प्यासा। झष मार=विवश होकर।

कबीर कहते हैं कि हे साधक! तू प्रभु भक्ति का उपदेशामृत प्रत्येक को पिलाने का क्यों प्रयत्न कर रहा है, क्योंकि इस भक्ति का जल का केन्द्र (सागर) प्रभु—सबके हृदय में विद्यमान है। जिसको प्रभु-भक्ति की प्यास होगी वह झख मार कर उसका पान करेगा अर्थात् प्रभु-भजन करेगा।

सत गंठी कोपीन है, साघ न मानै संक।
रांम अमलि माता रहैं, गिणैं इन्द्र कौ रंक ।।८।।

शब्दार्थ—संक=शंका, डर। माता=मस्त। रंक=भिक्षुक।

साधु अपने हृदय में कोई सांसारिक वासना (काम वासना भी हो सकता है) नहीं रखता तो भी संयम के लिए वह सात गाँठ युक्त कोपीन धारण करता है। वह तो प्रभु-भक्ति में मदमस्त रहता है और इसी प्रभु-भक्ति के गौरव से वह बड़े से बड़े राजा को भी भिक्षुक समझता है।

दावै दाझण होत है, निरदावै निसंक।
जे नर निरदावै रहैं, ते गिणैं इंद्र कौं रंक ।।९।।

शब्दार्थ—दावै=अधिकार। दाहण=जलना, दुखी होना। निरदावै=उपेक्षित करता है।

कबीरदास कहते हैं कि संसार में अधिकतर, स्वामित्व की इच्छा ही मनुष्य को दग्ध करती है, दुःख देती है। जो अधिकार-भावना को दूर कर देते हैं उन्हें किसी चोर आदि की शंका ही नहीं रहती। जो मनुष्य स्वामित्व की भावना का न्याय कर जीवन व्यतीत करेगा वह इतना महान होगा कि बड़े से बड़े राजा को भी वह भिखारी समझेगा।

कबीर सब जग हंढिया, मंदिल कंधि चढ़ाइ।
हरि बिन अपनां को नहीं, देखे ठोकि बजाइ ।।१०।।५९४।।

शब्दार्थ—हंढिया=घूम लिया। मंदिल कंधि चढ़ाइ=शरीर का भार ढोते हुए। ठोकि बजाइ=भलीभाँति निरीक्षण करके।

कबीरदास कहते हैं कि मैंने समस्त संसार में शरीर-भार को ढोते हुए घूम कर देख लिया है, और सुनिश्चित चिंतन और निरीक्षण के आधार पर देख लिया है कि प्रभु के अतिरिक्त अपना कोई और नहीं है।

३८. समथाई कौ अंग

अंग परिचय—इस अंग में यह बताया गया है कि प्रभु सब कुछ करने में समर्थ हैं और वे ही सब कुछ करते हैं। मनुष्य के वश में कई बात नहीं है। वह तो दम्भ के कारण कर्त्ता होने का दावा किया करता है। जिस पर भगवान् की कृपा होती है, सारा संसार उसकी उंगलियों के इशारे पर नाचता है और वह सहज में ही प्रभु के दर्शन कर लेता है। प्रभु के गुण असंख्य और वर्णनातीत हैं। यदि सातों समुद्रों की स्याही बनाकर, सारे वनों की लेखनी बनाकर और सारी धरती को कागज बनाकर भी प्रभु के गुण लिखे जायें तो वे भी नहीं लिखे जा सकते। वह प्रभु तो अवर्ण्य है, उसके स्वरूप का थोड़ा-बहुत आभास केवल उसी व्यक्ति को हो सकता है जो सच्चे मन से प्रभु-प्रेम में लीन हो जाता है। अन्यथा प्रभु की कृपा के बिना मनुष्य के सारे साधन, चाहे वे कितने ही प्रबल क्यों न हो, व्यर्थ और निष्फल सिद्ध होते हैं। इसीलिए मनुष्य को यह जानना चाहिए कि भगवान् ही सब कुछ करने में समर्थ है। वह राई से पर्वत और पर्वत से राई बना सकता है। मनुष्य के वश में तो कुछ भी नहीं है, अर्थात् वह भगवान् की प्रेरणा तथा कृपा के बिना कुछ भी नहीं कर सकता।

नां कुछ किया न करि सक्या, नां करणें जोग सरीर।
जे कुछ किया सु हरि किया, तायें भया कबीर कबीर ॥१॥

शब्दार्थ—जोग=योग्य। कबीर=महान् व्यक्ति।

कबीरदास कहते हैं कि न तो मैंने कुछ सत्कर्म किया है और न मैं उसे करने में समर्थ हूँ, न मेरा शरीर इतना शक्तिशाली है कि मैं कुछ सुकार्य कर सकूँ। जो कुछ भी मैंने (परोपकार) किया है वह सब प्रभु ने ही किया है, उसी की कृपा से मैं इतना महान् हो गया हूँ कि सब मेरा सम्मान करते हैं।

विशेष—यमक अलंकार।

कबीर किया कछू न होत है, अनकीया सब होइ।
जे किया कुछ होत है, तो करता औरै कोइ ॥२॥

कबीरदास कहते हैं कि मनुष्य के करने से कुछ भी नहीं हो सकता, जो हम करना नहीं चाहते हैं प्रभु-विधान से वह हो जाता है। यदि मनुष्य के प्रयत्न करने से कोई कार्य सफल भी हो जाता है तो उसका श्रेय और किसी को, प्रभु को, ही है।

विशेष—भेदकातिशयोक्ति।

जिसहि न कोई तिसहि तूं जिस तूं तिस सब कोइ।
दरिगह तेरी सांईयां, नांम हरू मन होइ ॥३॥

शब्दार्थ—दरिगह=आश्रम।

जिसका संसार में कोई नहीं है उसके सहायक हे प्रभु! आप हैं और जिसके साथ आप हैं समस्त संसार उसका है। हे प्रभु! तेरे सम्मुख जाकर मन केवल तेरे नाम का ही स्मरण करता है।

एक खड़े ही लहैं, और खड़ा बिबलाइ।
साइं मेरा सुलषनां, सूतां देह जगाइ ॥४॥

शब्दार्थ—सुलषनां=सुलक्षणयुक्त। सूतां=सोते हुए को, मोह-निद्रा में पड़े हुए को।

कबीर कहते हैं कि एक भक्त तो प्रभु का दर्शन खड़े होकर ही कर लेता है, अर्थात् थोड़े से ही प्रयत्न से वह प्रभु का साक्षात्कार कर लेता है और दूसरा जिसका प्रभु में सच्चा अनुराग नहीं खड़ा-खड़ा प्रभु के लिए रोता-पीटता है। मेरे प्रभु बड़े दयालु हैं कि उन्होंने मुझे संसार की माया-मोह, निद्रा से जगाकर चेतनायुक्त कर दिया।

समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुंण लिख्या न जाइ ॥५॥

शब्दार्थ – मसि=स्याही। बनराइ=वन।

कबीर कहते हैं कि सातों समुद्र की यदि स्याही बनाकर समस्त बनों की लेखनी से, समस्त पृथ्वी रूप कागज पर यदि प्रभु के गुण लिखने बैठूं तो उनकी संख्या इतनी है कि यह सामग्री थोड़ी पड़ जायेगी और प्रभु के गुण समाप्त नहीं होंगे।

अबरन कौं का बरनिये, मोपैं लख्या न जाइ।
अपना बाना बाहिया, कहि कहि थाके माइ ॥६॥

शब्दार्थ—अबरन=अवर्ण, निराकर, प्रभु, ब्रह्म। बाना=रुचि।

कबीर कहते हैं कि निराकार प्रभु का क्या स्वरूप वर्णन किया जाय, मैं तो उसे देखने में असमर्थ हूँ। इसीलिए प्रत्येक साधक ने उसे अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप देखकर जितना वर्णन कर सके, किया है।

झल बांवैं झल दांहिनैं, झलहि मांहि व्यौहार।
आगें पीछें झलमई, राखैं सिरजनहार ॥७॥

शब्दार्थ—झल=अग्नि। बावैं=वायें। वाम=पार्श्व। व्यौहार=क्रिया-कलाप।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में जीवात्मा के वाम एवं दक्षिण पार्श्व में सांसारिक तापों की अग्नि जल रही है तथा जितना भी मनुष्य का कार्य-व्यवहार है सर्वत्र अग्नि ही अग्नि—दुःख ही दुःख—है। यहाँ तक कि आगे और पीछे मनुष्य का मार्ग इसी से अवरुद्ध है। केवल एक प्रभु ही इस संसार -अग्नि से जीव की रक्षा कर सकते हैं।

सांई मेरा बांणियां, सहंजि करै व्यौपार।
बिन डांडी बिन पालड़ैं, तोलै सब संसार ॥८॥

शब्दार्थ—बांणियां=बनिया, वणिक।

कबीर कहते हैं कि मेरा स्वामी, प्रभु (प्रेम का) व्यापार करने वाला सच्चा

व्यापारी है। तराजू के बिना ही समस्त संसार से इस व्यापार की तौल कर रहा है।

भाव यह है कि जिस प्रकार सच्चा व्यापारी धन के बदले उतने ही मूल्य की वस्तु देता है, उसी प्रकार प्रभु से जो जितना अधिक प्रेम करता है, उस पर वह उतनी ही कृपा दृष्टि रखता है।

विशेष—विभावना अलंकार।

कबीर बार्या नांव परि, कीया राई लूण।
जिसहि चलायै पंथ तूं, तिसहि भुलावै कूण ॥९॥

शब्दार्थ—बार्या=बलिहारी होना। नांव=नाम, प्रभु नाम। कूण= कौन।

कबीर कहते हैं कि मैं तो प्रभु नाम की बलिहारी जाता हूँ, इस नाम स्मरण से ही मेरा प्रभु से ऐसा अभिन्न साक्षात्कार हो गया कि मैं प्रभु से राई और नमक के समान तादात्म्य हो गया। हे प्रभु! जिसे आप भक्ति के सन्मार्ग पर चलते हैं, उसे सांसारिक विषय-वासना कैसे पथ-भ्रष्ट कर सकती है?

विशेष—काकुवक्रोक्ति अलंकार।

कबीर करणीं क्या करै जे रांम न करै सहाइ।
जिंहि जिंहि डाली पग धरै, सोई नवि नवि जाइ ॥१०॥

कबीर कहते हैं कि यदि प्रभु सहायता न करे तो मनुष्य कुछ भी कर्म नहीं कर सकता। प्रभु की अनुकम्पा के अभाव में तो मनुष्य जिस-जिस शाखा को लक्ष्य तक पहुँचाने का अवलम्ब बनाता है, वही झुक जाती हैं। भाव यह है कि प्रभु की सहायता बिना साधन व्यर्थ हो जाते हैं।

विशेष—पुनरुक्त अलंकार।

जदि का माइ जनमियां, कहूँ न पाया सुख।
डाली डालीं मैं फिरौं, पातौं पातौं दुख ॥११॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु जब से मैंने जीवन धारण किया है, कभी भी सुख प्राप्त नहीं किया। सुख प्राप्ति के लिए मैंने जितना प्रयत्न किया दुख ने उतना ही मुझे व्यथित किया।

विशेष—पुनरुक्त अलंकार।

सांइ सूं सब होत है, बंदे थैं कछु नांहि।
राई थैं परबत करै, परबत राई मांहि ॥१२॥६०६॥

शब्दार्थ=साईं=स्वामी, प्रभु। बंदे=मनुष्य।

प्रभु सब कुछ करने में समर्थ है, किन्तु मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता। वे शक्ति सम्पन्न प्रभु राई जैसे तुच्छ कण को पर्वताकार दे सकते हैं और पर्वत को राई के समान छोटा बना सकते हैं। असम्भवतम कार्य उनके लिए सम्भव है।

३९. कुसबद कौ अंग

अंग-परिचय—कुशब्द अथवा अपशब्द साधुओं के द्वारा वर्ज्य हैं। उन्हें सदैव ऐसे शब्दों प्रयोग करना चाहिए जो मनोहर और हितकारी हैं। प्रस्तुत अंग में कबीर कुशब्दों की निन्दा करते हुए कहते हैं कि बरछी की नं.क की मार तो सही जा सकती है, क्योंकि उसके लगने पर व्यक्ति गिरकर भी सांस लेता रहता है, किन्त कुशब्द के आघात से तो व्यक्ति का तुरन्त प्राणांत हो जाता है। जो व्यक्ति कुशब्दों की चोटों को भी धैर्यपूर्वक सहन कर लेता है वही महान् और सर्वगुणसम्पन्न होता है, क्योंकि इसकी चोटों को सहन कर लेना हर व्यक्ति की सीमा से बाहर है। जिस प्रकार पृथ्वी सब व्यक्तियों के पैरों की चोट सहन करती है, इसी प्रकार साधुजन सबके कठोर वचनों को सह लेते हैं। यह सहनशक्ति व्यक्ति में तभी आती है जब वह अपने-पराये की भावना से मुक्त हो जाता है और जिसे ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

अणी सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की, तास गुरू मैं दास ॥१॥

शब्दार्थ—अणी=अनी, नोक। सुहेली=सहने योग्य। सेल=बरछी। पड़तां=घायल होकर गिरने पर भी।

बरछी की नोक की मार तो सही जा सकती है, क्योंकि उसके लगने पर व्यक्ति गिर कर भी सांस लेता है, किन्तु कुशब्द, बुरी बाणी से तो व्यक्ति तत्क्षण मर जाता है। कबीर कहते हैं कि जो कुशब्द की चोट के आघात को चुपचाप सहन कर लेगा, वह मेरा गुरु है और मैं उसका शिष्य।

खूंदन तौ धरती सहै, बाढ़ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सह्या न जाइ ॥२॥

शब्दार्थ—खूंदन=पैरों की रगड़। बनराइ=बनराजि, वन-पंक्ति।

कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार पैरों के नीके रौंदने के कष्ट को पृथ्वी ही सहन कर सकती है और बाढ़ को रोकने में बन-पंक्ति ही समर्थ है, उसी भांति केवल प्रभु-भक्त, साधु ही बुरे वचनों को चुपचाप सह सकता है।

विशेष—(१) उदाहरण अलंकार

सीतलता तब जांणियें, समिता रहै समाइ।
पष छाड़ै निरपष रहै, सबद न दूष्या जाइ ॥३॥

शब्दार्थ—पष=पक्ष, अपनत्व। दूष्या जाइ=दूषित लगे,बुरा लगे, कटु लगे।

कबीर कहते हैं कि 'मैं' और 'तू'रहित समदृष्टि आने पर ही मनुष्य का स्वभाव शांतिपूर्ण बन सकता है। अपनत्व छोड़कर निष्पक्ष रहने से किसी की (बुरी) वाणी भी असह्य नहीं लगती।

कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान ।
झिंहि बैसंदर जग जल्या, सो मेरे उदिक समान ॥४॥६१०॥

शब्दार्थ – बैसंघर=अग्नि । उदिक=जल ।

कबीर कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने से मेरा मन शीतल हो गया । जिस माया की अग्नि से समस्त संसार दग्ध हो रहा था, प्रभु-कृपा से वह मेरे लिए जल के रामान शीतल और निर्मल हो गई है ।

४०. सबद कौ अंग

अंग-परिचय—सिद्धों और नाथों की योग-साधना में शब्द का बड़ा महत्व है । उनकी दर्शन की शब्दावली में इसे अनहद नाद कहा गया है । प्रस्तुत अंग में कबीर शब्द अथवा अनहद नाद का परिचय देते हुए कहते हैं कि शब्द समस्त संसार में व्याप्त है और सभी के हृदयों के तारों को झंकृत करता रहता है । जिस व्यक्ति के हृदय में यह झंकृत होने लगता है, उसे फिर संसार के विषय अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते । सती, संतोषों एवं संसार की विषय-वासनाओं के प्रति जागरूक व्यक्ति ही इस शब्द की महिमा को समझ सकते हैं, क्योंकि उनके हृदय गुरु की कृपा के कारण विकारहीन और निर्मल होते हैं ।

इस शब्द का बोध कराने वाला गुरु भी साधारण व्यक्ति नहीं होता । वह तो सिकलीगर के समान होता है जो शब्द-रूपी शांण पर साधक के शरीर को घिस कर चमका देता है । वही सच्चा शूर-वीर होता है तो शब्द बाण मारकर साधक के मन को विकार-शून्य बना देता है । हरि की भक्ति से और सतगुरु की कृपा से ही इस बाण की चोट खाने का सौभाग्य साधक को प्राप्त होता है ।

कबीर सबद सरीर मैं, बिनि गुण बाजै तंति ।
बाहरि भीतरि भरि रह्या, तार्थें छूटि भरंति ॥१॥

शब्दार्थ—गुण=रस्सी, यहाँ तार, जो वीणा में लगे होते हैं, से तात्पर्य । तंति=तन्त्री, वीणा । भरंति=भ्रांति, माया का भ्रम ।

कबीर कहते हैं कि शरीर में अक्षर ब्रह्म का अनहद नाद हो रहा है और इस प्रकार बिना तार के ही वीणा झंकृति हो रही है । यह अनहद नाद संसार में सर्वत्र और मनुष्य के शरीर के भीतर हो रहा है—इसमें रम जाने से मांया भ्रम में मनुष्य नहीं पड़ता ।

विशेष—(१) योगियों की यह मान्यता है कि 'ब्रह्माण्ड' में सर्वत्र अनहद नाद हो रहा है और यही अनहद नाद 'पिण्ड'—शरीर—में भी हो रहा है । योगियों की इसी मान्यता को कबीर ने यहाँ प्रस्तुत किया है ।

(२) विभावना अलंकार ।

सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुबिचार।
सतगुर के प्रसाद थैं, सहज सील मत सार ॥२॥

शब्दार्थ—प्रसाद=कृपा।

सती, सन्तोष प्राप्त व्यक्ति एवं संसार की विषय-वासनाओं से सचेत व्यक्ति इस अनहद नाद की महिमा से परिचित होते है क्योंकि इनका मन निर्मल होता है। ये सब वर्ग सद्गुरु की कृपा से यह जान जाते हैं कि संसार के समस्त मतों, सम्प्रदायों का सार—अपने आचरण को ठीक रखना (सहजशील) है जिससे चित्त निर्मल रहता है।

सतगुर ऐसा चाहिए, जैसा सिकलीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोई ॥३॥

शब्दार्थ—सिकलीगर=शान रखने वाला कारीगर। मसकता=पत्थर का एक गोल घेरा सा, जो सिकलीगर की साइकिल-सी में लगा रहता है, पैर से पैडल को घुमाकर ही इस पत्थर द्वारा शान लगाई जाती है। द्रपन=दर्पण, निर्मल सिकलीगर=जंग लगे चाकू आदि को भी शीशे के समान चमका देता है।

कबीर कहते हैं कि सद्गुरु को सिकलीगर के समान होना चाहिए जो शब्द रूपी पत्थर को घुमाकर उसके द्वारा साधक के शरीर को शीशे के समान चमका कर शुद्ध बना दे।

सतगुर साचा सूरिवां, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भैं मिलि गया, पड़्या कलेजै छेक ॥४॥

शब्दार्थ—साँचा=वास्तविक। बाह्या=मारा, छोड़ा, यहाँ 'कहने' के अर्थ में, किन्तु तीर के समान मर्मान्तक प्रभाव रखने के कारण ही इसे 'बाह्या' कहा है। भैं=भूमि। छेक=छिद्र, दरार, विभेद, यहाँ संसार से सम्बन्ध-विच्छेद अर्थ होगा।

कबीर कहते हैं कि सद्गुरु ही सच्चा शूरवीर है। उसने केवल अपना एक शब्द-रूपी बाण साधक के ऊपर छोड़ा, जिसके लगते ही वह पृथ्वी पर धराशायी हो गया, समाधिस्थ हो गया और मेरा संसार से सम्बन्ध विच्छेद हो गया।

भाव यह है कि गुरु कृपा से ही सब कुछ सफल होते हैं।

हरि-सर जे जन बेनिया, सतगुण सीं गणि नांहि।
लागी चोट सरीर में, करक कलेजे मांहि ॥५॥

शब्दार्थ—हरि-सर=प्रभु-बाण।

कबीर कहते हैं कि जो प्रभु-प्रेम-पाश में एक बार फँस गया उस पर सातों गुणों-युक्त सींगनियों से भी किये गये बाण के प्रहार का कुछ प्रभाव नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द रूपी बाण की चोट तो साधक के शरीर में लगी है और उसकी वेदना हृदय-प्रदेश में हो रही है।

विशेष—असंगति अलंकार।

ज्यूं ज्यूं हरि गुण सांभलूं, त्यूं त्यूं लागे तीर।
सांठी सांठी झड़ि पड़ी, झलका रह्या सरीर ॥६॥

शब्दार्थ—साँभलू=सम्हलता हूँ, स्मरण करता हूँ। साँठी-साँठी=लकड़ी-लकड़ी।

कबीर कहते हैं कि जितना ही अधिक मैं प्रभु-गुण का स्मरण करता हूँ उतना ही अधिक प्रभु-प्रेम का तीर मेरे हृदय में उसी प्रकार बैठता जाता है जैसे धनुष की प्रत्यंचा (गुण) को कोई जितना अधिक खींचेगा उतना ही अधिक तीर गहरा लगेगा। मेरे मुख से कही गई वाणी में जो सारतत्व था वह भाले की अनी के समान हृदय में प्रविष्ट हो गया और शेष निरर्थक बातें भाले की लकड़ी के समान बाहर ही टूट कर गिर गईं।

ज्यूं ज्यूं हरि गुण सांभलौं, त्यूं त्यूं लागै तीर।
लागें थैं भागा नहीं, साहणहार कबीर ॥७॥

शब्दार्थ—साहणहार=सहने वाला। कबीर (१) कवि का नाम, (२) महापुरुष।

ज्यों-ज्यों, अधिकाधिक, मैं प्रभु गुणों का स्मरण करता हूँ उनकी प्रेम-भक्ति का तीर मेरे हृदय में गहरे से गहरा पैठता है। उस प्रेम-वेदना से विचलित हो साधक प्रेम-पंथ से भागने लगा और जो उस ईश-विरह-वेदना को सहन कर जाता है, वही कबीरदास के समान भक्त बन जाता है।

विशेष—श्लेष अलंकार।

सारा बहुत पुकारिया, पीड़ पुकारै और।
लागी चोट सबद की, रह्या कबीरा ठौर ॥८॥६१८॥

शब्दार्थ—सारा=ढोंगी। पीड़=पीड़ा, वेदना।

ढोंगी साधु ईश्वर प्रेम-वेदना का मिथ्याडम्बर कर बहुत प्रदर्शन करता है और जो उस ईश्वरीय पीड़ा से पीड़ित होते हैं उनकी वेदना कुछ और ही होती है। सद्‌गुरु के शब्द रूपी बाण की चोट लगकर कबीर तो एक स्थान पर स्थित हो गया है।

भाव यह है कि सद्‌गुरु के उपदेश-बाण से वृत्तियाँ केन्द्रित होकर प्रभु-भक्ति में लग जाती है।

४१. जीवन मृतक कौ अंग

अंग-परिचय—जो व्यक्ति सांसारिक विषय-वासनाओं के बन्धनों से मुक्त है, वह जीवित है और जो आबद्ध है, वह मृतक है। इन बंधनों से छुटकारा पाने के लिए मन पर नियंत्रण करना आवश्यक है, क्योंकि जब तक मन का चांचल्य नष्ट नहीं होगा, तब तक साधक की कोई भी साधना सफल नहीं होगी संसार से संबंध विच्छेद कर देने के पश्चात् ही प्रभु की कृपा प्राप्त होती है। प्राकृतिक मृत्यु को तो सब ही व्यक्ति प्राप्त

होते हैं, किन्तु ऐसा व्यक्ति बिरला ही होता है जो अपनें जीवन में ही अपनी इन्द्रियों को मार देता है। ऐसा मनुष्य कभी भी प्राकृतिक मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। मन की चंचलता नष्ट करने पर, माया का मोह छोड़ देने पर और अहं को तिलांजलि दे देने पर ही मनुष्य मुक्ति का अधिकारी बनता है। किन्तु इस प्रकार मरना भी हर आदमी नहीं जानता।

मनुष्य की श्रेष्ठता की कसौटी प्रभु-भक्ति है। जो इस कसौटी पर खरा उतर आता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है और जो खरा नहीं उतरा, वह आवागमन के बंधन में बंदी बना रहता है। अहंकार को समाप्त करने के पश्चात् ही मनुष्य इस कसौटी पर खरा उतर सकता है। इसके लिए प्रभु का अवलम्ब भी आवश्यक है। बिना प्रभु में विश्वास स्थापित किये कोई भी व्यक्ति अपनी साधना में सफल नहीं हो सकता, न वह सांसारिक बंधनों से ही छूट सकता है। इसीलिए प्रभु को प्राप्त करने के लिए साधक को रोड़े की तरह वन जाना चाहिए। जिस प्रकार वह रोड़ा सबके पदाघातों को सहता है, उसी प्रकार साधक को भी सबके दुर्व्यवहार को शांतिपूर्वक सह लेना चाहिए।

जीवत मृतक ह्वै रहै, तजै जगत की आस।
तब हरि सेवा आवण करै, मति दुख पावै दास ॥१॥

शब्दार्थ—जीवत=जीवित। दास=भक्त।

जो मनुष्य जीवित रहते हुए भी सांसारिक माया-जन्य आकर्षणों में उलझते हुए जीवन्मुक्त हो, सांसारिक आशा-अभिलाषाओं का परित्याग कर देते हैं, उन्हें प्रभु अपनी सेवा में लेकर (अनुकम्पापूर्वक) उनका दुःख दूर कर देते हैं।

कबीर मन मृतक भया, दुरबल भया सरीर।
तब पैंडे लागा हरि फिरै, कहत कबीर कबीर ॥२॥

शब्दार्थ—कबीर-कबीर= भक्त के लिए सम्बोधन से तात्पर्य है।

कबीर कहते हैं कि यदि मन मर जाय, सांसारिक आकर्षणों में निश्चेष्ट हो जाय और शरीर प्रभु-भक्ति में दुर्बल हो जाय तब भक्त के पीछे भगवान् उसे पुकारते फिरते हैं अर्थात् कथित आचरण से स्वयमेव भगवत्-प्राप्ति हो जाती है।

कबीर मरि मड़हट गह्या, तब कोई न बूझै सार।
हरि आदर आगें लिया, ज्यूं गऊ बछ की लार ॥३॥

शब्दार्थ—मड़हट=श्मशान, संसार। बछ=बछड़ा। लार=पंक्ति।

कबीर जीवन्मुक्त हो जीवित अवस्था में भी मरकर इस संसार रूपी श्मशान में उपेक्षित पड़ा रहा, समस्त संसार ने उससे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। केवल प्रभु ने ही मुझे उस वत्सल भाव से ग्रहण किया, जिस भाँति गाय अपने बछड़े को, अर्थात् ममता और स्नेहपूर्वक।

घर जालौं घर ऊबरैं, घर राखौं घर जाइ ।
एक अचंभा देखिया, मड़ा काल कौ खाइ ।।४।।

शब्दार्थ—मड़ा=मृतक । काल=मृत्यु ।

यदि मैं सांसारिक घर-बार को जला देता हूँ, इसके ममता-बन्धन में नहीं पड़ता हूँ तो वह वास्तविक घर—प्रभु-साक्षात्कार से प्राप्त कर—बचता है और यदि इस सांसारिक गृह-रक्षा में पड़ माया बन्धन में पड़ता हूँ तो वह वास्तविक घर—उद्देश्य—मोक्ष नष्ट हो जाता है। कबीर कहते हैं कि मैंने एक बहुत बड़ा आश्चर्य देखा है कि मृतक शव काल को समाप्त कर रहा है (जबकि साधारण अवस्था में काल मृतक को खाता है) अर्थात् जीवन्मुक्त मनुष्य काल की सीमा और शक्ति को समाप्त कर अमर हो रहा है।

विशेष—विरोधाभास अलंकार ।

मरतां मरतां जग मुवां, औसर मुवा न कोइ ।
कबीर ऐसे मरि मुवा, ज्यूं बहुरि न मरनां होइ ।।५।।

शब्दार्थ—मुवा=समाप्त हो गया । औसर=अवसर । बहुरि—पुनः, फिर ।

मृत्यु को प्राप्त होता-होता ही संसार विनष्ट हो गया, किन्तु अवसर रहते हुए मरना, जीवन्मुक्त होना, किसी ने नहीं जाना । कबीर अपने जीवन-काल में ही इस प्रकार मृत्यु को प्राप्त हो गया कि संसार के आकर्षणों एवं विषयों से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया अर्थात् वह जीवन्मुक्त हो गया । अब उसे आवागमन के इस संसार चक्र में पड़ना नहीं पड़ेगा ।

बैद मुवा रोगी मुवा, मुवा सकल संसार ।
एक कबीरा ना मुवा, जिनि के राम अधार ।।६।।

शब्दार्थ—मुवा=मर गया, समाप्त हो गया ।

कबीर कहते हैं कि वैद्य अर्थात् संसार-ताप से पिंड छुड़ाने का प्रयत्न करने वाला भी समाप्त हो गया और समस्त संसार भी उसके उपचार से ठीक न होकर नष्ट हो गया, केवल वही बच रहे, जिनके एकमात्र आश्रय प्रभु थे ।

मन मार्या ममिता मुइ, अहं गइ सब छूटि ।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति ।।७।।

शब्दार्थ—ममता='अयं परो वा' की भावना ।

सांसारिक विषयों में मन की गति अवरुद्ध होने पर ममत्व का मोह एवं अहं का दर्प सब समाप्त हो गया । ऐसी अवस्था आने पर साधक प्रभु में रम गया और जिस आसन पर वह समाधिस्थ था, वहां तो केवल शरीर—शव मात्र रह गया ।

जीवन थैं मरिबो भलौ, जौ मरि जानैं कोइ ।
मरनें पहली जे मरैं, तो कलि अजरावर होइ ।।८।।

शब्दार्थ—अजरावर=आश्चर्यचकित ।

उस जीवन से जिसमें संसार-विषयों में ही मनुष्य उलझा रहता है, मृत्यु ही अच्छी है। यदि कोई जीवनावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाय; अर्थात् संसार से पूर्ण तटस्थ हो जीवन्मुक्त हो जाय तो कलियुग में यह आश्चर्यचकित कर देने वाली बात ही होगी।

खरी कसौटी रांम की, खोटा टिकै न कोइ।
रांम कसौटी सो टिकै, जौ जीवत मृतक होइ ॥९॥

शब्दार्थ—मृतक = मुक्ता।

प्रभु-भक्ति ही श्रेष्ठता की वास्तविक कसौटी है जिस पर कोई कुप्रवृत्ति वाला मनुष्य खरा नहीं उतर सकता। प्रभु-भक्ति की कसौटी पर तो वही खरा उतर सकता है जो जीवित अवस्था में ही संसार से मृतक के समान असम्बद्ध रहे—यही जीवन्मुक्त अवस्था है।

आपा मेट्यां हरि मिलै हरि मेट्या सब जाइ।
अकथ कहांणीं प्रेम की, कह्यां न को पत्ययाइ ॥१०॥

शब्दार्थ—पत्ययाइ = विश्वास करे। आपा मेट्यां = अहं को मिटाना, दर्प को दूर करना।

मनुष्य यदि अपने अहं (दर्प) को समाप्त कर दे तो प्रभु-प्राप्ति सम्भव है, किन्तु जब संसार के आकर्षणों के सम्मुख ईश्वर को विस्मृत कर दिया जाता है तो सर्वस्व नष्ट हो जाता है। प्रभु-प्रेम की यह विलक्षण गति अवर्णनीय है। यदि इसका वर्णन किया जाय तो कोई विश्वास नहीं कर सकता।

निगुसांवां बहि जाइगा, जाकै घाघी नहीं कोइ।
दीन गरीबी बंदिगी, करतां होइ सु होइ ॥११॥

शब्दार्थ—निगुसांवां = स्वामीहीन। घाघी = नाव की पतवार।

इस संसार में प्रभु विश्वास के अवलम्ब बिना व्यक्ति नष्ट हो जायगा. इसी भाव को प्रकट करते हुए कबीर कहते हैं कि इस संसार-सरिता में जिसकी नौका का गुरुरूपी पतवार नहीं, वह जाएगा, समाप्त हो जाएगा। अतः हे मनुष्य ! तू विनम्रता और श्रद्धा सहित दीनावस्था में भी प्रभु-भक्ति का कुछ न कुछ कार्य करता रह।

दीन गरीबी देन कौं, दूंदर कौं अभिमान।
दुंदर दिल बिस सं भरी, दीन गरीबी राम ॥२॥

शब्दार्थ—दीन = निर्धन। दूंदर = धनिक। विष = विषय-वासना एवं कलुषित भावना।

जो निर्धन हैं उनमें विनम्रता है एवं धनिक में अभिमान है। धनिक का हृदय विषय-वासनाओं एवं कलुषित भावनाओं से भरा रहता है और निर्धन का हृदय प्रभु-भक्ति से ओत-प्रोत रहता है।

कबीर चेरा सत का, दासनि का परदास।
कबीर ऐसें ह्वै रह्या, ज्यूं पाऊं तलि घास ॥१३॥

शब्दार्थ—चेरा = चेला, शिष्य।

कबीर कहते हैं कि मैं साधु-सन्तों का शिष्य एवं प्रभु-भक्तों का दासानुदास हूँ। जिस प्रकार घास पैरों के नीचे रुंदकर भी प्रतिकार नहीं करती उसी भाँति मैं भी सन्तों और भक्तों का विनम्र सेवक हूँ।

विशेष—उपमा अलंकार।

रोड़ा ह्वै रहो बाट का, तजि पाषंड अभिमान।
ऐसा जे जन ह्वै रहै, ताहि मिलै भगवान ॥१४॥५६२॥

शब्दार्थ—बाट का = मार्ग का।

कबीर कहते हैं कि साधक ! तू अपने में ऐसा विनीत भाव बना ले जिस प्रकार मार्ग में पड़ा रोड़ा सबका पदाघात चुपचाप सहता है। जब तुझ में ऐसा विनम्र भाव और अहं का विसर्जन हो जाएगा तभी तुझे प्रभु-प्राप्ति हो जायगी।

४२. चित कपटी भेष कौ अंग

अंग-परिचय—मन की कपटता साधना में बाधक है। इसीलिए प्रस्तुत अंग में कबीर ने बताया है कि जहां कपटपूर्ण प्रेम का प्रदर्शन होता हो, वहाँ साधक को भूलकर भी नहीं जाना चाहिए। इस प्रकार का स्नेह कनीर के पुष्प की भाँति होता है जो ऊपर से लाल तथा अन्दर से सफेद होता है। इसी प्रकार कपटी व्यक्तियों के प्रेम में वास्तविकता कुछ भी नहीं होती। वे ऊपर से तो प्रेम का नाटक रचते हैं, किन्तु उनके हृदय में कपट भरा रहता है। निष्कपट हृदय का प्रेम पा जाना बड़े ही सौभाग्य का विषय है, क्योंकि इस संसार में दो ही बातें प्राप्त करने योग्य हैं—प्रभु की भक्ति और निष्कपट प्रेम।

कबीर तहाँ न जाइए, जहाँ कपट का हेत।
जालूं कली कनीर की, तन राती मन सेत ॥१॥

शब्दार्थ—हेत = प्रेम।

कबीर कहते हैं कि जहां कपटपूर्ण स्नेह का प्रदर्शन मात्र हो वहाँ कभी नहीं जाना चाहिए। कनीर-पुष्प ऊपर से लाल होता है और भीतर से श्वेत—इसका अनुराग का लाल रंग कृत्रिम है क्योंकि हृदय में तो श्वेत—फीका—रंग है। ऐसे पुष्प को नष्ट कर देना उपयुक्त है, अर्थात् ऐसे कपटी हृदय मनुष्य से प्रेम सम्बन्ध तोड़ देना चाहिए।

विशेष—'कली किनीर की'—का अर्थ कुछ विद्वानों ने कनेर के फूल से लगाया है, किन्तु कनेर का फूल पीला होता है। यहाँ कबीर का तात्पर्य दुपहरिया के लाल-सुमन से है जो भीतर से श्वेत निकलता है।

संसारी साषत भला, कँवारी कै भाइ।
दुराचारी वैश्नौं, बुरा, हरिजन तहाँ न जाइ ॥२॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर शाक्तों के विरोधी एवं वैष्णवों के प्रशंसक है किन्तु मिथ्याचारी वैष्णव के वे विरुद्ध हैं—उससे तो अच्छा वे घृणित शाक्त को ही बताते हैं। वे कहते हैं संसार लिप्त शाक्त, संन्यासी किन्तु दुराचारी वैष्णव से अच्छा है। वह संसारी शाक्त तो मन से ही कुमारी कन्या के समान निर्मल है और वह वैष्णव कलुषित भावनाओं से परिपूर्ण। प्रभु भक्त को ऐसे वैष्णव के पास नहीं जाना चाहिए।

निरमल हरि का नांव सौं, कै निरमल सुध भाइ।
कै लै दूणी कालिमां, भावै सौ मण सावण लाइ ॥३॥६३५॥

शब्दार्थ—कै=अथवा। सुध भाइ=शुद्ध भाव। दूणी=दुगुनी। सौ मण =सौ मन, अपरिमित।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में दो ही प्रकार के आचरण हो सकते हैं—एक तो प्रभु का प्रेम-पूर्वक स्मरण और प्रत्येक व्यवहार में मन की पवित्रता रखना और दूसरा मार्ग यह है कि मनुष्य कुकर्मों में अधिकाधिक संलग्न रहे, फिर उस कालुष्य को चाहे तो भी सौ मन साबुन लगाकर भी समाप्त नहीं कर सकता है।

भाव यह है कि एकमात्र प्रभु-भक्ति ही संसार में काम्य है।

४३. गुरुसिष हेरा कौ अंग

अंग-परिचय—निर्गुण-साधना में गुरु का बहुत अधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है, किन्तु सच्चा गुरु शिष्य को भाग्य से ही प्राप्त होता है। प्रस्तुत अंग में इसी बात का वर्णन करते हुऐ कबीरदास कहते हैं कि जो गुरु अपने उपदेश द्वारा शिष्य को भव-सागर से पार उतार सके, ऐसा गुरु मिलना दुर्लभ है। गुरु में एक भक्ति का होना आवश्यक है। राम के प्रति उसमें आत्म-समर्पण की ऐसी भावना होनी चाहिए, जैसी हिरन की संगीत के प्रति होती है। गुरुत्व का दर्जा व्यक्ति को तभी मिलता है जब वह अपनी इन्द्रियों पर तथा सांसारिक आकर्षणों पर पूर्णतया विजय प्राप्त कर लेता है।

इस संसार की माया अनायास ही सबका मन मोहित कर लेती है। कोई विरला ही ऐसा व्यक्ति होता है जो हरि कृपा प्राप्त करके इस माया के बन्धन से छुटकारा पा लेता है। संसार में ढोंगी व्यक्ति तो बहुत रहते हैं, पर ऐसा व्यक्ति कोई नहीं मिल रहा है, जो सच्चे मन से प्रभु से प्रेम करता है।

ऐसा कोई नां मिलै, हम कौं दे उपदेस।
भौसागर मैं डूबता, कर गहि काढ़ै केस ॥१॥

शब्दार्थ—भौसागर=भव-सागर, संसार-समुद्र। केस=केश, बाल।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में कोई ऐसा कृती मनुष्य (गुरु) नहीं मिला

जो हमें उपदेश दे सके, जो इस संसार-समुद्र में मुझ डूबते हुए को हाथ और केश पकड़कर निकाल ले।

ऐसा कोई नां मिलै, हम कौं लेइ पिछानि।
अपना करि किरपा करै, ले उतारि मैदानि ॥२॥

शब्दार्थ—पिछानि = पहचान।

कबीर कहते हैं कि हमें संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं मिला जो मेरे गुणों को पहचान कर मुझे शिष्य बना लेता और कृपापूर्वक अपना कर इस संसार-क्षेत्र के पार उतार देता।

ऐसा कोई नां मिलै, रांम भगति का गीत।
तन मन सौंपे मृग ज्यूं, सुनें बधिक का गीत ॥३॥

शब्दार्थ—मृग = हिरन। बधिक = शिकारी।

प्रभु-भक्ति से परिपूर्ण कोई गुरु हमें न मिल सका जिसके उपदेश-इंगित पर हम अपना तन-मन, सर्वस्व, उसी प्रकार अर्पित कर देते जैसे मृग आखेटक का तन्त्रीनाद सुनकर विमोहित हो रुक जाता है—फिर उसे यह भी चिन्ता नहीं रहती कि मेरे शरीर पर अनवरत बाण-वर्षा हो रही है।

विशेष उपमा अलंकार।

ऐसा कोई नां मिलै, अपना घर देइ जराइ।
पंचू लरिका पटकि करि, रहै रांम ल्यौ लाइ ॥४॥

शब्दार्थ—पंचू लरिका = पाँच इन्द्रियाँ रूपी लड़कियाँ। ल्यौ = प्रेम।

हमें किसी ऐसे पूर्ण विरक्त के दर्शन नहीं हुए, जो अपना समस्त गृहद्वार भस्म कर देता और अपने काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, रूपी पाँचों पुत्रों अथवा पाँचों इन्द्रियों रूपी लडकियों से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद कर प्रभु से सच्चा प्रेम कहता हो।

ऐसा कोई नां मिलै, जासौं रहिये लागि।
सब जग जलता देखिये, आपहीं अपणीं आगि ॥५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि मुझे कोई ऐसा सिद्ध नहीं मिला जिसका, अनुसरण किया जाता। मैंने समस्त संसार को अपनी-अपनी धुन में व्यस्त और अपनी अपनी चिन्ता-व्यथाओं में भस्म होते देखा है।

ऐसा कोई नां मिलै, जासूं कहूं निसंक।
जासूं हिरदै की कहूं, सो फिरि मांडै कंक ॥६॥

शब्दार्थ—मांडै = गूँधना। कंक = कंकाल, शरीर।

कबीर कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति संसार में कोई नहीं मिला जिससे निस्संकोच होकर अपने मन की बात कह सकूं। जिससे मैं अपने हृदय का समस्त रहस्य प्रकट कर देता हूं, वही सब स्थितियों से अवगत हो मेरे शरीर को उसी प्रकार व्यथित

करता है जैसे आटे को गूंध-गूंध कर घूंसे मार-मार कर यातना दी जाती है।

ऐसा कोई नां मिलै, सब विधि वेइ बताइ।
सुनि मंडल मैं पुरिष एक, ताहि रहै ल्यौ लाइ ॥७॥

शब्दार्थ—सुनि=शून्य। पुरिष=पुरुष, ब्रह्म।

ऐसा कोई सद्‌गुरु नहीं मिला जो योगसाधना के समस्त रहस्यों से मुझे अवगत कराता और शून्य मण्डल में स्थित उस परम-पुरुष की अनन्त ज्योति से मेरा साक्षात्कार करा देता।

हम देखत जग जात है, जग देखत हम जांह।
ऐसा कोई नां मिलै, पकड़ि छुड़ावै बांह ॥८॥

शब्दार्थ—सरल है।

हमारे देखते ही देखते सम्पूर्ण संसार विनष्ट हुआ जा रहा है और समस्त जगत् के सम्मुख मेरा भी विनाश हुआ जा रहा है। कोई ऐसा कृती (गुरु) नहीं मिला जो इस कालचक्र से मेरी भुजा पकड़ कर निकाल देता।

तीनि सनेही बहु मिलें, चौथे मिलै न कोइ।
सबै पियारे राम के, बैठें परबसि होइ ॥९॥

शब्दार्थ—परबसि=परवश, मायाग्रस्त।

इस संसार में 'तीन' के तो प्रेमी बहुत हैं किन्तु एक उस परम प्रभु का प्रेमी कोई नहीं। यद्यपि सब प्रभु से कुछ न कुछ अनुराग रखते हैं किन्तु फिर भी वे माया-ग्रस्त हो संसार में लिप्त हैं।

माया मिलै महोवंती, कूड़े आखै बैंन।
कोई घायल बेध्या नां मिलै, साईं हंदा सैण ॥१०॥

शब्दार्थ—महोवंती=मोहयुक्त। कूड़े=बुरे। आखै=कहती है। वेध्या=बेंधा हुआ। साईं=प्रभु। सैंण=कटाक्ष।

इस संसार में सर्वत्र मोहमयी माया का साम्राज्य है जो कुवचन कहती है, मिथ्याचार कराती है। प्रभु की प्रेम-दृष्टि के कटाक्ष का घायल, उससे जिसका हृदय बिंध गया है, ऐसा कोई नहीं मिलता।

सारा सूरा बहु मिलै घायल मिलै न कोइ।
घायल ही घायल मिलै, तब रांम भगति दिढ़ होइ ॥११॥

शब्दार्थ—सारा सूरा=अक्षत, वीर योद्धा। दिढ़=दृढ़, मजबूत।

संसार में ऐसे योद्धा तो अनेक मिले जो प्रभु-भक्ति से घायल नहीं थे, किन्तु घायल कोई नहीं मिला। जब प्रभुभक्ति से घायल भक्त को अपने समान ही घायल मिल जाता है तो प्रभु-भक्ति परिपक्व होती है।

प्रेमी ढूंढ़त मैं फिरौं, प्रेमीं मिलै न कोइ।
प्रेमीं कौं प्रेमीं मिलै, तब सब विष अमृत होइ ॥१२॥

शब्दार्थ—सरल है।

मैं प्रभु के प्रेमी को खोज रहा हूँ किन्तु कोई प्रभु-प्रेमी नहीं मिल रहा है। जब एक भक्त को दूसरा भक्त मिल जाय तो संसार की विषय-वासनाओं का विष समाप्त हो जाता है।

हम घर जाल्या आपणां, लिया मुराड़ा हाथि।
अब घर जालौं तास का, जे चलै हमारे साथि ॥१३॥६४८॥

शब्दार्थ—मुराड़ा=ज्ञान-शलाका की मशाल।

मैंने अपना घर जला दिया है और ज्ञान-शलाका की मशाल लेकर साधना पथ में बढ़ रहा हूँ। अब मैं उसका इस संसार से सम्बन्ध विच्छेद कर घर फूंक दूंगा जो मेरे साथ चलने के लिए प्रस्तुत हो। अर्थात् वही व्यक्ति मेरे साथ चल सकता है जो संसार के विषयों का पूर्णरूप से परित्याग कर दे।

४४. हेत प्रीति सनेह कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में प्रेम की महत्ता का वर्णन किया है। जिसका जिससे प्रेम होता है, चाहे वे दोनों कितनी ही दूरी पर स्थित क्यों न हों, परस्पर मिल ही जाते हैं, जैसे कुमुदिनी तो पृथ्वी पर तालाब में रहती है और चन्द्रमा आकाश में बसता है, फिर भी कुमुदिनी का उससे प्रेम बना हुआ है। इसी प्रकार चाहे गुरु काशी में रहता हो और शिष्य बहुत दूर समुद्र के किनारे पर बैठा हो, किन्तु यदि शिष्य गुणवान है तो उसका गुरु उसे कभी नहीं भूल सकता। वास्तविकता तो यह है कि जो जिसको प्रिय है, वह उससे मिलकर ही रहता है, वह उसकी स्मृति से कभी भी विस्मृत नहीं होता और प्रभु भी तो मन के भाव पर—प्रीति पर—ही रीझते हैं।

कमोदनीं जलहरि बसै, चंदा बसे अकासि।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास ॥१॥

शब्दार्थ - कमुदिनी=एक पुष्प विशेष, जो जल में होता है और चन्द्र दर्शन से विकसित होता है।

कुमुदिनी का वास जल में है और चन्द्रमा उससे बहुत दूर आकाश में स्थित है किन्तु फिर भी उनका प्रेम प्रसिद्ध है। वस्तुतः जो जिसका वास्तविक प्रेमी है वह दूर रहकर भी उसके बहुत सन्निकट है।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

कबीर गुर बसै बनारसी, सिष समंदां तीर।
बिसार्या नहीं बीसरै, जे गुंण होइ सरीर ॥२॥

कबीर-कहते हैं कि साधक का गुरु तो काशी में रहता है और शिष्य समुद्र तट पर बैठा तपस्या करता है, किन्तु जो साधक गुणवान् है तो गुरु उसे दूर रहने पर भी नहीं भूल सकता।

जो है जाका भावता, जदि तदि मिलसीं आइ।
जाकौं तन मन सौंपिया, सो कबहूँ छांड़ि न जाइ ॥३॥

शब्दार्थ—जदि-तदि = यदा-कदा।

जो जिसका प्रिय है वह उसे यदाकदा मिल जाता है । जिसको तन-मन सर्वस्व अर्पण किया चुका है वह कभी भी प्रिय से सम्बन्ध विच्छेद नहीं करेगा ।

स्वामी सेवक एक मत, मन ही मैं मिलि जाइ ।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन के भाइ ॥४॥६५२॥

शब्दार्थ—चतुराई=ज्ञान । भाइ=भाव, प्रेम-भाव ।

स्वामी और सेवक—प्रभु और भक्त—दोनों मन में ही मिलकर एक-मत हो जाते हैं हृदयगत प्रेरणा उन्हें एकमत कर देती हैं । प्रभु किसी के ज्ञान पर नहीं अपितु मन के प्रेम भाव पर ही रीझते हैं ।

४५. सूरा तन कौ अंग

अंग-परिचय—निर्गुण सन्तों की अंग साधना में शूरवीर का बड़ा महत्व है । प्रस्तुत अंग में कबीर ने बताया है कि शूरवीर कौन होता है । जो व्यक्ति अपने मनरूपी शत्रु से युद्ध करके उसकी काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह इन पाँच प्रकार की सेनाओं को जीत लेता है, जो चारों ओर घूमकर युद्ध करता है; अर्थात चतुर्दिक से अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेता है, जो संसार की विषय-वासना में नहीं फँसता, जो मनोयोग रूपी अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर एवं सहजावस्था कवच धारण करके कुवृत्तियों जूझता है, जो अपने स्वामी के हित के लिए इतनी धीरता से युद्ध करता है कि चाहे वह टुकड़े-टुकड़े हो जाये, तो भी रणक्षेत्र से नहीं भागता, जो शरीर का मोह छोड़कर प्रभु के लिए अपने शीश को अर्पण कर देता है, वही सच्चा शूरवीर कहलाता है ।

इसके अतिरिक्त कबीर ने इस अंग में और भी कुछ विषयों का उल्लेख किया है । प्रभु-मिलन की आशा का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है कि अब तो साधना-मार्ग में ऐसी स्थिति आ गई है कि मन प्रभु-भक्ति में ही प्रवृत हो गया है, अतः प्रभु का मिलन निश्चित है । मृत्यु से डरना केवल अज्ञानता का कारण है, क्योंकि मृत्यु तो एक ऐसा साधन है जो आत्मा को शरीर के बंधन से मुक्त करके परम ब्रह्म से मिलाती है । साधना पथ सुगम नहीं है, इसलिए हर प्राणी इसके छोर तक नहीं पहुँच पाता । प्रभु से प्रेम करना भी आसान नहीं है । वही व्यक्ति प्रभु से सच्चा प्रेम कर सकता है जो अपने सिर को उतार कर अपनी हथेली पर रख लेता है । इसलिए भक्ति करना शूरवीरों का काम है, कायरों का नहीं । यह तो तलवार की धार पर चलने के समान है, जिस पर तनिक भी विचलित होने से सर्वनाश हो जाता है; यह उस अग्नि कुण्ड से समान है, जिसमें कूदते वाले पार हो जाते हैं और कूदने से डरने वाले जलकर भस्म हो जाते हैं ।

जिस प्रकार सती स्त्री अपना सर्वस्व बलिदान करके भी अपने प्रियतम को प्राप्त कर लेना चाहती है, उसी प्रकार आत्मा भी—यदि परम ब्रह्म में उसका सच्चा अनुराग है—परमात्मा को प्राप्त करने के लिये अपना सर्वस्व निछावर करने को

तत्पर रहती है। प्रभु की भक्ति प्रकट होकर, सब प्रकार की बाधाओं को सहन करके करनी चाहिये। जो बाधाओं से डरकर छिपकर प्रभु की भक्ति करता है, वह सच्चा भक्त नहीं है। भक्ति में स्वार्थ-भावना का त्याग आवश्यक है, क्योंकि जब तक भक्त के मन में स्वार्थ की भावना है, तब तक वह अपनी भक्ति में सफल नहीं हो सकता।

काइर हुवां न छूटिये, कछू सूरा तन साहि।
भरम भलका दूरि करि; सुमिरण सेल संवाहि ॥१॥

शब्दार्थ—काइर=कायर। सूरा=शूरता। साहि=सुशोभित कर, सराह। भरम भलका=भ्रम रूपी भाला। सुमिरण=प्रभु स्मरण। सेल बरछी, एक अस्त्र-विशेष।

कबीर कहते हैं कि कायर रहने से तो मनुष्य संसार के युद्ध क्षेत्र से मुक्त नहीं हो सकता। अतः हे मनुष्य! तू माया-मोह, काम, क्रोध आदि से युद्ध करने में कुछ वीरता-दिखा। इस संसार के भ्रम-रूपी भाले को दूर फेंक दे और प्रभु-स्मरण की बरछी से, अगद के संग्राम को जीत।

षूंणे पड़्या न छूटियो, सुणि रे जीव अबूझ।
कबीर मरि मैदान मैं, करि इंद्र्यां सूं झूझ ॥२॥

शब्दार्थ—षूंणों=कोनों में, एकान्त में। अबूझ=अज्ञानी। मैदान=युद्ध क्षेत्र, संसार। झूझ=युद्ध।

कबीर कहते हैं कि हे मूर्ख जीवात्मा! एकान्त में तपस्या करने से तेरी मुक्ति नहीं होगी। मुक्ति के लिए संसार के रणक्षेत्र में इन्द्रियों से युद्धकरना आवश्यक है। भाव यह है कि इन्द्रियों को जीत लेने वाली आत्मा ही मुक्तात्मा है।

कबीर सोई सूरवां, मन सूं मांडै झूझ।
पंच पयादा पाढ़ि ले, दूरि करै सब दूज ॥३॥

शब्दार्थ—सूरवां=सूरमां, शूरमा, शूरवीर। पंच पयादा=काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह—पांच पदाति, प्राचीन समय में चार प्रकार की सेनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है—गजसेना, रथसेना, अश्वसेना एवं पताति सेना। कबीर यहां पदाति के सैनिकों का उल्लेख करते हैं। दूज = द्वैध, द्वैत-भावना।

कबीर कहते हैं कि शूरवीर वही है जो मन रूपी शत्रु से युद्ध करे और उसके काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह रूपी पाँचों पदाति सैनिकों को भगा दे तथा द्वैत-भावना को भी रणक्षेत्र में न रुकने दे।

सूरा झूझै गिरदै सूं इक दिसि दूर न होइ।
कबीर यौं विन सूरिवाँ, भला न कहिसी कोइ ॥४॥

शब्दार्थ—गिरद=इर्द-गिर्द, चारों ओर।

युद्धपक्ष—वस्तुतः शूरवीर वही है जो चारों ओर घूमकर युद्ध करे—एक ही दिशा के शत्रुओं का नाश करने वाला सच्चा शूरवीर नहीं। जो इस प्रकार युद्ध नहीं करता उसे कोई श्रेष्ठ योद्धा नहीं कह सकता।

साधनापक्ष—साधक को अपने चारों ओर छाये माया-आकर्षणों एवं अन्य असत् तत्वों से युद्ध करना चाहिए, जो केवल एकाध असत् तत्व से जूझता है वह सच्चा साधक नहीं रहता। सच्चे साधक के लिये समस्त असत् तत्वों से संग्राम आवश्यक है।

विशेष—श्लेष अलंकार।

कबीर आरणि पैसि करि, पीछैं रहै सु सूर।
सांईं सूं साचा भया, रहसी सदा हजूर ॥५॥

शब्दार्थ—आरणि = अरण्य, वन। पैसि करि = प्रवेश कर। साचा भया = कर्तव्य के प्रति सच्चा। हजूर = कृपा-पात्र।

कबीर कहते हैं कि इस संसार रूपी वन में प्रविष्ट हो जो पीछे रह गया, इसके विषय-वासना जंजाल में न फँसा वही सच्चा शूरवीर है। ऐसा करके वह प्रभु के प्रति अपने कर्तव्य का पालन कर सर्वदा उनका कृपा-पात्र रहता है।

गगन दमांमां बाजिया, पड़या निसानैं घाव।
खेत बुहार्‌या सरिवैं, मुझ मरणे का चाव ॥६॥

शब्दार्थ—गगन = शून्य, ब्रह्माण्ड, सहस्रदल कमल। दमांमां = नगाड़ा। निसानै = ध्वनि से। घाव = चोट। बुहार्‌या = साफ किया।

शून्य प्रदेश में कुण्डलिनी के विस्फोट से अनहद नाद हो रहा है, उसकी ध्वनि सुनकर तन-मन उसी नाद से पूर्ण हो गया। साधक ने काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि विषयों का कालुष्य हटाकर मन-क्षेत्र को स्वच्छ किया, क्योंकि उसे जीवन्मुक्त होने की लालसा थी।

कबीर मेरै संसा को नहीं, हरि सूं लागा हेत।
कांम क्रोध सूं झूझणां, चौड़े मांड्या खेत ॥७॥

शब्दार्थ—संसा = शंका। हेत = प्रीति। झूझणां = युद्ध करना। चौड़े माण्ड्या = विस्तृत क्षेत्र में, संसार क्षेत्र में।

कबीर कहते हैं कि अब मैं प्रभु से पेम करके पूर्ण निश्शंक हो गया हूँ। अब तो इस संसार क्षेत्र में काम-क्रोधादि से युद्धकर उन्हें समाप्त करना है।

सूरै सार संबाहिया, पहर्या सहज सजोग।
अब कै ग्यांन गयंद चढ़ि, खेत पड़न का जोग ॥८॥

शब्दार्थ—सूरै = शूर ने। सार = लोह, लौह-निर्मित अस्त्र से तात्पर्य है। संबाहिया = संभाल लिया। सहज = संजोग-सहजावस्था का कवच धारण कर। जोग = अवसर।

साधक शूर मनोयोग रूपी अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित एवं सहजावस्था का कवच धारण कर कुप्रवृत्तियों से युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गया है। अब की बार इस संसार-क्षेत्र से मुक्त होने का अवसर अवश्य ही आ गया है, क्योंकि उपर्युक्त साधनों के साथ-साथ वह ज्ञान-हस्ती पर चढ़कर युद्ध करेगा।

भाव यह है कि अब बार-बार साधक को संसार में इस युद्ध के लिए नहीं आना पड़ेगा, वह जीवन्मुक्त हो जायेगा।

सूरा तबही परषिये, लड़ै धणीं कै हेत।
पुरिजा पुरजा ह्वै पड़ै, तऊ न छाड़ै खेत ॥९॥

शब्दार्थ—परषिये=जानिए। धणी=स्वामी। पुरिजा-पुरिजा=टुकड़े-टुकड़े।

सच्चे शूरवीर की परीक्षा यही है कि वह अपने स्वामी के लिए रणक्षेत्र में लड़कर टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो जाय, पर हार मानकर पीछे न हटे। उसी भाँति साधक को सांसारिक विषय-वासनाओं से युद्ध करना चाहिए।

खेत न छाड़ै सूरिवां, झूझै द्वै दल मांहि।
आसा जीवन मरण की, मन मैं आणैं नांहि ॥१०॥

शब्दार्थ—द्वै दल = जय-पराजय, जीवन-मरण।

सच्चे शूर के मत में जीवन-मरण—जय-पराजय— का कोई भाव नहीं होता वह तो युद्धक्षेत्र में बिना मुँह मोड़े दोनों के मध्य जूझता रहता है।

विशेष—रूपक अलंकार।

अब तौ झूझ्यां हीं बणैं, मुड़ि चाल्यां घर दूरि।
सिर साहिब कौं सौंपतां, सोच न कीजै सूरि ॥११॥

शब्दार्थ—वणै=सम्भव है। मुड़ि=मुड़ना, लौटना। घर=संसार।

कबीर कहते हैं कि भक्त जब प्रभु-भक्ति के मार्ग पर पर्याप्त आगे बढ़ चुका हो और फिर यह सोचे कि वह लौट कर संसार विषयों का पुनः रसास्वादन करे तो असम्भव है, क्योंकि वह सांसारिक विषयों को बहुत दूर छोड़ चुका है। हे साधक ! प्रभु-भक्ति में मंगल ही मंगल है, अतः उसके लिए सर्वस्व समर्पित करने में आगा-पीछा सोचना वृथा है।

अब तौ ऐसौं ह्वै पड़ी, मन का रुचित कीन्ह।
मरनैं कहा डराइये, हाथि स्यंधौंरा लीन्ह ॥१२॥

शब्दार्थ—ह्वै पड़ी=अवसर आ पहुँचा। मन का रुचित=जैसा मन को इच्छित था। हाथि=हाथ में। स्यंधौरा=सिंदूर रखने की डिब्बी।

कबीर कहते हैं कि अब तो साधना मार्ग में ऐसी स्थिति आ गई है कि मन प्रभु भक्ति में ही प्रवृत्त हो गया है, अतः अब प्रभु-मिलन निश्चित है। इसलिए हे संसार के चालाक मनुष्यो ! अब मुझे प्रभु-भक्ति मार्ग से विचलित क्यों करना चाहते हो। भला जब सती होने वाली स्त्री ने सिंदूर पात्र सम्भाल लिया हो तो उसे मृत्यु भय दिखाने का क्या लाभ, वह तो सती होगी ही। उसी भाँति अब मैं प्रभु को प्राप्त करके ही रहूँगा।

जिस मरनैं थैं जग डरै, सो मेरे आनंन्द ।
कब मरिहूँ कब देखिहूँ, पूरन परमांनन्द ॥१३॥

जिस मृत्यु से संसार डरता है, वह मरण मेरे लिए आनन्दमयी होगी मैं मृत्यु की उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि कब मर कर पूर्ण परब्रह्म से साक्षात्कार करूँ ।

कायर बहुत पमांवहीं, बहकि न बोलै सूर ।
कांम पड़्या हीं जाणिये, किसके मुख परि नूर ॥१४॥

शब्दार्थ—पमाँवहीं = बढ़-चढ़कर बातें करना । नूर=तेज, विजयोल्लास ।

कायर व्यक्ति ही बहुत चढ़-बढ़कर बातें करते हैं, सच्चे शूर कभी भी बक-वास नहीं करते, वे तो काम करके ही दिखाते हैं । कार्य (युद्ध) पड़ने पर ही जाना जा सकता है कि शूरवीर अथवा कायर किसके मुँह पर विजयोल्लास झलकता है ।

भाव यह है कि शूर ही विजय प्राप्त करते हैं, बक-बक करने वाले कायर नहीं ।

जाइ पूछो उस घाइलैं, दिवस पीड़ निस जाग ।
बांहण-हारा जाणिहै, कै जांणैं जिस लाग ॥१५॥

शब्दार्थ—बांहण-हरा = मारने वाला, वार करने वाला । जिस लाग= जिसके लगती है, जिसके चोट पड़ती है ।

उस घायल व्यक्ति से उसकी पीड़ा की दशा पूछो जो अपनी पीड़ा से दिन में व्यथित होता है और रात को जागता है । उस पीड़ा का अनुभव केवल उसी को होता है अथवा उसका किंचित् अनुभव उसको हो सकता है जो (बाणों की) चोट करता है ।

भाव यह है कि प्रभु के प्रेम की पीर का अनुमान गुरु को हो सकता है और अनुभव केवल साधक को ।

घाइल घूंमैं गहि भर्या, राख्या रहै न ओट ।
जतन कियां जींवै नहीं, बणीं मरम की चोट ॥१६॥

शब्दार्थ—राख्या= छिपाने पर । रहै न ओट = छिपी नहीं रहती ।

साधक प्रभु प्रेम की पीर से आहत गुरु में उपदेश रूपी बाणों की चोट से भरा हुआ घूमता है, यदि कोई उसे छिपाना चाहे तो छिपा नहीं सकता । उसके मर्म-स्थल पर गुरु के उपदेश की ऐसी गहन-चोट लगी है कि प्रयत्न करने पर भी—माया के बन्धन में उलझने पर भी—संसार में न रह सकता, अर्थात् वह तो जीवन्मुख होकर रहेगा ।

ऊंचा बिरष अकासि फल, पंषी मूए झूरि ।
बहुत सयांने पचि रहे, फल निरमल परि दूरि ॥१७॥

शब्दार्थ—बिरष=वृक्ष । झूरि- = प्रयत्न करके ।

उस अलख ज्योति के वृक्ष का फल का वास शून्य में है, जहाँ तक साधना का दुर्गम पथ है। इस विकट साधना पथ में बहुत से जीवात्मा रूपी पक्षी हार कर निष्फल बैठ गये। अनेक चतुर लोग विविध प्रयत्न करने पर भी उस निर्मल फल को प्राप्त न कर सके।

भाव यह है कि विरले ही साधना की त्रिकट-यात्रा को पूर्ण कर उस अलख ज्योति रूपी निर्मल फल को प्राप्त कर सके।

दूरि भया तो का भया, सिर दे नेड़ा होइ।
जब लग सिर सौंपे नहीं, कारिज सिधि न होइ ॥१८॥

शब्दार्थ—नेड़ा = समीप। कारिज = कार्य। सिधि = सिद्ध।

कबीरदास कहते हैं कि वह अलख ब्रह्म, निरंजन ब्रह्म, रूपी निर्मल फल यदि इतनी दूरी पर है तो चिन्ता की क्या बात है, वह शीश दान देने से, अर्थात् साधना मार्ग में सर्वस्व त्याग करने से निश्चय ही प्राप्त हो जाता है। जब तक सर्वस्व त्याग नहीं किया जायगा, तब तक प्रभु-प्राप्ति असम्भव है।

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नांहि।
सीस उतारैं हाथि करि, सो पैसे घर मांहि ॥१९॥

शब्दार्थ—खाला = मौसी। पैसे = प्रवेश करना।

कबीरदास कहते हैं कि प्रभु-भक्त का मार्ग मौसी का घर नहीं जहाँ विविध प्रकार की सुख सुविधाओं से पूर्ण आतिथ्य प्राप्त होता है, यह तो प्रेम-स्थली है। इसमें उसी का प्रवेश हो सकता है जो शीश हाथ में लेकर अर्थात् सर्वस्व त्याग के लिए प्रस्तुत हो इधर पदार्पण करे।

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पग तलि धरैं, तब निकटि प्रेम का स्वाद ॥२०॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीरदास कहते है कि हमारे प्रेम-निकेतन का मार्ग अत्यन्त अगम्य और अगाध है। उस प्रेम का आनन्द तभी प्राप्त किया जा सकता है जब शीश उतार कर पैरों के नीचे रख दिया जाय - अर्थात् जब सर्वस्व बलिदान की तैयारी हो तभी उस प्रेम का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

प्रेम न खेतौं नींपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ॥२१॥

शब्दार्थ—नींपजै = उत्पन्न होता है।

प्रभु का प्रेम न तो किसी खेत में उत्पन्न होता है न किसी बाजार में बिकता है। इसे तो राजा-प्रजा, धनी-निर्धन जो चाहे वह शीशदान देकर ले जा सकता है।

सीस काटि पसंग दिया, जीव सरभरि लीन्ह ।
जाहि भावे सो आइ ल्यौ, प्रेम आट हंम कीन्ह ॥२२॥

कबीरदास कहते हैं कि हमने प्रेम का बाजार लगाया है जो चाहे इसमें से प्रेम क्रय कर सकता है, किन्तु तराजू के पासंग को निकालने के लिए अपना शीश चढ़ा कर प्राणों के मूल्य में यह प्रेम प्राप्त हो सकेगा ।

सूरै सीस उतारिया, छाड़ी तन की आस ।
आगै थैं हरि मुल किया, आवत देख्या दास ॥२३॥

शूरवीर साधक ने शरीर का मोह छोड़ प्रभु-भक्ति के लिए अपना शीश दान दे दिया । अपने भक्त को आता देखकर स्वयं प्रभु ने साधना मार्ग के बीच में ही बढ़ कर उसका स्वागत किया ।

भगति दुहेली रांम की, नहिं कायर का कांम ।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नांम ॥२४॥

शब्दार्थ—दुहेली=कठिन ।

प्रभु-भक्ति बड़ी कठिन है, यह कायर के लिए नहीं है । जो शीश उतार कर हाथ में ले ले, वही प्रभु का नाम ले सकता है ।

भगति दुहेली रांम की, जैसि खांडे की धार ।
जे डोलै तो कटि पड़ै, नहीं तो उतरै पार ॥२५॥

शब्दार्थ—खांडे की=तलवार की । डोलै=विचलित होना ।

प्रभु-भक्ति अत्यन्त कठिन है जिस प्रकार 'तलवार की धार पर धावनी है ।' यदि तनिक भी विचलित हुए तो सर्वनाश, अन्यथा दृढ़ रहने पर संसार-सागर के पार हो ही जाते हैं ।

भगति दुहेली रांम की, जैसि अगनि की झाल ।
डाकि पड़े ते ऊबरे, दाधे कौतिगहार ॥२६॥

शब्दार्थ—झाल = लपट । डाकि=कूदना ।

राम की भक्ति बड़ी कठिन है जैसे दहकती हुई अग्नि की लपट । जो इसमें कूद पड़े वे तो पार हो गये, इसमें दग्ध नहीं हुए और जो केवल कौतूहलवश इसे देखते ही रहे वे भस्म हो गये ।

विशेष—विरोधाभास अलंकार ।

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार ।
ग्यांन षड़ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार ॥२७॥

कबीर कहते हैं कि हे साधक तू प्रेम रूपी अश्व पर सावधानीपूर्वक चढ़ जा । मृत्यु को शीश पर मँडराती हुई समझकर ज्ञान-कृपाण हाथ में लेकर संसार की विषय-वासनाओं से युद्ध कर ।

कबीर हीरावण जिया, महँगे मोल अपार।
हाड गला माटी गली, सिर साटैं ब्यौहार ॥२८॥

शब्दार्थ—साटैं=तय किया। ब्यौहार=व्यापार।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-प्रेम का अमूल्य हीरा बड़ा मँहगा प्राप्त है। शरीर के अस्थि-चर्म को नष्ट कर और शीश को बलि देकर यह व्यापार तय किया है।

जेते तारे रैंणि के, तेतै बैरी मुझ।
धड़ सूली सिर कंगुरैं, तऊ न बिसारौं तुझ ॥२९॥

कबीर कहते हैं कि इस संसार में विषय-वासना रूपी मेरे उतने ही शत्रु हैं जितने असंख्य अगणित रात्रि के नक्षत्र। यदि मेरा शीश काटकर किसी महल के कंगूरों पर और धड़ सूली पर लटका दिया जाय तो हे प्रभु! मैं तुम्हें विस्मृत नहीं कर सकता।

जे हार्या तौ हरि सवाँ, जे जीत्या तो डाव।
पारब्रह्म कूं सुवतां, जे सिर जाइ त जाव ॥३०॥

शब्दार्थ—हरि सवाँ=प्रभु के सामने। डाव=दाव, मनोवांछा।

परब्रह्म की सेवा में यदि शीश व्यर्थ जाता है तो जाने दो, क्योंकि यदि तू साधना पथ में हारेगा तो प्रभु जैसे प्रतिद्वन्द्वी के सम्मुख और यदि विजय प्राप्त हुई तब तो तेरी मनोवांछा—प्रभु-प्राप्ति - पूर्ण हो ही जायेगी, अतः दोनों प्रकार से तेरा मंगल है।

सिर साटैं हरि सुबिये, छाड़ि जीव की बांणि।
जे सिर दीयाँ हरि मिले, तब लग हांणि न जांणि ॥३१॥

हे जीव! मायाजन्य आकर्षणों में स्वाभाविक रुचि को त्याग कर तू अपने शीश का दान देकर प्रभु की भक्ति कर। जो शीश-दान देकर प्रभु-प्राप्ति हो जाय तो यह सौदा बुरा नहीं है।

टूटी बरत अकास थैं, कोइ न सकै झड़ झेल।
साध सती अरु सूर का, अंणीं ऊपिला खेल ॥३२॥

शब्दार्थ--बरत=एक मोटी रस्सी का ग्राम्य नाम। झड़=झटक। अणीं=नोक। ऊपिला=ऊपर।

जिस प्रकार नट की आकाश में बँधी मोटी रस्सा को झटक को टूटने पर कोई नहीं सम्भाल सकता, नट की मृत्यु निश्चित ही है उसी भाँति साधना-भ्रष्ट साधक का सर्वनाश निश्चित है। साधक (योगी), सती एवं शूरवीर का कार्य तो तलवार की नोक पर चलने जैसा ही है।

सती पुकारै सलि चढ़ी, सुनि रे मींत समांन।
लोग बटाऊ चलि गये, हंम तुझ रहे निदांन ॥३३॥

शब्दार्थ—सलि=चिता। समाँन=श्मशान। बटाऊ=पथिक। निदांन=अन्त में।

कबीर कहते हैं कि जीवात्मा रूपी सती साधना की चिता पर चढ़ कर कहती है कि हे श्मशान रूपी साधना स्थल ! सुन अब मैं और तुम ही रह गये अन्य जो साथी (साधना क्षेत्र में गुरु) यहाँ तक आये थे वे चले गये ।

भाव यह है कि साधना में किसी का सम्बल ढूंढ़ना वृथा है, केवल साधक और साधना-स्थली ही तो वहाँ है ।

सती बिलारी सत किया, काठौं सुज बिछाइ ।
ले सूती पिव आपणां, चहुँ दिसि अगनि लगाइ ।।३४।।

सती नारी ने काष्ठ-लकड़ियों की चिता चुनकर यथार्थ आचरण किया और उस चिता की चारों ओर से दग्धकारी दहकती अग्नि में अपने पति को लेकर भस्म हो गई । साधक को भी इसी भाँति अपनी आत्मा के साथ साधना-क्षेत्र में प्रभु से तादात्म्य कर लेना चाहिए ।

सती सूरा तन साहि करि, तन मन कीया घांण ।
दिया महौला पीव कूं, तब मड़हट करैं बषांण ।।३५।।

शब्दार्थ—महौला=महत्त्व । मड़हट=श्मशान । बषांण=प्रशंसा करना ।

सती एवं शूरवीर ने शरीर को अलंकृत कर शरीर और मन दोनों को पूर्णतया नष्ट कर दिया । उन दोनों ने प्रिय को शूर का स्वामी—राजा—ही उसका प्रिय है, इतना महत्त्व दिया है तभी श्मशान उनकी प्रशंसा करता है, अर्थात् उनकी वीरगति के गीत गाये जाते हैं ।

सती जलन कूं नीकली, पीव का सुमरि सनेह ।
सबद सुनत जीव निकल्या, भूलि गई सब देह ।।३६।।

प्रभु का स्मरण कर जीवात्मा रूपी सती साधना मार्ग में दग्ध होने के लिए निकली । सद्गुरु के उपदेश को सुनते ही वह जीवन्मुक्त हो गई और उसने समस्त पार्थिव सम्बन्धों को विस्मृत कर दिया ।

सती जलन कूं नीकली, चित्त धरि एकबमेख ।
तन मन सौंप्या पीव कूं, तब अंतरि रही न रेख ।।३७।।

जीवात्मा रूपी सती प्रभु मिलन के लिए साधना पथ पर अग्रसर हुई, उसके मन में केवल मात्र प्रभु का ही ध्यान था । जब उसके तन-मन सर्वस्व प्रभु को समर्पित कर दिया तो दोनों में कोई अन्तर न रहा ।

हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यूं न मराइ ।
मूंवा पीछैं सत करैं जीवन क्यूं न कराइ ।।३८।।

मुक्तात्मा सांसारिक आत्मा से प्रश्न करती है कि हे सखी ! तू जीवन्मुक्त क्यों नहीं हो जाती । यदि मृत्यु—नाश को—प्राप्त हो जाने पर तूने सत्याचरण—साधना मार्ग को अपनाना— किया तो उससे क्या लाभ ? जीते ही जीते क्यों न प्रभु प्राप्ति का उपाय करती ।

कबीर प्रगट रांम कहि, छानैं रांम न गाइ।
फूस क जौड़ा दूरि करि, ज्यूं बहुरि न लागै लाइ ॥३९॥

शब्दार्थ—छानैं=छिपकर। फूस क जौड़ा=फूंस का छप्पर या फूंस की टट्टी। लाइ = अग्नि।

कबीर कहते हैं कि सबके सम्मुख प्रभु का नाम लो, छिपकर उसका जप करने से क्या लाभ? माया-भ्रम रूपी इस फूंस के टट्टर को अपने से दूर कर दें जिससे सांसारिक तापों की अग्नि तुझे न व्यापे।

कबीर हरि सबकूं भजै, हरि कूं भजै न कोइ।
जब लग आस सरीर की, तब लग दास न होइ ॥४०॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं प्रभु सबका ध्यान रखते हैं क्योंकि समस्त जीवों का स्मरण कोई नहीं करता (बिरले ही करते हैं)। जब तक जीव को शरीर का मोह है, तब तक वह भक्त नहीं हो सकता।

आप सवारथ मेदनीं, भगत सवारथ दास।
कबीरा रांम सवारथी, जिनि छाड़ी तन की आस ॥४१॥६६३॥

शब्दार्थ—मेदनीं=पृथ्वी, संसार।

कबीर कहते है कि संसार अपने स्वार्थ से परिपूर्ण है; भक्त भी भक्ति का स्वार्थ तो रखे हुए है ही किन्तु कबीर तो केवल प्रभु के ही स्वार्थी हैं अर्थात् केवल प्रभु ही उन्हें मिल जायें यही सब कुछ है। इसी के लिए कबीर ने शरीर का मोह भी छोड़ दिया है।

४६. काल कौ अंग

अंग-परिचय—मृत्यु को जीत लेना ही साधना का परम लक्ष्य है। प्रस्तुत अंग में कबीर ने मृत्यु के विविध रूपों का और उसकी भयानकता का वर्णन करके साधक को उसके प्रति सजग तथा जागरूक रहने की चेतावनी दी है। वे कहते हैं कि इस संसार के जितने भी आमोद प्रमोद हैं, वे सब दिखावटी और झूठे हैं। वास्तविकता तो यह है कि वे सब काल के चबीने (ग्रास) हैं। काल सभी व्यक्तियों के सिर पर खड़ा हुआ होता है; अर्थात् इससे कोई भी नहीं बच सकता, किन्तु मनुष्य की मूर्खता तो देखिए कि वह अनेक प्रकार के सुखप्रद साधनों को उपलब्ध करने में प्रयत्नशील रहता है। यह संसार नश्वर है। इसमें जो उत्पन्न हुआ है, वही मरण को प्राप्त होता है; अर्थात् जन्म और मरण यहाँ के निश्चित धर्म हैं।

मनुष्य का जीवन स्थायी नहीं है। वह पानी के बुलबुले के समान नश्वर और क्षणभंगुर है और जिस प्रकार प्रातःकालीन तारे देखते-देखते ही छिप जाते हैं, उसी प्रकार यह जीवन भी देखते-देखते ही नष्ट हो जाता है। इसीलिए संसार का भी कोई आनन्द स्थायी नहीं है। संसार एक क्षण तो सुखद प्रतीत होता है, किन्तु दूसरे

ही क्षण यह दुःख देने वाला अनुभव होने लगता है। जो नारी अपने शरीर को विविध प्रसाधनों से सुन्दर बनाये रखने का प्रयत्न करती रहती है, उस शरीर में से जब आत्मा निकल जाती है, तो उसका मूल्य मिट्टी के ढेर से अधिक नहीं रह जाता। मनुष्य संसार में जितने भी वैभव एकत्र करता है, वे सब कुछ दिनों के लिए ही उसका साथ देते हैं।

आत्मा ही इस शरीर का सर्वस्व है। जब शरीर से आत्मा निकल जाती है तो यह निस्सार हो जाता है; इसकी कांति निस्तेज हो जाती है। यह आत्मा उस पथिक के समान है, जो अपनी लम्बी यात्रा से थक कर कुछ देर के लिए कहीं ठहर जाता है; इसी प्रकार यह भी कुछ दिनों के लिए इस शरीर में विश्राम करने के लिए रुक जाती है। इसलिए कबीर मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि हे मनुष्य! जब तक तेरे शरीर में इस आत्मा का निवास है; अर्थात् जब तक तू जीवित है, तब तक तू हरि का स्मरण कर, अन्यथा बाद में तुझे पछताना पड़ेगा।

झूठे सुख कौं सुख कहै, मानत है मन मोद।
खलक चबीणां काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद ॥१॥

शब्दार्थ—खलक=संसार। चबीणां=भोजन।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! संसार के माया-जनित आकर्षणों से प्राप्त मिथ्यानन्द को सुख समझ कर तू मन में प्रसन्नता का अनुभव करता है। वास्तविकता यह है कि समस्त संसार काल का भोजन है जो कुछ तो उसके मुख में है और कुछ गोद में। अर्थात् कुछ तो विनाश को प्राप्त हो रहा है और कुछ विनाश को प्राप्त होने वाला है।

आजक कालिहक निस हमैं, मारगि माल्हंतां।
काल सिचांणां नर चिड़ा, औझड़ औच्यंतां ॥२॥

शब्दार्थ—सिचांणां=बाज। चिड़ा=पक्षी।

नर रूपी पक्षी के लिए काल बाज के समान है जो आज या कल की रात—शीघ्र ही—एकदम झपट कर हमें नष्ट कर देगा।

विशेष—रूपक अलंकार।

काल सिहणैं यौं खड़ा, जागि पियारे म्यंत।
रांम सनेही बाहिरा, तूं क्यूं सोवै नच्यंत ॥३॥

शब्दार्थ सिहणैं=सिरहाने, ऊपर। म्यंत=मित्र। नच्यंत=निश्चिन्त होकर।

हे प्रिय मित्र! जाग, सावधान हो, काल तेरे ऊपर खड़ा हुआ है। इसके अधिकार क्षेत्र से केवल प्रभु भक्त ही बाहर हैं; अतः तू प्रेम-भक्ति कर अज्ञान में मत पड़ा रह।

सब जग सूता नींद भरि, संत न आवै नींद।
काल खड़ा सिर ऊपरै, ज्यूं तोरणि आया बींद ।।४।।

समस्त संसार सुख-निन्द्रा में सोता है, किन्तु साधु को नींद नहीं आती, क्योंकि वह प्रभु-भक्ति में लगा रहता है। उसे पता है कि समय कम है, काल सिर के ऊपर खड़ा है, जिस प्रकार दूल्हा आकर वधू को लेकर ही जाता है; उसी भाँति काल नष्ट करके ही हटता है।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार।

आज कहै हरि काल्ह भजौंगा, काल्हि कहै फिर काल्हि।
आज ही काल्हि करंतड़ां, औसर जासी चालि ।।५।।

हे मनुष्य! तू आज यह कहता है कि कल प्रभु का भजन करूँगा और कल के आने पर फिर अगली कल के लिए सोचता है। इस प्रकार कल ही कल में आयु व्यतीत हो जाती है और प्रभु-भक्ति नहीं हो पाती।

कबीर पल की सुधि नहीं, करै काल्हि का साज।
काल अच्यंता झड़पसी, ज्यूं तीतर को बाज ।।६।।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तुझे यह तो एक पल का भी ज्ञान नहीं कि इसमें क्या होगा—विनाश अथवा सृजन और तू सब कार्यक्रम कल—भविष्य—के लिए स्थगित कर रहा है। काल अचानक तुझे इस प्रकार झड़प लेगा जैसे तीतर को बाज अचानक झपट कर ले जाता है।

विशेष—दृष्टांत अलंकार।

कबीर टग टग चोघतां, पल पल गई बिहाइ।
जीव जंजाल न छाड़, जम दिया दमांमां आइ ।।७।।

शब्दार्थ—चोघता=चुगता हुआ, उदर-पूर्ति करता हुआ। जंजाल=संसार के बन्धन। जम=यमराज, मृत्यु। दमांमां=नगाड़ा बजाना।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! क्षण-क्षण कर तेरी समस्त आयु व्यतीत हो गई और तूने उदरपूर्ति के अतिरिक्त और कुछ न किया। जीव इस संसार के बंधन से मुक्त नहीं हुआ और इतने में मृत्यु ने आकर अपना स्वर-घोष कर दिया।

मैं अकेला ए दोइ जणां, छेती नांहीं काइ।
जे जम आगैं ऊबरों, तो जुरा पहूंती आइ ।।८।।

शब्दार्थ—छेती=कम। काँइ=कोई भी। जुरा=जरा, वृद्धावस्था।

कबीर कहते हैं कि मैं तो अकेला हूँ और मेरे ये विनाशक दो—जरावस्था तथा मृत्यु। इन दोनों में कम कोई नहीं है। यदि मैं मृत्यु से बच भी जाऊँ तो फिर यह वृद्धावस्था नहीं छोड़ेगी। मृत्यु और जरा ये दोनों मेरे विनाशक हैं।

बारी बारी आपणीं, चले पियारे म्यंत।
तेरी बारी रे जिया, नेड़ी आवै नित ।।९।।

शब्दार्थ—म्यंत=मित्र। नेड़ी=नजदीक। नित=नित्य।

हे मनुष्य तेरे प्रियजन अपनी अपनी बारी पर इस संसार से विदा हो गये। अब दिन-प्रतिदिन तेरा मृत्यु अवसर भी निकट आ रहा है।

दौं की दाधी लकड़ी ठाढ़ी करे पुकार।
मति बसि पड़ौं लुहार के जालै दूजी बार ॥१०॥

शब्दार्थ—दौं=आग। दाधी=जलती हुई।

अग्नि में जली कोयले के रूप में लकड़ी पुकार कर कहती है कि मैं लुहार के अधिकार मैं न चली जाऊँ अन्यथा मुझे दुबारा जलना पड़ेगा (लुहार कोयला जलाकर अपनी भट्ठी गरम करता है)।

भाव यह है कि संसार तापों से दग्ध जीवात्मा कालाग्नि से भयभीत है।

जो ऊग्या सो आँथवे, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणिपाँ सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ ॥११॥

शब्दार्थ—ऊग्या=उदित हुआ। आंथवै=अस्त होता है। जो चिणियाँ= जिसका निर्माण हुआ।

कबीर कहते हैं कि इस नश्वर संसार में जो उदित होता है, उसका अस्त निश्चय है। जो कुसुम विकसित होता है वह अवश्य ही मुरझाएगा। जिसका निर्माण हुआ है उसका विध्वंस निश्चित है। जो जन्म लेकर इस संसार में आया है वह मृत्यु को प्राप्त होकर निश्चय ही यहाँ से जायगा।

जो पहर्या सो फाटिसी, नांव धर्या सो जाइ।
कबीर सोई तत्त गहि, जो गुरि दिया बताइ ॥१२॥

जिस नवीन वस्त्र को धारण किया जाता है वह कभी न कभी अवश्य ही फटता है। जिसने जन्म लिया है वह मरण को अवश्य प्राप्त होगा। अतः हे कबीर! तू उस प्रभु-भक्त के तत्व को ग्रहण कर जिसे तुझे सद्‌गुरु ने प्रदान किया है।

निधड़क बैठा राम बिन, चेतनि करै पुकार।
यहु तन जल का बुदबुदा, बिनसत नाहीं बार ॥१३॥

शब्दार्थ—निधड़क=निडर होकर। बिनसत=नष्ट होते हुए। बार=देर।

ज्ञानी स्पष्ट रूप में घोषणा करता है कि प्रभु-भक्त बिना तू निधड़क क्यों बैठा है? यह शरीर तो पानी के बुदबुदे के के सदृश है जिसे फूटने में देर नहीं लगती। अतः प्रभु-भक्ति कर।

पांणी केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति।
एक दिनां छिप जांहिगे, तारे ज्यूं परभाति ॥१४॥

शब्दार्थ—पांणीं केरा=पानी के। परभाति=प्रभात।

कबीर कहते हैं कि हम सांसारिकों की जाति पानी के बुदबुदों जैसी है जिनका अत्यन्त क्षणिक अस्तित्व है। एक दिन हम उसी प्रकार अचानक लुप्त हो जायेंगे जिस जिस प्रकार प्रभात समय में नक्षत्रगण।

विशेष—उदाहरण अलंकार।

कबीर यहु जग कुछ नहीं खिन खारः खिन मीठ ।
कालिह जु बैठा माड़ियां, आज मसांणां दीठ ॥१५॥

शब्दार्थ—मांड़ियाँ=अलंकृत हो रहा था । मशांणां=श्मशान में । दीठ= दिखाई देता है ।

कबीर कहते हैं कि यह जग बड़ा क्षणिक है, क्षण भर में यहाँ मधुर अनुभूति होती है तो क्षण भर में ही कटु । कल तक जो व्यक्ति अलंकृत हो रहा था वही आज श्मशान में जल रहा था ।

कबीर मंदिर आपणे, तिय उठि करती आलि ।
मड़हट देष्या डरपती, चौड़ दीन्हीं जालि ॥१६॥

कबीर कहते हैं कि वही लज्जाशील नारी जो नित्य अपने भवन में परदा करती थी और श्मशान को देख कर डर जाया करती थी वही आज श्मशान के निर्जन, बेरोक-टोक स्थान में जला दी गई संसार कैसा नश्वर है ?

मंदिर मांहि झबूकती, दीवा कैसी जोति ।
हंस बटाऊ चलि गया, काढौ घर की छोति ॥१७॥

शब्दार्थ—झबूकती = प्रकाशित करती, जगमगाती । हंस बटाऊ =मन रूपी पथिक ।

जो सुन्दर नारी कल तक अपने भवन को दीप-शिखा की भांति अपने सौन्दर्य से प्रकाशित रखती थी । उसकी अनन्त पथ की यात्री आत्मा के निकल जाने पर, निष्प्राण अवस्था में सब कहने लगे कि यह मिट्टी है, इसे शीघ्र श्मशान ले चलो ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

ऊँचा मंदर धौलहर माँटी चित्री पौलि ।
एक रांम के नांव बिन, जंम पड़ेगा रौलि ॥१८॥

शब्दार्थ—पौलि=द्वार । रौलि=रोना ।

मिट्टी के रंगों से चित्रित सुन्दर-सुन्दर द्वार एवं ऊँचे-ऊँचे भवन तथा अट्टालिकाएं सब प्रभु-भक्ति के बिना नष्ट हो जायेगा, जब काल इन्हें विनष्ट कर देगा तो रोना ही पड़ेगा ।

कबीर कहा गरबियो, काल गहै कर केस ।
ना जांणें कहाँ मारिसी, कै घर कै परदेस ॥१९॥

कबीर कहते हैं कि इस संसार में गर्व किस बात का ? सर्वदा तो मृत्यु मनुष्य के बाल पकड़े हुए है, वह न जाने कहाँ, देश अथवा विदेश कहाँ उठाकर पटक दे, समाप्त कर दे ।

कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गए सब तार ।
जंत्र बिचारा क्या करै, चले बजावणहार ॥२०॥

कबीर कहते हैं कि पंच तत्वों से निर्मित यह वाद्य-यन्त्र शरीर बजाने वाले आत्मा के अभाव में बजता नहीं, उसके समस्त तार टूट गये हैं और इन तारों को

बजाने वाली आत्मा भी अब नहीं रही है।

धवणि धवंती रह गई, बुझि गए अंगार।
अहरणि रह्या ठमूकड़ा, जब उठि चले लुहार ॥२१॥

शब्दार्थ—धवणि=भट्ठी। धवंती=दहकती। अहरणि=अहरन, निहाई। ठमूकड़ा=हथौड़ा। लुहार=आत्मा से तात्पर्य है।

आत्मारूपी लुहार के चले जाने पर शरीर की कांति निस्तेज हो जाती है और तापत्रय-युक्त सांसारिक भट्ठी दहकती रह जाती है। निहाई और हथौड़े रूपी मनुष्य के साज-सामान यहाँ व्यर्थ धरे रह जाते हैं। इन सब का प्रयोजन कर्त्ता आत्मा शरीर में रहने तक ही था।

पंथी ऊभा पंथ सिरि, बुगचा बांध्या पूठि।
सरणां मुह आगैं खड़ा, जीवण का सब झूठ ॥२२॥

शब्दार्थ—ऊभा=प्रस्तुत। बुगचा=गठड़ी। पूठि=पीठ पर।

कबीर कहते हैं कि आत्मारूपी अनन्त मार्ग का पथिक अपनी कर्म पोटली पीठ पर बाँध कर उस अनन्त पथ के लिए प्रस्तुत खड़ा है। जब मरण बिल्कुल सम्मुख ही है तो संसार में सब कुछ मिथ्या है।

यहु जिव आया दूर थैं, अजौं भी जासी दूरि।
बिच के बासै रसि रह्या, काल रह्या सर पूरि ॥२३॥

शब्दार्थ—जिव=जीवात्मा।

यह जीवात्मा रूपी अनन्त का पथिक बड़ी दूर से इस संसार में आया था और अभी इसे जाना भी बहुत दूर है। इस विश्राम स्थल—संसार—पर वह न जाने क्यों अधिक रुक गया है, अज्ञान में अचेत पड़ा है, यह भी नहीं देखता कि मृत्यु सिर पर खड़ी है।

राम कह्या तिनि कहि लिया, जुरा पहूँती आय।
मन्दिर लागै द्वार थैं, कुछ काढणां न जाइ ॥२४॥

शब्दार्थ—जुरा=जरावस्था, बुढ़ापा।

जिसको अपने मुख से प्रभु नाम कहना था वे कह चुके, अब तो वृद्धावस्था आ पहुँची। जब मन्दिर के द्वार लग जाते हैं तब उसके भीतर से कुछ निकाला नहीं जा सकता, इसी भाँति जब इस शरीर-सदन का द्वार—मुख—बन्द हो जायेगा तब इससे प्रभु-नाम नहीं निकाला जा सकता।

बरियाँ बीती बल गया, बरन पलटया और।
बिगड़ी बात न बाहुड़ै, कर छिटक्यां कत ठौर ॥२५॥

शब्दार्थ - बरियाँ=आयु। बरन=वर्ण। बाहुड़ै=बनाना।

कबीर कहते हैं कि हे जीव! तेरी आयु व्यतीत हो चुकी है, समस्त शक्ति नष्ट हो गई है। वृद्धावस्था के आगमन से तेरा वर्ण भी कुछ और ही हो गया है। यदि अब बात बिगड़ गई तो फिर नहीं बन सकती, तुझे पश्चात्ताप करने का भी

अवसर प्राप्त नहीं होगा—अतः इस अल्प समय में प्रभु-स्मरण कर ले।

बरियाँ बीती बल गया, अरू बुरा कमाया।
हरि जिन छाड़ै हाथ थैं, दिन नेड़ा आया ॥२६॥

शब्दार्थ—दिन नेड़ा आया = मृत्यु समीप आ गई।

हे मनुष्य! तेरी आयु व्यतीत हो चुकी है अब तक तूने बुरे ही बुरे कर्म किये हैं। अब प्रभु को अपने हाथ से मत जाने दे, क्योंकि तेरी मृत्यु निकट आ पहुँची है।

कबीर हरि सूं हेत करि, कूडै चित्त न लाव।
बाँध्या बार खटीक के, तापसु किती एक आव ॥२७॥

शब्दार्थ—हेत = प्रेम। कूडै = सांसारिक विषय-वासनाएँ। षटीक = वधिक। आव = आयु।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू प्रभु से प्रेम कर और बुरी भावनाओं को अपने चित्त में न आने दे। वधिक के द्वार पर बँधे पशु की आयु का क्या भरोसा अर्थात् काल न जाने कब तुझे चट कर जाय।

विष के बन मैं घर किया, सरप रहे लपटाइ।
तार्थं जियरै डर गह्या, जागत रैंणि बिहाइ ॥२८॥

कबीर कहते हैं कि मेरा इस संसार में ऐसा ही वास है जैसे विष-वन में मैंने घर बना लिया हो जिसमें दुर्वासनाओं के सर्प चारों ओर लिपटे रहते हैं। मैं इनसे भयभीत हूँ, इसलिए दिन-रात जागता ही रहता हूँ।

कबीर सब सुख राम है, और दुखां की रासि।
सुर नर मुनियर असुर सब, पड़े काल की पासि ॥२९॥

कबीर कहते हैं कि समस्त सुखों की राशि राम ही हैं, शेष उपलब्धियों में तो दुःख ही दुःख हैं। देवता, मनुष्य, मुनिवर, राक्षस सब काल के बंधन में बँधे हुए हैं—कोई इससे मुक्त नहीं। अतः हे मनुष्यो! राम का भजन करो।

काची काया मन अथिर, थिर थिर कांम करंत।
ज्यूं ज्यूं नर निधड़क फिरै, त्यूं त्यूं काल हसंत ॥३०॥

शब्दार्थ अथिर = चंचल। निधड़क = निर्भीक होकर, भगवान से उदासीन होकर।

यह नश्वर शरीर और चंचल मन है फिर भी मनुष्य अपने कार्यों को गहरी नींव देता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य निडर होकर निश्चिन्तता से घूमता है, मृत्यु उसकी मूर्खता पर हँसती है कि इस अल्प समय में यह प्रभु भजन क्यों नहीं करता?

रोवणहारे भी मुए, मुए जलावणहार।
हा हा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार ॥३१॥

शब्दार्थ—कासनि = किससे। करौं पुकार = सहायता के लिए प्रार्थना

कबीर कहते हैं कि शव के लिए रोने वाले भी मृत्यु को प्राप्त हुए और जिन्होंने शव-दाह किया था वे भी मरे। जो प्रियजन आठ-आठ आँसू रोये थे, वे भी मरे। जब सभी मरणशील हैं तो सहायता की पुकार किससे की जाये। केवल एकमात्रा वही प्रभु अनश्वर हैं अतः मनुष्य! उन्हीं की भक्ति कर।

जिनि हम जाए ते मुए, हम भी चालणहार।
जो हम को आगैं मिले, तिन भी बंध्या भार ॥३२॥७२५॥

जिन माता-पिता ने हमें जन्म दिया वे भी मृत्यु को प्राप्त हो गये और अब हम भी उस अनन्त यात्रा के लिए प्रस्तुत हैं। यही तो जगत का शाश्वत क्रम रहा है। जो हमें अनन्त पथ पर—मृत्यु पथ पर—आगे मिले वे भी अपने कर्मों की पोटली बाँधे हुए थे, जिनके आधार पर उन्हें पुनः जन्म-मरण के चक्र में पड़ना था।

४७. जीवनी कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में कबीर ने जीवन्मुक्त दशा का वर्णन किया है। जब जीव जीवन्मुक्त हो जाता है; अर्थात् सांसारिक विषय-विकारों से छूटकर ब्रह्मलोक में पहुँच जाता है तो वहां उसे न तो वृद्धावस्था के दुख सहने पड़ते हैं, न वहां पर उसकी मृत्यु होती है, अपितु जीव सर्वप्रकारेण दुखमुक्त और अमर बन जाता है। किन्तु जीव को ऐसी दशा तब ही प्राप्त होती है जब हरि की कृपा से वह साँसारिक बन्धनों और मोह, माया आदि के प्रलोभनों से छूट जाता है। जब मन से विकारों का समूह नष्ट हो जाता है और वह शुद्ध तथा चैतन्य बन जाता है, तभी उसे हरि का प्राप्ति होती है।

साधक को सम्बोधित करते हुए कबीर ने बताया है कि हे साधक! तुम उस शून्य रूपी वृक्ष पर अपना वास बना लो जो हर समय फलों की वर्षा करता रहता है, जिसकी छाया अत्यंन्त शीतल होती है, जिसको तीनों तापों का सन्ताप नहीं व्यापता और जिस पर जीवन्मुक्त साधक पक्षी की भाँति नित्य सानन्द क्रीड़ायें किया करते हैं।

जहां जुरा मरण व्यापै नहीं, मुवा न सुणिये कोइ।
चलो कबीर तिहि देसड़ै, जहाँ बैद विधाता होइ ॥१॥

शब्दार्थ—जुरा=वृद्धावस्था। विधाता=प्रभु।

जहाँ जरा-मरण का भय ही नहीं और न किसी की मृत्यु सुनी है, हे कबीर! तू उस देश को चल। यदि वहाँ कोई अधिक व्याधि हो भी गई तो स्वयं प्रभु वहाँ वैद्य हैं।

कबीर जोगी बनि बस्या, पणि खाये कंद मूल।
नां जाणौं किस जड़ी थें, अमर भये असथूल ॥२॥

शब्दार्थ—असथूल=स्थूल।

कबीर कहते हैं कि जीवात्मा रूपी योगी इस संसार रूपी वन में ही रह रहा था और सांसारिक विषयों से अपनी इन्द्रिय तृप्ति करता था। पता नहीं किस जड़ी-

बूटी से (भक्ति की अनुपम बूटी से) वह इस स्थूल शरीर के रहते हुए भी अमर हो गया—जीवन्मुक्त हो गया ।

कबीर हरि चरणौं चल्या, माया मोह थैं टूटि ।
गगन मंडल आसण किया, काल गया सिर कूटि ॥३॥

कबीर ने प्रभु चरणों को अपना लिया है, उसका संसार से मोह-सम्बन्ध समाप्त हो गया है, अब उसने शून्य में अपना निवास बना लिया, जहाँ वह अमर हो गया है ।

यहु मन पटकि पछाड़ि लै, सब आपा मिटि जाइ ।
पंगुल ह्वै पिव पिव करै, पीछैं काल न खाइ ॥४॥

शब्दार्थ—पछाड़ि लै=धो ले ।

मन के कालुष्य को पटक-पटक धो देने पर मन का समस्त अहं नष्ट हो जाता है । मन जब विषय-वासनाओं की ओर नहीं दौड़ता तो प्रभु-नाम स्मरण करता है । इस अवस्था के आने पर मृत्यु तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती ।

कबीर मन तीषा किया, बिहर लाइ षर सांण ।
छित चणू मैं चुभि रह्या, तहाँ नहीं काल का पांण ॥५॥

शब्दार्थ—षर=प्रखर, तीक्ष्ण । साँण=शान, एक पत्थर विशेष जिस पर धार रखी जाती है । चर्ण = चरणों । पाँणि=पाणि, हाथ, अधिकार ।

कबीर कहते हैं कि मैंने प्रभु विरह की तीक्ष्ण शान पर रखकर मन को प्रभु-भक्ति के लिए प्रस्तुत किया है । अब मेरा मन प्रभु के चरणों में अनुरक्त रहता है । वहाँ मैं निश्चिन्त हूँ, क्योंकि काल की गति वहाँ नहीं है ।

तरवर तास बिलंबिए, बारह मास फलंत ।
सीतल छाया गहर फल, पंषी केलि करंत ॥६॥

शब्दार्थ—तास = उस । गहर=भरपूर । केलि=क्रीड़ा ।

कबीर कहते हैं कि हे साधक तुम उस शून्य रूपी वृक्ष पर अपना वास बना लो जो बारह-मास फलों की वर्षा करता है । जिसकी छाया अत्यन्त शीतल है—वहाँ ताप-त्रय नहीं व्यापते और फल भी भरपूर है तथा जीवन्मुक्त साधक रूपी स्वतन्त्र पक्षी वहाँ क्रीड़ा करते हैं ।

दाता तरवर दया, फल, उपगारी जीवंत ।
पंषी चले दिसावरां, बिरषा सुफल फलंत ॥७॥७३२॥

शब्दार्थ—दिसावरां = विदेश । विरषा = वृक्ष ।

स्वयं स्वामी जो समस्त फलों के देने वाला है, वृक्ष है एवं वह दया का फल प्रदान करता है जिससे समस्त जीवों का हित होता है । ऐसा सुन्दर वृक्ष होने पर भी जीवात्मा रूपी पक्षी अत्यन्त भटकते हैं, प्रभु को छोड़ सुख-प्राप्ति के अन्य व्यर्थ विधान करते हैं ।

विशेष - कबीर ने यहाँ पक्षी के रूप में ऐसे व्यापारी का रूपक दिया है जो अपने प्रदेश की सुन्दर फसल छोड़कर अन्यत्र उससे अच्छी फसल टटोलने जाता है ।

४८. अपारिष कौ अंग

अंग-परिचय—जब साधक ज्ञानहीन हो जाता है तो उसकी साधना भ्रष्ट हो जाती है, अतः साधना की पूर्ति के लिए साधक का पारखी होना अपेक्षित है। प्रस्तुत अंग में कबीर ने पारखी का महत्व बताते हुए कहा है कि जब मनुष्य पारख से शून्य हो जाता है तो उसकी दशा उस व्यक्ति के समान बन जाती है जो हंसों का संसर्ग छोड़कर बगुलों के समाज को ही सर्वस्व समझ लेता है। उसकी बुद्धि इतनी मलीन हो जाती है कि उसे सदसद् का विवेक नहीं रहता, इसलिए वह सद् का परित्याग करके असद् को अपनाता रहता है। अतः वह प्रभु-भक्ति रूपी बिखरे हुए अमूल्य मोतियों को भी नहीं पहचान पाता और अज्ञानांध होकर उन्हें छोड़ देता है। वस्तुतः अज्ञान के बंधनों में बँधा हुआ मनुष्य उस गाय के समान है जो अपने वास्तविक बछड़े की मृत्यु को भी नहीं पहिचान पाती और उसकी खाल को ही असली बछड़ा समझ लेती है।

पाइ पदारथ पेलि करि, कंकर लीया हाथि।
जोड़ी बिछुटी हंस की, पया बड़ गां कै साथि ॥१॥

शब्दार्थ—पाइ=पाया हुआ। कंकर=कंकड़ रोड़ा व्यर्थ की वस्तु। बिछुटी=बिछुड़ी। बंगा=बगुले।

कबीर कहते हैं कि पाये हुए अमूल्य पदार्थ प्रभु को छोड़कर व्यर्थ के इस बोझ (माया) को अपना लिया। हंस परमात्मा को छोड़कर माया रूपी कपटी बगुले के संसर्ग को अपना लिया।

एक अचंभा देखिया, हीरा हाटि बिकाइ।
परखणहारे बाहिरा, कौड़ी बनलै जाइ ॥२॥

शब्दार्थ—हाटि=बाजार। बाहिरा=अज्ञान।

कबीर कहते हैं कि मैंने एक आश्चर्य देखा कि संसार के बाजार में प्रभु-भक्ति का अनमोल हीरा बिक रहा था। वह हीरा परखने वाले जौहरियों की समझ से बाहर था, इसीलिए वे उसका मूल्य कौड़ी—नगण्य—बताने लगे।

कबीर गुदड़ी बीषरी, सौदा गया बिकाइ।
खोटा बांध्या गाँठही, इब कुछ लिया न जाय ॥३॥

शब्दार्थ - सरल है।

कबीर कहते हैं कि संसार के बाजार में सत्कृत्य रूपी समस्त सौदा बिक गया और उनको रखने वाली शरीर की यह खाली पोटली नष्ट हुई जा रही है, इस पोटली में कुकर्म रूपी खोटे सिक्के जिनके बदले सत्कृत्य बेच दिए, बांध लिए हैं, अब इसका प्रतिकार भी तो कुछ नहीं किया जा सकता क्योंकि अन्त समय निकट आ पहुँचा है।

पैंडै मोती बीखर्या, अंधा निकर्या आइ।
जोति बिनाँ जगदीश की, जगत उलंघ्याँ जाइ ॥४॥

शब्दार्थ—पैंडै=कदम-कदम पर।

कबीर कहते हैं कि संसार मार्ग में कदम कदम पर प्रभु-भक्ति रूपी अमूल्य मोती बिखरे हुए हैं; किन्तु अज्ञानांध जीव निकला हुआ जा रहा है। प्रभु-प्रदत्त ज्ञान ज्योति के अभाव में जीव संसार में उलझ कर ही रह जाता है।

कबीर यहु जग अंधला, जैसी अंधी गाइ।
बछा था सो मरि गया, ऊभी चांम चटाइ ॥५॥७३७॥

शब्दार्थ—अंधला=अंधा, अज्ञान। बछा=बछड़ा।

कबीर कहते हैं कि यह अज्ञानांध संसार मोहांध गाय की भांति है, जो अपने वास्तविक बछड़े (प्रभु) के बिछुड़ जाने पर पर भी उसकी खाल (माया—जो प्रभु से ही उत्पन्न है) को चाटे जाती है।

विशेष—गाय का बछड़ा मर जाने पर उससे दूध लेने के लिए मरे बछड़े की खाल में भुस भरवाकर खड़ा कर देते हैं। गाय उसे वास्तविक बछड़ा समझ दुलार करती है और दूध देती है। यही रूपक कबीर ने अपनाया है।

४९. पारिष कौ अंग

अंग-परिचय—पारिष का अर्थ है परखना, सही मूल्यांकन करना।' साधक को अपनी साधना की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसमें किसी वस्तु को परखने की, सदसद् के विवेक की वृद्धि हो, अवगुण को ग्राहक मिल जाते हैं तो गुण का मूल्य लाख गुना बढ़ जाता है और जब गुण को ग्राहक नहीं मिलते तो उनका मूल्य दो कौड़ी का रह जाता है। हंस बगुलों से इसीलिए श्रेष्ठ है कि उसमें रत्न रूपी जौहरी ही परख सकता है और उसका मूल्यांकन कर सकता है। अतः साधक में परख का ज्ञान होना अनिवार्य है, अन्यथा वह सत्य और असत्य में भेद नहीं कर सकेगा।

जब गुण कूं गाहक मिले, तब गुण लाख बिकाइ।
जब गुण कौं गाहक नहीं, तब कौड़ी बदलै जाइ ॥१॥

जब श्रेष्ठ वस्तु को उसका पारखी ग्राहक मिल जाता है तो वह लाखों रुपये के मूल्य पर बिक जाती है। जब गुणवान वस्तु को पारखी ग्राहक नहीं मिलता है तो वह नगण्य मूल्य में बिक जाती है।

कबीर लहरि समंद की, मोती बिखरे आइ।
बगुला मंझन जाणई, हंस चुणे चुणि खाइ ॥२॥

शब्दार्थ—मंझन=मज्जन, स्नान। चुणे-चुणि=चुन-चुन कर।

कबीर कहते हैं कि भवित के सागर की लहर ने उपदेश या प्रभु-प्रेम के मौक्तिक बिखेर दिये। संसार-लिप्त पुरुष बगुले के समान उस लहर का उपयोग केवल नहाने भर के लिए कर सके और मुक्तात्मा रूपी हंसों ने प्रभु-प्रेम के मौक्तिकों को चुन-चुन कह ग्रहण कर लिया।

हरि हीराजन जौहरी, ले ले मांडिय हाटि ।
जबर मिलेगा पारिषू, तब हीरा की साटि ।।३।।७४०।।

शब्दार्थ—जन=भक्त । जौहरी=पारखी, जौहरी । जबर=जब भी ।

प्रभु-रूपी हीरे को भक्त-रूपी जौहरी संसार के बाजार में सजाकर बैठता है, जब इस प्रभु-भक्ति रूपी हीरे का पारखी मिलेगा, तभी हमारा सौदा तय हो सकेगा ।

५०. उपजणि कौ अंग

अंग-परिचय—संसार और इसके आवरणों को देखकर ही साधक को सत्य एवं असत्य का ज्ञान होता है और इसी ज्ञान के द्वारा उसके हृदय में प्रभु-भक्ति का आविर्भाव होता हैं । जब साधक के मन में ऐसी भक्ति उत्पन्न हो जाती है, तभी उसे सच्चा गुरु मिलता है, जो उसे सत्पथ की ओर अग्रसर करता है । जिन लोगों के मन में इस प्रकार की भक्ति उत्पन्न नहीं होती, उनके मन में अहं भावना बनी रहती है, जो उनके पतन का कारण बनती है तथा वे संसार-सागर में इतने गहरे डूब जाते हैं कि फिर उसमें उबर ही नहीं पाते । अतः कबीर भक्तों को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि वे उस इस अहं-भावना का परित्याग करके जीवन-मरण से मुक्ति लाभ करें ।

भगवान में अनन्त गुण हैं, जिनका अनुभव केवल हृदय से ही किया जा सकता है, वाणी से उनका वर्णन नहीं किया जा सकता । जब मनुष्य के हृदय में सांसारिक विषय-विकार की छाया पड़ जाती है तो उसका हृदयस्थ भगवान उससे दूर हो जाता है । इसलिए भक्त सांसारिक विकारों के प्रति बहुत अधिक सचेत रहता है और वह इनमें नहीं पड़ता । भगवान की भक्ति के द्वारा ही मन शुद्ध सोने के समान बनता है । इस संसार-रूपी सागर से वे ही व्यक्ति पार उतर सकते हैं, जिन्हें प्रभु का आलम्बन प्राप्त होता है । इसी आलम्बन से ही मनुष्य के सारे संशय दूर होते हैं और वह मुक्ति को प्राप्त करता है ।

नांव न जांणौं गांव का, मारगि लागा जांउं ।
काल्हि जु काटां भाजिसी, पहिली क्यूं न खड़ांउं ।।१।।

कबीर कहते हैं कि मुझे जिस स्थान पर पहुँचना है वह मुझे अज्ञात है, फिर भी में मार्ग पर बढ़ा ही जा रहा हूँ । अब सोचता हूँ कि इस मार्ग पर कल ही विषय-वासना का कांटा चुभा था, फिर भी मैंने उससे त्राण के लिए खड़ाऊं नहीं पहनी अर्थात् संयम नहीं किया ।

सीष भई संसार थैं, चले जु सांईं पास ।
अविनासी मोहि ले चल्या, पुरई मेरी आस ।।२।।

शब्दार्थ—सीष=शिक्षा ।

संसार की दुर्दशा देखकर हमें यह शिक्षा मिली कि एकमात्र प्रभु ही काम्य हैं, अतः मैं उनके पास को चल दिया, प्रभु-भक्ति मार्ग पर अग्रसर हुआ । सद्गुरु मुझे उस पंथ पर ले कर बढ़े अथवा प्रभु ने आगे बढ़कर मेरा स्वागत किया और मेरी इच्छा पूर्ण की ।

इंद्रलोक अचरिज भया, ब्रह्मा पड़्या विचार।
कबीरा चाल्या रांम पें, कौतिगहार अपार ॥३॥

जब कबीर राम से मिलने चला, प्रभु-भक्ति मार्ग पर अग्रसर हुआ, तो स्वर्ग में आश्चर्य छा गया एवं ब्रह्मा भी सोच में पड़ गये। इस आश्चर्य को देखने के लिए अपार जनसमूह उमड़ पड़ा।

विशेष—आश्चर्य यह है कि मृत्यु के पश्चात् ही आत्मा परमात्मा से साक्षात्कार करती है, किन्तु कबीर जीवित ही मरण को प्राप्त हो, जीवन्मुक्त हो, प्रभु से मिलने जा रहा है—यही आश्चर्य है।

ऊँचा चढ़ि असमान कूं, मेरे उलंघे ऊड़ि।
पसू पंषेरू जीव जंत, सब रहे मेर मैं बूड़ि ॥४॥

शब्दार्थ—असमान=आकाश, शून्य, ब्रह्मरन्ध्र। मेर=अहं। पंषेरू=पक्षी। जंत=जंतु।

कबीर कहते हैं कि पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, सब अहं में डूब रहे हैं। हे साधक! तू इस अहं का परित्याग कर शून्य प्रदेश के लिए प्रस्थान कर।

सद पाँणीं पाताल का, काढ़ि कबीरा पीव।
बासी पावस पड़ि मुए, विषैंबि लंबे जीव ॥५॥

शब्दार्थ—सम=अच्छा।

कबीर कहते हैं कि साधक! तू पाताल—बहुत गहरे—में निकाला सुन्दर ताजा जल पी। बासी पानी पीकर कितने ही विषयी जीव मरण को प्राप्त हो चुके हैं।

भाव यह है कि तू गहन अनुभव पर आधृत सिद्धांतों को ही सम्मुख रख स्वयं के अनुभव पर आधृत सिद्धांत मिथ्या नहीं हो सकते।

कबीर सुपने हरि मिल्या, सूतां लिया जगाइ।
आंषि न मींचौं डरपता, मति सुपनां ह्वै जाइ ॥६॥

शब्दार्थ—मति=ऐसा न हो कि।

कबीर कहते हैं कि इस संसार की अज्ञान रात्रि के बीच स्वप्न में प्रभु ने मुझे दर्शन दिया और ज्ञान-दान देकर मुझे अज्ञान निद्रा से जगा लिया। अब मैं इसी कारण पुनः इस संसार में अज्ञान निद्रा में नहीं पड़ता, कहीं मुझे यह प्रभु-अनुकम्पा द्वारा प्राप्त स्वप्न-तुल्य दुर्लभ और अप्राप्य न हो जाये।

गोव्यंद के गुण बहुत हैं, लिखे जु हिरदै मांहि।
डरता पांणी नां पीऊं, मति वै धोये जांहि ॥७॥

शब्दार्थ—गोव्यन्द=गोबिन्द।

कबीर कहते हैं कि मेरे हृदय-पट पर प्रभु के अनन्त गुण अंकित हैं। मैं इस भय से माया रूपी जल का व्यवहार नहीं करता कि कहीं वे उससे घुल न जायें।

कबीर अब तौ ऐसा भया, निरमें लिस निज नांउ ।
पहली काच कथीर था, फिरता ठाँवें ठाउं ।।८।।

शब्दार्थ—निरमोलिस=शुद्ध । काच=कच्चा । कथीर=पारा ।

कबीर कहते हैं कि अब प्रभु-भक्ति के द्वारा मेरा नाम शुद्ध (कंचन तुल्य) हो गया है अन्या पहले तो मैं कच्चा पारा ही था, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकता रहता है। भाव यह है कि चचंलवृत्ति जीव भी प्रभु-भक्ति से पूर्व सांसारिक माया-आकर्षणों में भटकता रहता था।

भौ समंद विष जल भर्या, मन नहीं बाँधे धीर ।
सबल सनेहीं हरि मिले, तब उतरे पारि कबीर ।।९।।

शब्दार्थ—भौ समंद=संसार-रूपी सागर ।

कबीर कहते हैं कि विषय-वासनाओं के विष जल से भरे संसार-समुद्र को देखकर मेरा मन विचलित हो रहा था। किन्तु अत्यन्त शक्तिशाली स्वयं प्रभु जैसा प्रेमी मिल जाने पर कबीर पार उतर गया।

भला सुहेला उतर्या, पूरा मेरा भाग ।
राम नांव नौका गह्या, तब प्राणी पंक न लाग ।।१०।।

शब्दार्थ—सुहेला=कुशलतापूर्वक । पंक - कीचड़, सांसारिक विषय वासनाएं ।

मेरा बड़ा भाग्य है कि मैं पूर्ण कुशलता से भवसागर पार उतर गया हूँ प्रभु-नाम रूपी नौका का आश्रय लेने से संसार की माया का जल एवं विषय-वासनाओं की कीचड़ छू भी नहीं सकते। राम नाम की नौका पूर्ण सुरक्षित है।

कबीर केसो की दया, संसा घाल्या खोइ ।
जे दिन गये भगति बिन, ते दिन सालें मोहि ।।११।।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-कृपा से मेरा माया-भ्रम दूर हो गया। अब मुझे उन दिनों के व्यर्थ जाने का पश्चात्ताप है, जो बिना प्रभु-भक्ति के नष्ट हो गये थे।

कबीर जाचण जाइ था, आगें मिल्या अजंच ।
ले चाल्या घर आपणें, भारी पाया संच ।।१२।।७५२।।

शब्दार्थ—जाचण=याचना के लिए। अजंच=जो याचना नहीं करता। संच=शान्ति ।

कबीर कहते हैं कि मैं संसार में सुख-याचना के लिए निकला था, किन्तु मार्ग में मुझे वह प्रभु मिल गये, जो कभी किसी से याचना नहीं करते। वे मुझे अपने घर ले गये—प्रभु भक्ति का प्रदेश ही उनका घर है—यहाँ मुझे अमित शान्ति प्राप्त हुई।

५१. दया निरबैरता कौ अंग

अंग-परिचय—यह संसार अनेक प्रकार के प्रपंचों और विकारों से भरा हुआ है। इसमें जब विषय-वासनाओं की बड़वानल प्रज्वलित होती है तो सब कछ जला

कर नष्ट कर देती है, केवल प्रभु अथवा प्रभु-जन ही बच पाते हैं। इसी प्रकार जब माया रूपी बदली बहुत प्रखर वेग से बरसती है तो उसमें सारा संसार नष्ट हो जाता हैं। इसलिए इस संसार में केवल प्रभु-जनों को छोड़कर कोई भी अन्य व्यक्ति सुख नहीं प्राप्त कर सकता।

कबीर दरिया प्रजल्या, दाझै जल थल झोल।
बस नांहि गोपाल सौं, बिनस रतन अमोल ॥१॥

शब्दार्थ—प्रजल्या=प्रज्वलित हुआ। दाझै=दग्ध हो गये। झोल=शुष्क कबाड़ की ढेरी।

कवीर कहते हैं कि संसार रूपी सरिता में विषय-वासताओं की बड़वानल प्रज्वलित हो उठी जिससे जल-थल एवं कवाड़ सब कुल नष्ट हो गया। इस वासना-अग्नि ने बड़े-बड़े अमूल्य रत्नों को विनष्ट कर दिया, केवल प्रभु पर इसका कोई प्रभाव नहीं।

ऊँनमि बिआई बादली, बर्सण लागे अँगार।
उठि कबीरा धाह दे, दाझत है संसार ॥२॥

शब्दार्थ—ऊँनमि=ऊँची होकर। धाह दे=दहाड़ दे, रोकर आवाज दे।

माया-मेघ ऊँचा होकर वर्षा करने लगा, वर्षा में उससे अंगार झड़े, जिनसे समस्त संसार भस्म हो गया। कबीर अब तू रोकर चिल्लाती आवाज में, फूट-फूटकर, कह कि संसार विनष्ट हो रहा है।

विशेष—सामान्यतः तो बदली तब बरसती हैं जब वह नीची होती है, किन्तु यह बदली ऊँची होकर बरस रही है। इससे झरते हुए अंगार विषय-वासना के परिणाम हैं।

दाध बली ता सब दुःखीं, सुखी न देखौं कोइ।
जहां कवीरा पग धरै, तहाँ टुक धीरज होइ ॥३॥७५५॥

शब्दार्थ—दाध=अग्नि। बली=प्रज्वलित। टुक=कुछ-कुछ।

समस्त संसार विषय-वासना की अग्नि में जल रहा है, कोई भी सुखी नहीं है। जहाँ-जहाँ कबीर पदार्पण करते हैं वहां कुछ शान्ति हो जाती है।

५२. सुन्दरि कौ अंग

अंग-परिचय—कबीर ने अपने दर्शन में आत्मा को नारी रूप में चित्रित किया है। यहाँ भी उनका सुन्दरी से तत्पर्य आत्मा से है। जो साधक होते हैं, जिनकी आत्मा विकार-शून्य होती है, उनकी आत्मा सदैव उन्हें प्रभु की ओर प्रेरित करती रहती है और उसमें प्रभु के प्रति इतना अधिक अनुराग होता है कि वह उसके विरह में अपने प्राणों को त्यागने के लिए तैयार रहती है। इसके विपरीत जो आत्मा निर्मल नहीं होती, जिसमें विकार भरे रहते हैं, वह परमात्मा से सदा विमुख रहती है जो आत्मा भगवान् को छोड़कर और किसी से अनुराग करती है अथवा किसी अन्य को

प्राप्त करने की आशा रखती है, वह कभी भी जीवन्मुक्त नहीं हो सकती। इस मन को जब विषय-विकारों से दूर कर दिया जायेगा, तभी आत्मा को सन्तोष मिल सकता है। इसलिए मनुष्य को सभी सांसारिक पदार्थों को छोड़ देना चाहिए।

कबीर सुन्दरि यों कहै, सुणि हो कंत सुजांण।
बेगि मिलौ तुम आइ करि, नहीं तर तजौं पराण ॥१॥

शब्दार्थ—कंत सुजांण=चतुर स्वामी। नहीं तर=नहीं तो। पराण=प्राण।

साधक की आत्मा रूपी सुन्दरी यह कहती है कि हे चतुर स्वामी – प्रभु मेरी विनय सुनिए। आप आकर या तो शीघ्र दर्शन दो अन्यथा मैं प्राण तज दूंगी, संसार त्याग दूंगी।

कबीर जे को सुंदरी, जांणि करैं बिभचार।
ताहि न कबहूं आदरैं, प्रेम पुरिष भरतार ॥२॥

कवीर कहते हैं कि जो भी आत्मा रूपी सुन्दरी विविध विषयों में लिप्त रह व्यभिचारमय आचरण करती है, उसे उसका स्वामी—प्रभु—कभी भी सम्मान प्रदान नहीं करता।

ज सुंदरि सांईं भजै, तजै आन की आस।
ताहि न कबहूं परहरैं, पलक न छाड़ैं पास ॥३॥

शब्दार्थ—सांई=प्रभु। परहरैं=छोड़ना।

जो आत्मा रूपी सुन्दरी प्रभु का ही भजन करती है अन्य किसी की आश नहीं रखती, उसे वे कभी भी नहीं छोड़ते, एक पल के लिए भी उससे दूर नहीं हटते।

इस मन कौं मैंदा करौं, नान्हां करि करि पीसि।
तब सुख पावै सुंदरी ब्रह्म झलकै सीस ॥४॥

हे साधक! इस मन को संयम के द्वारा पीस-पीसकर मैदा के समान चिकना, निर्मल कर ले। तभी ब्रह्मरन्ध्र में निरञ्जन ज्योति के दर्शन होंगे और आत्मा प्रसन्न होगी।

दरिया पारि हिंडोलनां, मेल्या कंत मचाइ।
सोई नारि सुलषणीं, नित प्रति झूलण जाइ ॥५॥७६०॥

शून्य स्थल के पार प्रभु का हिंडोलना है, जिस पर उन्होंने स्वयं गलीचा बिछाया हुआ है। वही आत्मा रूपी नारी सुलक्षणी है, जो नित्य प्रति प्रिय के साथ उस पर झूलती है। अथवा सुलक्षणी नारी (कुण्डलिनी), जो सोई हुई है, को जगा नित्य प्रिय के साथ झूलने जाना चाहिए।

५३. कस्तुरियां मृग कौ अंग

अंग-परिचय—हिरन की नाभि में कस्तूरी होती है, किन्तु अज्ञानता वश वह उसे अपने हृदय में न जानकर बन-बन ढूंढ़ता फिरता करता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में भगवान बसा हुआ है, पर वह उसे अपने घर में न ... संसार में उसे

ढूंढ़ता रहता है। प्रस्तुत अंग में इसी बात का वर्णन करते हुए कबीरदास कहते हैं कि यद्यपि हिरन की नाभि में कस्तूरी होती है, किन्तु वह उसे वन-वन ढूँढता फिरा करता है, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के हृदय में भगवान् बसा हुआ है, पर वह उसे नहीं पहिचान पाता और इधर-उधर ढूँढ़ता रहता है। हृदयस्थ भगवान् को पहिचान लेना प्रत्येक व्यक्ति का कार्य नहीं है। उसे तो वही पहिचान सकता है जिसने पांचों इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है। ब्रह्म समान रूप में सर्वत्र व्याप्त है, वह कहीं कम या कहीं अधिक नहीं है, पर जो भगवान् को अपने निकट समझते हैं, उनके वह निकट है और जो दूर समझते हैं, उनके लिए वह दूर है।

जब तक मनुष्य के मन में अहं-भावना बनी हुई है, तब तक उसे भगवान् की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः ब्रह्म प्राप्ति के लिए अहं का परित्याग और सदगुरु के उपदेश पर आचरण करना आवश्यक है। जिस प्रकार आंखों में पुतली है, उसी प्रकार भगवान् भी सबके हृदय में बसा हुआ है, किन्तु मनुष्य अज्ञानता के वशीभूत होकर तथा सांसारिक मोह-माया में लिप्त होने के कारण उसे नहीं पहिचान पाते और उसे प्राप्त करने के लिए उधर-उधर फटकते रहते रहते हैं।

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढै बन मांहि।
ऐसैं घटि घटि रांम है, दुनियां देखै नांहि ॥१॥

कैसी विडम्बना है कि मृग की नाभि में ही कस्तूरी का बास है किन्तु वह उसकी खोज में वन-वन भटकता है, ऐसे ही प्रभु का प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवास है, किन्तु कोई उसे देख नहीं पाता।

कोइ एक देखै संत जन, जांकै पांचूं हाथि।
जांकै पांचूं बस नहीं, ता हरि संग न साथि ॥२॥

शब्दार्थ—पाँचूँ=पाँचों इन्द्रियाँ।

उस घट-घट बासी को वह बिरला संत ही देख पाता है, जिसका पाँचों इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार हो। जिसका इन पाँचों इन्द्रियों पर अधिकार नहीं, वह प्रभु का साक्षात्कार नहीं कर पाता।

सो सांईं तन में बसैं, भ्रंम्यो न जांणैं तास।
कस्तूरी के मृग ज्यूं, फिरि फिरि सूंघै घास ॥३॥

शब्दार्थ—भ्रंम्यो=भ्रमवश। तास=उसको।

वह परब्रह्म परमेश्वर प्रत्येक के हृदय में स्थित है, किन्तु भ्रमवश कोई उसे पहचान नहीं पाता। जिस प्रकार कस्तूरी के नाभि में रहते हुए भी मृग घास को सूंघ-सूंघ कर उसे खोजता है, उसी भाँति मनुष्य अन्य सांसारिक विषयों में उसे खोजने का व्यर्थ प्रयास करता है।

कबीर खोजी रांम का, गया जु सिंघल दीप।
रांम तौ घट भीतरि रमि रह्या, जो आवै परतीत ॥४॥

शब्दार्थ—परतीत=विश्वास।

कबीर कहते हैं कि साधक प्रभु को खोजने के लिए सिंहलद्वीप गया किन्तु यदि विश्वास सहित देखा जाय तो प्रभु तो हृदय के भीतर ही रमा हुआ है।

विशेष—नाथ-पंथ में सिंहलद्वीप को सिद्धपीठ माना गया है, नाथ-पंथी योगी इसकी यात्रा को बड़ा महत्व देते थे।

घटि बधि कहीं न देखिये, ब्रह्म रह्या भरपूरि।
जिनि जांन्यां तिनि निकटि है, दूरि कहै ते दूरि ।।५।।

शब्दार्थ—घटि-बधि = घट बढ़कर, कम या अधिक।

ब्रह्म सर्वत्र समान रूप से परिव्याप्त है, वह कहीं कम या कहीं अधिक नहीं हैं। जो उसे जानते हैं उनके लिए वह निकट है, जो उसे दूर समझे बैठे हैं, उनके लिए वह दूर ही है।

मैं जांण्यां हरि दूरि हैं, हरि रह्या सकल भरपूरि।
आप पिछांणें बाहिरा, नेड़ा ही थैं दूरि ।।६।।

मैं प्रभु को बहुत दूर समझता था किन्तु वह सर्वत्र परिव्याप्त है। यदि आप उसे दूर खोजने लगोगे तो वह पास होता हुआ भी दूर ही हो जायगा।

तिणकैं औल्है रांम है, परवत मेरैं भांइ।
सतगुर मिलि परचा भया, तब हरि पाया घट मांहि ।।७।।

शब्दार्थ—औल्है = ओट में। परचा = परिचय।

रामरूपी महान् तत्व अहं के पर्वत की ओट में छिपा हुआ है। सद्गुरु के मिलने पर अहं के विनष्ट हो जाने पर प्रभु से साक्षात्कार हुआ और मैंने उन्हें अपने हृदय में ही पा लिया।

रांम नांम तिहूँ लोक मैं, सकल रह्या भरपूरि।
यहु चतुरांई जाहु जलि, खोजत डोलैं दूरि ।।८।।

शब्दार्थ—चतुराई = ज्ञान।

कबीर कहते हैं कि ऐसी चतुरता बुद्धिबल विनष्ट हो जाए जिसके कारण प्रभु को दूर खोजा जाता है। वह तो तीनों लोक—आकाश, पृथ्वी, पाताल में समान रूप से परिव्याप्त है।

ज्यूं नैनूं मैं पूतली, त्यूं खालिक घट मांहि।
मूरिख लोग न जांणही, बाहरि ढूंढण जांहि ।।९।।७६९।।

शब्दार्थ—खालिक = प्रभु।

जिस भांति नेत्रों के मध्य पुत्तलिका का वास है किन्तु हम बिना दर्पण (गुरु) के नहीं देख सकते उसी भांति प्रभु तो हृदय में ही स्थित है, मूर्ख लोग इस रहस्य को न जानकर अन्यत्र प्रभु की खोज में भटकते हैं।

५४. निंद्या कौ अंग

अंग-परिचय—किसी की निन्दा करना अच्छी बात नहीं है, क्योंकि पर-निन्दा साधना में बाधक होती है। प्रस्तुत अंग में इसी बात को समझाते हुए कबीरदास

कहते हैं कि जो मनुष्य अज्ञानी हैं, वे ही दूसरों की निन्दा किया करते हैं, किन्तु जो व्यक्ति राम की भक्ति में लीन होते हैं, उन्हें तो सिवाय भक्ति के और कोई बात अच्छी ही नहीं लगती। वे अहर्निश भगवान् की भक्ति में तल्लीन रहा करते हैं। यह व्यक्ति की दुर्बलता होती है कि दूसरों के दोषों को देखकर तो वह हँसता है, किन्तु अपने अपार दोषों की ओर कभी ध्यान भी नहीं देता। निन्दक को, जहाँ तक हो सके, अपने समीप रखना चाहिए, क्योंकि वह बिना पानी और साबुन के मन को शुद्ध बना देता है।

जो लोग साधुओं की निन्दा करते हैं, वे स्वयं संकट में पड़ते हैं और नरक के भागी बनते हैं। अच्छा तो यही है कि मनुष्य को किसी की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए, चाहे वह व्यक्ति कितना ही तुच्छ क्यों न हो, अन्यथा वह भी दुख का कारण बन जाता है। व्यक्ति को अपनी प्रशंसा भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह शरीर और सांसारिक वैभव तो नश्वर तथा क्षणभंगुर हैं। चाहे मनुष्य स्वयं धोखा खा जाये, पर उसे दूसरे व्यक्तियों को धोखा नहीं देना चाहिए। ऐसे ही व्यक्ति को ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

लोग बिचारा नींदई, जिनह न पाया ग्यांन।
रांम नाँव राता रहै, तिनहुँ न भावै आंन॥१॥

शब्दार्थ—नींदई=निन्दा करते हैं। राता=अनुरक्त रहना। आंन=अन्य।

जिन मनुष्यों को ज्ञान प्राप्ति नहीं हुई वे ज्ञानियों की निन्दा करते हैं किन्तु जो राम नाम में अनुरक्त रहते हैं उन्हें अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती।

दोख पराये देख करि, चल्या हसंत हसंत।
अपनैं च्यंति न आवई, जिनकी आदि न अंत॥२॥

शब्दार्थ—दोख=दोष। च्यंति=चित्त।

दूसरे के दोषों को देखकर मनुष्य उपहास करता है किन्तु अपने अवगुणों को जिनका कोई आदि और अन्त ही नहीं, कभी चित्त में भी नहीं लाता।

निंदक नेड़ा राखिये, आंगणि कुटी बंधाइ।
बिन साबण पाणी बिना, निरमल करै सुभाइ॥३॥

शब्दार्थ—निंदक=निन्दा करने वाला। नेड़ा=समीप। साबण=साबुन। सुभाइ=स्वभाव।

जो आपका निन्दक हो उसे अपने पास ही सुविधापूर्वक रखना चाहिए क्योंकि वह बिना पानी और साबुन के स्वभाव को शुद्ध कर देता है।

न्यंदक दूरि न कीजिये, दीजै आदर मांन।
निरमल तन मन सब करै, बकि बकि आँनहि आँन॥४॥

निन्दक को दूर मत कीजिए, उसे सम्मानपूर्वक पास ही रखना उचित है। क्योंकि वह हमारे दोषों का कथन कर उन्हें सुधारने का अवसर दे तन-मन को शुद्ध कर देता है।

जे को नींदै साध कूं, संकटि आवै सोइ।
नरक माँहि जाँमैं मरै, मुकति न कबहूँ होइ ॥५॥

शब्दार्थ—नींदे = निन्दा करता है। मुकति = मुक्ति।

जो साधु का निन्दा करता है उस पर स्वयं संकट टूटते हैं। यह नरकतुल्य इस संसार से मुक्त नहीं होता, जन्म और मृत्यु के आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है।

कबीर घास न नींदिये, जो पाऊं तलि होइ।
उड़ि पड़ै जब आंखि मैं, खरा दुहेला होइ ॥६॥

शब्दार्थ—पाऊं तलि = पैरों के नीचे। खरा = भारी। दुहेला = वेदना।

कबीर कहते हैं कि तुच्छ वस्तु को भी हीन समझकर उपेक्षा मत करो। पैरों से प्रति-पल रौंदी जाने वाली घास की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि जब उसी घास का क्षुद्र तृण उड़कर आँख में पड़ जाता है तो वेदना उत्पन्न कर देता है।

आपन यौं न सराहि, और न कहिये रंक।
नां जाँणौं किस ब्रिष तलि, कूड़ा होइ करंक ॥७॥

शब्दार्थ—रंक = क्षुद्र। ब्रिष = वृक्ष। करंक = शरीर।

कबीर कहते हैं कि दूसरे को क्षुद्र कहते हुए अपनी सराहना मत करो, क्योंकि यह पता नहीं कि यह अस्थिचर्ममय शरीर किस वृक्ष के नीचे ढेरी हो जाय, निष्प्राण हो जाय।

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोइ।
आप ठग्यां सुख ऊपजै और ठग्यां दुख होइ ॥८॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि स्वयं को ही धोखे में रखो, दूसरे को धोखे में मत डालो। अपने को धोखे में डालने से सुख की प्राप्ति होती है और दूसरों को ठगने से दुःख की।

अब कै जे सांईं मिलै, तो सब दुख आषौं रोइ।
चरनूं ऊपरि सीस धरि, कहूँ ज कहणां होइ ॥९॥७७८॥

शब्दार्थ—आषौं = कहना।

यदि अब की वार मुझे प्रभु मिल जायें तो अपनी सब व्यथा-कथा रो-रो कर उनसे कह दूं। उनके चरणों में शीश रख कर मन में जो भी कहने के लिए है सब कह डालूं।

५५. निगुणां कौ अंग

अंग-परिचय—जो व्यक्ति गुणहीन होते हैं, वे सदैव दुख के भागी बनते हैं और उन पर किसी की भली बातों का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जिस प्रकार सूखा हुआ वृक्ष वर्षा के प्रभाव से अप्रभावित ही रहता है। ऐसे व्यक्ति को सदुपदेश देना उसी

प्रकार व्यर्थ और निस्सार होता है, जिस प्रकार पत्थरों के ऊपर वर्षा होना। भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को विनीत और नम्र होना आवश्यक है। जिस प्रकार वर्षा का जल नीचे स्थान पर जाकर ही ठहरता है, उसी प्रकार प्रभु की कृपा उसी व्यक्ति पर होती है जो नम्र और विनीत होता है। जिस व्यक्ति में विवेक होता है वही शब्द की महिमा को समझकर संसार के विचारों से छुटकारा पा लेता है।

यह शरीर आत्मा के लिए एक विश्रामस्थल के समान है। इसमें आत्मा प्रवेश तो करती है विश्राम लेने के लिए, किन्तु यहाँ पर उसे और भी अनेक प्रकार की यातनाएं सहनी पड़ती हैं क्योंकि यह शरीर विषय और विकारों से भरा हुआ है। इस शरीर की जितनी अधिक चिन्ता की जाती है, उतना ही अधिक विकारग्रस्त होता चला जाता है, जिस प्रकार दूध पिलाने से सर्प का विष बढ़ता जाता है। चाहे व्यक्ति में जितने गुण हों, किन्तु यदि उसके मन में भगवान् के प्रति प्रेम नहीं है तो उसके सारे गुण इसी प्रकार व्यर्थ हैं जिस प्रकार खजूर के वृक्ष का सीधापन और ऊंचाई, क्योंकि उससे न तो पक्षियों को छाया मिलती है और न फल। अहं-भावना के कारण दूसरे के गुणों का तिरस्कार करना भी नाश का कारण होता है और दूसरों के गुणों को ग्रहण करने से उसमें सद्गुण हो जाते हैं, जिस प्रकार चन्दन के पास रहने से नीम का वृक्ष भी सुगन्धित और शीतल बन जाता है।

हरिया जांण रूंखड़ा, उस पांणीं का नेह।
सूका काठ न जांणई, कबहूँ बूठा मेह ॥१॥

शब्दार्थ—रूंषड़ा=वृक्ष। नेह=प्रेम। बूठा=पड़ा।

प्रभु-भक्ति से पल्लवित भक्त रूपी हरित वृक्षों को ही प्रभु के कृपा-वारि का ज्ञान होता है। प्रभु भक्ति से ही हीन शुष्क ठूंठ जैसे अन्य व्यक्तियों को भला क्या ज्ञात कि यह प्रभु-कृपा-वारि की वर्षा कब हुई।

झिरिमिरि झिरिमिरि बरषिया, पांहण ऊपरि मेह।
माटी गलि सैंजल भई, पांहण बोही तेह ॥२॥

शब्दार्थ—सैंजन=सजल। पांहण=पाषाण, पत्थर।

पत्थरों के ऊपर प्रभु-स्नेह वारि की वर्षा हुई, उसके साथ चिपकी हरिभक्त रूपी मिट्टी की आत्मा तो सजल—प्रभु-अनुकम्पा युक्त—हो गई, किन्तु वह पत्थर ज्यूं का त्यूं ही रहा।

पार ब्रह्म बूठा मोतियां, घड़ बाँधी सिषरांह।
सगुरां सगुरां चुणि लिया, चूक पड़ी निगुरांह ॥३॥

परम प्रभु ने अपनी कृपा के मोतियों की वर्षा की, साधकों में उनके बीनने के लिए होड़ लग गई। जो सद्गुरु के शिष्य थे उन्होंने तो मौक्तिक चुन लिये और जो सद्गुरुहीन थे, उनके हाथ कुछ न लगा।

कबीर हरि रस बरषिया, गिर डूंगर सिषरांह ।
नीर मिवांणा ठाहरैं, नां ऊंछा परड़ांह ॥४॥

शब्दार्थ—डूंगर=टीला । सिषरांह=चोटियों पर । मिवांणा=नीचे में । ऊंछा=ऊंचे पर ।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-अनुकम्पा वारि की वर्षा पर्वत, टीलों और ऊंची-ऊंची चोटियों (अहं से परिपूर्ण शुष्क, कठोर और दम्भयुक्त मनुष्यों) पर हुई, किन्तु वहां वह प्रभु-भक्ति का जल नहीं ठहरा । जल तो ऊंचे पर नहीं, निम्न स्थान में रुकता है ।

भाव यह है कि प्रभु की भक्ति और कृपा के अधिकारी विनम्र-हृदय भक्त ही हैं ।

कबीर मूंडत करमियां, लष सिष पाषर ज्यांह ।
वांहणहारा क्या करै, बांण न लागै त्यांह ॥५॥

कबीर कहते हैं कि जिन्होंने मूर्खता कृत्यों के आवरण से अपने अंग-प्रत्यंग को ढक रखा है, उन पर सद्गुरु के उपदेश बाण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसमें सद्गुरु का कोई दोष नहीं ।

कहत सुनत सब दिन गए, उरझि न सुरझ्या मन ।
कहि कबीर चेत्या नहीं, अजहूं सुपहला दिन ॥६॥

कबीर कहते हैं कि व्यथा-कथा कहते-कहते समस्त आयु व्यतीत हो गई फिर भी मन जो एक बार संसार-भ्रम में पड़ा था, पड़ा ही रहा, सुलझ नहीं पाया । आज ज्ञान-प्रकाश हो जाने पर भीं हे जीव ! तू सावधान नहीं होता, अज्ञानग्रस्त पड़ा है ।

कहै कबीर कठोर कै, सबद न लागै सार ।
सुध बुध कै हिरदै भिदै, उपजि बिवेक विचार ॥७॥

शब्दार्थ—भिदै=विंधना । बिवेक=ज्ञान ।

कबीर कहते हैं कि कठोर-हृदय मनुष्यों पर उपदेश-बाण की चोट नहीं लगती । ज्ञान-प्राप्त व्यक्तियों के मर्म को भेदकर ही उपदेश-बाण विवेक और विचार की उत्पत्ति करते हैं ।

मा सीतलता कै कारणैं, माग बिलंबे आइ ।
रोम रोम विष भरि रह्या, अमृत कहां समाइ ॥८॥

शब्दार्थ—बिलंबे=ठहरना ।

जिस भाँति बटोही मार्ग में विश्राम के लिए ठहर जाता है उसी भाँति आत्मा कहती है कि अनन्त यात्रा में थककर शीतलता की आश में मैं भी संसार में रुक गई किन्तु परिणाम उल्टा निकला । इस विश्राम स्थली संसार के कण-कण में विषय-वासना का विष भरा हुआ है भला इस में अमृतांश निर्मल आत्मा के लिए स्थान कहां ?

सरपहि दूध पिलाइये, दूधैं विष ह्वै जाइ।
ऐसा कोई नां मिलै, स्यूं सरपै विष खाइ ॥९॥

शब्दार्थ—सरपहि=सर्प को। स्यूं=जो।

सर्प को दूध पिलाने से दूध उसके मुख में जाकर विष ही बन जाता है। हमें कोई ऐसा साधक नहीं मिला जो विषयुक्त इस माया की सर्पिणी को खा जाता, नष्ट कर देता।

जलौं इहै बडपणां, सरलै पेड़ि खजूरि।
पंखी छांह न बीसवैं, फल लागैं ते दूरि ॥१०॥

शब्दार्थ—बड़पणां=बड़प्पन।

कबीर कहते हैं कि खजूर के सीधे ऊंचेपन का क्या लाभ है? पक्षी को तो दूर तक छाया तक नहीं मिलती और फल इतने ऊंचे पर लगता है कि उसका लाभ सब नहीं उठा सकते।

विशेष—इन दोहे का यह रूपान्तर भी मिलता है—

"बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं फल लागैं अति दूर॥"

ऊँचा कुल कै कारणैं, बंस बध्या अधिकार।
चंदन बास भेदैं नहीं, जाल्या सब परिवार ॥११॥

शब्दार्थ—वंस=बांस। जाल्या=जला दिया।

ऊंची जाति का होने के कारण बांस में अहम्मन्यता आ गई और अपने से छोटे चन्दन के सद्गुण—सुन्दर, शीतल, सुगन्ध—को वह नहीं अपना सका, इसीलिए वह अपने परिवार—समूह सहित नष्ट हो गया।

कबीर चंदन कै निड़ै, नींव कि चंदन होइ।
बूडा बंस बड़ाइतां, यौं जिनि बूड़ै कोइ ॥१२॥७९०॥

शब्दार्थ—निड़ै=पास होने पर। नींव=नीम। बंस=बाँस।

कबीर कहते हैं कि दूसरे के सद्गुण ग्रहण करने से बुरा व्यक्ति भी अच्छा हो सकता है, देखो चन्दन के पास रहने से नीम भी उसकी सुगन्ध ग्रहण कर चंदन जैसा ही बन जाता है किन्तु दूसरे के सद्गुण ग्रहण न करने पर जिस प्रकार बांस का परिवार सहित विनाश हुआ, ऐसी स्थिति किसी की न आवे।

भाव यह है कि सभी दूसरों के सद्गुण अपनाने की चेष्टा करें।

५६. बिनती कौ अंग

अंग-परिचय - इस अंग में प्रभु के प्रति विनय भाव की अभिव्यक्ति की गई है। प्रभु सर्वगुण-सम्पन्न और दुर्गुणों का नाश करने वाला है। ऐसे प्रभु के गुण अनंत हैं जिनका किसी प्रकार से भी वर्णन नहीं किया जा सकता। मनुष्य सांसारिक विकारों में फँसकर अपनी अमूल्य आयु को व्यर्थ में ही नष्ट कर देता है और प्रभु

का भजन नहीं करता। अन्त में उसे पछताना पड़ता है। प्रभु ही संसार का कल्याण करने में समर्थ है। व्यक्ति चाहे जितने धार्मिक कार्य करे, किन्तु यदि उसका प्रभु से अनुराग नहीं है तो चाहे वह हज की यात्रा करे, चाहे काशी यात्रा करे, उसका कोई लाभ नहीं हो सकता। साधक का चरम लक्ष्य यही होना चाहिए कि वह अपने मन को आराध्य से मिलाकर एकाकार हो जाये।

कबीर सांईं तौ मिलहिंगे, पूछिहिंगे कुसलात।
आदि अंति की कहूँगा, उस अंतर की बात ॥१॥

शब्दार्थ—अंतर=हृदय।

कबीर कहते हैं कि स्वामी मिलेंगे तो अवश्य ही इस मिलन-वेला में कुशलता पूछे जाने पर मैं अपने हृदय की व्यथा-कथा आदि से अन्त तक कहूंगा।

कबीर भूलि बिगाड़िया, तू नां करि मैला चित।
साहिब गरबा लोड़िये, नफर बिगाड़ै नित ॥२॥

शब्दार्थ—गरबा=घमंड। लोड़िये=त्यागना।

कबीर कहते हैं कि तूने प्रभु को विस्मृत कर अपनी स्थिति को बिगाड़ लिया, किन्तु फिर भी चित्त मलीन मत होने दे। प्रभु-भक्ति से अब भी तेरा उद्धार हो सकता है, यदि तू गर्व का परित्याग कर दे। यह दम्भ नित्य-प्रति हमारी स्थिति को बिगाड़ता है।

करता केरे बहुत गुंण, औगुंण कोइ नांहि।
जो दिल खोजौं आपणौं, तब सब औगुण मुझ मांहि ॥३॥

स्वामी में तो अनन्त गुण ही हैं, अवगुण तो उसमें कोई भी नहीं है। हे मनुष्य! यदि तू आत्मदर्शन करे तो तू ही समस्त अवगुणों का केन्द्र है।

ओसर बीता अलपतन पीय रह्या परदेस।
कलंक उतारौ केसया, भांनौं भरंम अंदेश ॥४॥

शब्दार्थ—अलपतन=अज्ञान में। भांनौं=नष्ट करूँ।

मेरी समस्त आयु अज्ञान में ही व्यतीत हो गई और प्रिय मुझसे दूर रहा। अब मैं अपने हृदय से भ्रम और शंका को समाप्त कर अज्ञानी होने के कलंक को मिटा प्रभु-दास होना चाहता हूं।

कबीर करत है वीनती, भौसागर के तांईं।
बंदे ऊपरि जोर होत है, जंम कूं बरजि गुसांईं ॥५॥

शब्दार्थ—तांईं=लिए, हित। बन्दे=दास। जोर=अत्याचार। बरजि=वर्जित कर।

संसार के सागर तुल्य अपार जनसमूह के लिए कबीर प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु! मनुष्यों पर काल अत्याचार कर रहा है आप इसे रोक दीजिए।

हज काबै ह्वै ह्वै गया, केती बार कबीर।
मीरा मुझ मैं क्या खता, मुखां न बोलै पीर ॥६॥

शब्दार्थ—मीरा=गुरुवर। खता=दोष।

कबीर न जाने कितनी बार कावा और हज कर आया किन्तु मुझे पता नहीं कि गुरुवर मुझ से क्यों रुष्ट हैं, बोलते तक नहीं।

भाव यह है कि व्यर्थाडम्बरों में लिप्त रहने पर गुरु भी शिष्य को नहीं अपनाता।

क्यूं मन मेरा तुझ सौं, यौं जे तेरा होइ।
ताता लोहा यौं मिलै, संधि न लखई कोइ ॥७॥७६७॥

शब्दार्थ—ताता=गर्म। संधि=जोड़।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! मेरा आपसे अपार प्रेम है, मेरी इच्छा है कि हम दोनों इस प्रेम में एकमेल हो जायं जिससे कोई दोनों के अन्तर को उसी प्रकार न जान सके जिस प्रकार गरम करके लोहे से लोहा मिला देने पर दोनों की सन्धियों का पता नहीं चलता।

५७. साषीभूत कौ अंग

अंग-परिचय—भगवान संसार के कण-कण में व्याप्त होकर भी संसार के विषय-विकारों से असम्पृक्त रहता है। यही असम्पृक्तता जब साधक के मन में आ जाती है तो वह मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। इस अधिकार को प्राप्त करके भी जो सुख प्राप्त होता है, वह अद्वितीय एवं अलौकिक होता है। मन साधना में सबसे अधिक बाधक होता हैं। यदि व्यक्ति अपने मन को विषय-विकारों से ग्रस्त रखेगा तो उसका अवश्य पतन होगा, और अपने इस पतन के लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी होगा।

कबीर पूछै रांम कूं, सकल भवनपति-राइ।
सबही करि अलगा रहौं, सो बिधि हमहि बताइ ॥१॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर समस्त भुवन-पति (१४ भुवन) प्रभु से पूछता है कि हे प्रभु! आप सब भुवनों की व्यवस्था कर उनमें रमे हुए भी उनके प्रभाव से जिस प्रकार असम्पृक्त रहते हो, वह ढंग मुझे भी बता दो।

जिहि बरियां सांई मिलै, तास न जांणै और।
सबकूं सुख दे सबद करि, अपणीं अपणीं ठौर ॥२॥

शब्दार्थ—जिहि बरियां=जिस क्षण।

जिस क्षण मुझे प्रभु प्राप्ति हो जाय उस समय के समान महत्वमय अन्य समय को मत समझ। सबको यथास्थान अपने उपदेश से सुख पहुंचा।

कबीर मन का बहुला, ऊंडा बहै असोस ।
देखत हीं दह मैं पड़ें, दई किसा कौं दोस ॥३॥८००॥

शब्दार्थ—वाहुला=नाला, गढ़ा ।

कबीर कहते हैं कि यह मन रूपी नाला वड़ा गँदला और गहरा है । यह जानते हुए भी यदि कोई इसमें गिर पड़े तो फिर किसे दोष दिया जा सकता है ? अर्थात् गिरने वाला ही स्वयं दोषी है ।

५८. बेली कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में वेल के माध्यम से कवीर ने सांसारिक विकारों का वर्णन किया है । वे कहते हैं कि जलाने के लिए जो लकड़ी लाई गई थी, वह पुनः पल्लवित होने लगी; अर्थात् जिस मन को संयम के द्वारा नियन्त्रित किया गया था, वह पुनः विकारों की ओर अग्रसर हो गया । माया-रूपी वेल को यदि आगे-आगे से जलाया जाये तो पीछे-पीछे पल्लवित होती रहती है; अर्थात् यदि माया का सम्पूर्ण विनाश न किया जाये तो वह पुनः उभर आती है । इसको तो समूल नष्ट करने पर ही ईश्वर की प्राप्ति होती है । यह माया की वेल समूचे संसार में फैली हुई है । यह जितनी कड़वी है, इसका फल भी उतना ही कड़वा होता है । अतः साधक को चाहिए कि वह माया की वेल का समूल नाश कर दे । तभी उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो सकेगी ।

अब तौ ऐसी ह्वै पड़ी, नां तूबड़ी न बेलि ।
जालण आंणीं लाकड़ी, ऊठी कूंपल मेल्हि ॥१॥

शब्दार्थ—तूवड़ी=तूम्बा । जालए=जलाने के लिए। कूंपल=कोमल ।

कवीर कहते हैं कि जलाने के लिए जो लकड़ी लाई गई थी वह पुनः पल्लवित होने लगी, अर्थात् जिस मन को संयम से मारा था, वह पुनः विषयों में प्रवृत्त होने लगा । इस अवस्था में इस संसार सागर के पार जाने के लिए न वेल हैं न तुम्बा—कोई सम्वल नहीं ।

विशेष—तैरने के लिये तूम्वे आदि का सहारा लिया जाता है ।

आगैं आगैं दौं जलै पीछैं हरिया होइ ।
बलिहारी ता विरष की, जड़ काट्या फल होइ ॥२॥

शब्दार्थ—दौं=दावाग्नि । हरिया=हरित, पल्लवित ।

माया रूपी वेल को आगे-आगे से यदि जलाया जाय तो यह पीछे ही पीछे, तत्क्षण, पल्लवित होती जाती हैं । कवीर कहते हैं कि मैं उस वृक्ष की वलिहारी जाता हूँ जिसकी जड़ काटने से, माया को समूल नष्ट करने से [illegible] (ईश्वर) प्राप्ति होती है ।

जे काटौं तौ डहडही, सींचौं तौ कुमिलाइ ।
इस गुणवंती बेलि का, कुछ गुण कह्या न जाइ ॥३॥

शब्दार्थ—डहडही=हरी होना ।

कबीर कहते हैं कि इस त्रिगुण—प्राकृत माया-बेलि की दशा का क्या वर्णन किया जाय ? यदि इसे इन्द्रियों के कुल्हाड़े से काटा जाय, भंग किया जाय तो यह और अधिक बढ़ती है और यदि इसे प्रभु-भक्ति के जल से सिंचित किया जाय तो कुम्हला जाती है।

विशेष—विरोधाभास अलंकार।

आंगणि बेलि अकासि फल, अण ब्यावर का दूध।
ससा सींग की धूनहड़ी, रमैं बांझ का पूत ॥४॥

शब्दार्थ—आंगणि=आंगन। अण ब्यावर=विना ब्याई हुई। ससा=खरगोश। धूनहड़ी=शृंगी।

यह माया रूपी वेल संसार के सहन में फैली हुई है और इसे काट देने पर शून्य प्रदेश में निर्मल फल—परम-प्रभु की प्राप्ति होती है। सामान्य जनों को यह बात ऐसी ही विचित्र लगती होगी जैसे अनब्याई गाय का दूध अथवा खरगोश के सींग की शृंगी की बात कहना अथवा यह कहना कि बन्ध्या का पुत्र क्रीड़ा कर रहा है।

कबीर कड़ई बेलड़ी, कड़वा हीं फल होइ।
सांध नांव तब पाइये, जे बेलि बछोहा होइ ॥५॥

कबीर कहते हैं कि इस माया रूपी कड़वी वेल का फल भी ऐसा ही कड़वा होता है। वही प्रभु की खोज कर सकता है जो इस वेल से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर दे।

सींध भइ तब का भया, चहुँ दिसि फूटी बास।
अजहूँ बीज अंकूर है, भी ऊगण की आस ॥६॥८०६॥

शब्दार्थ—सींध = सिद्ध, साधक। वास=प्रसिद्धि। ऊगण=उगने।

यदि कोई माया से सम्बन्ध विच्छेद कर साधक वन गया और उसकी प्रसिद्धि हो गई तो क्या हुआ, इसका विशेष महत्व नहीं। आज भी इस माया-वेलि का बीज शेष है, वह कभी भी पुनः अंकुरित हो सकता है, अतः हे साधक ! तू सावधान रह।

५६. अबिहड़ कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में कबीर ने बताया है कि मैंने उस परम ब्रह्म को अपना साथी बना लिया है जो सुख-दुख के भावों से परे है और जिसके अतिरिक्त मेरा और कोई सच्चा हितैषी नहीं है, जो हर अवस्था में मेरा साथ देता है। ऐसे असीम प्रभु का मैं कभी भी साथ नहीं छोड़ूंगा।

भाव यह है कि इस संसार में ईश्वर ही सच्चा साथी है और उसके प्रति अनुराग बनाये रखने में ही मनुष्य का वास्तविक हित है।

कबीर साथी सो किया, जाकै सुख दुख नहिं कोइ।
हिलि मिलि ह्वै करि खेलिस्यू, कदे बिछोह न होइ ॥१॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर ने उस परब्रह्म को अपना साथी बनाया है जिसे कभी भी सुख-दुख नहीं व्यापता। मैं उससे बड़े प्रेमभाव से क्रीड़ा करता हूँ, उस प्रभु से मेरा कभी भी वियोग नहीं हो सकता।

कबीर सिरजनहार बित, मेरा हितू न कोइ।
गुण औगुण बिहड़ै नहीं, स्वारथ बंधी लोइ ॥२॥

शब्दार्थ—सिरजनहार=स्रष्टा, प्रभु। हितू=हितैषी। बिहड़ै=छोड़ना। लोइ=लोग।

कबीर कहते हैं कि स्रष्टा प्रभु के अतिरिक्त मेरा हितैषी अन्य कोई नहीं है। अन्य सांसारिक प्रियजन स्वार्थ के कारण मेरा ध्यान रखते हैं किन्तु वह परम प्रभु मुझे गुणयुक्त अथवा गुणहीन किसी भी दशा में नहीं छोड़ेगा। अतः वही मेरा सच्चा हितैषी है।

आदि मधि अरु अंत लौं, अबिहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करता की, सेवग तजै न संग ॥३॥७०९॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि आदि, मध्य एवं अन्त किसी भी अवस्था में जिसका साथ नहीं छूटता, मैं उस प्रभु की सेवा और संसर्ग को कभी भी नहीं छोड़ूंगा।

पदावली-भाग

पदावली-परिचय—कबीर पदावली में कबीर के विभिन्न दृष्टिकोणों को बड़े ही सुन्दर पदों में संकलित किया गया है। इसकी सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि कबीर ने आत्मा के ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु के प्रति श्रद्धा को आवश्यक बताया है। क्योंकि हमारे प्राचीन शास्त्रों में लिखा है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' अर्थात् गुरु के प्रति श्रद्धावान् होने से ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।

पदावली में सर्वप्रथम कबीर के माया सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। उनका माया-सम्बन्धी दृष्टिकोण बड़ा ही रहस्यपूर्ण, गम्भीर एवं व्यापक है, उनके मतानुसार यह सारा संसार ही माया रूप है, जिसकी अद्भुत छटा में मानव लिप्त होकर भटकते रहते हैं। कबीर ने पदावली में माया को महाठगिनी कहा हैं। जो कि त्रिगुण फाँस लेकर सांसारिक प्राणियों को अपने चक्र में फँसाती रहती है। दूसरी ओर मनुष्य का सबसे बड़ा स्वार्थ मोक्ष है। परन्तु माया मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। सबसे बड़ी खाई है, जिसको कूदना मनुष्य के लिए असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इस रहस्य का उद्घाटन 'पदावली' के विभिन्न पदों में किया गया हैं। इस सांसारिक माया के सम्बन्ध में पदावली में लिखा है—

"माया महाठगिनि हम जानी।

× × ×

कहत कबीर सुनो भाई साधो ! यह सब अकथ कहानी।"

परन्तु इस माया के अन्धकारमय पर्दे को किस प्रकार हटाया जा सकता है ? इस प्रश्न पर भी पदावली में कई पदों में विचार किया गया है। इस महाठगिनी माया से बचने के लिए पदावली में दो बातों की ओर संकेत किया गया है। प्रथम तो गुरु के प्रति हृदय में श्रद्धा होनी चाहिए और दूसरे आत्मज्ञान की उत्पत्ति। इन दोनों के सामंजस्यपूर्ण साधन से माया रूपी पर्दा हटाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में पदावली में एक पद इस प्रकार लिखा गया है—

"घूँघट के पट खोल रे तोय पिया मिलेंगे।"

अर्थात् हृदय रूपी अन्धकारमय पर्दे को ज्ञान के द्वारा हटाया जा सकता है और उस आत्मज्ञान का प्रकाश गुरु कृपा से ही हो सकता हैं। क्योंकि वह परमात्मा प्राणियों के हृदय में पुष्पों में सुगन्ध की भाँति समाया हुआ है। अतः उस ज्ञान का आभास गुरु के द्वारा प्रतिपादित मार्ग का अनुसरण करने से ही हो सकता है। इसलिए 'पदावली' में गुरु को गोविंद से भी बड़ा बताया है। गुरु एक प्रकार से

परमात्मा की ओर ले जाने वाला मार्ग है । अतः यदि हम अपने जीवन में सफलता की प्राप्ति चाहते हैं, तो निस्सन्देह ही हमें गुरु के चरणों की सेवा करनी पड़ेगी। ज्ञान की आँधी आने से माया रूपी टाँटी उड़ जाती है। हृदय में अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। उसी आनन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' भी कहा गया है। पदावली के पदों में इस भावना तथा दार्शनिक विचार की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है।

'पदावली' में 'ब्रह्म' सम्बन्धी विचारों को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। 'ब्रह्म' क्या है और इसका स्वरूप क्या है ? इस विषय में भी 'पदावली' में अनेक पदों का संग्रह हुआ है। कबीर की ब्रह्मसम्बन्धी विचारधारा उपनिषद के दार्शनिक विचारों पर आधारित है। उपनिषदों में स्पष्ट लिखा है—'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' एवं 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या'। परन्तु कबीर ने पदावली में ब्रह्म के स्वरूप को उपनिषद् से भी अधिक व्यापक तथा स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। अखिल-विश्व ही ब्रह्म का स्वरूप है और ब्रह्म से ही इस संसार की सृष्टि हुई है। 'पदावली' में व्यक्त 'ब्रह्म' कोई भौतिक 'ब्रह्म' नहीं है। कबीर का ब्रह्म दाशरथी राम नहीं है, अपितु वह तो तीनों लोकों में व्याप्त रहने वाला ब्रह्म है। उस ब्रह्म से ही इस मायारूपी संसार की सृष्टि हुई है। पदावली में इस बात पर बड़ा ही महत्व दिया गया है। उसमें कहा गया है कि ब्रह्म ही जगत् में एकमात्र सत्ता है। ब्रह्म ही से सब की उत्पत्ति हुई है और फिर सब उसी में मिल जाते हैं । इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'पदावली' की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यहु तत कथौ गियानी॥"

अतः ब्रह्म के इस रहस्य को समझने के लिए मानव को सांसारिक ममता का त्यागन करना पड़ता है।

अर्थात् 'अहंभाव' के स्थान पर हृदय में हरि का ध्यान करना पड़ता है ।

इसके अतिरिक्त परमात्मा की भक्ति का सम्बन्ध मन से है, मन की भक्ति शरीर को अपने अनुकूल बना लेती है। इसलिए 'पदावली' में कर का मनका छाँडि के मन का मनका फेर' का उपदेश दिया गया है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्म का स्वरूप ज्ञानमार्गी होने के कारण शुष्कतापूर्ण हो जाता है। अत: कबीर ने अपने पदों में निराकार सम्बन्धी शुष्क चिंतन के साथ प्रेम-पूर्ण चिंतन को भी मिलाया। इस भौतिक जगत् में ब्रह्म की व्यापकता उसके प्राणियों से प्रेममय सम्बन्ध स्थापित करने से ही जानी जा सकती है। 'पदावली' में विभिन्न पदों में कबीर के इस प्रेममयी—विचारों को कई पदों में व्यक्त किया गया है। प्रेम रूपी मदिरा को मनुष्य यदि एक बार भी पी लेता है, तो जीवन पर्यन्त उसका नशा नहीं उतरता। वह उसी प्रेम के नशे में अपनी सुध-बुध भूलकर परमार्थी भी हो जाता है और सभी में उस महान् प्रेम के प्रकाश को देखता है। इसलिए तो उन्होंने

लिखा है—

"लाली मेरे लाल की, जित देखो तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ।।"

आँग्ल कवि कालरिज की भाँति कबीर पदावली में प्रेम को भगवान् के रूप में ही व्यक्त किया गया है।

'पदावली' में कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार 'ब्रह्म' को 'निराकार' ही नहीं अपितु साकार रूप में भी ग्रहण किया गया है। कबीर 'पदावली' में उन पदों में ब्रह्म को उन स्थानों पर प्रेम रूप माना है जहां ज्ञान के साथ प्रेम की भी व्याख्या की गई है।

'पदावली' वास्तव में भक्ति और ज्ञान का आगार है। क्योंकि उसमें ज्ञान तथा भक्ति का बड़ा ही सुन्दर समन्वयवादी रूप प्रस्तुत हुआ है।

'पदावली' के विभिन्न पदों में तत्कालीन समाज की विषमताओं का भी बड़ा ही तथ्यपूर्ण चित्र उपस्थित किया है। इसका कारण यह है कि कबीर ने अपने समय में प्रचलित सामाजिक रूढ़ियों, कुप्रथाओं, धार्मिक – आडम्बरमय वातों आदि को दूर करने का यथाशक्ति प्रयास किया। अतः इस प्रयास का जैसा का तैसा चित्र अनेक पदों में उपस्थित हुआ है। इस दृष्टि से कबीर पदावली सामाजिक सुधार के अनेक प्रयत्नों का भी प्रतीक है। कबीर ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों जातियों में से इस प्रकार की असभ्य तथा भेदभावपूर्ण बातों को निकालने की चेष्टा की। दोनों में एकता लाने की कोशिश की गई। अतः 'पदावली' में संकलित वे पद, जिनमें कि समाज-सम्वन्धी विषमताओं के निवारण का विवेचन किया है, आधुनिक युग के लिए भी बड़ा ही उपयोगी सिद्ध होगा। 'पदावली' में हिन्दू समाज में मूर्तिपूजन तथा मुसलमानों में चिल्ला-चिल्लाकर नमाज पढ़ने आदि आडम्बरी बातों का विरोध किया और इन दोनों जातियों में पारस्परिक भेदभाव को मिटाकर तथा भटके हुए मार्ग से हटाकर सही मार्ग पर लाने के साधनों पर भी प्रकाश डाला गया है। कबीर को ऐसे पदों के आधार पर ही एक श्रेष्ठ समाज सुधारक भी कहा जाता है।

'पदावली' में कबीर की रहस्यवादी भावनाओं को भी भली-भाँति स्पष्ट किया गया है। इस रहस्यवाद के अन्तर्गत एक अज्ञात शक्ति काम करती है, जो कि विश्व का संचालन करती है। उपनिषद् में यही अज्ञात शक्ति 'अद्वैतवाद' के रूप में मिलती है। परन्तु वह शक्ति इस प्रकार दिखाई नहीं देती, जिस प्रकार जगत् के अन्य दृश्य रूप। 'पदावली' में परमात्मा के प्रेम तथा उसकी अनुभूति को गूँगे का सा गुड़ कहा है—

"अकथ कहानी प्रेम की, कछू कही न जाइ।
गूँगे केरी सरकरा, खाय और मुसकाय ।।"

यही रहस्यवाद का मूल है। वेद तथा उपनिषदों में रहस्य वाद इसी रूप में मिलता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण के मुँह से उनकी विभूति का जो वर्णन किया

गया है, वह भी अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। इस दृष्टि से 'पदावली' दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन करने वाला एक बहुत ही उच्चकोटि का ग्रंथ है। 'रहस्यवाद' की जितनी गम्भीर विवेचना पदावली में की गई है, सम्भवतः अन्यत्र नहीं। परमात्मा को पिता, माता, पुत्र अथवा सखा के रूप में देखना ही रहस्यवाद है। पदावली में सर्वात्मवाद मूलक रहस्यवाद की ओर भी निर्देश किया गया है, जो 'माधुर्यभाव' से परिपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त परमात्मा के वियोग से जनित सारी सृष्टि का दुःख कितना अधिक कबीर के हृदय में समाया हुआ है। 'पदावली' में राम की वियोगिन की यह आकुलता निम्न पंक्तियों में व्यक्त की गई है—

"वै दिन कब आवैंगे भाइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिवौ अंग लगाइ॥"

चिर प्रतीक्षा के पश्चात् जब जीव रूपी दुलहिन अपने प्रिय परमात्मा रूपी पिया से मिलती है, तो उसे 'अलौकिक-आनन्द की प्राप्ति होती है। 'पदावली' के एक पद में इस 'आनन्द' को कितने सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है—

"दुलहिन गाओ मंगलचार।
हमारे घर आये राजाराम अवतार॥"

साहित्य में 'रहस्यवाद' की अभिव्यक्ति की यह उच्चतम स्थिति है। इस प्रकार 'पदावली' में हमें आत्मोद्धार; जगत् की अन्य सृष्टियों से प्रेम स्थापित करने की प्रेरणा मिलती है। वस्तुतः इस पुस्तक में शुद्ध-रहस्यवाद मिलता है। इसी के कारण कबीर को भी डॉ० श्याम सुन्दर जैसे मर्मज्ञ विद्वानों ने 'शुद्ध-रहस्यवादी' कहा और उनके रहस्यवाद को सबसे ऊँचा बताया है।

'पदावली' में कबीर के जिन पदों, साखी शब्द, आदि का संग्रह हुआ है, वह सब शुद्ध कविता के सभी गुणों से सम्पन्न है। कबीर अनपढ़ थे। इसलिए उनसे इतनी उच्चकोटि की कविता करना आशातीत बात है। परन्तु जहाँ-जहाँ कबीर की आत्मा-प्रेमानुभूतियों से तड़प उठी है और उस तड़पन से जो शब्द कबीर की वाणी से निकले उनमें उच्च कोटि का काव्यत्व मिलता है। 'पदावली' के अनेक पद इस का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आलोचकों का मत है कि कविता करना कबीर का लक्ष्य नहीं था। लक्ष्य तो उनका और ही कुछ था फिर भी उनकी पदावली में काव्यत्व की सुन्दरतम तथा श्रेष्ठतम चीज मिलती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कबीर ने कविता के लिए कविता नहीं की, उनकी विचारधारा सत्य की खोज में बही और उसी का प्रकाश करना उसका ध्येय है। शब्दों की तोड़-मरोड़ से चमत्कार लाने की प्रवृति से वे दूर थे। दूर की सूझ जिस अर्थ में केशव, विहारी, आदि कवियों में मिलती है, उस अर्थ में कबीर की पदावली में पाना असम्भव है। 'पदावली' में 'रहस्यवादी' कविता बहुत उच्चकोटि की कविता है। इन रहस्यमय उक्तियों में अलंकार जैसे उपमा, रूपक, अन्योक्ति, प्रतीक तथा छन्द आदि का सुष्ठु प्रयोग हुआ है।

'पदावली' में प्रयुक्त भाषा के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर की

भापा में पूर्वी, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी, फारसी आदि अनेक भाषाओं का पुट था। इसलिए 'पदावली' की भाषा को हम सधुक्कड़ी भाषा कह सकेंगे। इनकी भाषा पंचमेल-खिचड़ी होते हुए भी बड़ी रसपूर्ण तथा मधुर है। इसका प्रमाण पदावली के पदों की भाषा की संगीतात्मकता, माधुर्यता, प्रवाहमयता आदि बातें हैं।

हिन्दी-साहित्य में 'कबीर की पदावली' का महत्वपूर्ण स्थान है। मुक्तक काव्य की दृष्टि से 'पदावली' अपनी जगह अद्वितीय है और भावी कवियों के लिए एक पथ-प्रदर्शिका के रूप में विद्यमान है। रहस्यवादी क्षेत्र में तो पदावली में प्रयुक्त रहस्यपूर्ण उक्तियाँ सबसे ऊँची हैं। यदि आध्यात्मिकता को भौतिकता से श्रेष्ठ माना जाय तो 'पदावली' को श्रेष्ठतम पुस्तक माना जा सकता है। हिन्दी-साहित्य में प्रभाव की दृष्टि से तुलसी की रचनाओं के बाद कबीर की पदावली का ही नाम आता है, क्योंकि तुलसी को छोड़कर हिन्दी-भाषी जनता पर कबीर से बढ़कर अन्य किसी कवि का प्रभाव नहीं पड़ा।

राग गौड़ी

दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा रांम भरतार ॥टेक॥
तन रत करि मैं मन रत करि, पंचतत बराती।
रांमदेव मोरै पांहुनैं आये, मैं जोबन मैं माती॥
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा बेद उचार।
रांमदेव संगि भांवरि लैहूँ, धंनि धंनि भाग हमार॥
सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी।
कहैं कबीर हंम ब्याहि चले, पुरिष एक अविनासी॥१॥

शब्दार्थ—दुलहनीं=सौभाग्यवती नारियो। मंगलेचार=संस्कार के मंगलमय गीत। भरतार=पति। रत=अनुरक्त। पंचतत=क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर। पाहुनै=अतिथि। भांवरि=विवाह-परिक्रमाएँ। धंनि-धंनि=धन्य-धन्य। कौतिग=कोटिक, करोड़। मुनियर=मुनिवर।

कबीर यहाँ परमपुरुष से अपने आध्यात्मिक मिलन का वर्णन विवाह के रूपक द्वारा करते हुए कहते हैं कि हे सौभाग्यवती नारियो! तुम विवाह के मंगल गीत गाओ; आज मेरे घर पर स्वामी राम—परमप्रभु आये हैं। मेरी आत्मा प्रभु-भक्ति में परिपक्व (जोवन में माती) है। स्वयं प्रभु मेरे द्वार पर अतिथि बनकर आये हैं। मैं उनका स्वागत पति रूप में ही वरण कर करूँगी। मैं अपने शरीर और मन को उनके प्रेम में रंग, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश को बराती बनाकर अर्थात् उनको साक्षी बना शरीर रूपी कुण्ड की वेदी पर प्रभु के साथ विवाह-सम्बन्ध में बँध जाऊँगी। इस विवाह के संस्कार पर स्वयं ब्रह्मा वेद-मंत्रों का उच्चारण करेंगे। अब आगे कबीर ऐसा वर्णन करते हैं कि विवाह हो चुका है, वे कहते हैं कि इस प्रेम से

प्रेमिका (आत्मा) के इस महामिलन को देखने के लिए तेंतीस करोड़ देवता एवं अट्ठासी सहस्र मुनिवर आये थे। कबीर कहते हैं कि इस प्रकार अविनाशी परम पुरुष से विवाह-सूत्र (अटूट प्रेम सम्बन्ध) जोड़कर इस संसार से जा रहे हैं।

विशेष—कबीर यहाँ अपनी विचारधारा के प्रतिकूल तेंतीस करोड़ देवता एवं अट्ठासी सहस्र मुनियों तथा ब्रह्मा आदि का उल्लेख करते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि कबीर बहुदेववाद अथवा अन्धविश्वास से अन्य देवी-देवताओं को मानते थे। इन सबका उल्लेख केवल यहाँ उस परम-मिलन की अद्भुतता दिखाने के लिए ही किया है। इससे अन्यथा अर्थ निकालना कबीर के साथ अन्याय होगा।

बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये,
भाग बड़े घरि बैठें आये ।।टेक।।
मंगलचार मांहि मन राखौं, राम रसांइण रसनां चावौं ।।
मंदिर मांहि भया उजियारा, ले सूती अपनां पीव पियारा ।।
मैं रनि रासी जे निधि पाई, हमहिं कहा यहु तुमहि बड़ाई ।।
कहै कबीर मैं कछू न कीन्हां, सखी सुहाग रांम मोहि दीन्हां ।।२।।

शब्दार्थ—थे=मैं (बहुत दिनों में) । रसाँयण=रसायन । मंदिर=हृदय, मंदिर। सूती=सती।

कबीर परमात्मा के साथ अपने महामिलन का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मैंने बहुत दिनों में अपने स्वामी के दर्शन किये हैं (जब से आत्मा परमात्मा से बिछुड़ी है, तभी से उसे परम तत्व के दर्शन नहीं हुए) यह मेरा परम सौभाग्य है कि मैंने इस संसार में ही उनको प्राप्त कर लिया। हे सखियो ! (दूसरी आत्माओं) तुम अपना मन प्रभु-अर्चना में गाये मंगल गीतों में ही लगाओ एवं जिह्वा से राम नाम के अमूल्य रसायन का रसास्वादन करो। प्रभु आगमन से मेरे हृदय मन्दिर में प्रकाश हो उठा। (ज्ञानवर्तिका प्रदीप्त हो उठी)। हे सती आत्मा ! तू अपने प्रियतम से भेंट कर। मैंने यह अमूल्य और सुन्दर निधि जो प्राप्त की यह प्रभु की ही अनुकम्पा है। कबीर कहते हैं कि हे सखी ! मैंने कुछ भी विशेष महत्व का कार्य नहीं किया किन्तु यह प्रभु की कृपा है कि उन्होंने मेरी आत्मा को अपनाया।

अब तोहि जांन न देहूँ राम पियारे,
ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे ।।टेक।।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठें आये ।।
चरननि लागि करौं बरिआई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ।।
इत मन मंदिर रहौ नित चौषै, कहै कबीर परहु मति धोषै ।।३।।

शब्दार्थ—वरिआई=सेवा। धोषै=धोखा। चोषै=भली प्रकार।

कबीर आत्मा के द्वारा कहलवाते हैं कि हे प्रियतम राम ! अब मैं तुम्हें अलग न होने दूंगी। जिस प्रकार भी आप मेरे पास रह सकते हैं, वैसे ही रहिये ! मैंने बहुत दिनों से बिछुड़े स्वामी को प्राप्त किया है और वे घर बैठे ही प्राप्त हो गये हैं।

यह मेरा परम सौभाग्य है। मैं उन्हें प्रेम-बन्धन में बाँध उनके चरणों में रहकर सेवा करूँगी। हे स्वामी! आप मेरे मन मन्दिर में नित्य भली प्रकार (सम्पूर्ण सुविधाओं सहित) रहो। आप अन्यत्र जाकर झंझटे में मत पड़िये; अर्थात् मेरे जैसा सच्चा प्रेम अन्यत्र दुर्लभ होगा।

मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागौ तोहिं रे।
चरन कंवल मन मांनियां, और न भावै मोहि रे ॥टेक॥
षट दल कंवल निवासिया, चहु कौं फेरि मिलाइ रे॥
दहूँ कै बीचि समाधियां, तहां काल न पासै आइ रे॥
अष्ट कंवल दल भीतरां, तहां श्रीरंग केलि कराइ रे।
सतगुर मिलै तौ पाइये, नहीं जन्म अक्यारथ जाइ रे॥
कदली कुसुम दल भीतरां, तहाँ दस आंगुल का बीच रे।
तहाँ दुवादस खोजि ले, जनम होत नहीं मींच रे॥
बंक नालि के अंतरै, पछिम दिशा की बाट रे।
नीझर झरै रस पीजिये, तहां भंवर गुफा के घाट रे॥
त्रिवेणी मनाह न्हवाइए, सुरति मिलै जौ हाथि रे।
तहाँ न फिरि मघ जोइये, सनकादिक मिलिहैं साथि रे॥
घघन गरजि मघ जोइये, तहाँ दीसै तार अनंत रे।
बिजुरी चमकि घन वरषिहैं, तरां भीजत हैं सब संत रे॥
षोडस कंवल जब चेतिया, तब मिलि गए श्री बनवारि रे।
जुरामरण भ्रम भाजिया, पुनरपि जनम निवारि रे॥
गुर गमि तैं पाईये, झंषि मरै जिनि कोइ रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या, सहज समाधी सोइ रे॥४॥

शब्दार्थ—अक्यारथ = व्यर्थ। कुसुम दल = रीढ़ की हड्डी। दुवादस = द्वादश। मींच = मृत्यु। बंक नालि = सुषुम्ना। अन्तरै = अन्दर। नीझर झरै = निर्झर झर रहा है, अमृत बरस रहा है। जुरामरण = वृद्धावस्था और मृत्यु। झंषि मरै = प्रयत्न करता हुआ मर जाये, अत्यधिक प्रयत्न करे।

कबीर कहते हैं हे मन के स्वामी! मेरा मन केवल आप में ही अनुरक्त है। आपके चरण-कमलों में ही मेरा मन लगता है, मुझे अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है। स्वाधिष्ठान चक्र में मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी को पहुँचाने में जो समाधि लगायी जायेगी, उससे मृत्यु भय दूर हो जायगा। अष्ट कमल—सुरति कमल के मध्य ईश्वर का निवास है। यदि सद्गुरु प्राप्ति हो जाय तो वहाँ तक पहुँचा जा सकता है, अन्यथा यह जन्म व्यर्थ ही चला जाता है। कदलीतुल्य रीढ़ की हड्डी के मध्य जो नाड़ी जाल है मूलाधार चक्र से हृदय-चक्र तक पहुँचने में दस अंगुल की दूरी है। यहाँ द्वादश दल वाला कमल है जिसकी प्राप्ति से मृत्यु नहीं होती। सुषुम्णा यदि ऊपर सहस्रार में जाकर मार्ग और को विस्फोट करे तो वहाँ उस शून्य गुफा से अमृतरस-वर्ण

होता है। यदि साधक को इस स्थान की प्राप्ति की जाय तो वह त्रिवेणी-स्नान का पुण्य लाभ यहीं करता है। वहाँ जाकर पुनः संसार की ओर दृक्पात करने की आवश्यकता नहीं, वहाँ तुम्हारा मिलन अन्य मुक्तात्माओं से भी हो जायगा। अनहद नाद के द्वारा मेघ-गर्जन का सुख लाभ होता है और परब्रह्म के दर्शन होते हैं। वहाँ अनंत ज्योतिष्मान परमेश्वर की कान्ति का विद्युत् प्रकाश है, एवं अमृत-स्रवण से समस्त मुक्तात्माएँ स्नात हैं। षोडष-दल कमल—विशुद्ध चक्र—प्राप्ति पर साधक प्रभु से तदाकार हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त कर जरा-मरण का भय भाग जाता है और पुनः आवागमन में नहीं पड़ना पड़ता। यह परमपद गुरु कृपा के द्वारा ही पाया जा सकता है, वैसे चाहे कोई कितना ही भगीरथ प्रयत्न करे, उसकी प्राप्ति नहीं कर सकता। कबीर तो अब उसी परमपद का लाभ सहज समाधि द्वारा कर रहा है।

विशेष—(१) नाथपंथी साधनानुरूप योग का वर्णन है।

(२) कुछ चक्रों का वर्णन नाथ-सम्प्रदाय से भिन्न स्थानों में प्राप्त होता है।

(३) प्रभु के वैष्णव नाम प्रयोग में कबीर पर वैष्णव प्रभाव देखा जा सकता है।

गोकल नाइज बीठुला, मेरो मन लागौ तोहि रे।
बहुतक दिन बिछुरें भये, तेरो औसेरि आवै मोहि रे ॥टेक॥
करम कोटि कौ ग्रह रच्यौ रे, नेह गये की आस रे।
आपहिं आप बँधाइया, द्वै लोचन मरहिं पियास रे॥
आपा पर संमि चीन्हिये, दीसै सरब समांन रे।
इहिं पद नरहरि भेटिये, तूं छाड़ि कपट अभिमांन रे॥
नां कतहूं चलि जाइये, नां सिर लीजै भार रे।
रसनां रसहिं बिचारिये, सारंग श्रीरंग धार रे॥
साधं सिधि ऐसी पाइये, किंवा होइ महोइ रे।
जे दिठ ग्यांन न ऊपजै, तौ अहटि रहै जिनि कोइ रे॥
एक जुगति एकै मिलै, किंवा जोग कि भोग रे।
इन दून्यूं फल पाइये, रांम नांम सिधि जोग रे॥
प्रेम भगति ऐसी कीजिये, मुखि अंमृत बरिषै चंद रे।
आपही आप बिचारिये, तब केता होइ अनंद रे॥
तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म बिचार रे।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥
चरन कंवल चित लाइये, रांम नांम गुन गाइ रे।
कहै कबीर संसा नहीं, भगति मुकति गति पाइ रे॥५॥

शब्दार्थ—नाइक=नायक। बीठुला=बिट्ठल, हिन्दुओं के आराध्य। औसेरि=आश्रम, स्मृति। द्वैलोचन=दोनों आँखें। संमि=समान रूप से।

कबीर कहते हैं कि हे गोकुलनायक विट्ठल प्रभु! मेरी आपसे प्रीति हो गई

है। आप मेरे से बहुत समय से बिछुड़ गये हो (आत्मा-परमात्मा से बहुत समय पूर्व अलग हो चुकी) आपकी स्मृति मुझे व्यथित करती है। आपके दर्शनों की आशा में मेरे दोनों नेत्र प्यासे मरते हैं, मैं स्वयं ही इस जगत् के बन्धन में बँध गया हूं जिसके फलस्वरूप स्नेहहीन व्यक्तियों से मैंने प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास कर विविध कर्मों का तन्तु ताना। आगे कबीर कहते हैं कि वह सर्वत्र व्यापी प्रभु सबको समान रूप से दृष्टिगत होता है तथा जिस रूप में वह सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है उसी भाँति स्वयं मैं भी, अतः अपने भीतर ही प्रभु को खोजने की चेष्टा करनी चाहिए, अन्यत्र नहीं। अतः हे मनुष्य ! तू कपट एवं मिथ्याभिमान का परित्याग कर अपना पूर्ण समर्पण प्रभु चरणों में कर दे। उस प्रभु की खोज में न तो इधर-उधर भटकने की आवश्यकता है और न शीश पर शास्त्र ग्रंथों का बोझ ढोने का। केवल जिह्वा से प्रेम सहित उस परम प्रभु का ध्यान करते रहो ! साधना से ही यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है अथवा उस प्रभु से प्रेम द्वारा पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर ही उनका साक्षात्कार आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। यदि मनुष्य की दृष्टि ज्ञानपूर्ण नहीं है तो वह संसार में ही भटकती रहती है। अनन्य साधना से ही उस पमतत्व, एक अविनाशी ब्रह्म की प्राप्ति हो समती है अथवा एक समय में एक ही की साधना की जा सकती है भोग की अथवा योग की; अर्थात् योग और भोग का असम्पृक्त होना वांछनीय है। राम-नाम जपने से यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है कि योग और भोग दोनों का आनंद प्राप्त हो। भाव यह है कि यदि मनुष्य कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचा दे और वहां से स्रवित अमृत का पान करे तो वह अमर हो जाय, मुक्त हो जाय।

कबीर कहते हैं कि हे सांसारिक मनुष्यो ! तुम यह समझते होगे कि यह कबीर ने यों ही मनोरंजनार्थ गीत गाया है वस्तुतः यह तो मेरा स्वयं का ब्रह्म सम्बन्धी दृष्टिकोण है। मैंने तो केवल आत्म-साधना की विधि का कथन मात्र किया है। यदि आप राम-नाम स्मरण कर उनके चरणों में प्रेमपूर्वक अपने चित्त की विनियोग कर देंगे तो निस्संदेह ही भक्ति के द्वारा मुक्ति प्राप्त हो जायेगी।

विशेष—यद्यपि इस पद में कबीर ने कुछ स्थलों पर योग-साधना की विविध प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है, किन्तु वे विशेष महत्व 'प्रेम-भगति' को ही दे रहे हैं—यह इस पद के उत्तरार्द्ध से भली भाँति स्पष्ट है।

अब मैं पाइबो रे पाइबो ब्रह्म गियान,
सहज समाध सुख मैं रहिबौ, कोटि कलप विश्राम ।।टेक।।
गुर कृपाल कृपा अब कीन्हीं, हिरदै कंवल बिगासा।
भागा भ्रम दसौं दिस सूझ्या, परम जोति प्रकासा ।।
मृतक उठ्या धनक कर लीयैं, काल अहेड़ी भागा।
उदया सूर निस किया पयांनां, सोवत थैं जब जागा ।।
अविगत अकल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैंन करै मनहीं मन रहसैं, गूंगै जांनि मिठाई ।।

पहुप बिना एक तरवर फलिया, बिन कर तूर बजाया।
नारी बिना नीर घट भरिया, सहज रूप सो पाया ॥
देखत कांच भया तन कंचन, बिन बानी मन मानां।
उड़्या विहंगम खोज न पाया, ज्यूं जल जलहि समानां॥
पूज्या देव बहुरि नहीं पूजौं, न्हाये उदिक नांउं।
भागा भ्रम ये कही कहतां, आये बहुरि न आंउं॥
आपै मैं तब आपा निरख्या, अपन पैं आपा सूझ्या।
आपै कहत सुनत पुनि अपनां, अपन पै आहा बूझ्या॥
अपनैं परचै लागी तारी, अपन पै आप समानां।
कहै कबीर जे आप बिचारै, मिटि गया आवन जानां॥६॥

शब्दार्थ—कोटि कलप=करोड़ों कल्पों तक। अहेड़ी=वधिक। निस=रात्रि, अज्ञान। पयांनां=प्रमाण, नष्ट हो जाना। रहसैं=प्रसन्न होना। पहुप=पुष्प। कंचन=स्वर्ण, निर्मल। निरख्या=देख। आवन जाना=आवागमन।

कबीर ब्रह्म-दर्शन के पश्चात् अपनी मिलनानुभूति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अब मुझे ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति हो गई है। उस सहज समाधि में ऐसा अपरिमित सुख है कि करोड़ों कल्पों तक उसी स्थिति में रमा जाय।

कृपालु सद्गुरु ने जब कृपा द्वारा ज्ञान प्रशस्त किया तो हृदय में पूर्ण कमल का विकास हुआ जिससे मेरा संसार-विषयक भ्रम दूर हो गया और अनन्त ज्योति प्रकाशित हो उठी। मेरा समाप्त आत्म-ज्ञान पुनरुजीवित हो प्रभु-मिलन के लिए प्रयत्नरत हो गया जिससे काल रूपी बधिक जो संसार का वध करता है, डर कर भाग गया। जब मैं इस प्रकार चेतनावस्था में आ गया तो ज्ञान-सूर्य का उदय हो गया एवं अज्ञान-निशा समाप्त हो गई। इस स्थिति में मैंने उस अगम्य, अनादि, अनुपम प्रभु के दर्शन किये—उस दर्शनानन्द का वर्णन अवर्णनीय है। जिस भांति गूंगा मिठाई के स्वाद का आनन्द मन ही मन भोगता है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकता, केवल मात्र इंगितादि से ही उसे परितुष्टि प्राप्त करनी पड़ती है, वही दशा मेरी उस आनंद को अभिव्यक्ति देने में है। यह जो कुछ भी अभिव्यक्ति की वह तो उस आनन्द-दशा के सूचक इंगित मात्र ही हैं। ऐसा लगता था जिस भांति कोई वृक्ष बिना पुष्प के ही फलित हो गया है, अर्थात् वह अशरीरी होकर भी शोभा युक्त था जिसने बिना हाथ के ही वाद्य बजा कर ध्वनि की; अर्थात् वह बिना कारण कार्य करने में समर्थ है। माया रूपी नारी के बिना ही हृदयघाट ज्ञान-जल से परिपूर्ण हो गया एवं मैंने उस परम प्रभु के दर्शन प्राप्त किये। देखते ही देखते क्षणभर में मेरा कांच तुल्य पार्थिव शरीर कंचन की शुद्धता में परिणत हो गया। आत्मा रूपी हंस जाकर परमात्मा से उसी भांति मिल गया जिस भांति से जल-जल में जाकर एकमेक हो मिल जाता है। अब मैं सांसारिक अन्धविश्वासों द्वारा प्रस्थापित देवताओं की आराधना बहुत कर चुका, अब उनकी शरण में नहीं जाऊँगा। मेरा भ्रम दूर हो गया और अब मैं संसार

में पुनः नहीं बँध सकता ।

जब मैंने अपने हृदय के भीतर ही प्रभु की खोज की तो मुझ को उनके दर्शन हुए । इस प्रकार अपनी आत्मा में ही परमतत्व से साक्षात्कार हुआ । आत्म-तत्व से परिचय होते ही मैं भव सागर तर गया, आत्म का परमात्मा से मिलन हो गया । कबीर कहते हैं कि जो आत्म तत्व का विचार करता है वह मुक्त हो आवागमन के चक्र से छूट जाता है ।

विशेष—दृष्टांत, विभावना, उपमा, अनुप्रास आदि अलंकार स्वयं कबीर की अटपटी वाणी में आ गये हैं ।

नरहरि सहजैं हीं जिनि जांनां ।
गत फल फूल तत तर पलव, अंकूर बीज नसांनां ।।टेक।।
प्रगट प्रकास ग्यांन गुरगमि थैं, ब्रह्म अगनि प्रजारी ।
ससि हर सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी ।।
उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर-डंड सरपूरा ।
गगन गरजि मन सुंनि समांनां, बाजे अनहद तूरा ।।
सुमति सरीर कबीर विचारी, त्रिकुटी संगम स्वांमीं ।
पद आनंद काल थें छूटैं, सुख मैं सुरति समांनीं ।।७।।

शब्दार्थ—नरहरि=प्रभु । गुरगमिथैं=गुरु के उपदेश से । प्रजरी=जलन ।

सहज साधना द्वारा ही प्रभु को जाना जा सकता है । इस साधना से सांसारिक विषय-वासना के बीज और अंकुर समाप्त हो जाते हैं, एवं इस संसार वृक्ष का वास्तविक फल प्रभु की प्राप्ति होती है ।

गुरु ने अपने सदुपदेश से ज्ञान का प्रकाश कर दिया एवं प्रभु की भक्ति पर साधक को लगा दिया । इस ज्ञान सूर्य के प्रकाश से हृदय प्रदेश का कोना कोना भासमान हो उठा एवं योग साधना में साधक प्रवृत्त हुआ जिससे कुण्डलिनी को जागृत कर उसने छहों चक्रों का वेधन किया और ऊर्ध्वगामी हो उसने शून्यस्थिति ब्रह्मरन्ध्र का भेदन किया जिससे अमित आनन्ददायी अनहद नाद होने लगा । कबीर अपनी सद्बुद्धि द्वारा विचार कर यह घोषणा करते हैं कि शरीर की त्रिकुटी में प्रभु-साक्षात्कार किया जा सकता है और इस भाँति सुरति-निरति का परिचय कर मनुष्य परम पद का अधिकारी हो कालबंधन से मुक्त हो सकता है ।

विशेष—(१) 'अनहद तूरा"—कुण्डलिनी जब षट्चक्रों का भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचाती है तो अलख ज्योति के दर्शन होते हैं और शरीर का रोम प्रति रोम से प्रभु नाम का शब्द निकलता है—यही 'अनहद नाद' कहलाता है जिसे कबीर 'अनहद तूरा' कह रहे हैं ।

(२) 'त्रिकुटी' दोनों नेत्रों एवं नासिका मूल भाग का केन्द्र बिन्दु, ध्यानावस्था में योगी यहीं अपना ध्यान लगता है । ३. 'पय आनन्द'—आनन्द पद, मुक्त, हंसात्मः—योगियों ने इसे ही परम काम्य माना है ।

मन रे मन हीं उलटि समांनां ।
गुर प्रसादि अकलि भई तोकौं, नहीं तर था बेगांनां ।।टेक।।
नेड़ै थैं दूरि दूर थैं नियरा, जिनि जैसा करि जांनां ।
औ लौं ठीका चढ्या बलींडै, जिनि पिवा तिनि मांनां ।।
उलटे पवन चक्र शट बेधां, सुंनि सुरति लै लागी ।
अमर न मरै मरे नहीं जीवै, ताहि खोजि बैरागी ।।
अनभै कथा कवन सौं कहिये, है कोई चतुर बबेकी ।
कहै कबीर गुर दिया पलीता, सो झल बिरलै देखी ।।८।।

शब्दार्थ—अकलि = ज्ञान, विवेक । बेगांनां = आवारा । नेड़ै = निकट, यहां ऊर्ध्व स्थान से तात्पर्य है । उलटे पवन = उल्टे होकर प्राणायाम करना । बबेकी = विवेकी । झल = अलख ज्योति ।

कबीर कहते हैं कि साधक का मन ऊर्ध्वमुखी हो गया है, इसे गुरु कृपा से ज्ञान लाभ हो गया; अन्यथा यह तो निपट आवारा - चारों ओर भ्रमित रहने वाला था। जब प्रभु को खोजने चलते हैं तो वह ऐसा लगता है कि वह दूर अर्थात् अन्यत्र है, किन्तु सर्वत्र खोजने के पश्चात् परिणाम यही निकलता है कि वह कहीं अन्यत्र नहीं, हृदय में ही स्थित है । जो भी मनुष्य ऊपर चढ़ गया अर्थात् मन की वृत्तियों को ऊर्ध्वोन्मुखी कर प्रभु से प्रेम किया उसने उसकी प्राप्ति कर ली । अधोमुखी हो प्राणायाम साध कर षट-चक्रों का भेदन कर यदि शून्य में सुरति को लगा दिया जाय तो मनुष्य आवागमन चक्र से विमुक्त हो जाय । हे साधक ! तू उसी मार्ग की साधना कर । कबीर कहते हैं कि इस अपूर्व कथा का वर्णन किससे किया जाय, ऐसा कोई चतुर एवं विवेकवान मनुष्य है ?

भाव यह है कि ऐसे बहुत कम लोग हैं जिन्हें इस योग-साधना का पात्र समझा जाये । कबीर कहते हैं कि सद्गुरु के ज्ञान-स्फुलिंग दान से उचित मार्ग का अवलम्बन और उस अलख ज्योतिस्वरूप परम प्रभु के दर्शन बिरले ही लोगों को होते हैं ।

इहि तात रांम जपहु रे प्रांनी, बूझौ अकथ कहांणीं ।
हरि कर भाव होइ जा ऊपरि, जाग्रत रैंनि बिहांनीं ।।टेक।।
डांइन डारै सुनहां डोरै, स्यंघ रहै बहै घेरै ।
पंच कुटंब मिलि झूझन लागे, बाजत सबद संघेरै ।।
रोहै मृग ससा बन घेरैं, पारधी बांण न मेलै ।
सायर जलै सकल बन दाझै, मंछ अहेरा खेलै ।।
सोई पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पदहि विचारै ।
कहै कबीर सोइ गुर मेरा, आप तिरै मोंहि तारै ।।९।।

शब्दार्थ - डांइन = माया । स्यंघ = सिंह, काल । पंच कुटुम्ब = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ रोहै = भागा । पारधी = अहेरी । सायर = सागर । मंछ अहेरा = साधक योगी । तत

ग्याता=तत्व ज्ञाता, उसके जानने वाला।

कबीर कहते कि हे प्राणियों! संसार का सार यही है कि राम-नाम स्मरण कर प्रभु की अकथनीय कथा का चिन्तन किया जाय। जिसके हृदय में परम प्रभु का वास सबसे ऊपर है वह दिन-रात प्रेम-पीर से आहत हो जागता रहता है। हे साधक! सुन, ऐसे योगी के मार्ग में माया रूपी डाकिनी आकर्षण के विविध प्रपंच फैला बाधा डालती है और काल रूपी सिंह समस्त संसार रूपी वन पर अपना अधिकार किये हुए हैं। विषयादिक आकर्षणों की ध्वनि सुनकर मन रूपी मृग उस ओर भागता है एवं खरगोश के रूप में वासनाओं ने संसार को घेर रखा है किन्तु फिर भी साधक रूपी अहेरी वाण-वर्षा द्वारा इनको नष्ट नहीं करता जब इस समस्त सृष्टि के जल-थल वासना अग्नि से भस्म होने लगते हैं, तब भी योगी रूपी अहेरी यहाँ निश्चिन्तता से क्रीड़ा करता है उसे सांसारिकता नहीं व्यापती। कबीर कहते हैं कि वही व्यक्ति ज्ञानी है, मेरा गुरु है जो इस पद का विचारपूर्वक आचरण कर स्वयं भी इस भव-सागर से तर जाय और कबीर जैसे अन्य-लोगों को भी संसार-सिन्धु से तार दे।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

अवधू ग्यांन लहरि धुनि मांडी रे।
सबद अतीत अनाहद राता, इहि बिधि त्रिष्णां षांडी ॥टेक॥
बन कै ससै समंद घर कीया, मंछा बसै पहाड़ी।
सुइ पीवै बांम्हण मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी॥
षाड बुणै कोली मैं बैठी, खूंटा मैं गाड़ी।
तांणें बाणें पड़ी अनंवासी, सूत कहै बुणि गाढी॥
कहै कबीर सुनहु रे संतो, अगम ग्यांन पद मांहीं।
गुरु प्रसाद सूई कै नांकै, हस्ती आवै जांहीं॥१०॥

शब्दार्थ—षांडी=नष्ट की। ससै=खरगोश, यहां चंचल मन के लिए प्रयोग किया गया है। मंछा=आत्मा। पहाड़ी=शून्य रूपी पर्वत। बाड़ी=खेती। षाढ़=थान, वस्त्र। कोली=जुलाहा। खूंटा=बुनाई में काम आने वाला एक खूंटा। गाड़ी=यह भी बुनाई से सम्बन्धित। ताणै-बाणै=ताना-बाना वस्त्र में दो तरफ से पड़ने वाले सूत के धागे। गाड़ी=बुनने वाली।

कबीर कहते हैं कि हे अवधूत! ज्ञान-लहर के उठने पर साधक समाधि में लीन हो गया। अनाहद नाद से उत्पन्न आनन्ददायी शब्द में ही उसकी वृत्तियां रम गईं। इस भाँति उसने सांसारिक तृष्णा को नष्ट कर दिया। जिसके फलस्वरूप संसार रूपी बन में भटकने वाले चंचल खरगोश रूपी मन ने शून्य-समुद्र में अपना वास-स्थान बना लिया एवं मछली रूपी पवित्र आत्मा शून्य-शिखर रूपी पर्वत पर जा वसी। वहाँ पहुँच कर प्रभु-भक्ति में मस्त मुक्तात्मा ब्राह्मण 'अमृत का पान करने लगा और इस प्रकार बिना ही खेती किए प्रभु रूपी अमूल्य फल की प्राप्ति साधक को हो गई। इस अवस्था में पहुँच कर आत्मा रूपी जुलाहिन सुन्दर कर्म रूपी वस्त्र का निर्माण करती

है। इस वस्त्र बुनने की प्रक्रिया में आत्मा ही कर्ता है एवं स्वयं ही साधक—'अहं ब्रह्मास्मि'।

विविध सुन्दर कर्मों का ताना-बाना डालकर वह उस वस्त्र का निर्माण कर रही है—सूत अर्थात् सत्कर्म स्वयं उसे पुण्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। कबीर कहते हैं कि हे साधुओ! ध्यानपूर्वक सुनो, इस अगम्य, अप्राप्य मुक्तपद को साधक गुरु कृपा से ही प्राप्त कर सकते हैं। गुरु कृपा से असम्भव भी सम्भव हो जाता है—सूई की नोंक जैसे सूक्ष्म स्थान के मध्य से हाथी जैसे विशालकाय पशु का आवागमन भी वे सम्भव कर सकते हैं।

एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ।।टेक।।
पहलैं पूत पीछैं भई माइ, चेला कै गुर लागै पाइ।
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाइ मुरगै खाई।
बैलहि डारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूं लै गई बिलाई ।।
तलि करि आवा ऊपरि करि मूल, बहुत भाँति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद कौ बूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै ।।११।।

शब्दार्थ—डॉ० राम कुमार वर्मा जी ने अपनी पुस्तक 'संत कबीर' में उल्टबाँसी में प्रयुक्त शब्दों में अर्थ निम्न प्रकार दिये हैं—

पुत्र=जीव। माता=माया। गुरु=शब्द। चेला=जीवात्मा। सिंह=ज्ञान। गाय=वाणी। मछली=कुंडलिनी। तरुवर=मेरुदण्ड। कुत्ता=अज्ञानी। बिल्ली=माया। पेड़=सुषुम्णा नाड़ी। फल-फूल=चक्र और सहस्रदल कमल। घोड़ा=मन। भैंस=तामसी वृत्तियाँ। बैल=पंच-प्राण। गोनि=स्वरूप की सिद्धि।

अधिकांश शब्दों के अर्थ ये सहमत होते हुए भी कुछ शब्दों में हमारा मत उनसे भिन्न है जैसा कि अर्थ करते समय स्पष्ट होगा।

हे भाई! मैंने एक आश्चर्य देखा है। यह आश्चर्य साधना क्षेत्र का है। वहाँ ज्ञान रूपी सिंह समस्त इन्द्रियों का अर्थात् कर्मों का संचालन कर रहा है।

इस संसार में पहले तो पुत्र रूपी मनुष्य का जन्म हुआ—"ईश्वर अंश जीव अविनाशी"—फिर माता रूपी माया का अविर्भाव। माया प्रभु की दासी है—चेली है—उस प्रभु का अंश जीव अर्थात् गुरु उसके पीछे लग रहा है—पैरों पड़ रहा है। भाव यह है कि प्रभु-दासी माया में संलिप्त कहता है मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी ने मेरुदण्ड की सुषुम्णा में अपना वास कर लिया है। माया ने विषय-वासना से पोषित जीवों को समाप्त कर दिया। गुणी आत्मा तामसी वृत्तियों रूपी बैलों का नाश करके अपने वास्तविक स्थान—शून्य-महल—में आ गई एवं जो सांसारिकता में बद्ध विषय-वासना में लिप्त कुत्ते के समान निकृष्ट जीव थे उन्हें तो माया ने अपने बंधन में बाँध लिया। इस संसार रूपी वृक्ष की शाखाएं अधोमुखी एवं मूल ऊर्ध्वमुखी है, इस मूल-स्थान—ब्रह्मरन्ध्र—पर विविध कामनाओं को तृप्त करने वाला फल—अलख निरंजन दर्शन—प्राप्त होता है। कबीर कहते हैं कि जो मनुष्य इस पद

के अर्थ को हृदयंगम कर (आचरण कर) सकेगा, उसे त्रिभुवन का ज्ञान सहज प्राप्त हो जायेगा।

हार के षारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिनि षाये।
ग्यान अचेत फिरै नर लोई, तार्थं जनमि जनमि डहकाये ॥टेक॥
धौल मंदलिया बैलर बाबी, कऊवा ताल बजावैं ॥
पहरि चोल नाँगा दह नाचै, भैंसा निरति करावै ॥
स्यंघ बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा छावै।
उंदरी वपुरी मंगल गावै, कछू एक आनंद सुनावै ॥
कहै कबीर सुनहूँ रे संतो, गडरी परबत खावा।
चकवा बैसि अंगारे निगलैं, समंद अकासां धावा ॥१२॥

शब्दार्थ—जारे = जल गये हैं, विषय-वासनाओं को समाप्त कर दिया है। डहकाये = भटकते फिरते हैं। धौल = ढौल। स्यंघ = सिंह, ज्ञान।

प्रभु-भक्ति में अनुरक्त लोग साधना की भट्टी में तपे हैं, जिन्होंने वहाँ अपनी विषय-वासनाओं को भस्म कर दिया उन्होंने प्रभु को प्राप्त किया और जो अज्ञानी हैं वे तो संसार के माया प्रपंचों में भटकते फिरते हैं एवं उन्हें बारम्बार आवागमन के चक्र में पड़ना पड़ता है।

ढोल, मृदंग बाम्बी आदि विविध वाद्य संसार में माया-आकर्षणों के रूप में बज रहे हैं विषय-वासना की ओर एकदम लपकने वाला कौआ रूपी जीव भी इन आकर्षणों की गति में अपने को छोड़ देता है। विषय-वासना का वस्त्र धारण कर वह जीव निलंज्ज होकर उन आकर्षणों में भटकता है एवं विविध तामसिक वृत्तियों का भैंसा उससे यह नृत्य कराता है। ज्ञान का सिंह निश्चिन्त होकर भ्रम के पान को कतर रहा है—नष्ट कर रहा है, माया रूपी घूंस उसे पथभ्रष्ट कर विविध आकर्षणों की गिलौरी (पान में डालने की) देना चाहती है किन्तु ज्ञान उसके कहने में नहीं आता। वेचारी मुक्तात्मा प्रभु-भक्ति के आनन्दप्रद-मंगल-गान (नाम-जप) गाती है। कबीर कहते हैं कि हे साधुओ! सुनो, माया रूपी गड़रिनी ज्ञान के अचल पर्वत को नष्ट करना चाहती है, किन्तु कुण्डलिनी शून्य में विस्फोट कर अलख निरञ्जन की ज्योति के दर्शन करती है और समुद्र अर्थात् विषय-वासना में पड़ी आत्मा शून्य प्रदेश में पहुँच जाती है।

विशेष—यहाँ कबीर ने उलटबाँसी के मध्यम से योगसाधना की विविध प्रक्रियाओं को पार कर प्रभु-प्राप्ति का ढंग बताया है।

चरखा जिनि जरै।
कातौंगी हजरी का सूत, नणद के भइया की सौं ॥टेक॥
जलि जाई थलि ऊपजी, आई नगर मैं आप।
एक अचंमा देखिया, बिटिया जायौ बाप ॥

बाबल मेरा ब्याह करि, बर उत्यम ले चाहि ।
जब लग बर पावै नहीं, तब लग तूं हीं ब्याहि ॥
सुबधि कै घरि लूबधी आवौ, आन बहू कै भाइ ।
चूल्है अगनि बताइ करि, फल सौं दीयौ ठठाइ ॥
सब जगही मर जाइयौ, एक बढ़इया जिनि मरै ।
सब रांडनि कौ साथ चरखा को धरै ॥
कहै कबीर सो पंडित ग्याता, जी या पदहि विचारै ।
पहलैं परचै गुर मिलै, तौ पीछैं सतगुर तारै ॥१३॥

शब्दार्थ—बिटिया=माया रूपी पुत्री । उत्यम=उत्तम । बढ़इया=बढ़ई, प्रभु ।

कबीर प्रेमिका के रूप में कहते है कि यह शरीर रूपी चरखा नष्ट न हो, क्योंकि मैं प्रियतम अर्थात् प्रभु की सौगन्ध खा कर कहती हूँ कि इससे प्रभु-भक्तिरूपी उत्तम कर्मों का सूत कातूँगी ।

जीवात्मा के रूप में कबीर आगे कहते हैं कि मैं अपने वास्तविक जन्म-स्थान से इस संसार रूपी नगर में स्वयं ही आ गई हूँ। मैंने यह बड़ा आश्चर्य देखा कि माया रूपी प्रभु की बेटी ने (क्योंकि वह उनसे उत्पन्न है, इसलिए उनकी पुत्री) जीव (जो प्रभु का ही अंश है) रूपी पुत्र को जन्म दिया । अब आत्मा प्रभु से प्रार्थना करती है कि मेरा विवाह सम्बन्ध जो आत्मिक बन्धन है किसी उत्तम व्यक्ति के साथ कर दे और हे परम पिता जब तक कोई अन्य सुन्दर वर नहीं मिलता तब तक तुम्हीं मुझे पत्नी रूप में स्वीकार करो । सुबुद्धि रूप आत्मा को आकर्षित करने के लिए विषय-वासना का आकर्षण ले माया ने प्रपंच फैलाया । उसने आत्मा को वास्तविक प्राप्य प्रभु—से तो दूर रखा और विषय-वासना की तप्त अग्नि में झोंक दिया । समस्त संसार इसी प्रकार इस विषय-वासना अग्नि में भस्म हो नष्ट हो गया, अनुभव प्राप्त एक (कबीर की) ही आत्मा नष्ट न हुई । इसीलिए उस प्रिय की अचल सुहागिन ने अन्य अभागिन आत्माओं के साथ शरीर रूपी चरखे को कुकर्मों में प्रवृत्त नहीं होने दिया । कबीर कहते हैं कि जो इस पद का अर्थ हृदयगम कर सके वही पण्डित है, वही ज्ञानी है । किसी का परिचय यदि पहले कुछ आचरण सम्बन्धी सिद्धान्तों से हो जाता है तभी सद्गुरु उसकी जीवन नौका पार लगाते हैं ।

विशेष—(१) कबीर की आत्मा अपने 'बाप'—प्रभु से ही दाम्पत्य सम्बन्ध इसलिए स्थापित करना चाहती है कि यहाँ एक दूसरे की दूरी नहीं रहती—'एक प्राण दो तन' की उक्ति चरितार्थ हो जाती है । जो आत्माएं इस प्रकार प्रभु से सम्बन्ध स्थापन न कर अन्य सांसारिक माया आकर्षणों में फंसी रहती हैं उन्हें कबीर ने अभागिन—'राँडनि'—कहा है ।

(२) केवल मात्र उक्ति-वैचित्र्य लाने के लिए ही कबीर ने टेक वाली पंक्ति में 'प्रियतम' के लिए 'नणद के भइया' का प्रयोग किया है ।

अब मोहि ले चलि नणद के बीर, अपनैं देसा।
इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसंग आदि बदेसा ।।टेक।।
गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहानां।
सातौं बिरही मेरे नीपजै, पंचूं मोर किसानां।।
कहै कबीर यहु अकथ कथा है, कहतां कही न जाइ।
सहज भाइ जिंहि ऊपजै, ते रमि रहे समाई।।१४।।

शब्दार्थ—नणद के वीर=प्रियतम। पंचनि=पाँचों इन्द्रियों ने। गंग=इड़ा। जमुन=पिंगला।

कबीर की आत्मा प्रियतम से मनुहार करती कहती है कि हे प्रियतम! अब मुझे आप अपने देश में ले चलो। इस संसार रूपी विदेश में मुझे यहाँ के माया आकर्षणों (पंचनि) के सम्पर्क ने लूट लिया है। गंगा और यमुना अर्थात् इड़ा और पिंगला के तट पर मेरी खेती-बारी और खलिहान है—मेरा सर्वस्व वहीं है अतः मेरी गति वहीं है। अब तो पाँचों ज्ञानेन्द्रियां, छठा मन तथा सातवीं बुद्धि यही मेरे क्षेत्र की वास्तविक उत्पत्तियाँ हैं जिन्हें काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह रूपी कृषकों ने उत्पन्न किया है। अतः मुझे इस अवस्था से उबारो। कबीर कहते हैं कि संसार के अद्भुत क्रिया-व्यापार की कथा और उससे युक्ति का उपाय अकथ्य है जिस प्रक्रिया से सहज समाधि प्राप्त की जा सकती है मैं उसी में लगा हुआ हूँ।

अब हम सकल कुसल करि मांनां,
स्वांति भई तब गोब्यंद जांनां ।।टेक।।
तन मैं होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि ।।
जम थैं उलटि भया है रांम, दुख बिसर्‌या सुख कीया विश्रांम ।।
बैंरी उलटि भये है मींता, साषत उलटि सजन भये चीता ।।
आपा जांनि उलटि ले आप, तौ नहीं ब्यापै तीन्यूं ताप ।।
अब मन उलटि सनातन हुवा, तब हम जांनां जीवत मूवा ।।
कहै कबीर सुख सहज समाऊं, आप न डरौं न और डराऊँ ।।१५।।

शब्दार्थ—स्वांति=शान्ति। गोब्यंद=गोबिन्द, प्रभु, ब्रह्म। उपाधि=व्याधियां। सजन=स्वजन, हितैषी।

कबीर कहते हैं कि जब मैंने प्रभु को जान लिया तभी चित्त को शान्ति हुई, इसलिए अब तो मेरी कुशल ही कुशल है।

संसार की मायालिप्त होने की जो स्वाभाविक गति है उससे विपरीत आचरण कर अर्थात् वृत्तियों को जड़ोन्मुख से चिदुन्मुख कर देने से जो शरीर की कोटि-कोटि व्याधियां थीं वे समस्त सहज समाधि में परिवर्तित हो गईं। अब काल भी बदल कर मुझे राम सम ग्राह्य और प्रिय हो गया है और इस प्रकार मैं दुःख को विस्मृत कर सुख-लाभ कर रहा हूँ। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि जो आत्मा के शत्रु थे वे अब दास बन कर मित्र रूप में काम आ रहे हैं। शाक्त जैसे कुमार्गी, आचरण

भ्रष्ट भी सज्जन रूप में परिवर्तित हो गये हैं। यदि मनुष्य अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर दे तो उसे दैविक, दैहिक, भौतिक—तीनों तापों में से कोई भी व्यथित नहीं कर सकता। जब मैं जीवन-मुक्त की स्थिति में आ गया तभी मेरा मन जो संसार माया में उलझा रहता था निर्मल होकर अपने प्रकृत रूप (जिस रूप में ईश्वर ने उसे प्रदान किया था) में आ गया।

कबीर कहते हैं कि मैं सहज-समाधि में अपने को लगाकर सुख लाभ करूँगा और संसार-तापों के भय से न तो स्वयं भयभीत होऊँगा और न किसी को भयभीत करूँगा।

विशेष—पद की टेक पूर्णतः लोकगीत पर आधृत है। लोकगीतों में पति के लिए नणद के वीर का सम्बोधन बड़ा प्रिय है।

संतौ भाई आई ग्यांन की आंधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उडांणीं, माया रहै न बांधी ॥टेक॥
हिति चत की द्वै थूनीं गिरनीं, मोह बलींडा तूटा।
त्रिस्नां छांनि परी घर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा ॥
जोग जुगति करि संतौं बांधी, निरचू चुवै न पांणीं।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांणीं ॥
आंधीं पीछैं जौ जल बूठा, प्रेम हरि जन भींनां।
कहैं कबीर भांन के प्रगटैं, उदित भया तम षींनां ॥१६॥

शब्दार्थ—टाटी=टट्टी, छप्पर। उडांणी=उड़ गई। थूनी=छप्पर को रोकने के लिए एक प्रकार की टेक, जायसी ने भी नागमती के वियोग वर्णन में इस वस्तु का उल्लेख किया है। बलींडा=छप्पर को मजबूत करने के लिए उसके सिरे पर लगाये जाने वाला फूंस का लम्बा-लम्बा एक भाग। कुबधि=कुबुद्धि। बूठा=बरसा। भांन=भानु, सूर्य। षींना=क्षीण।

कबीर कहते हैं हे संतो! ज्ञान की आँधी आयी जिससे माया-बन्धनों से बँधी भ्रम की टट्टी, छपरिया नष्ट होकर उड़ गई। ज्ञान—आँधी आते ही मिथ्या प्रेम द्वैत जनित भावना की थूनियाँ गिर गईं एवं मोह का बलींडा भी टूट गया। इस प्रकार तृष्णा की छान घर—संसार—से अलग जा पड़ी तथा कुबुद्धि का भेद खुल गया कि वह किस गलत मार्ग पर थी। हे संतो! जीवात्मा ने यह छप्पर बड़े यत्नपूर्वक बांधा था जिससे ज्ञान की एक बूँद भी इसमें न पड़ सके किन्तु इस ज्ञान-आँधी ने इसे उड़ाकर शरीर के पापों रूपी कूड़े को निकाल बाहर किया। इस आँधी के पश्चात् प्रभु-भक्ति के जिस जल की वर्षा हुई उससे प्रभु-प्रेमी भीग गये। कबीर कहते हैं कि इस भाँति ज्ञान—प्रभाकर के उदित होते ही अज्ञानांधकार विदीर्ण हो गया।

विशेष—सांगरूपक, रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

अब घटि प्रगट भये राम राई, सोधि सरीर कनक की नाईं ॥टेक॥
कनक कसौटी जैसें कसि लेइ सुनारा सोधि सरीर भयो तन सारा।
उपजत उपजत बहुत उपाई, मन थिर भयो तबै थिति पाई॥
बाहरि षोजत जनम गँवाया, उनमनीं ध्यांन घट भीतरि पाया।
बिन परचैं तन कांच कचीरा, परचैं कंचन भया कबीरा॥१७॥

शब्दार्थ—सरल है।

शरीर को यौगिक-प्रक्रियाओं से कंचन के समान शुद्ध किया है तभी हृदय में प्रभु के दर्शन हुए हैं। जिस प्रकार स्वर्णकार कसौटी पर कस कर स्वर्ण को शुद्ध कर कंचन बना लेता है उसी प्रकार योग-साधना से मैंने शरीर को शुद्ध किया। हृदय में प्रभु-भक्ति उपजाने के लिए अनेक प्रयत्न किये किन्तु जब चंचल मन पूर्ण रूप से शान्त हो गया तभी शान्तिपूर्ण स्थिति भी प्राप्त हुई। मैंने व्यर्थ समस्त संसार में प्रभु को खोजते हुए जीवन व्यर्थ कर दिया, उन्मनी की ध्यानावस्था से मैंने उसे हृदय में ही प्राप्त कर लिया। प्रभु के बिना परिचय के तो यह शरीर कच्चे मांस के समान अशुद्ध था किन्तु उनसे साक्षात्कार होते ही यह विशुद्ध कंचन के रूप में परिवर्तित हो गया।

हिंडोलनां तहां झूलै आतम रांम।
प्रेम भगति हिंडोलनां, सब संतनि कौ विश्राम ॥टेक॥
चंद सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि।
झूलें पंच पियारिया, तहां झूलै जीय मोर॥
द्वादस गम के अंतरा, तहाँ अमृत कौं ग्रास।
जिनि यहु अमृत चाषिया, सो ठाकुर हम दास॥
सहज सुंनि कौ नेहरौ, गगन मंडल सिरिमौर।
दोऊ कुल हम आगरी जौ हम झूलें हिंडोल॥
अरध उरध की गंगा जमुनां, मूल कवल कौ घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणीं संगम बाट॥
नाद व्यंद की नावरी, रांम नांम कनिहार।
कहै कबीर गुंण गाइ ले, गुर गंमि उतरौ पार॥१८॥

शब्दार्थ—पंच पियारियाँ=पाँचों इन्द्रियाँ। सुंनि=शून्य।

प्रेम भक्ति के हिंडोले पर समस्त संत जन रमण करते हैं। उसी हिंडोले पर कबीर झूल रहा है।

जिस भाँति हिंडोले में दो खम्ब होते हैं उसी प्रकार इड़ा, पिंगला के दो स्तम्भ है जिसके मध्य वंकनालि—सुषुम्ना—की डोर डाल रखी है जिस पर पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ झूलती हैं अर्थात् समस्त चित्तवृत्तियाँ वहीं केन्द्रित हो गई हैं—मेरा मन भी वहीं झूलता—रमता है। जिस शून्य स्थान पर—ब्रह्मरन्ध्र में—द्वादश आदित्यों के आलोक सदृश प्रकाश अकम्पित रहता है वहीं अमृत का कुण्ड है। जिस साधक ने इस अमृत

का पान कर लिया वह हमारा स्वामी है हम उसके सेवक। शून्य शिखर पर सहज-समाधि में ही हमारा पीहर है, यहाँ भूलकर हम अपना पितृकुल एवं श्वसुर कुल अर्थात् लोक एवं परलोक दोनों को ही श्रेष्ठता प्रदान कर देंगी।

अब दूसरा रूपक प्रस्तुत करते हुए कबीर कहते हैं कि कुण्डलिनी मूलाधार चक्र के घाट से इड़ा-पिंगला रूपी मार्गों द्वारा षट् चक्रों की गगरी को उठाकर—भेदन कर—त्राटक के संगम पर पहुँच कर विस्फोट करेगी जिससे जो अनहद नाद उत्पन्न होगा वही इस तीर्थ स्थल में नौका होगी जिसे नाम-स्मरण से खेया जायगा। कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू राम का गुणगान कर ले जिससे इस संसार-सरिता से पार उतरा जा सके।

को बीनैं प्रेम लागी री, माई को बीनैं।
रांम रसांइण माते री, माई को बीनैं ॥टेक॥
पाई पाई तूं पुतिराई, पाई की तुरियाँ बेचि खाई री, माई को बीनैं।
ऐसैं पाई पर बिथुराई, त्यूं रस बांनि बनायौ री, माई को बीनैं ॥
नाचै तांनां नाचै बांनां, नच्चै कूंच पुराना री, माई को बीनैं।
करगहि बैठि कबीरा नाचै, चूहै काट्या तांनां री, माई को बीनैं ॥१९॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि प्रभु भक्ति के इस अनुपम वस्त्र को हे सखि! कौन बुनेगा। मैं तो अब राम रसायन में मदमस्त हूँ और कौन इस सुख को प्राप्त करना चाहती है। हे बुनकर सखि! तूने अपना समस्त धन पाप-कर्मों में खर्च कर डाला, अब इस भक्ति-वस्त्र को कौन बुनेगा (वस्त्र बुनने में कुछ पूँजी की आवश्यकता होती है न) बुनकर सखि! माया आकर्षणों में लिप्त रह गयी, अब इस प्रभु-प्रेम को कौन पूरा करे। बुनकर के अभाव में ताना-बाना दोनों इधर-उधर हो रहे हैं एवं वस्त्र बुनने में वही पुरातन ढर्रा चल रहा है जिसमें विषय-वासना ही प्रमुख थीं। इसीलिए करघे पर कबीर यह देखकर प्रभु-भक्ति वस्त्र बुनने बैठ गये कि काल रूपी चूहा आयु को समाप्त कर रहा है।

भाव यह है कि संसार-रीति, माया-पथ, छोड़ शीघ्र ईश्वर-भजन करो।

मैं बुनि करि सिरांनां हो रांम, नालि करम नहीं ऊबरे ॥टेक॥
दखिन कूंट जब सुनहां झूंका, तब हम सुगन बिचारा।
लरके परके सब जागत हैं, हम घरि चोर पसारा हो रांम ॥
तांनां लीन्हां बांनां लीन्हां, लीन्हें गोड के पऊवा।
इत उत चितवत कठवन लीन्हां, मांड चलवनां डऊवा हो रांम ॥
एक पग दोइ पग त्रेपग, संधै संधि मिलाई।
करि परपंच मोट बंधि आये, किलि किलि सबै मिटाई हो रांम ॥
तांनां तनि करि बांनां बुनि करि, छाक परी मोहि ध्यांन।
कहै कबीर मैं बुंनि सिरांनां, जांनत है भगवांनां हो रांम ॥२०॥

शब्दार्थ—दखिन=दक्षिण। कूंट=कौने में, कोण—दिशा का। भूंका=श्वान के भूंकने की ध्वनि। पऊवा=पाव भर। संधे=धीरे-धीरे। किलिकिलि=धीरे-धीरे। छाक=सूक्ष्म भोजन, कलेवा जैसा।

कबीर कहते हैं कि मैंने सांसारिक कर्मों का तन्तु वायु तानना वन्द कर दिया क्योंकि इन कर्मों के द्वारा संसार से मुक्ति सम्भव नहीं। दक्षिण दिशा में जिस समय श्वान रूपी सांसारिक जीवों की व्यथित ध्वनि आ रही थी, भाव यह है उनकी दुर्दशा देखकर हमने अपने विषय में कुछ शकुन अनुमान किया। उसी समय मुझे यह आभास हुआ कि यम-नियम संयम रूपी पुत्रों के जागने पर भी यह विषय-वासना का चोर मेरे भीतर घुस आया। तभी मैंने ताना-बाना एवं सूत के पाव-पाव के गोले आदि एकत्रित कर लिए अर्थात् अपने सम्पूर्ण प्राप्य को लेकर इस संसार से कहीं अन्यत्र जाकर अपने सुकर्मों का वस्त्र बुनने का निश्चय किया। कुछ पग बढ़कर धीरे-धीरे हमने उन दुष्कर्मों के अधूरे ताने-बाने में अच्छे कर्मों की संधि मिलाने का प्रयास किया। किन्तु यहाँ जो विषय-वासना में पड़कर पापों की गठरी बाँध ली थी वह धीरे-धीरे नष्ट हुई। इस भाँति सत्कर्मों का ताना-बाना डाल मुझे वस्तुतः ग्राह्य भोज्य—प्रभु-भक्ति—का ध्यान आया। कबीर कहते हैं कि प्रभु-भक्ति में प्रवृत्ति होते ही मैं कर्म-निरत हो गया—यह सब प्रभु जानते हैं।

विशेष—लोकधुन में आवृत, और आवृत ही क्या लोकधुन की ही संगीतीत्मकता ने कबीर के अभीष्ट अर्थ की श्रीवृद्धि में अपूर्व योगदान दिया है।

तननां बुनना तज्या कबीर, रांम नांम लिखि लिया शरीर ॥टेक॥
जब लग भरौं नली का बेह, तब लग टूटै रांम सनेह ॥
ठाढी रोवै कबीर माई, ए लरिका क्यूं जीवैं खुदाई।
कहै कबीर सुनहुं री माई, पूरणहारा त्रिभुवन राई ॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं मैं जीवन्मुक्त हो गया हूँ इसीलिए कर्म-विरत हो कर्म वस्त्र बुनने का व्यापार त्याग मैं प्रभु-भक्ति में अनुरक्त हो गया हूँ। जब तक मैं इस जीवन-नलिका पर आयु रूपी सूत लपेटता रहूँगा तब तक मेरी राम में प्रीति बनी रहेगी, भाव यह है कि जीवन-पर्यन्त मैं प्रभु-प्रेमानुरक्त रहूँगा। कबीर की माँ अर्थात् माया—जिससे वह पहले पल्लवित रहा था आश्चर्यान्वित है कि यह जीव मुझसे पृथक् होकर जीवित कैसे है किन्तु कबीर माया रूपी, (झूठी) माँ को समझाते कहते हैं कि जीवनदान देने वाला तो अनन्त शक्तिमय प्रभु है :

जुगिया न्याइ मरैं मरि जाइ।
घर जाजरौ बलींडौ टेढौ, औलोती डर राइ ॥टेक॥
मगरी तजौं प्रीति पाख सूं डांडी देहु लगाइ।
छींकौ छोडि उपरांहु डौ बांधौ, ज्यूं जुगि जुगि रहौ समाइ ॥

बैसि परहडी द्वारा मुंदावौं, ल्यावौं पूत घर घेरी ।
जेठी धीव सासरैं पठवौं, ग्यूं बहुरि न आवै फेरी ।।
लहुरी धीइ सबै कुल खोयौ, तब ढिग बैठन पाई ।
कहै कबीर भाग बपरी कौ, किलि किलि सबै चुकाई ।।२२।।

शब्दार्थ—जुगिया=जग । जाजरौ=जर्जर । बलींडौ=छप्पर के बीच में भीतर की ओर लगने वाला एक बाँस । टेढौ=टेढ़ा । औलाती=जहाँ छप्पर के अगले भाग से पानी चू-चू कर कर गिरता है । मगरी=छप्पर की कमर । पाखें=पाखा, प्रायः मिट्टी अथवा पक्की ईंटों के बने ढलाव के एक विशेष प्रकार के स्तम्भ जिन पर छप्पर के सिरे टिके रहते हैं । डाँडी=यह भी छप्पर में ही लगने की एक लकड़ी होती है । छींकौ=एक प्रकार का लटकने वाला झूलना सा जिस पर प्रायः भोज्य पदार्थ सुरक्षा की दृष्टि से रख दिये जाते हैं । डौ - वो । परहडी=घड़े रखने का स्थान विशेष जो एक प्रकार से मकानों में बनी अंगीठी के ऊपर की सिल्ली के समान होता है । जेठी धीय=बड़ी पुत्री, यहाँ तात्पर्य कुण्डलिनी से है । ग्यूं =जिससे, लहुरी धीय=छोटी पुत्री अर्थात् माया । बपरी=बेचारी ।

कबीर कहते हैं कि हे जीव ! यदि तू अन्य सांसारिकों की भाँति मरना चाहता है तो मर जा किन्तु तू तनिक यह तो ध्यान रख कि तेरा शरीर रूपी भवन जर्जर हो चुका है, विषय-वासनाओं के दबाव से बलैंडा रूपी शरीरका मेरुदंड झुक गया है जिससे न जाने कब वर्षा की औलाती रूपी आशंका आ पड़े ।

मैं प्रभु प्रेम के पाखों पर शरीर को छोड़ दूँगा जिसमें नाम-जप की डाँडी लग जायेगी । उस स्थान पर प्रभु प्राप्ति के फल को ऊँचे पर ही रखूंगा जिससे वह मेरे लिये बहुत समय तक सुरक्षित रहे । इस घर के द्वार जिनसे मन बाहर जाता है, पलहंढ़ी रूपी अंकुश से बन्द करवा दूंवा । कुण्डलिनी रूपी बड़ी लड़की को उसके श्वसुर ग्रह—वास्तविक घर—शून्य शिखर पर—पहुँचा देंगे जिससे वह पुनः लौट कर इस संसार में न आ सके । माया रूपी छोटी लड़की ने तो समस्त कुल—संसार को सम्पर्क में आते ही नष्ट कर दिया । कबीर कहते है कि यह अपना-अपना भाग्य है, छोटी का किया हुआ बड़ी लड़की—कुण्डलिनी—को करना पड़ रहा है ।

विशेष—रूपक, सांगरूपक, रूपकातिशयोक्ति अलंकार ।

मन रे जागत रहिये भाई ।
गाफिल होइ नसत मति खोवै, चोर घुसै घर जाई ।।टेक।।
षट चक्र की कनक कोठड़ी, बस्त भाव है सोई ।
ताला कुंजी कुलफ के लागे, उघड़त बार न होई ।।
पंच पहरवा सोइ गये हैं, बसतें जागण लागी ।
जुरा मरण व्यापै कुछ नांहीं, गगन मंडल लै लागी ।।
करत विचार मनहीं मन उपजी, नां कहीं गया न आया ।
कहै कबीर संसा सब छूटा राम रतन धन पाया ।।२३।।

शब्दार्थ—गाफिल=चेतानाशून्य। चोर=पंच चोर—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह। पंच पहरवा=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। वसतैं=कुण्डलिनी।

कबीर अपने मन को प्रबोध देते हुए कहते हैं कि हे! मन तू चेतनाशून्य हो अपनी पूँजी को मत खो अन्यथा माया रूपी चोर का शरीर के घर में प्रवेश हो जायेगा।

यह शरीर षट्चक्रोंयुत स्वर्ण-कोठरी है जिसमें कुण्डलिनी सुप्तावस्था में पड़ी है, किन्तु जब प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी चक्रों का भेदन करती हुई ऊपर जायेगी तो समस्त रहस्य प्रकट हो जायेगा। इस अवस्था में पहुँचकर शरीर की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ रूपी पहरेदार जो समस्त क्रिया व्यापार के संचालक हैं सो गये हैं; अर्थात् उन्होंने अपनी गति स्थिर कर दी है। उसके सोते ही कुण्डलिनी जग गई और वह शून्य की ओर अग्रसर होने लगी, वह ब्रह्मरन्ध्र पर पहुँच गई। वहाँ पहुँचने पर फिर जीवात्मा को जन्म-मरण का भय नहीं रहता। मन में विचार करते ही करते यह सिद्धि प्राप्त हुई है अथवा मन की वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर देने पर ब्रह्म-प्राप्ति हो गई। इसके लिए मुझे कहीं इधर-उधर न भटकना पड़ा। कबीर कहते हैं कि इस प्रकार राम रूपी अमूल्य रत्न को प्राप्त कर मैं संसार-संशय से छूट गया।

चलन चलन सबको कहत है, नाँ जाँनौं बैकुंठ कहाँ है ॥टेक॥
जोजन एक प्रमिति नहीं जानैं, बातनि ही बैकुंठ बखानैं।
जब लग है बैकुंठ की आसा, तब लग नहीं हरि चरन निवासा ॥
कहैं सुनैं कैसैं पतिअइये, जब लग तहाँ आप नहीं जइये।
कहै कबीर यहु कहिये काहि, साध संगति बैकुंठहि आहि ॥२४॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि सब प्रभु लोक—शून्यगढ़ को जाने को कहते हैं किन्तु उसका मार्ग किसी को ज्ञात नहीं है। जो व्यक्ति उस एक ब्रह्म की सीमाओं—शक्तियों से अवगत नहीं वह तो व्यर्थ में ही बैकुण्ठ की बात करता है, उसे प्रभु स्थान का पता भी नहीं। जब तक मन में बैकुण्ठ पहुँचने में कोई कामना प्रमुख है तब तक प्रभु-चरणों में निवास असम्भव है। उस प्रभु-लोक की बताई गई बातों को जब तक स्वयं न देख लें, विश्वास किस आधार पर करें? कबीर कहते हैं कि मैं यह किसे समझाऊँ कि साधु-संगति में ही प्रभु का वास है—वहीं बैकुण्ठ है।

अपनैं बिचारि असवारि कीजै सहज कै पाइडै पाव जब जब दीजै ॥टेक॥
दे मुहरा लगाँम पहिराँऊँ, सिकली जीन गगन दौराऊं।
चलि बैकुंठ तोपि लैं तारौं, थकहि प्रेम ताजनैं मारूं ॥
जन कबीर ऐसा असवारा, बेद कतेब दहूँ थें न्यारा ॥२५॥

शब्दार्थ—असवारि=सवारी।

कबीर कहते हैं कि हे साधक! आत्मविचार की सवारी करो और सहज-समाधि की रकाब में पैर रखो—प्रवृत्त होओ, मन में अंकुश का मुहरा पहना नियंत्रण

में कर लो और उसकी वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर, जीवन कस के, शून्य-शिखर की ओर उसे दौड़ाओ। हे मन! चल तुझे प्रभु लोक ले जाकर तेरा उद्धार करूँ और वहाँ तुझ पर सम्पूर्ण शक्ति से प्रेम का एक चाबुक मार दूं जिससे तू प्रभु-प्रेमानुरक्त हो जाय। कबीर कहते हैं कि ऐसा ही साधक ठीक होता है जो वेद-शास्त्र, कुरान आदि धर्म-ग्रन्थों के पचड़े से दूर रहता है।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

अपनै मैं रंगि आपनपौ जानूं,
जिहि रँगि जांनि ताही कूं मांनूं ॥टेक॥
अभि अंतरि मन रंग समानां, लोग कहैं कबीर बौरानां ॥
रंग न चीन्हैं मूरिख लोई, जिहि रँगि रंग रह्या सब कोई।
जे रंग कबहूं न आवै न जाई, वहै कबीर तिहि रह्या समाई ॥२६॥

शब्दार्थ—अपने मैं रंगि = अपनी चित्तवृत्तियों को अन्तर्मुखी करके।

कबीर कहते हैं कि मैंने जब अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर दिया तभी मुझे अपने वास्तविक रूप—कि मैं भी ब्रह्मांश हूँ, अतः मेरा वास्तविक प्रिय ब्रह्म ही है—के दर्शन प्राप्त हुऐ। जिसने भी प्रभु के रंग को पहचान लिया, मैं उसी को सम्मान दूंगा।

मेरे मन में प्रभु-प्रेम का रंग समाया हुआ है, किन्तु संसार मुझे सांसारिक आचरणों से विरत देख पागल समझता है क्योंकि मूर्ख, अज्ञानी प्रभु के प्रेम रंग को नहीं पहचान पाते, यद्यपि समस्त सृष्टि के अणु-अणु में उसी की कान्ति है। वह रंग इतना प्रगाढ़ है कि कभी छूटता नहीं है। कबीर उस रंग में पूर्णतया रँगा हुआ है।

विशेष—महाकवि सूरदास ने भी इसी भाव का पद कहा है।

"आपुन पौ आपुन ही में पायौ।
शब्दहिं सब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायौ।
ज्यों कुरंग-नाभी कस्तूरीः ढूंढत फिरत भुलायौ।
फिर चेत्यो जब चेतन ह्वै करि, आपुन ही तनु छायो॥

झगरा एक नबेरो रांम, जे तुम्ह अपनैं जन सूं काम ॥टेक॥
ब्रह्मा बड़ा कि जिनि रू उपाया, बेद बड़ा कि जहां थैं आया ॥
यहु मन बड़ा कि जहाँ मन मानैं, रांम बड़ा कि रांमहिं जानैं।
कहै कबीर हूं खरा उदास, तीरथ बड़े कि हरि के दास ॥२७॥

शब्दार्थ—सरल है :

कबीर कहते हैं कि प्रभु! यदि आपको अपने भक्तों से स्नेह है तो एक झगड़े को निपटा दो। वह यह कि ब्रह्म बड़ा है या जिसने हमें उत्पन्न किया है, वेद बड़े हैं अथवा वह बड़ा है जहाँ से वेदों का उद्गम है। यह मन बड़ा है अथवा वह प्रभु जिसमें अब यह रमता है अथवा इन सबसे बड़े स्वयं आप हैं? यह सब बातें

आप ही जान सकते हैं। तीर्थस्थल बड़े हैं या उनसे भी बड़े हैं प्रभु-भक्त, भाव यह है कि तीर्थ-स्थलों की अपेक्षा साधुसंगति अधिक श्रेयस्कर है। कबीर तो अब इस झगड़े से उदास हो गया है—वह केवल प्रभु को ही सर्वोपरि मानता है।

विशेष—"ब्रह्मा बड़ा कि जिनि रू उपामा"—से यह ध्वनित होता है कि शरीर का स्रष्टा कबीर परब्रह्म को ही मानते हैं जबकि हिन्दुओं की पौराणिक मान्यतानुसार ब्रह्मा ही शरीर का निर्माता है। किन्तु इस विचार वैभिन्न्य से कबीर के अभिप्रेत अर्थ को पाठक तक पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं होती।

दास रांमहि जानिहै रे, और न जानैं कोइ ॥टेक॥
काजल देइ सबै कोइ, चषि चाहन मांहि बिनांन।
जिनि लोइनि मन मोहिया, ते लोइन परवांन॥
बहुत भगति भौसागरा, नांनां विधि नांनां भाव।
जिहि हिरदै श्रीहरि भेटिया, सो भेद कहूँ कहूँ ठाउं॥
दरसन संमि का कीजिए, जौ गुन नहिं होत समांन।
सींधन नीर कबीर मिल्यौ है, फटक न मिलै पखान॥२८॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि प्रभु को भक्त के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जानता। जिस प्रकार नेत्रों में काजल तो सभी डालते हैं, किन्तु वह सुन्दर नेत्रों में ही शोभा पाता है। नेत्र की जिन सुन्दर पुत्तलिकाओं ने मन को मोहित कर दिया वे ही नेत्र प्रामाणिक रूप से सुन्दर हैं। संसार-सागर में विविध प्रकार की अनेक भक्ति-पद्धतियां हैं, किन्तु जिसके माध्यम से हृदय में प्रभु के दर्शन हो जाय वह भक्ति तो किसी ही किसी—विरले को ही प्राप्त है। उन प्रभु भक्तों के दर्शन करके ही हे मानव! क्या लाभ, यदि तुमने स्वयं में उसके समान गुण उत्पन्न न किये। कबीर को तो प्रभु-भक्ति रूपी समुद्र का पवित्र जल प्राप्त हो गया है, हे जीवात्मा! तुझे चारों ओर भटकने से तो पत्थर की भी प्राप्ति हो सकती।

कसैं होइगा मिलवा हरि सनां,
रे तू बिष बिकारन तजि मनां ॥टेक॥
रे तैं जोग जुगति जान्यां नहीं, तैं गुर का सबद मान्यां नहीं॥
गंदी देही देखि न फूलिए, संसार देखि न भूलिए।
कहै कबीर मन बहु गुंनी, हरि भगति बिनां दुख फुन फुंनी॥२९॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि हे मन! तू विषय-विकारों का परित्याग कर दे, अन्यथा पाप-पंक-पूरित शरीर से प्रभु से किस प्रकार मिलन होगा? हे मन! तूने न तो यौगिक प्रक्रियाओं को जाना और न सद्गुरु के उपदेश का पालन किया जिससे प्रभु प्राप्ति सम्भव होती। तू इस शरीर का जो निरा कूड़ा है, व्यर्थ अभिमान मत कर और न संसार के विभिन्न माया-आकर्षणों में पड़ कर अचेत हो। कबीर कहते हैं कि

इस संसार में चाहे कितने ही गुण क्यों न हों प्रभु-भक्ति बिना वे सब दुख ही दुख है ।

कासूं कहिये सुनि रामां, तेरा मरम न जानैं कोई जी ।
दास बबेकी सब भले, परि भेद न छानां होई जी ।।टेक।।
ए सकल ब्रह्मंड तैं पूरिया, अरू दूजा महि थांन जी ।
मैं सब घट अंतरि पेषिया, जब देख्या नैंन समांन जी ।।
रांम रसाइन रसिक हैं, अदभुत गति बिस्तार जी ।
भ्रम निसा जो गत करै ताहि सूझै संसार जी ।।
सिब सनकादिक नारदा, ब्रह्म लिया निज बास जी ।
कहै कबीर पद पंक्यजा, अब नेड़ा चरण निवास जी ।।३०।।

शब्दार्थ—मरम = रहस्य । बवेकी = विवेकी, ज्ञानी । छानाँ = पाया । पेषिया = देख लिया । पंक्यजा = पंकज । नेड़ा = पास, निकट ।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं तुम्हारी महिमा-वर्णन किससे करूं, क्योंकि कोई तुम्हारा भेद जानता ही नहीं । आपके भक्त बड़े ज्ञानी हैं, किन्तु वे भी आपका भेद नहीं पा सकते । इस समस्त ब्रह्माण्ड में आप परिपूर्ण हैं और फिर भी आपका स्थान कोई दूसरा ही है । मैंने जब अपने हृदय घट को समग्रतः देखा तो आपके दर्शन किये, आपकी गति उसी प्रकार है जिस भाँति नेत्रों से देखते तो सबको हैं, किन्तु हम स्वयं अपने नेत्रों को (बिना दर्पण आदि के) नहीं देख सकते । आपके द्वारा ही समस्त क्रिया-व्यापार संचालित होते हैं किण्तु आपके दर्शन नहीं हो पाते । आपकी गति परम विचित्र है । प्रभु ! आप रसिकों के लिए अमूल्य रसायन के सदृश हैं । जो इस संसार में अज्ञान-रात्रि को विनष्ट कर देता है उसे ही संसार का वास्तविक रूप दृष्टि-गत होता है । शिव, सनकादिक एवं नारदादि ने ब्रह्म को ही अपना निवास बना लिया है, अर्थात् वे उसमें ही रम गए हैं । कबीर कहते हैं कि अब मेरा वास भी प्रभु के पदपद्मों में ही होगा ।

विशेष—'सिव सनकादिक नारदा'—ये समस्त पौराणिक ऋषि और (शिव) देवता हैं ।

मैं डोरै डरै जाऊंगा, तो मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा ।।टेक।।
सूत बहुत कछु थोरा, तार्थं लाइ लै कंथा डोरा ।
कंथा डोरा लागा, तब जुरा मरण भौ भागा ।।
जहाँ सूत कपास न पूनीं, तहाँ बसै इक मूनीं ।
उस मूनीं सूं चित लाऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आंऊँगा ।।
मेरे डंड इक छाजा, तहाँ बसै इक राजा ।
तिस राजा सूँ चित लाऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा ।।
जहां बहु हीरा धन मोती, तहाँ तब लाइ लैं जोती ।
तिस जोतिहि जोति मिलाऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ।।

जहां ऊगै सूर न चंदा, तहां देष्या एक अनंदा।
उस आनन्द सूं चित लाऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ॥
मूल बंध इक पावा, तहां सिध गणेस्वर रावा।
तिस मूलहि मूल मिलाऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ॥
कबीरा तालिब तोरा, तहां गोपंत हरी गुर मोरा।
तहां हेत हरी चित लाऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ॥२१॥

शब्दार्थ—भौजलि=भाभी, यहां सखी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। थोरा= थोड़ा, अल्प। कंथा=साधुओं के धारण करने का एक वस्त्र विशेष। जुरा=जरा, वृद्धावस्था। भौ=भय। पुनी=रुई की कातने से पूर्व बनाई जाने वाली एक बत्ती सी। मूनीं=मुनि, ब्रह्म। राजा=स्वामी ब्रह्म। ै जोती=निरंजन ज्योति। मूल बन्ध =मूलाधार चक्र। सिद्ध गणेश्वर रावा=सिद्धि दाता गणपति, कुण्डलिनी।

कबीर कहते हैं कि यदि मैं प्रभु के मार्ग पर अग्रसर हो गया तो हे सखि! मैं फिर लौटकर इस संसार में नहीं आऊँगा। अर्थात् मैं मुक्त हो जाऊँगा।

इस संसार में कर्म रूपी सूत का कोई ओर छोर नहीं, अतः उसमें पड़ने की अपेक्षा कंथा धारण करना, विरक्त होना अधिक श्रेयस्कर है। संसार से विरक्त होने पर प्रभु-भक्ति को अपनाने के कारण जरा-मरण का भय समाप्त हो जायेगा। जहाँ सूत, कपास एवं पूनी आदि अर्थात् कोई भी सांसारिक उपकरण नहीं है वहाँ ब्रह्म का निवास है। मैं उन ही परम प्रभु से प्रेम करूँगा और पुनः इस संसार में नहीं आऊँगा। मेरे प्रेम नगर के अनुपम (शून्य) भवन में एक राजा—ब्रह्म—का निवास है। अब मैं उसी राजा की भक्ति करूँगा और इस संसार में नहीं लौटूँगा। उस शून्य प्रदेश में अत्यधिक मात्रा में हीरे और मोती हैं एवं वहीं निरंजन ज्योति का वास है। मैं उसी परम-ज्योति स्वरूप से अपनी आत्मा की दीप-ज्योति मिला दूंगा। जहाँ सूर्य एवं चन्द्रमा की भी गति नहीं है वहाँ – शून्य—स्थल —पर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हुई। मैं उसी आनन्द में चिरमग्न रहूँगा और हे सखि मैं अब पुनः इस संसार में नहीं आऊँगा। मूलाधार चक्र में एक स्थल है जहाँ सिद्धिसदन गणपति—इस ब्रह्म प्राप्ति में सिद्धि प्रदान करने वाली कुण्डलिनी का वास है। उस मूल शक्ति को सृष्टि के मूल उस ब्रह्म से मिला दूंगा और फिर इस संसार में नहीं आऊँगा। कबीर कहते हैं कि जहाँ ब्रह्मानन्दी साधक के गुरु का वास है—शून्य गढ़ में वहीं मेरे भी गुरु का मैं भी प्रभु-प्रेम के कारण अपनी चित्तवृत्तियों को वहीं केन्द्रित कर रहा हूँ, अतः अब मैं इस संसार में पुनः नहीं आऊँगा।

संतौ धागा टूटा गगन बिनसि गया, सबद जु कहां समाई।
ए संसा मोहि निस दिन व्यापै, कोई न कहै समझाई ॥टेक॥
नहीं ब्रह्मंड प्यंड पुंनि नांही, पंचतत भी नाहीं।
इला प्यंगुला सुषमन नाँहीं, ए गुंण कहाँ समाँही ॥

नहीं गिह द्वार कछू नहीं तहिंवां, रचनहार पुनि नाँहीं ।
जीवनहार अतीत सदा संगि, गुंण तहाँ समाँहीं ॥
तूटैं बँधै बँधै पुंनि तूटे, जब तब होइ बिनासा ।
तब को ठाकुर अब को सेवग, को काकै बिसवासा ॥
कहै कबीर यहु गगन न बिनसैं, जौ धागा उनमानाँ ।
सीखें सुनें पढ़ें का होई, जौ नहीं पदहि समांनाँ ॥३२॥

शब्दार्थ—विनसि = विनष्ट । ब्रह्मंड=ब्रह्माण्ड । प्यंड=पिंड, शरीर। पंचतत=पंचतत्व 'क्षिति, जल, पावक, गगन समीरा ।'

कबीर कहते हैं कि सन्तो ! जीवन का यह सूत्र टूट जाने पर शरीर-सत्ता समाप्त हो जाती है तो गुरु का सदुपदेश कहाँ समायेगा ? मुझे तो यही आशंका अहर्निश त्रस्त करती है कि जीवात्मा गुरु-उपदेश द्वारा किस प्रकार जीवन्मुक्त होगी। शरीर की सत्ता समाप्त होने पर ब्रह्माण्ड और पिण्ड तथा पंचतत्व एवं इड़ा-पिंगला आदि का कोई महत्व शेष नहीं रह जाता। गृह, द्वार अथवा सृजक-मृतक के लिए तो कोई भी नहीं रह जाता। उस अगम्य, अनादि ईश्वर में ही आत्मा का लय हो जाता है। यह जीवन सूत्र टूटता है, बँधता है और इसी प्रकार जीवन-क्रम चलता रहता है, इसी के द्वारा जो पहले कभी स्वामी रहा होगा उसे किसी का सेवक बनना पड़ता है। कबीर कहते हैं कि इस ज्ञान के श्रावण मात्र से कुछ नहीं होता, वास्तविक तत्व को हृदयंगम कर उन्मन अवस्था से ब्रह्म से तद्रूप हो जाने पर शून्य—ब्रह्म से आत्मा विलग नहीं होती।

ता मन कौं खोजहु रे भाई, तन छूटै मन कहाँ समाई ॥टेक॥
सनक सनंदन जै देवनामा, भगति करी मन उनहुं न जाना ।
सिव बिरंचि नारद मुनि ग्यानीं, मन की गति उनहुं नहीं जानीं ॥
ध्रुप्रहिलाद बभीषन सेषा, तन भीतरि मन उनहुं न देषा ।
ता मन का कोई जानैं भेव, रंचक लीन भया सुषदेव ॥
गोरष भरथरी गोपीचन्दा, ता मन सौं मिलि करै अनन्दा ।
अकल निरंजन सकल सरीरा, ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा ॥३३॥

शब्दार्थ—विरंचि=ब्रह्मा । ध्रु=ध्रुव भक्त । बभीषन=विभीषण । भेव=भेद ।

कबीर कहते हैं कि हे भाइयो ! उस मन की गति का पता लगाओ जो शरीर के छूटने पर भी न जाने कहाँ रमण करता है। सनक सनन्दन आदि जो ऋषिगण थे उन्होंने अपार भक्ति करके भी मन का रहस्य न पाया। शिव एवं नारद जैसे विरक्त ज्ञानी, महामुनि भी मन की गति को न जान पाये। परम-भक्त ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण एवं शेषनाग भी शरीर स्थित मन की गति से अवगत न हो सके। उस रहस्यपूर्ण मन का भेद भला कोई क्या जान सकेगा ? शुकदेव मुनि ने थोड़ी-सी उसकी गति को जान पाया अथवा फिर गोरखनाथ, भर्तृहरि, गोपीचन्द जैसे नाथपंथी योगियों ने मन

की गति को जानकर पूर्ण आनन्द प्राप्त किया। जो मन शरीर में अलख निरंजन ज्योति स्वरूप परमात्मा के समान समाया हुआ है उससे कबीर ने पूर्ण परिचय प्राप्त कर लिया है।

विशेष—पद की प्रथम और अन्तिम पंक्ति से ऐसा आभास होता है कि मन का प्रयोग कबीर ने इन दो पंक्तियों में आत्मा के लिए किया है।

भाई रे बिरले दोसत कबीर के, यहु तत बार बार कासों कहिये।
भांनण घड़ण संवारण संम्रथ, ज्यूं राखै त्यूं रहिए ॥टेक॥
आलम दुनीं सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयानां।
छह दरसन छ्यांनवै पाखंड, आकुल किनहूं न जानां ॥
जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौरानां।
कागद लिखि लिखि जगत भुलानां, मनहीं मन न समाना ॥
कहै कबीर जोगी अरु जंगम, ए सब झूठी आसा।
गुर प्रसादि रटौं चात्रिग ज्यूं, निहचै भगति निवासा ॥३४॥

शब्दार्थ—बिरलै=कोई ही। दोसत=साथी, क्योंकि कबीर का साधना मार्ग बड़ा विकट है अतः उसके साथ चलने के लिए विरले ही साथी मिलते हैं। तत=तत्व, सत्य। आलम=दुनिया, संसार। दुनी=दुनिया। छह दरसन=षट्दर्शन, शिक्षा, छन्द, निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष, कल्प।

कबीर कहते हैं कि मेरे साथी बहुत कम हैं—इस सत्य का बारम्बार उद्घाटन मैं किस-किस के सम्मुख करूँ। वह परम प्रभु भरण, पोषण एवं दोष-संत्रारण सब क्षेत्रों में समर्थ है, अतः वह जिस प्रकार रख रहा है मनुष्य को वैसे ही रहना चाहिए। मैंने सर्वत्र सृष्टि में खोज कर देख लिया, किन्तु प्रभु बिना सर्वत्र शून्य, निर्जनता के और कुछ नहीं है, षट्दर्शन एवं अन्य विविध शास्त्र ग्रन्थों (जिन्हें कबीर केवल मात्र ब्राह्मण वर्ग का पाखंड मानते हैं) में प्रभु की खोज में बड़े व्यग्र प्रयत्न किये गये हैं किन्तु कोई भी उन्हें पूर्णरूपेण जानने में समर्थ नहीं हो सका। उसी को जानने के लिये संसार जप, नियम-संयम, पूजा-अर्चना, ज्योतिष आदि विविध प्रपंचों में पागल हो रहा है। उसकी खोज के लिए पुस्तक पर पुस्तक एवं विविध धर्म-ग्रंथों के ढेर के ढेर लिख कर मन ही मन प्रफुल्लित है, किन्तु इनमें किसी से भी उसका वास्तविक रूप प्रकट नहीं होता। कबीर कहते हैं कि योगी आदि विभिन्न वर्ग के साधक उसकी खोज में झूठी आशा ले लेकर मर रहे हैं, इनके द्वारा गृहीत उपायों से वह प्राप्त नहीं होता तो निश्चयपूर्वक गुरु उपदेश के द्वारा ग्रहण की गई दृढ़ भक्ति द्वारा प्राप्त होता है।

कितेक सिव संकर गये ऊठि,
राम समाधि अजहूं नहीं छूटि ॥टेक॥
प्रलै काल कहूं कितेक भाष, गये इंद्र से अगिणत लाष।
ब्रह्मा खोजि परयौ गहि नाल, कहै कबीर वै राम निराल ॥३५॥

शब्दार्थ—सरल है।

इस पद में कबीर प्रभु की अगम्यता का वर्णन करते कहते हैं कि शिवशंकर जैसे न जाने कितने तपस्वी प्रभु की प्राप्ति-इच्छा में समाधि लगा-लगा कर पराजय मान गये किन्तु प्रभु की समाधि—निद्रा आज भी नहीं टूटी, जो उन्हें दर्शन दे सकें। न जाने कितनी सृष्टियों का सृजन एवं विनाश हो गया और इन्द्र जैसे न जाने कितने लक्ष देवता उनसे पराजित हो गये। ब्रह्मा उन्हें खोजते-खोजते कमल-नाल पकड़ कर बैठ रहा, किन्तु कबीर कहते हैं कि वे अद्‌भुत राम किसी को भी प्राप्त नहीं हो सके।

विशेष—पद की प्रत्येक पंक्ति में हिन्दुओं के किसी न किसी धार्मिक विश्वास का कबीर को ध्यान है जिनके आधार पर वे ब्रह्म की अगम्यता सिद्ध कर रहे हैं।

अच्यंत च्यंत ए माधो, सो सब माँहि समांनां।
ताहि छाड़ि जे आंन भजत हैं, ते सब भ्रंमि भुलांनां ॥टेक॥
ईस कहै मैं ध्यांन न जांनूं, दुरलभ निज पद मोहीं।
रंचक करुणां कारणि केसौं, नांव धरण कौं तोहीं ॥
कहौ धौं सबद कहां थै आव, अरु फिरि कहां समाई।
सबद अतीत का मरम न जानैं, भ्रंमि भूली दुनियाई ॥
प्यंड मुकति कहां ले कीजै, जौ पद मुकति न होई।
प्यंड मुकति कहत है मुनि जन, सबद अतीत था सोई ॥
प्रगट गुपत गुपत पुनि प्रगट, सो कत रहै लुकाई।
कबीर परमांनंद मनाये, अकथ कथ्यौ नहीं जाइ ॥३६॥

शब्दार्थ—रंजक=थोड़ी-सी। करुणा=दया। प्यंडै मुकति=शरीर की मुक्ति। लुकाई=छिपना।

वह अनुपम ब्रह्म समस्त सृष्टि में समा रहा है, उस परम-प्रभु को छोड़ जो अन्य का भजन करते हैं वे लोग सांसारिक भ्रम में भ्रमित हैं।

प्रभु स्वयं कहते हैं कि मैं ध्यान द्वारा प्राप्य नहीं हूँ, मुझे प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। हे प्रभु ! आप अपने दासों—भक्तों—पर थोड़ी सी तो दया दृष्टि फेरिये जिससे वे आपका नाम जपने में समर्थ हो सकें। भला बताओ तो शब्द ब्रह्म, नाद-ब्रह्म, कहाँ से उत्पन्न होता है और फिर कहाँ समा जाता है। सद्‌गुरु के उपदेश का संसार रहस्य नहीं जानता वह केवल मात्र माया-भ्रम में उलझा हुआ है। इस शरीर की ही मुक्ति को लेने से क्या लाभ यदि मुक्ति स्वरूप परम-पद की प्राप्ति न हुई। जीवन्मुक्त मुनिगण यह बताते हैं कि वह अनहद नाद ही तो ब्रह्म था। वह प्रभु कभी दर्शनीय हो जाते हैं और कभी अदृश्य, अगम्य—न जाने वे किधर छिपे हुए हैं। कबीर को अब परमानन्द स्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति हो गई है, इस आनन्द का वर्णन नहीं किया जा सकता।

सो कछू बिचारहु पंडित लोई,
जाकै रूप न रेष बरण नहीं कोई ॥टेक॥

उपजै प्यंड प्रांन कहाँ थें आवै, मूवा जीव जाइ कहाँ समावै।
इंद्री कहाँ करहि बिश्रांमां, सौ कत गया जो कहता रांमा॥
पंचतत तहाँ सबद न स्वादं, अलख निरंजन बिद्या न बादं।
कहै कबीर मन मनहि समानां, तब आगम निगम झूठ करि जानां॥३७॥

शब्दार्थ—लोई=लोग। रेप=रेखा। आगम निगम=वेद और शास्त्र आदि।

भला पण्डित लोग अर्थात् ज्ञानी उसका क्या विचार कर सकते हैं जिसकी न कोई रूप रेखा है और न कोई वर्ण—जो सर्वथा निराकार है, उसको पाने का प्रयत्न तो बड़ा यत्न साध्य है।

शरीर की उत्पत्ति पर उसमें प्राणों का संचार न जाने कहाँ से हो जाता है और जीव की मृत्यु पर वही प्राण न जाने कहाँ जाकर समा जाता है? जीव के मरणोपरान्त न जाने इन्द्रियाँ, जो संसार के नाना विषयों में अनुरक्त थीं, कहाँ जाकर सो जाती हैं और वह हंसात्मा जो शरीर को सजीव बनाये था न जाने कहाँ चला गया? जहाँ जाते हैं वहाँ पंचतत्व निर्मित यह भौतिक संसार नहीं है, केवल वह अलख निरजन ब्रह्म ही ज्योतिष्मान है। वहाँ किसी लौकिक विद्या अथवा विचारधारा की गति नहीं है। कबीर कहते हैं कि जब मन की वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर ब्रह्म में केन्द्रित कर दिया जाता है तब आगम-निगम आदि की समस्त शास्त्रीय विचारधारा मिथ्या प्रतीत होने लगती है और केवल ब्रह्म का ही ध्यान रहता है।

जो पैं बीज रूप भगवाना,
तौ पंडित का कथिसि गियाना॥टेक॥
नहीं तन नहीं मन नहीं अहंकारा, नहीं सत रज तम तीनि प्रकारा॥
विष अमृत फल फले अनेक, वेद रु बोधक हैं तरु एक।
कहैं कबीर इहै मन माला, कहिधूं छूट कवन उरझाना॥३८॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि यदि ब्रह्म बीज रूप ही एक है जिससे असंख्य फलों वाली यह सृष्टि फली है तो फिर पंडित इसी बात के रहस्योद्घाटन के लिये क्या ज्ञान-कथन करेगा? वह ब्रह्म न तो शरीरधारी है और न मनयुक्त है एवं सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों से परे है। इस संसार में उसी की सृष्टि के रूप में विष और अमृतमय फलों से युक्त वृक्ष लगे हुए हैं किन्तु उन सबका मूल उत्स एक ही है। कबीर कहते हैं कि इस प्रकार समस्त सृष्टि का नियामक एक ही ब्रह्म को मान लेने में ही आनंद और शान्ति है, कौन इस व्यर्थ के झगड़े में पड़कर उलझे।

पांडे कौंन कुमति तोहि लागी,
तूं रांम न जपहि अभागी॥टेक॥
बेद पुरांन पढत अस पाँडे, खर चंदन जैसें भारा।
रांम नांम तत समझत नाँही, अंति पड़ै मुखि छारा॥

बेद पढ़्यां का यहु फल पांडे, सब घटि देखैं रांमां ।
जन्म मरन थैं तौ तूं छूटै, सुफल हूँहि सब कांमां ।।
जीव बधत अरू धरम कहत हौ, अधरम कहाँ हैं भाई ।
आपन तौ मुनिजन ह्वै बैठै, का सनि कहौं कसाई ।।
नारद कहै ब्यास यौं भाषै, सुखदेव पूछौ जाई ।
कहै कबीर कुमति तब छूटै, जे रहौ रांम ल्यौ लाई ।।३९।।

शब्दार्थ—खर=गधा । छारा=छार, धूल । घटि=हृदय में । का सति=किसकी । क्यौ=प्रगाढ़ प्रेम ।

हे पांडे जी ! आप किस दुर्बुद्धि के फेर में पड़कर विविध पाखंड कर्मों का जंजाल फैलाते हो । हे अभाग्यवान ! राम-नाम क्यों नहीं जपता ? व्यर्थ में वेद और पुराण पढ़ने से क्या लाभ ? वास्तविक ज्ञान तो प्रभु-भक्ति है, यह पुस्तकीय ज्ञान तो ऐसा ही है जैसे गधे पर चन्दन लदा हुआ हो और वह उसका कुछ भी लाभ न उठा सके । यदि तूने राम-नाम का रहस्य नहीं जाना तो अन्त में मुख में धूल पड़ेगी; अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होगा । हे पाण्डे जी ! वेद पढ़ने का तो यही लाभ है कि प्रत्येक जीव के हृदय में प्रभु की सत्ता को समझो । इससे तू जन्म-मरण के आवागमन चक्र से मुक्त हो जाएगा और तेरे समस्त कार्य सफल हो जायेंगे । यदि तुम पशुबलि करके भी धर्म कहते हो तो फिर अधर्म पूर्ण कार्य कौन-सा रह गया ? तुम स्वयं पशुबलि करके तो मुनि कहलाते हो, फिर भला कसाई किसे कहोगे ? व्यास जी, नारद और शुकदेव जैसे ऋषियों द्वारा इस मत की पुष्टि कराते हैं । कबीर कहते हैं कि यह कुबुद्धि जो तुम्हें ऐसे क्रूर कर्म करने के लिए प्रेरित करती है तभी छूट सकती है जब तुम अपनी वृत्तियाँ राम में केन्द्रित कर दो ।

पंडित बाद बदंते झूठा ।
रांम कह्यां दुनियां गति पावै, खांड कह्यां मुख मीठा ।।टेक।।
पावक कह्यां पाव जे दाजै, जल कहि त्रिषा बुझाई ।
भोजन कह्यां भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई ।।
नर कै साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै ।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जंगल मैं, बहुरि न सुरतैं आनै ।।
साची प्रीति विषै माया सूं, हरि भगतनि सूं हासी ।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ, बांध्यौ जमपुरि जासी ।।४०।।

शब्दार्थ—पावक=अग्नि । त्रिषा=प्यास । सूवा=तोता । बहुरि=फिर । जमपुरि= नरक लोक में ।

पंडित लोग व्यर्थ के विभिन्न वाद प्रस्थापित कर ईश्वर के झूठे स्वरूप से परिचय कराते हैं । भला यदि राम-नाम कहने मात्र से संसार से मुक्ति हो जाय और खाँड का नाम-मात्र लेने से मुंह मिष्टान्न का स्वाद ले ले, अग्नि का नाम लेने से ही पैर जल जाय और जल कह देने भर से प्यास बुझ जाय, भोजन कहने भर से

भूख मिट जाय तो सब ही अपनी इच्छानुकूल तृप्ति पा लें। मनुष्य द्वारा सिखाये जाने पर तोता भी राम-नाम उच्चारण करता है, किन्तु वह प्रभु प्रताप से तो अवगत नहीं होता। यदि कभी वह अपने पिंजड़े से छूट जाय तो पुनः कभी उसे प्रभु की स्मृति भी नहीं आ सकती। जो जीवात्मा माया के विविध विषयों से अनुराग रखते हैं और प्रभु-भक्तों का उपहास करते हैं उनके हृदय में कभी भी प्रभु-प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता है और वे आवागमन के बन्धन में बँधे मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

जौ पैं करता बरण बिचारैं,
तौ जनमत तीनि डाँठि किन सारैं ॥टेक॥
उतपति व्यंद कहाँ थैं आया, जा धरी अरू लागी माया।
नहीं को ऊँचा नहीं को नींचा, जाका प्यंड ताही का सींचा ॥
जे तूं बांभन बभनीं जाया, तौ आंन बाट ह्वै काहे न आया।
जे तूं तुरक तुरकनीं जाया, तो भीतरि खतनाँ क्यूं न कराया ॥
कहै कबीर मधिम नहीं कोई, सो मधिम जा मुखि रांम न होई ॥४१॥

शब्दार्थ—तीनि डांडि=तीन खंडों में। मधिम=नीच।

कबीर कहते हैं कि यदि सृष्टि कर्ता प्रभु भी वर्ण-विचार करे तो मनुष्य के जन्म लेते ही उसे तीन खण्डों में विभाजित कर दे। समस्त जीवों का मूल उत्स एक ही है और फिर सब माया बंधन में पड़ते हैं। समस्त जीव समान हैं क्योंकि शरीर एक ही सांचे में ढले हुए हैं। इसलिए कोई उच्च और निम्न नहीं है। हे ब्राह्मण ! यदि तुझे अपनी उच्चता का गर्व है तो तू शेष संसार के समान ही मातृ-गर्भ से क्यों जन्मा किसी अन्य मार्ग से क्यों नहीं आया ? और हे तुर्क ! यदि तू अपनी श्रेष्ठता में किसी को कुछ समझता ही नहीं तो मातृ उदर में ही खतना करा कर अन्य लोगों से अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करता। कबीर कहते हैं कि कोई नीच नहीं है, केवल वही नीच है जिसके मुख से राम-नाम का उच्चारण नहीं होता।

विशेष—इस पद में कबीर के सत्य कथन की प्रसरतापर्य को छखने वाली है।

कथता बकता सुरता सोई, आप बिचारै सो ग्यानी होई ॥टेक॥
जैसैं अगिन पवन का मेला, चंचल चपल बुधि का खेला।
नव दरवाजे दसूं दुवार, बूझि रे ग्यानीं ग्यांन बिचार ॥
देही माटी बोलै पवनाँ, बूझि रे ग्यानीं मूवा स कौंनां।
मुई सुरति बाद अहंकार, वह न मूवा जो बोलणहार ॥
जिस कारनि तटि तीरथि जाँहीं, रतन पदारथ घट हीं माहीं।
पढ़ि पढ़ि पंडित बेद बषाँणैं, भींतरि हूती बसत न जाँणैं ॥
हूँ न मूवा मेरी मुई बलाइ, सो न मुवा जो रह्या समाइ।
कहै कबीर गुरु ब्रह्म दिखाया, मरता जाता नजरि न आया ॥४२॥

शब्दार्थ—बलाइ=अहं। पवन=हवा। नव दरवाजे=नौ इन्द्रियाँ। दसं=दसवाँ ब्रह्मरन्ध्र।

जो अपनी वृतियों को अंतर्मुखी कर विचार करता है वही ज्ञानी है, वही उपदेशक है, वही प्रभु प्रेमानुरक्त है। जिस प्रकार वायु के संस्पर्श से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है उसी समय सर्वत्रगामी और तीव्र बुद्धि के द्वारा ही यह आत्म-चिन्तन सम्भव है। शरीर में नौ द्वार एवं ब्रह्मरन्ध्र हैं हे ज्ञानी ! ज्ञान द्वारा तू इनकी स्थिति का अनुमान कर। शरीर तो मिट्टी मात्र है जिसको प्राण वायु जीवन प्रदान करती है, हे ज्ञानी जो (आत्मा) मर गया वह कौन था, उसके स्वरूप पर विचार कर। कबीर स्वयं ज्ञानी से किये गये प्रश्न का उत्तर देते कहते हैं कि आत्मा नष्ट नहीं होती मनुष्य की मृत्यु पर नष्ट तो अहं मिथ्या दम्भ एवं स्वार्थ वृत्ति होती है। जिनके लिए मनुष्य विविध तीर्थों की यात्रा का श्रम उठाता है वह रत्न और अमूल्य पदार्थ अर्थात् प्रभु तो हृदय में ही वास करते हैं। पण्डित व्यर्थ में उद्घोष गिरा से वेदों का मन्त्रोच्चार करता है किन्तु अन्तर में रहने वाले ब्रह्म से परिचित नहीं होता। मृत्यु पर मनुष्य नहीं मरता केवल मात्र उसका अहं नष्ट हो जाता है और वह तो समस्त संसार में रमा हुआ है परमात्मा आत्मा के रूप में रह जाता है। कबीर कहते हैं कि सद्गुरु ने मुझे ज्ञान-दृष्टि प्रदान कर ब्रह्म के दर्शन करा दिये जिससे मैं जीवन-मरण के आवागमन चक्र से से मुक्त हो गया।

हम न मरैं मरिहै संसारा, हम कूँ मिल्या जियावनहारा ।।टेक।।
अब न मरौं मरनैं मन मानाँ, तेई मूए जिनि राम न जाँनाँ।
साकत मरैं संतन जीवैं, भरि भरि रांम रसाइन पीवैं ।।
हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं, हरि न मरै हंम काहे कू मरिहैं।
कहै कबीर मन मनहि मिलाबा, अमर भये सुख सागर पावा ।।४३।।

शब्दार्थ—साकत=शक्ति। रसाइन=रसायन।

कबीर इस पद में प्रभु प्राप्ति के पश्चात् अपनी मनःस्थिति का वर्णन करते कहते हैं कि अब मेरा मरण नहीं हो सकता क्योंकि मुझे तो जीवन या अमरता प्रदान करने वाले प्रभु के दर्शन हो गये। अब मैंने मन में दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मैं मरण को प्राप्त नहीं होऊंगा—मरते तो वे हैं जो प्रभु-महिमा से अवगत नहीं होते और मैं तो प्रभु से साक्षात्कार कर चुका हूँ। शाक्त या बलि आदि की विविध हिंसात्मक क्रियाओं में ही पड़ा हुआ नष्ट हो जाता है और साधुजन भरपूर मात्रा में राम-रूपी रसायन—प्रभु भक्ति का पान करते हैं, अतः वे अमर हो जाते हैं। यदि प्रभु की समाप्ति हो जायेगी तो हमारा भी नाश हो जायेगा। किन्तु जब वही नहीं मरेगा तो हम कैसे मर सकते हैं ? क्योंकि हम तो उस अंशी के अंश हैं। कबीर कहते हैं कि मन को प्रभून्मुख कर देने से सुख सागर की प्राप्ति होकर मनुष्य अमर हो जाता है।

कौंन मरै कोन जनमै आई, सरग नरक कौंनै गति पाई ।।टेक।।
पंचतत अविगत थैं उयपनाँ, एकै किया निवासा।
बिछुरे तत फिरि सहजि समांनां, रेख रही नहीं आसा ।।

जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पांनीं।
फूटा कुंभ जल जलहि समांनां, यहु तत कथौ गियानीं ।।
आदें गगां अंतें गगना, मधे गगनां भाई।
कहै कबीर करम किस लागै, झूठी संक उपाई ।।४४।।

शब्दार्थ अविगत=ब्रह्म। एकैं=एक में ही। संक=शंका। उपाई=उपाय।

कबीर कहते हैं कि भला कौन मरता जीता है एवं मरणोपरान्त कौन स्वर्ग और नरक प्राप्त करता है—ये तो विश्वासमात्र ही हैं। प्रभु से उत्पन्न पंचत्व--पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, वायु—एकत्र रूप में आने पर मनुष्य का रूप धारण कर गये; शरीर नष्ट हो जाने पर उससे विलग हो, ये पंचतत्व पुनः उसी ब्रह्म में समा जाते हैं और फिर मनुष्य का कुछ चिन्ह भी संसार में नहीं रह जाता। वस्तुतः यह सृष्टि इसी प्रकार है कि संसार के जल में शरीर रूपी एक घट है जिसमें भीतर भी जल विद्यमान है—शरीर में समस्त तत्त्व इस सृष्टि के ही है—एवं उसके बाहर तो संसार रूपी जल है ही। शरीर रूपी घट के फट जाने पर शरीर घट स्थिति जल रूपी आत्मा शेष संसार में व्याप्त परमात्मा से मिल गई। इस प्रकार सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में अर्थात् सर्वत्र परमात्मा का ही निवास है। कबीर कहते हैं कि संसार के माया-आकर्षण तथा संसार भ्रम मिथ्या है, यहाँ तो केवल कर्म ही प्रधान है।

कौन मरै कहु पंडित जनां, सो समझाइ कहौ हम सनां ।।टेक।।
माटी माटी रही समाइ, पवनें पवन लिया सँगि लाइ।
कह कबीर सु नीं पंडित गुनि, रूप मूवा सब देखैं दुनीं ।।४५।।

शब्दार्थ—रूप मूवा = शरीर मर गया। दुनीं=दुनिया।

हे ज्ञानी पण्डित भक्त ! हमें बताओ तो सही कि मरता कौन है ? मरना कुछ नहीं केवल मिट्टी का दूसरी मिट्टी में मिल जाना है, पवनांश का सम्पूर्ण वातावरण में व्याप्त वायु से मिलन है। कबीर कहते हैं कि ज्ञानी पंडित ! सुन, सब लोग केवल शरीर को नष्ट होता देख उसे मरण कहते हैं, किन्तु यह कोई नहीं देखता कि यह व्यष्टि का समष्टि से, अंग से आत्मा का परमात्मा से मिलन है।

जे कौं मरै मरन है मींठा,
गुर प्रसादि जिनहीं मरि दीठा ।।टेक।।
मूवा करता मुई ज करनीं, मुई मारि सुरति बहु धरनीं।
मूवा आपा मूवा मांन, परपंच लेइ मूवा अभिमान ।।
रांम रमें रमि जे जन मूवा, कहै कबीर अविनासी हूवा ।।४६।।

शब्दार्थ—प्रसादि=कृपा। अविनासी हुआ=ऊपर हो जाते हैं।

कबीर कहते हैं कि सदगुरु की कृपा से जिन्हें मरण के दर्शन हो जाते हैं वे यदि मरना चाहें तो मरण ही उनके लिए मधुर है क्योंकि वह प्रभु-दर्शन का एक उपाय है। जो सांसारिक कर्मों के लिए मर जाता है अर्थात् उनसे विरक्त हो जाता है उसे

कर्म-दोष या कर्म-पाप नहीं लगता। व्यक्ति को कामिनी एवं अन्य मायाकर्षणों से विरत हो जाना चाहिए। अहं और दम्भ को नष्ट कर एवं मिथ्या-मान को भी त्याग कर व्यक्ति सांसारिक प्रपंच से अलग हो जाता है। कबीर कहते हैं कि इस भाँति संसार के लिए मर कर जो प्रभु-भक्ति में लीन रहते हैं फिर वे प्रभु से मिलकर अमरत्व को प्राप्त हो जाते हैं।

विशेष—मूलपद पर गीता का प्रभाव है।

जस तूं तस तोहि कोई न जांन,
लोग कहैं सब आंनहि आंन ।।टेक।।
चारि बेद चहूं मत बिचार, इहि भ्रंमि भूलि पर्‌यौ संसार।
सुरति सुमृति दोइ को बिसवास, बाझि पर्‌यौ सब आसा पास।।
ब्रह्मादिक सनकादिक सुर नर, मैं बपुरौ धूं का मैं का कर।।
जिहि तुम्ह तारौ सोई प तिरई, कहै कबीर नांतर बांध्यौ मरई ।।४७।।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! आप जैसे है उस रूप में आपको कोई नहीं जानता सब और ही और रूप में आपका स्वरूप वर्णन करते हैं। चारों वेद एवं समस्त मत-मतान्तरों का उद्देश्य भी आपका स्वरूप वर्णन है किन्तु संसार उनमें विश्वास कर व्यर्थ भूल में पड़ा हुआ है—वहाँ ईश्वर का वास्तविक स्वरूप कहाँ? प्रभु को प्राप्त करने के लिए केवल दो ही उपाय हैं—प्रेम और स्मृति ग्रंथ, संसार शेष उपायों के द्वारा इन्हीं के चारों ओर घूमता है। आगे कबीर पूर्व कथन से विरोध रखती हुई बात कहते हैं कि ब्रह्मादिक एवं सनकादिक आदि ऋषिगण एवं अन्य देवता तथा मनुष्य भी उनका भेद न जान सके तो मैं बेचारा भला उनको क्या जान सकता हूँ? कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! जिसे आप इस संसार-सिन्धु से तारना चाहते हैं तो तर जाता है, अन्यथा शेष मनुष्य तो माया-बंधन में पड़े ही मर जाते हैं और आवागमन के चक्कर में पुनः पड़ते हैं।

लोका तुम्ह ज कहत हौ नंद कौ नंदन, नंद कहौ धूं काकौ रे।
धरनि अकास दोऊ नहीं होते, तब यहु पंद कहां थौ रे ।।टेक।।
जांमैं मरै न सकुटि आवै, नाँव निरंजन जाकौ रे।
अबिनासी उपजै नहि बिनसैं, संत सुजस कहैं ताकौ रे।।
लष चौरासी जीव जंत मैं भ्रमत नंद थाकौ हे।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसो, भगति करै हरि ताकौ रे ।।४८।।

शब्दार्थ—बिनसै = नष्ट होता है। लष = लाख।

हे पण्डित! नन्दलाल श्रीकृष्ण को प्रभु बताते हो, किन्तु यह तो बताओ कि नन्द कौन है? और कहाँ का वासी है? जब पृथ्वी और आकाश—सृष्टि में कुछ भी नहीं था केवल मात्र परब्रह्म था क्या तुम्हारा यह नंद तब भी था? कबीर कहते हैं कि वास्तविक प्रभु तो वही है जिसका नाम अलख-निरंजन है। वह न तो जन्म लेता है और न मरण को प्राप्त होता है और न कभी उस पर संकट आता है। वह

अविनाशी प्रभु न तो जन्म लेता है न मरता है। हे साधु जनो! तुम उसी का गुण-गान करो। नंद तो, जो कृष्ण का पिता है, आवागमन के चक्कर में पड़कर चौरासी लाख योनियों में भ्रमित होता रहा है; अर्थात् वह तो सामान्य मनुष्य है किन्तु कबीर के स्वामी ऐसे हैं जो इन सब सांसारिक बातों से परे हैं। उसी की भक्ति काम्य है।

निरगुण रांम निरगुंण रांम जपहु रे भाई,
अबिगत की गति लखी न जाइ ॥टेक॥
चारि बेद जाकै सुमृत पुरांनां नौ व्याकरवां मरम न जाना।
सेस नाग जाकैं गरड़ समांनां, चरण कंवल कवला नहीं जांनां ॥
कहै कबीर जाकैं भेदै नांहीं, निज जन बैठे हरि की छाहीं ॥४९॥

कबीर कहते हैं कि हे भाई! तुम निर्गुण ब्रह्म की भक्ति करो। उस अगम्य प्रभु की गति का किसी को पता नहीं। चारों वेद एवं समस्त स्मृति एवं पुराण ग्रन्थ तथा नव-व्याकरण इस निर्गुण ब्रह्म के रहस्य को न जान सके। शेषनाग को जिसका वाहन गरुण चट कर जाता है उस प्रभु के रहस्य को उनके चरण कमलों में रहने वाली लक्ष्मी नहीं जान पाती। कबीर कहते हैं कि परम प्रभु के रहस्य को कोई नहीं जान पाया, किन्तु प्रभु-भक्त उनके रहस्य को पहचानकर उन्हीं की शरण में रहते हैं।

विशेष—कबीर के ब्रह्म की विशेषता यही है कि उसे जहाँ निर्गुण बताते हैं वहाँ उसका सम्मिलन वैष्णवों के आराध्य विष्णु आदि से कर देते हैं किन्तु इन नामों को भी कबीर ने अवतार के नाम के रूप में नहीं अपनाया उनका निर्गुण ब्रह्म जनता में प्रचलित इष्टदेव के नामों से अभिहित हो सर्वसाधारण के अधिक निकट आ जाता है।

सबनि मैं औरनि मैं हूं सब।
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो,
कोई कहौ कबीर कहौ रांम राई हो ॥टेक॥
नां हम बार बूढ़ नाहीं हम, नां हमरै चिलकाई हो।
पठए न जांऊं अरवा नहीं आंऊं, सहजि रहूं हरिआई हो।
वोढन हमरै एक पछेवरा, लोक बोलें इकताई हो।
जुलहै तनि बुनि पांन न पावल, फारि बुनी दस ठांई हो।
त्रिगुंण रहित फल रमि हम राखल, तब हमरौ नांउं रांम राई हो।
जग मैं देखौं जग न देखै मोहि, इहि कबीर कछु पाई हो ॥५०॥

शब्दार्थ—बिलगि बिलगि=भिन्न भिन्न रूप। बार=पानी। बूढ=डूबना। चिलकाई=प्रकाशित होना।

कबीर का ब्रह्म स्वयं कहता है कि मैं सर्वत्र व्याप्त हूं और सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में सब कुछ मैं ही हूं। यह नाना रूपात्मक जगत मेरे विभिन्न रूपों का प्रकाश है। कोई मुझे किसी नाम से पुकारता है और कोई किसी अन्य नाम से। मैंने तो जल-प्रवाह में डूब सकता हूं एवं न मैं किसी बाह्य प्रकाश से प्रकाशित है। मैं कहीं

जाता हूँ और न कही आता हूं तो स्वाभाविक रूप से, प्रयत्न न करते हुए भी संसार (विद्वानों से तात्पर्य) मुझे एक परमतन्त्र के रूप में जानता है। जुलाहा जिस प्रकार एक ही थान को बुनकर उसके दस टुकड़े कर देता है उसी भांति मैं एक होते हुए भी सर्वत्र रहता हूँ। मुझे मेरी सत्-रज तम त्रिगुणात्मक प्रकृति भी नहीं व्यापती, इसी अद्भुतता के कारण मेरा नाम राम पड़ा। कबीर ने उसके स्वरूप को कुछ ग्रहण किया है। इसीलिए वे कहते हैं कि ब्रह्म तो समस्त जगत को देखता है किन्तु संसार उस परमात्मा को नही देखता।

लोका जांनि न भूलौ भाई।
खालिक खलक खलक मैं खालिक, सब घट रह्यौ समाई ।।टेक।।
अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निंदा।
ता नूर थैं सब जग कीया, कौन भला कौन मंदा ।।
ता अला की गति नहीं जांनीं, गुरि गुड़ दीया मींठा।
कहै कबीर मैं पूरा पाया, सब घटि साहिब दींठा ।।५१।।

शब्दार्थ खालिक=प्रभु। खलक=संसार। नूर=रत्न। मंदा=बुरा। गुरि=सद् गुरु। गुड़=ज्ञानोपदेश। पूरा=पूर्ण ब्रह्म। साहिब=स्वामी, ब्रह्म। दींठा=दृष्टिगत हुआ।

हे पंडित! तुम प्रभु-महिमा को जानते हुए भी उसे भूलो मत। अर्थात् प्रभु को विस्मृत कर संसार की विषय-वासनाओं में मत पड़े रहो। वह ब्रह्म सर्वत्र है। इस प्रकार वह प्रभु प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में बसा हुआ है। एक प्रभु से ही समस्त संसार का निर्माण हुआ है अतः दूसरे की निन्दा कर प्रभु को ही निन्दित करते हैं। जब समस्त संसार उसी एक ज्योति से प्रकाशित है तो फिर भला अच्छा और बुरा उच्च और निम्न का भेद कैसा? सतगुरु के मधुर ज्ञानोपदेश से प्रभु के दर्शन हुए, उसकी गति अगम्य है। कबीर कहते हैं कि मुझे पूर्ण ब्रह्म के दर्शन हो गये, अब मुझे प्रत्येक के हृदय में उसका वास दृष्टिगत होता है।

रांम मोहि तारि कहाँ लै जैहो।
सो बैकुंठ कहौ धूं कैसा, करि पसाव मोहि दैहौ ।।टेक।।
जो मेरे जीव दोइ जांनत हौ, तौ मोहि मुकति बताओ।
एकमेक रमि रह्या सबनि में, तौ काहे भरमावौ ।।
मारण तिरण जबै लग कहिये, तब लग तत न जांनां।
एक रांम देख्या सबहिन मैं, कहै कबीर मन मांनां ।।५२।।

शब्दार्थ—तारि=उतार कर, संसार सागर से तर कर। पासव=कृपा करके। तत=तत्व, सत्य, ब्रह्म।

हे प्रभु! मेरी समझ में नहीं आता कि आप मुझे इस संसार से तार कर कहाँ ले जाओगे। हिन्दुओं का यह विश्वास है कि संसार सागर से पार होकर मनुष्य वैकुण्ठ में जाता है तो हे प्रभु! आप मुझे कृपा कर जो यह लोभ प्रदान करेंगे वह

कैसा है ? यदि आप अपने और मेरी जीवात्मा में द्वैत-भावना से अन्तर देखते हैं तो मुझे मुक्ति का साधन बताइये जिसमें मैं आपके स्वरूप में लीन हो एकमेक हो जाऊँ। यदि वह एक ब्रह्म सर्वत्र समस्त वस्तुओं एवं पदार्थों में परिव्याप्त है तो फिर मुझे इस द्वैत (भ्रम) में क्यों डाला गया। तारने एवं तरने की तो बातें तभी तक सूझती हैं जब तक प्रभु को नहीं जाना जाता। कबीर मन में प्रभु की सत्ता को स्वीकार कर सर्वत्र राम की ही झाँकी में देखते हैं।

सोहं हंसा एक समांन, काया के गुण आंनहि आंन ।।टेक।।
माटी सकल संसारा, बहु बिधि भांडे घड़ै कुंभारा ।।
पंच बरन दस दुहिए गाइ, एक दूध देखौ पतिआइ।
कहै कबीर संसा करि दूरि, त्रिभुवननाथ रह्या भरपूर ।।५३।।

शब्दार्थ—सोहं=सोऽहं, ब्रह्म। हंसा=आत्मा। काया=शरीर। आंनहि-आदि=अन्य ही अन्य। संसा=संशय।

कबीर कहते हैं कि ब्रह्म और आत्मा में कोई अन्तर नहीं, केवल मात्र मनुष्य के ही गुण भिन्न हैं, वही माया में संलिप्त है। समस्त संसार में एक ही मिट्टी है, सृष्टि निर्माता ब्रह्म रूपी कुम्भकार ने उसी मिट्टी के विविध आकारधारी मनुष्य रूपी घड़े निर्मित कर दिये हैं। संसार ने पंचवर्ग रूपी काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और दसों इन्द्रियों द्वारा एक आनन्द प्राप्ति ही काम्य बना ली है। कबीर कहते हैं कि संसार के माया-जन्य भ्रम को दूर कर ले और प्रभु का भजन कर क्योंकि वही समस्त संसार में परिव्याप्त है।

प्यारे रांम मनहीं रनां।
कासूं कहु कहन कौं नाहीं, दूसर और जनां ।।टेक।।
ज्यूं दरपन प्रतिब्यंब देखिए, आप दवासूं सोई।
संसौ मिट्यौ एक कौ एकै, महा प्रलै जब होई ।।
जौं रिझऊँ तौ महा कठिन है, बिन रिझवैं थैं सब खोटी।
कहैं कबीर तरक दोइ साधैं, ताकी मति है मोटी ।।५४।।

शब्दार्थ—दरपन=दर्पण। प्रतिब्यंब=प्रतिबिम्ब। संसौ=संशय। तरक=तर्क।

हे प्रभु ! मैं आपका महिमागान मन ही मन कर लेता हूँ, मैं किससे आपका गुण-वर्णन करूँ, कोई अन्य प्रभु-भक्ति में अनुरक्त नहीं मिलता। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब है, उसी भांति इस संसार में आपका प्रतिबिम्ब है। संसार-भ्रम का नाश तो तभी हो सकता है जब महाप्रलय होकर सब कुछ नष्ट हो जाय और केवल मात्र एक प्रभु ही शेष रह जाय। यदि मैं प्रभु को अपने प्रेम द्वारा आकर्षित करने का प्रयत्न करूँ तो यह प्रेम-निर्वाह बड़ा कठिन है। कबीर कहते हैं कि जो व्यक्ति तर्क बल से संसार और प्रभु दोनों की सत्यता प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं वे निबुध हैं, क्योंकि एकमात्र प्रभु से प्रेम ही मनुष्य का श्रेय है।

हंम तौ एक एक करि जांनां ।
दोइ कहैं तिनहीं कौं दोजग, जिन नांहिन परिचांनां ।।टेक।।
एकै पवन एक ही पांनीं, एक ज्योति संसारा ।
एक ही खाक घड़े सब भांडे, एकही सिरजन हारा ।।
जैसें बाढी काष्ट ही काटै, अगिनि न काटै कोई ।
सब घटि अंतरि तूँहीं व्यापक, धरै सरूपैं सोई ।।
माया मोहे अर्थ देखि करि, काहे कूं गरबांनां ।
निरभै भया कछू नहीं ब्यापै, कहै कबीर दिवांनां ।।५५।।

शब्दार्थ—दोई=द्वैत । दोजग=दोजख, नरक । खाक=मिट्टी । भाँड=पात्र । बाढ़ी=बढ़ई । अगिनि=अग्नि । तूँही= तू ही, ब्रह्मा । सरूपैं=स्वरूप । अर्थ=धन । गरबाँना=गर्व करना, मिथ्या दम्भ के अर्थ में प्रयोग ।

कबीर कहते हैं कि हमने तो प्रभु की एक ही परब्रह्म के रूप में जाना है । जो व्यक्ति प्रभु को एक से अधिक बताते हैं अथवा जो प्रभु और संसार दोनों को सत्य मानते हैं, वे नरक के अधिकारी हैं । संसार में एक ही पवन परिव्याप्त है एवं जल भी एक ही है । समस्त संसार एक ही परम ज्योति के प्रकाश से अथवा एक ही सूर्य से प्रकाशित है । एक ही मिट्टी से सृजनकार ब्रह्म ने मनुष्यों के रूप में विविध आकार के पात्रों का निर्माण किया है । इन सबसे यही सिद्ध होता है कि प्रभु एक ही है । जिस प्रकार बढ़ई काष्ठ की लकड़ी को ही काटता है, अग्नि को कोई नहीं काट सकता, उसी भाँति भौतिक उपादानों को तो नष्ट कर सकते हैं किन्तु परम ज्योति स्वरूप ब्रह्म को नष्ट नहीं किया जा सकता । हे प्रभु ! समस्त संसार के हृदय में आपका वास है, एक प्रकार से समस्त संसार के रूप में प्रभु ही विविध रूपों में भासित है । हे मनुष्य ! क्यों व्यर्थ मिथ्यादम्भ करता है, तेरा चंचल मन धन एवं अन्य माया प्रलोभनों में सहज ही फँस जाता है । कबीर कहते हैं कि प्रभु-प्रेमानुरक्त भक्त को किसी प्रकार का सांसारिक भय नहीं रह जाता, वह तो प्रभु-प्रेम में ही लीन रहता है ।

अरे भाई दोइ कहाँ सो मोहि बतावौ,
बिचिहि भरम का भेद लगावौ ।।टेक।।
जोनि उपाइ रची द्वै धरनीं, दीन एक बीच भई करनीं ।
रांम रहीम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसबी लई ।।
कहै कबीर चेतहु भौंदू, बोलनहारा तुरक न हिंदू ।।५६।।

शब्दार्थ—दोइ=दो, यहाँ तात्पर्य एक से अधिक का है, बहुदेववाद । तसबी =मुसलमानों के जपने की माला का विशेष नाम । भौंदू=मूर्ख, बुद्धू ।

कबीर कहते हैं कि हे बहुदेववादियो ! मुझे इस बात का उत्तर दो कि एक से अधिक भगवान् कहाँ से आ गये । यदि वह एक से अधिक है तो उसने एक से अधिक पृथ्वी का निर्माण क्यों नहीं किया । सब धर्मों का बिन्दु तो एक ही है, केवल

मात्र उनकी आचरण पद्धति में अन्तर है। हिन्दू और मुसलमानों ने अपने-अपने आराध्य को पृथक्-पृथक् स्वीकार कर इस सत्य को विस्मृत कर दिया और हठधर्मी से एक ने माला को और दूसरे ने तस्बी को अपनाया। कबीर कहते हैं कि भेद बुद्धि रखने वाले हे भोंदुओ ! (बुद्धुओ) मनुष्य के शरीर में बोलने वाली आत्मा न तो हिन्दू है और न मुसलमान—वह तो इस भेद बुद्धि से परे है।

ऐसा भेद बिगूचन भारी।
बेद कतेब दीन अरू दुनियाँ, कौंन पुरिष कौन नारी ।।टेक।।
एक बूँद एकै मल मतूर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उतपनां, कौन बांम्हन कौन सूदा ।।
माटी का प्यंड सहजि उतपनां, नाद रुव्यंद समांनां।
बिनसि गयां थैं का नांव धरिहौ, पढ़ि पुनि भ्रंम जांनां ।।
रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर, सत गुन हरि है सोई।
कहै कबीर एक रांम जपहु रे, हिंदू तुरक न कोई ।।५७।।

शब्दार्थ—वेद = चारों वेद। कतेब = किताब, कुरान, मुसलमानों का धर्म ग्रन्थ। बूँद = वीर्य की एक बूँद से तात्पर्य है। सूदा = शूद्र। प्यंड = पिंड, शरीर। नाद = शब्द। रुव्यंद = रुण्ड।

कबीर कहते हैं कि भेद-बुद्धि ने भारी वितण्डावाद खड़ा कर रखा है। इस भेद-बुद्धि ने भारी विविध धर्म ग्रन्थों, मतों एवं देशों में विभेद कर रखा है। वास्तविकता यह है कि स्त्री और पुरुष में भी कोई अन्तर नहीं है, सब ही उस परब्रह्म के अंश हैं।

समस्त मनुष्य एक ही वीर्य की बूँद से उत्पन्न हुए हैं। सब समान रूप से मल-मूत्र का त्याग करते हैं। सब में एक ही चर्म और माँस समान ही है। सबका जन्म परम ज्योति स्वरूप एक ब्रह्म से ही है। फिर भला ब्राह्मण और शूद्र का अन्तर कैसा ? मिट्टी से सबके शरीर की उत्पत्ति एक समान भाव से ही होती है। सबके शरीर में नाद-ब्रह्म की अवस्थिति है। यदि यह शरीर नष्ट हो गया तो मृत्यु के उपरांत आत्मा को क्या सम्बोधन दोगे ? भाव यह है कि नाम-रूप का भेद मिथ्या है—सब में समान रूप से ब्रह्म का वास है। इस सत्य के होते हुए भी संसार व्यर्थ पोथी-ज्ञान में उलझा हुआ है। हिन्दुओं का यह विश्वास कि ब्राह्मण में रजोगुण, शंकर में तमोगुण एवं विष्णु में सतगुण प्रधान है—भ्रामक है। इसीलिए कबीर कहते हैं कि तुम एक परब्रह्म का ही भजन करो। हिन्दू और मुसलमान सब एक हैं, अतः उनके आराध्य भी एक ही हैं।

हंमारै रांम रहीम करीमा केसो, अहल रांम सति सोई।
इनकै काजी मुलां पीर पैकंबर, रोजा पछिम निवाला।
इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा ।।

तुरक मसीति देहुरै हिंदू, दहूठा रांम खुदाई।
जयां मसीति देहुरा नांहीं, तहाँ काकी ठकुराई ।।
हिंदू तुरक दोऊ रह तूटी, फूटी अरू कनराई ।
अरध उरंध दसहूँ दिस जित तित, पूपि रह्या रांम राई ।
कहै कबीर दास फकीरा, अपनीं रहि चलि भाई ।
हिंदू तरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई ।।५८।।

शब्दार्थ—हंमारे = हमारे । करीमा = करीम । केसो = केशव । बिलमिल= बिस्मिल्लाह । बिस्म्भर = विश्वम्भर, विश्व का भरण पोषण करने वाला । मुलाँ= मुल्ला । पैकंबर=पैगम्बर, धर्मदूत । रोजा = रमजान के दिनों में उपवास रखने को रोजा कहते हैं । दिज = द्विज, ब्राह्मण । मसीति=मस्जिद । देहुरे = देवालय । ठकुराई =प्रभुता, स्वामित्व । रहि=राह, मार्ग । करता=कर्त्ता, ब्रह्म ।

कबीर यहाँ सब मत-मतान्तरों द्वारा आराधित प्रभु को नामों की विभिन्नता होते हुए भी एक ही मानते हैं । वे कहते हैं कि हमें तो प्रभु राम, रहीम, केशव, अल्लाह समस्त रूपों में समान भाव से मान्य हैं । बिस्मिल्लाह न कहकर यदि उसे विश्वम्भर कर दिया जाय तो भी वह वही प्रभु रहेगा कोई दूसरा नहीं ।

एक ओर मुस्लिमों के यहां काजी, मुल्ला, पीर तथा पैगम्बर एवं रोजा तथा पश्चिम दशा की ओर मुँह उठाकर नमाज पढ़ने की मान्यता है तो दूसरी ओर हिन्दुओं के यहां पूर्व दिशा की ओर मुख करके ब्राह्मण और अन्य देवताओं की पूजा विधि है और एकादशी व्रत तथा गंगा स्नान की मान्यता है। भला एक ही प्रभु के लिए उपासना-पद्धति का यह व्यवधान कैसा ? मुसलमान मस्जिद एवं हिन्दू मन्दिर में प्रभु का वास मानते हैं । इस प्रकार वे राम और अल्लाह में भेद उत्पन्न कर देते हैं । भला जहाँ मन्दिर और मस्जिद नहीं है, वहां किस प्रभु का शासन है ? इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान व्यर्थ अपने बीच भेद की दीवार खड़ी कर त्रुटिपूर्ण आचरण करते हैं और परस्पर लड़ते हुए एक-दूसरे से कतराते रहते हैं ।

भक्त कबीर दास जी कहते हैं कि मनुष्य ! तू अपने उचित मार्ग का अवलम्बन कर क्योंकि-ऊपर नीचे अत्र-तत्र-सर्वस्त्र वही सर्वशक्तिमान् एक ही ब्रह्म बसा हुआ। हिन्दू और मुस्लिम दोनों का निर्माता एक ही ब्रह्म है, उसकी गति कोई नहीं देख पाता ।

काजी कौन कतेब बषांनें ।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जांनें ।।टेक।।
सकति से नेह पकरि करि सुनति, यहु नबदू रे भाई ।
जौंर षुदाइ तुरक मोहि करता, तौ आपैं कथि किन जाई ।।
हौं तौ तुरक किया करि सुनति, औरति सौं का कहिये ।
अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा हिंदू रहिये ।

छाड़ि कतेब रांम कहि काजी, खून करत हौ भारी।
पकरी टेक कबीर भगति की, काजी रहे झख मारी॥

शब्दार्थ—कतेब = किताब, कुरान शरीफ। खून करते हो भारी = बहुत अन्याय करते हो। सुनति = मुसलमानों की सुन्नत की रस्म।

कबीर कहते हैं कि हे काजी! क्यों व्यर्थ कुरान के पाठ के चक्कर में पड़े हुए हो? इसका पाठ करते-करते तुम्हें न जाने कितना समय व्यतीत हो गया, किन्तु तुम अब भी प्रभु महिमा से परिचित नहीं हो सके। ये काजी शान्ति-पूर्वक बालक का खतना करते हैं, यह इनका आदर्श है। यदि तुर्क अपने प्रभुत्व का इसी प्रकार उपयोग करें तो काजी ही कट जाय, मार दिया जाय। यदि तुम तुर्क होकर खतनें कराने से पवित्र होते हो तो फिर स्त्री को क्या उत्तर दोगे? अर्ध शरीर भाव ही अच्छा है। अतः हे मुल्ला! अपनी पवित्रता बनाने के लिए हिन्दुओं के आधे आचरण करो। हे मुल्ला! तुम कुरान आदि धर्म-ग्रन्थों को छोड़ राम-नाम का जप करो, ऐसा न करने पर तुम भारी अन्याय कर रहे हो। कबीर कहते हैं कि मैंने तो भक्ति का दृढ़ सम्बल प्राप्त कर लिया है, धर्मनिष्ठ मुसलमान, काजी, मुझे मुसलमान बनाने का व्यर्थ उपक्रम करते रह गये।

मुलां कहां पुकारै दूरि, रांम रहीम रह्या भरपूरि॥टेक॥
यहु तौ अलह गूंगा नांहीं, देखै खलक दुनीं दिल माहीं।
हरि गुंन गाइ बंग मैं दीन्हीं, काम क्रोध दोऊ बिसमल कीन्हां॥
कहै कबीर यह मुलनां झूठा, रांम रहीम सबनि मैं दीठा॥६०॥

शब्दार्थ—अलह = अल्लाह। बंग = बांग। बिसमिल = नष्ट करना। दीठा = दृष्टिगोचर होता है।

कबीर कहते हैं कि हे मुल्ला जी! आप बांग देकर प्रभु को दूर से बुलाने का उपक्रम क्यों करते हो? उसे अल्लाह कहो या राम, वह तो सर्वत्र रमा हुआ है। यह अल्लाह गूंगा तो नहीं है, उसे तो समस्त संसार में तथा अपने हृदय में देखा जा सकता है। कबीरदास जी कहते हैं कि यह बाँग लगाने वाला मुल्ला भ्रम में पड़ा हुआ है वह राम और रहीम सभी नामों को धारण करने वाला ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। अतः मैंने तो प्रभु का गुणगान कर बांग को अलग कर दिया है अर्थात् बांग का मेरे लिए कोई प्रयोजन नहीं। प्रभु स्मरण से मेरे शत्रु काम तथा क्रोध भी समाप्त हो गये हैं।

पढ़ि ले काजी बंग निबाजा,
एक मसीति दसौं दरवाजा॥टेक॥
मन करि मका किबिला करि देही, बोलनहार जगत गुर येही।
जहां न दोजग भिस्त मुकांमां, इहां हीं रांम इहां रहिमांनां॥

बिसमस तांमस भरंम कै दूरी, पचूं भषि ज्यूं होइ सबूरी।
कहै कबीर मैं भया दिवांनां, मनवाँ मुसि मुसि सहजि समांनां ॥६१॥

शब्दार्थ—मसीति=मस्जिद। कबिला=कर्बला। दोजग=नरक।

कबीर कहते हैं कि हे काजी! तू मसजिद में जो नमाज पढ़ता है वह झूठी है, अब तू प्रभु नाम का स्मरण कर सच्ची नमाज पढ़। इस एक शरीर रूपी मसजिद के दस द्वार है, उन सबसे यही राम नाम ध्वनि आनी चाहिए। तू मन को मक्का और शरीर को कर्बला के समान पवित्र तीर्थधाम बना ले। तेरे भीतर ब्रह्म का जो अंश आत्मा है वही तेरा पूज्य गुरु है। अतः तू अपना ध्यान वहां केन्द्रित कर, उस ब्रह्म में लगा, जहाँ न स्वर्ग है और न नरक। वह एकमात्र ब्रह्म ही राम और रहीम आदि नामों से पुकारा जाता है। तू अपनी समस्त तामसी वृत्तियों को समाप्त कर माया-भ्रम को भगा दें। यदि तू पांचों इन्द्रियों से अर्थात् सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों से प्रभु का भजन करेगा तो तुझे शान्ति प्राप्त होगी।

कबीर कहते हैं कि मैं तो प्रभु-प्रेम का दीवाना हो गया हूँ और मेरा मन चुप-चाप—संसार से असम्पृक्त हो सहज समाधि में लीन रहने लगा है।

मुलां करि ल्यो न्याव खुदाई,
इहि बिधि जीव का भरम न जाई ॥टेक॥
सरजी आंनें देह बिनासै, माटी बिसमल कीता।
जोति सरूपी हाथि न आया, कहौ हलाल क्या कीता॥
बेद कतेब कहौ क्यूं झूठा, झूठा जोनि बिचारै।
सब घटि एक एक करि जांनें, भौं दूजा करि मारै॥
कुकड़ी मारे बकरी मारे, हक हक करि बोलै।
सबै जीव सांईं के प्यारे, उबरहुगे किस बोलै॥
दिल नहीं पाक पाक नहीं चीन्हां, उसदा षोज न जांनां।
कहै कबीर भिसति छिटकाई, दोजग ही मन मांनां ॥६२॥

कबीर कहते हैं कि हे मौलवी साहब! इन बाह्याचारों के ढोंग में न पड़कर ईश्वर के न्याय के अनुरूप आचरण करो। इस मिथ्याचार से जीवात्मा का भ्रम नष्ट नहीं होगा, उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होगी। जीव-हत्या द्वारा तुमने उस परमेश्वर द्वारा निर्मित जीव के शरीर को नष्ट कर उसके शव को भी समाप्त कर दिया। इस हलाल करने का क्या लाभ, जब वह ज्योतिस्वरूप परम ब्रह्म ही तुम्हें दृष्टिगत नहीं हुआ। वेद, कुरान आदि शास्त्र-ग्रंथों को झूठा कहने से क्या लाभ? वस्तुतः झूठे वे नहीं, झूठे तो वे लोग हैं जो उन पर विचार नहीं करते। यदि आप सब प्राणिमात्र के हृदय में एक उसी ब्रह्म की अवस्थिति मानते हैं तो जीवहत्या करते समय आप उसमें अपने जैसा ही प्राण क्यों नहीं मानते? तुम बकरी और मुर्गी जैसे निरीह जीवों को मारकर भी धर्म और पुन्य की बातें बढ़-चढ़ कर करते हो। समस्त जीवमात्र ही परमेश्वर को प्रिय हैं, ये निर्मम हत्याएँ कर तुम किस भाँति मुक्त हो सकोगे? तुम्हारा हृदय तो

स्वच्छ नहीं है और न तुम उस परम पवित्र प्रभु को पहचान पाये और न उसको खोजने का कभी प्रयत्न ही किया। कबीर कहते हैं कि मुल्ला जी ! आपने प्रभु और संसार में (संसार के जीवों में) द्वैत-भावना स्थापित कर भ्रम का वातावरण बना रखा है।

या करीम बलि हिकमति तेरी,
खाक एक सूरति बहु तेरी ।।टेक।।
अर्ध गगन मैं नीर जमाया, बहुत भांति करि नूरनि पाया।
अवलि आदम पीर मुलांनां, तेरी सिफति करि भये दिवांनां ।।
कहै कबीर यहु हेत बिचारा, या रब या रब यार हमारा ।।६३।।

शब्दार्थ—करीम=ईश्वर। बलि=बलिहारी। हिकमति=सराहनीय प्रयत्न, यहाँ माया से तात्पर्य। खाक=मिट्टी।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं तुम्हारी माया पर बलिहारी जाता हूँ। तुमने चित्र-विचित्र सृष्टि की रचना की है। इस संसार में मिट्टी एक ही है, किन्तु उसी से ही तुमने विविध भाँति के जीव निर्मित कर दिये। तुम्हारी यह विचित्र माया ही तो है कि आकाश के कुछ भाग में न जाने कैसे जलमय मेघों की सृष्टि कर दी। आपके ज्योतिस्वरूप का साक्षात्कार बड़े प्रयत्न से ही हो पाता है। संसार में जितने भी बली, आदम तथा अन्य पीर आदि श्रेष्ठ व्यक्ति हुए हैं, वे केवल आपकी कृपा और भक्ति से हुए हैं। कबीर कहते हैं कि इसीलिए मैंने आपकी प्रिय भक्ति को ही अपना लक्ष्य निर्धारित कर लिया है।

काहे री नलनीं तूं कुमिलानीं,
तेरे ही नालि सरोवर पांनीं ।।टेक।।
जल मैं उतपति जल मैं बास, जल मैं नलनीं तोर निवास।
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेतु कहु कासनि लागि ।।
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहीं मूए हंमारे जान ।।६४।।

शब्दार्थ—नलनी=कमलिनी। उदिक=जल।

कबीर कहते हैं कि हे कमलिनि। तू क्यों कुम्हला रही है ? तेरी नासिका तो सदैव जलपूर्ण सरोवर में रहती है। इस जल में ही तेरा जन्म हुआ और जल में ही तू प्रारम्भ से अन्त तक निवास करती है। तू तो थल की गरमी से भी दूर है और न सूर्य का ताप तुझे झुलसा सकता है (क्योंकि रात्रि में विकसित होती है) फिर तू किस कारण से सूखती जाती है। कबीर कहते हैं कि जो जल के समान ही हो गये, जल से एकरूप हो गये—जहाँ तक मेरा ज्ञान है, वे तो अमर ही हो गये हैं।

इब तूं हसि प्रभु मैं कुछ नांहीं,
पंडित पढि अभिमांन नसांहीं ।।टेक।।
मैं मैं मैं जब लग मैं कीन्हां, तब लग मैं करता नहीं चीन्हां।
कहै कबीर सुनहु नरनाहा, नां हम जीवत न मूंवाले माहां ।।६५।।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं कुछ नहीं हूँ, आप ही सर्वत्र हैं, आप ही समस्त चर-अचर के विधायक हैं—हे पंडित ! तू इस सत्य का साक्षात्कार करके अपने अहं को विदूषित कर दे। जब तक मैंने अहं का परित्याग नहीं कर दिया तब तक मैं प्रभु के स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर पाया। कबीर कहते हैं कि हे श्रेष्ठ संतो ! सुनो मैं इस अहं-दर्प का परित्याग कर न जीवित -संसारसम्पृक्त और न मृत—संसार से असम्पृक्त की स्थिति में हूँ अर्थात् जीवन्मुक्त हूं।

विशेष—महात्मा कबीर द्वारा वर्णित यह जीवन्मुक्त स्थिति गीता के निष्काम योगी की सी दशा है।

अब का डरौं डर डरहि समांना,
जब थैं मोर तोर पहिचांनां ॥टेक॥
जब लग मोर तोर करि लीन्हां, भै भै जनमि जनमि दुख दीन्हाँ।
आगम निगम एक करि जाँनाँ, ते मनवां मन मांहि समाँनाँ॥
जब लग ऊंच नींच करि जांनां, ते पसुवा भूले भ्रंम नांना।
कहै कबीर मैं मेरी खोई, तबहि रांम अवर नहीं कोई ॥६६॥

शब्दार्थ—मोर-तोर=मेरी-तेरी। आगम-निगम=वेद-शास्त्र। पसुवा=पशु के समान मूर्ख मनुष्य। मेरी=अहं भावना।

कबीर कहते हैं कि अब मैं जीवन्मुक्त स्थिति में आकर संसार के तापों तथा मायादिक के भय से भयभीत क्यों होऊँ ? मैं तो अहं और परं की भावना को विदूरित कर भय-मुक्त हो गया हूँ। जब तक मैं अहं और परं जनित द्वैत भावना में संलिप्त रहा तब तक मैं आवागमन चक्र में पड़कर जन्म-मरण का दुःख भोगता रहा। आगम निगम आदि जितने भी धर्म ग्रंथ हैं उन सबकी एकमत मान्यता यही है कि वह परम प्रभु हृदय के भीनर ही अवस्थित है। जब तक मनुष्य मनुष्यों में ही ऊँच और नीच का विभेद करता है तब तक वह मनुष्य नहीं अपितु नाना संशयों में पड़ा हुआ पशुमात्र है।

कबीर कहते हैं कि जब मैंने अहं का परित्याग कर समस्त चर-अचर को एक माना तब मुझे सर्वत्र ब्रह्म दृष्टिगत हुआ।

विशेष—कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के निम्न भाव से तुलना कीजिए—
"एक ही तो असीम उल्लास, विश्व में पाता विविधाभास।"

बोलनां का कहिये रे भाई, बोलत बोलत तत नसाई ॥टेक॥
बोलत बोलत बढ़ै विकारा, बिन बोल्यां क्यूं होइ विचार।
संत मिलै कछु कहिये कहिये, मिलै असंत मुष्टि करि रहिये॥
ग्यानीं सूं बोल्यां हितकारी, मूरखि सूं बोल्यां झख मारी।
कहै कबीर आधा घट बोलै, भर्या होइ तौ मुषां न बोलै ॥६७॥

कबीर कहते हैं कि व्यर्थ तर्क से क्या लाभ, तर्कजाल में उलझकर वास्तविक सत्य का नाश हो जाता है। व्यर्थ बक-बक करने से ही वितण्डा खड़ी होती है, किन्तु

आप बोले नहीं तो विचार-विमर्श कैसे हो ? इसके विषय में कबीर की नीति यह है कि यदि संत मिले तो उससे विचार-विमर्श कीजिए और यदि दुर्जन मिले तो चुप रहना ही श्रेयस्कर है। ज्ञान-सम्पन्न से तो वार्तालाप हितकारी और मूर्ख से तो बोलना झख मारना ही है। जिस प्रकार आधा भरा हुआ घट ही छलकने पर ध्वनि करता है और पूर्ण भरा होने पर वह न छलकता है और न बोलता है इसी भांति ज्ञानी तो दूसरे की ज्ञानपूर्ण बात सुनकर चुप रहता है, उसका आदर करता है किन्तु जो ज्ञान से रिक्त है वह दूसरे की ज्ञानपूर्ण बात सुनकर उसे कुतर्क का विषय बना देता है।

विशेष—दृष्टांत अलंकार।

बागड़ देस लूवन का घर है,
तहाँ जिनि जाइ दाझन का डर है ॥टेक॥
सब जग देखौं कोई न धीरा, परत धूरि सिरि कहत अबीरा।
न तहाँ सरवर न तहां पांणीं, न तहां सतगुर साधू बांणीं॥
न तहाँ कौकिल न तहाँ सूवा, ऊँचे चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा।
देस मालवा गहर गंभीर, डग डग रोटी पग पग नीर॥
कहै कबीर घरहीं मन मांनां, गूंगे का गुड़ गूंगैं जांनां ॥६८॥

शब्दार्थ—बागड़ देश=सांसारिक मोह-माया से युक्त संसार। लूवन=दुःखों का। मालवा=भक्ति का प्रदेश।

उस प्रिय के देश का मार्ग अग्नि के समान दाहक बाधाओं से परिपूर्ण है—साधन-स्थली पथ अत्यन्त विकट है। कबीर कहते हैं कि मैंने समस्त संसार को देखा किन्तु उसमें कोई ऐसा धैर्यवान् दृष्टिगत न हुआ जो उस पथ का अवलम्बन कर सके। कुछ प्रयत्न तो करते हैं किन्तु उसमें परिपक्वता के अभाव के कारण उन्हें असफलता ही प्राप्त होती है। उस मार्ग में श्रांत पथिक के परिश्रमशमनार्थ न तो कोई सरोवर है और न जल का कोई अन्य साधन एवं साधना मार्ग में प्रवृत्त होने पर सद्-गुरु की उपदेश वाणी और सज्जनों के सत्संग का सम्बल भी शेष नहीं रहता। वहाँ कोयल की कलित काकली और तोते के रूपाकर्षण के लिए भी स्थान नहीं, अर्थात् किसी प्रकार का सुख उपलब्ध नहीं। वहाँ तो हंसात्मा उच्चतर सोपान को प्राप्त करती जाती हैं। इस भांति वह प्रभु का स्थान अत्यन्त कठिन साधना के उपरान्त लभ्य होता है। वहाँ पहुँचकर तो पग-पग तृप्ति ही तृप्ति है (डग-डग रोटी पग-पग नीर)। कबीर कहते हैं कि मेरा मन तो उसी स्थान पर रम रहा है, उस आनन्द का मैं वर्णन उसी प्रकार नहीं कर सकता जिस भाँति गूँगा मनुष्य गुड़ के मिठास को मन ही मन प्रसन्न हो सराहता है, उसे अभिव्यक्ति नहीं दे सकता।

विशेष १. कबीर साधना मार्ग की विकटता बताकर साधक को उससे विमुख नहीं करते अपितु उस पथ की विषमताओं से उसे सचेत कर धैर्य, दृढ़ता, अटूट श्रद्धा आदि गुणों से परिपूर्ण कर ईश्वर-भक्ति पथ पर लगाना चाहते हैं।

२. लोकोक्ति अलंकार।

अवधू जोगी जग थें न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नाद न षंडै धारा ।।टेक।।
बसै गगन में दुनीं न देखै, चेतनि चौकीं बैठा।
चढ़ि अकास आसण नहीं छाड़ै; पीवै महा रस मींठा ।।
परगट कंथा मां हैं जोगी, दिल में दरपन जोवै।
सहंस इक़ीस छ सै धागा, निहचल नाकै पोवै ।।
ब्रह्म अगनि में कायां जारै, त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुंनि ल्यौ लागै ।।६९।।

यहाँ कबीर हठयोगी साधना का वर्णन करते हैं कि योगी समस्त संसार से पृथक् आचरण करने वाला व्यक्ति है। उसका तो मुद्रा, इड़ा-पिंगला, शृंगी और अनहद नाद से ही अटूट सम्बन्ध होता है।

वह तो साधना की मुद्रा ग्रहण कर शून्य में लय लगाता है; इस प्रकार वह शून्य स्थल—ब्रह्मरन्ध्र—पर पहुँचकर वहाँ स्रवित होने वाले अमृत का पान करता है। वह विरागी के वेश में रहता हुआ हृदय में उसी अनूप का दर्शन करता है। वह इक्कीस सहस्र छः सौ नाड़ियों में अर्थात् सम्पूर्ण तन मन में ईश्वर को रमा लेता है। इस भाँति जब वह ब्रह्म की अलखस्वरूप निरंजन-ज्योति से शरीर को निर्मल कर लेता है तो त्रिकुटी में ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। कबीर कहते हैं कि वही साधक योगेश्वर है जो सहजावस्था को प्राप्त कर अपनी चित्तवृत्तियों को शून्य में केन्द्रित कर देता है।

विशेष—दीपक अलंकार।

अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीजै ।।टेक।।
मूल बांधि सर गगन समांनां, सुषमन यों तन लागी।
काम क्रोध दोऊ भया पलीता तहाँ जोगणीं जागी ।।
मनवां जाइ दरीबै बैठा, मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाँहीं, सबद अनाहद बागा ।।७०।।

हे अवधूत! तुम शून्य—ब्रह्मरन्ध्र—को अपना स्थायी वास बना लो। वहाँ सदैव अमृत स्रवित होता जिससे अमित आनन्द की प्राप्ति होती है। सुषुम्ना नाड़ी को वहाँ पहुँचाकर उसके द्वारा साधक को इस अमृत का पान करना चाहिए।

मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी जागृत हो सुषुम्णा के माध्यम से ऊर्ध्वगामी हो गई, जिसमें काम, क्रोध आदि विकारों ने जलकर पलीते का कार्य किया और इस विस्फोट द्वारा ही तो योगिनी-रूप कुण्डलिनी सुषुप्तावस्था से जागृत हो गई। शून्य में पहुँच कर मन उस सहजावस्था में पहुँच गया जहाँ अलख के दर्शन या आनंद ही आनंद विद्यमान है। कबीर कहते हैं कि इस अवस्था में पहुँचकर साधक के मन में कोई

भ्रम या माया का संशय नहीं रह जाता है और वह अनहद नाद के आनंद में लय हो परमात्म-स्वरूप हो जाता है।

विशेष—१. 'मूल' मूलाधार चक्र से तात्पर्य, षट्चक्रों में यह सबसे पहला होता है जहाँ कुण्डलिनी सुषुप्तावस्था में पड़ी रहती है।

२. 'जोगणी'—कुण्डलिनी के लिए योग-साधना में बहुप्रयुक्त शब्द।

कोई पीवै रे रस रांम नाँम का, जी पीवै सो जोगी रे।
संतौ सेवा करौ रांम की, और न दूजा भोगी रे ॥टेक॥
यहु रस तौं सब फीका भया, ब्रह्म अगनि परजारी रे।
ईश्वर गौरी पीवन लागे, रांम तनीं मतिवारी रे ॥
चंद सूर दोइ भाठी कीन्हीं, सुषमनि चिगवा लागी रे।
अमृत कूं पी साँचा पुरया, मेरी त्रिष्णाँ भागी रे ॥
यहु रस पीवैं गूंगा गहिला, ताकी कोई न बूझै सार रे।
कहै कबीर महा रस मँहगा, कोई पीवैगा पीवणहार रे ॥७१॥

शब्दार्थ—परजारी=जलाई जाना सूर=सूर्य। चिगवा=पलीता त्रिष्णां=प्यास।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-भक्ति के अनुपम रस का पान ही श्रेयस्कर है जो इसका पान करता है वही वस्तुतः योगी है। इसलिए हे साधुजनो ! तुम परम प्रभु की ही भक्ति करो अन्य कोई इस पूजा और भक्ति का पात्र नहीं है।

हृदय में ईश्वर भक्ति जग जाने पर सांसारिक विषय-वासनाओं के आकर्षण और रस निस्सार और छूछे अनुभव होने लगते हैं। शिव और पार्वती इस भक्ति रस का पान कर ही राम-नाम में मदमस्त रहते हैं।

जब मैंने इड़ा और पिंगला की भट्ठी बनाकर प्रभु-भक्ति की अग्नि को सुषुम्णा के पलीते द्वारा प्रज्वलित किया तो मुझे अमृत की प्राप्ति हो गई, निरंजन ज्योति के दर्शन हो गये एवं मेरी तृष्णाएँ परितृप्ति हो गई। इस अनुपम रस का पान तो कोई ऐसा व्यक्ति ही करेगा जिसे संसार पागल समझे और वह इस रस को पान कर गूँगा ही बन जाता है, उसे अभिव्यक्ति प्रदान नहीं कर सकता। कबीर कहते हैं कि इस महारस को प्राप्त करने के लिए महान् त्याग और संयम तथा अटूट भक्ति की आवश्यकता है, इसीलिए यह कुछ महंगा है। अतः बिरले ही इसका पान कर पाते हैं।

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि छढ्या मगन रस पीवै, त्रिभवन भया उजियारा ॥टेक॥
गुड़ करि ग्यांन ध्यांन कर महुवा, भव भाठी करि भारा।
सुषमन नारी सहजि समांनीं, पीवै पीवनहारा ॥
दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी, चुया महा रस भारी।
काम क्रोध दोइ किया बलीटा, छूटि गई संसारी ॥

सुंनि मंडल मैं मंदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै ।
गुर प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमनाँ काछै ।।
पूरा मिल्या तबै सुष उपज्यौ, तन की तपति बुझानी ।
कहै कबीर भव बंधन छूटै, जोतिहि जोत समानी ।।७२।।

शब्दार्थ—उन्मनि=उन्मत्त हो कर, उन्मनी अवस्था में । भव=संसार । सुनि =शून्य । प्रसादि=कृपा । ज्योतिहि=ज्योति में, ब्रह्म में ।

कबीर यहाँ मदिरा खींचने की प्रक्रिया के रूपक द्वारा हठयोगी साधना से ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग बताते हैं कि हे अवधूत ! मेरा मन प्रभु-भक्ति में मदमस्त है। वह उन्मनी अवस्था द्वारा शून्य में पहुँच अमृत का पान करता है। इस महारस के पान से मुझे प्रत्येक लोक का ज्ञान प्राप्य है। भाव यह है कि सृष्टि के कण-कण का ज्ञान मेरे साधक को है।

अब कबीर मदिरा खींचने की विधि द्वारा बताते है कि किस भाँति मैंने महा-रस को प्राप्त किया है। मैंने ज्ञान को गुड़ और ध्यान को महुवा अथवा जौ बनाकर संसार को ही अपनी भट्ठी बना लिया। इस भट्ठी में अग्नि प्रज्वलित करने के लिए काम और क्रोध (को नष्ट कर) का पलीता बना दिया एवं इंगला-पिंगला का समन्वय कर इस भट्टी को तैयार किया। इस साज के पूरा हो जाने पर अमृत का स्रवण होने लगा। सुषुम्णा नामक नाड़ी सहजावस्था में पहुँच गई और इस प्रकार मैंने इस महारस का पान किया। इस अमृत पान से मुझे ज्ञात हुआ कि शून्य—ब्रह्मरन्ध्र में अनहद नाद हो रहा है जिसकी ध्वनि से मेरा मन आत्म-विस्मृत हो प्रभु में लीन हो गया। इस भाँति गुरु कृपा से यह अमृत प्राप्त किया और सुषुम्णा सहजावस्था में ही रहने लगी। कबीर कहते हैं कि इस भाँति अंशी में, आत्मा के परमात्मा में विलय हो जाने से मनुष्य विमुक्त हो जाता है। किन्तु यह सब तभी सम्भव है, भव-ताप और बन्धन तभी नष्ट हो सकते हैं जब कोई ज्ञान-परिपूर्ण पथ-प्रदर्शक सद्गुरु मिले।

विशेष—सांग रूपक अलंकार।

छाकि पर्यो आतम मतिवारा,
पीवत राँम रस करत विचारा ।।टेक।।
बहुत मोलि महँगै गुड़, लै कसाब रस राँम चुवावा ।
तन पाटन मैं कीन्ह पसारा, माँगि माँगि रस पीवै बिचारा ।
कहै कबीर फाबी मतिवारी, पीवत राँम रस लगी खुमारी ।।७३।।

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि मेरी आत्मा प्रभु भक्ति का रसपान कर मदमस्त है। यह इस प्रेम-रस का पान कर प्रभु का ही विचार करती है। मैंने बहुत मूल्य चुका कर गुरुचरणों में बैठ और सत्संग से यह ज्ञान का मूल्यवान् गुड़ खरीदा है एवं योग साधना के अन्य साधनों द्वारा अमृत को प्राप्त किया। शरीर रूपी वस्त्र में रस के

लिए इतनी तृष्णा बढ़ गई है कि वह माँग-मांग कर उसका पान करती है। राम रसायन से मदमस्त फक्कड़ कबीर कहता है कि राम-भक्ति रस का पान पर उसका नशा ऐसा चढ़ता है कि फिर उतरता नहीं।

बोलौ भाई रांम की दुहाई।
इहि रसि सिव सनकादिक माते, पीवत अजहूँ न अघाई ।।टेक।।
इला प्यंगुला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारि।
ससि सर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुग तारी ।।
मन मतिवाला पीवै रांम रस, दूजा कछू न सुहाई।
उलटी गंग नीर बहि आया, अंमृत धार चुवाई ।।
पंच जनैं सो संग करि लीन्हें, चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी ।।
सहज सुंनि मैं जिनि रस चाष्या, सतगुर थैं सुधि पाई।
दास कबीव इहि रसि माता, कबहूँ उछकि न जाई ।।७४।।

शब्दार्थ—अघाई=तृप्ति। द्वार दस=शरीर के दस द्वार—दो आँख, दो नासिका-विवर दो कर्ण-छिद्र, एक मुख, एक मलद्वार, एक मूत्रद्वार एवं एक ब्रह्मरन्ध्र या दशम द्वार। उलटी गंग=कुण्डलिनी की ऊर्ध्वगति। पंच जनैं=पाँच इन्द्रियाँ नागिन=कुण्डलिनी।

कबीर कहते हैं कि हे भाइयो! प्रभु की भक्ति करो, क्योंकि इस अनुपम भक्ति रस का पान कर शिव और सनकादिक जैसे भी आज तक परितृप्त नहीं हुए। उनकी कामना है कि अभी इस रस का पान और करें, और करें। हृदय में ब्रह्म ज्योति प्रज्वलित कर इड़ा और पिंगला नाड़ियों की भट्ठी बना ली। इंगिला-पिंगला के मध्य सुषुम्णा के द्वारा कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगामी कर सहजावस्था की प्राप्ति की। इस प्रकार सुषुम्णा के माध्यम से कुण्डलिनी द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में विस्फोट से अमृत का स्रवण होने लगा। प्रभु-भक्ति में मस्त मेरा मन उस महारस के पान से संसार के समस्त रसों के आनन्द को भूल गया। इस अमृत पान के साथ-साथ पाँचों इन्द्रियाँ भी तल्लीन थीं। इस महारस से ही ये सब झूम रही थीं। इस भांति सुषुप्त कुण्डलिनी जागृत हो गई। सद्गुरु से ज्ञान लाभ कर ही साधक इस सहज शून्य के अनुपम रस को प्राप्त कर सकता है। दास कबीर तो इसी रस को पान कर मदमस्त है, इसकी खुमारी कभी नहीं जा सकती।

रांम रस पाईया रे, तायैं बिसरि गये रस और ।।टेक।।
रे मन तेरा को नहीं, खैंचि लेई जिनि भार।
बिरषि बसेरा पंषि का, ऐसा माया जाल ।।
और मरत का रोइए, जो आया थिर न रहाइ।
जो उपज्या सो बिनसिहै तायैं दुख करि मरै बलाइ ।।

जहां उपज्या तहां फिरि रच्या रे, पीवत मरदन लाइ ।
कहै कबीर चित चेतिया, ताथैं रांम सुमरि बैराग ।।७५।।

शब्दार्थ—रस=लौकिक आनन्द । बिरषि=वृक्ष । संषि=पक्षी । थिर=स्थिर, अमर ।

कबीर कहते हैं मैंने राम रस की प्राप्ति कर ली है, इससे मुझे अन्य सांसारिक तुच्छ रस विस्मृत हो गये । आगे कबीर मन को प्रबोध देते हैं कि हे मन ! तेरा इस संसार में कोई नहीं है फिर तू क्यों व्यर्थ में दूसरों का बोझ ढोता है, उनके लिए क्यों अनेक पाप कर्म करता है । इस संसार का माया जाल तो ऐसा है जैसे पक्षी का रात को किसी पेड़ पर अल्प समय का बसेरा ! मनुष्यों के मरने पर दु:ख भी क्यों किया जाय, यहाँ तो जो भी आया है वह तो जायगा ही । जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य ही मरेगा अत: शोक करना वृथा है । यह जन्म-मरण, सृजन-संहार का क्रम अटूट है किन्तु फिर भी लोग वस्तुस्थिति भूलकर इसका रसपान करने में लगे हैं । कबीर कहते हैं कि चित्त जब तक सावधान होकर विषय वासना का परित्याग नहीं कर देता तब तक प्रभु भक्ति कहाँ ? अत: निर्मल मन से प्रभु का भजन ही श्रेय है ।

राम चरन मनि भाए रे ।
अस ढरि जाहु रांय के करहा, प्रेम प्रीति ल्यौ लाये रे ।।टेक।।
आब चढ़ी अंबली रे अंबली, बबूर चढ़ी नग बेली रे ।
द्व थर चढि गयौ रांड को करहा, मनह पाट की सैली रे ।
कंकर कूई पतालि पनियां, सूनैं बूंद बिकाई रे ।
बजर परौ इहि मथुरा नगरी, कांन्ह पियासा जाई रे ।।
एक दहिड़िया दही जमायौ, दुहरी परि गई साई रे ।
न्यूंति जिमाऊं अपनौं करहा, छार मुनिस की डारी रे ।।
इहि बंनि बाजै मवन भेरि रे, उहि बनि बाजै तूरा रे ।
इहि बंनि खेलै राही रुकमनि, उहि बंनि कान्ह अहीरा रे ।।
आसि पासि तुरसी कौ बिरवा, मांहि द्वारिका गांऊं रे ।
तहां मेरौ ठाकुर रांम राइ है, भगत कबीरा नांऊं रे ।।७६।।

शब्दार्थ—मनि=मन को । अम्बली=आम । नगबेली=आकाश बेल । करहा=करघा । पाट की सैली=ऊन, रेशम या बालों की एक माला सी जिसे योगी गले अथवा शीश पर धारण करते हैं । कूई=कुईया, छोटा कुआँ । बजर=आग लगाना । न्यूंति=निमन्त्रण । रुकमनि=श्रीकृष्ण भगवान् की प्रियतमा किन्तु यहाँ माया से तात्पर्य । कान्ह अहीरा=यहाँ ब्रह्म से अर्थ । तुरसी=तुलसी, एक सुगन्धित एवं पूज्य पौधा ।

कबीर कहते हैं कि मेरे मन को रामचरण, प्रभु भक्ति अत्यन्त प्रिय है । मैं प्रभु में अपनी समस्त चित्तवृत्तियाँ केन्द्रित कर उन्हीं के रंग में रंग जाऊँ, यह मेरी

इच्छा है। जो लता आम जैसे सुमधुर फल के वृक्ष का अवलम्बन करती है, वह तो आम के समान ही मधुर ही हो जाती है और जो शूलयुक्त बबूल वृक्ष का आश्रय लेती है वह तो व्यर्थ की आकाश बेलि ही बनती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति प्रभु भक्ति का आश्रय लेते हैं वे मुक्ति का मधुर फल प्राप्त करते हैं और सांसारिकता के मार्ग का अवलम्बन करने वाले भावनाओं के शूलों से विद्ध होते हैं।

अब आगे वे योग साधना का रूपक बाँधते हुए कहते हैं कि इड़ा और पिंगला सुषुम्ना से सम्बद्ध हो गई एवं मन ही स्वयं सेल्ही बन गया (जिसे योगी गले अथवा शीश पर धारण करते हैं)। मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी रूपी पनिहांरिन है जिसे शून्यदेश में अमृतोपम जल लेने जाना है। इस संसार रूपी मथुरा नगरी में तो आग ही लग जाय क्योंकि जीव की यहाँ तृप्ति नहीं होती, उसकी वास्तविक तृप्ति तो उस शून्य में स्रवित अमृत का पान करने से होती है। इस संसार रूपी वन में तो रुक्मिणी-माया—का नृत्य हो रहा है और उस शून्य लोक में, ब्रह्मलोक में ब्रह्मपुरी कृष्ण का लीलाप्रसार हो रहा है उस द्वारिकापुरी—ब्रह्मलोक—में सर्वत्र तुलसी के पवित्र पादप महक रहे हैं। वहीं पर मेरे स्वामी-ब्रह्म का निवास है, मैं उन्हीं की भक्ति करता हूँ।

विशेष - दृष्टान्त, रूपक अलंकार।

थिर न रहै चित थिर न रहै, च्यंतांमणि तुम्ह कारणि हो।
मन मैंले मैं फिरि फिरि आहौं, तुम सुनहु न दुख बिसरावन हो ।।टेक।।
प्रेम खटोवला कसि कसि बांध्यौ, बिरह बान तिहि लागू हो।
तिहि चढ़ि इंदऊँ करत गवंसियाँ, अंतरि जमवा जागू हो ।।
महरू मछा मारि न जानैं, गहरैं पैठा धाई हो।
दिन एक मगर मछ लै खैहै, तब को रखिहै बंधन माई हो ।।
महरू नांम हरइये जानैं, सबद बूझै बौरा हो।
चारै लाइ सकल जग खायौ, तऊ न भेटि निसहुरा हो ।।
जौ महाराज चाहौ महरईये, तौ नाथौ ए मन बौरा हो।
तारी लाइकै सिष्टि बिचारौ, तब गहि भेटि निसहुरा हो ।।
टिकुटी भई कांन्ह कै कारणि, भ्रंमि भ्रंमि तीरथ कीन्हा हो।
सो पद देहु मोहि मदन मनोहर जिहि पदि हरि मैं चीन्हा हो ।।
दास कबीर कीन्ह अस गहरा, बूझै कोई महरा हो।
यहु संसार जात मैं देखौं, ठाढा रहौ कि निहुरा हो ।।७७।।

शब्दार्थ—थिर=स्थिर। च्यंतांमणि=चिन्तामणि, ब्रह्म। मैंले=मेले। फिरिफिरि=बारम्बार। खटोलवा=खटोला, खाट का छोटा रूप। बान=पतली-पतली रस्सियों को, जिनसे खाट बुनी जाती है बान कहते हैं। जमवा=यम, कुभावनाएँ। महराईये=दया करना।

• हे प्रभु! आपके दर्शनों के लिये व्याकुल मेरा यह मन स्थिर नहीं रहता

भ्रमित होता रहता है। हे दुःखमोचन प्रभु ! आप मेरी पुकार सुनते नहीं, आप मेरे मन के मेले में बारम्बार आकर दर्शन दीजिये। मैंने प्रेम रूपी खटोला बड़े प्रयत्न से तैयार किया है जिसमें विरह का बान लगाकर इसे स्थायित्व प्रदान किया है। इस प्रेम-खटोले पर चढ़कर मेरी समस्त इन्द्रियाँ आपसे मिलने के लिये प्रस्थान करती हैं किन्तु तभी मन में विषय-वासनाओं के रूप में यम का आविर्भाव हो जाता है'। श्रेष्ठ व्यक्ति—प्रभु भक्ति में लीन भक्त—सरिता के तट पर उथले जल में मछलियाँ—सांसारिक क्षणिक आनन्द—प्राप्त करना ही अपना लक्ष्य नहीं बनाता अपितु वह तो गहरे पैठ कर हरि-हीरा ही प्राप्त करता है। उसी को वास्तव में सद्गुरु जानो जो सन्तों के उपदेश (सबद) को हृदयंगम करता हो। समस्त संसार चारों अवस्था में पड़ नष्ट हो रहा है किन्तु तो भी उसे ब्रह्म दर्शन नहीं होता। हे प्रभु ! यदि आप मुझ पर दया करना चाहते हैं तो इस मन को प्रबोध देकर उचित मार्ग पर लगा दो। मैं आपका ही ध्यान करता हुआ आपको प्राप्त करूँ। मैं व्यर्थ भ्रमित होकर तीर्थों में भटकता रहा, किन्तु मुक्ति तो ब्रह्म-ध्यान से होती है। हे प्रभु ! आप मुझे वही अवस्था प्रदान करो जिसमें मैं आपसे साक्षात्कार कर सकूँ।

कबीर कहते हैं कि कोई श्रेष्ठ व्यक्ति ही कबीर की इस गम्भीर बात को समझ सकता है। मैं इस संसार को पतन-मार्ग पर जाता हुआ देखता हूँ। हे प्रभु ! मैं भी इन लोगों की श्रेणी में ही सम्मिलित हो जाऊँ, या आप मुझे कृपा कर सद्बुद्धि प्रदान कर रहे हैं जिससे मैं मुक्त हो सकूँगा।

बीनती एक रांम सुंनि थोरी, अब न बचाइ राखि पति मोरी ॥टेक॥
जैसैं मंदला तुमहि बजावा, तैसैं नाचत मैं दुख पावा ॥
जे मसि लागी सबै छुड़ावौ, अब मोहि जिनि बहु रूपक छावौ ॥
कहै कबीर मेरी नाच उठावौ, तुम्हारे चरन कवल दिखलावौ ॥७८॥

शब्दार्थ—थोर=थोड़ी, अल्प। मंदला=वाद्य विशेष। मस=स्याही, पाप।

कबीर कहते हैं हे प्रभु ! मेरी थोड़ी सी प्रार्थना सुन लीजियें, अब आप मुझसे दूर मत रहो और मेरी लाज रख लो। आपकी माया ने जो आकर्षण जाल फैलाया, मैं उसी के फेर में पड़कर बहुत दुःखित हुआ। मेरी जितनी भी पाप-कालिमा है आप कृपापूर्वक उसे छुड़ाकर मुझे विविध योनियों के जन्ममरण से विमुक्त कर दो। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! आप मुझे अपने चरण-कमलों के दर्शन करा कर इस संसार-प्रपंच से मुक्त कर दो।

मन थिर रहै न घर ह्वै मेरा, इन मन घर जारे बहुतेरा ॥टेक॥
घर तजि बन बाहरि कियौं बास, घर बन देखौं दोऊ निरास ॥
जहां जांऊं तहां सोग संताप, जुरा मरण कौ अधिक बियाप।
कहै कबीर चरन तोहि बंदा, घर मैं घर दे परमांनंदा ॥७९॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर यहाँ यह बताते हैं कि मन आनन्द की खोज में व्यर्थ बाहर भटकता

है जबकि वास्तविक आनन्द—परमानन्दब्रह्म—मन में ही है।

वे कहते हैं कि यह मेरा चित्त स्थिर नहीं रहता, इसकी इस अस्थिरता ने बहुत से सुख नष्ट कर दिये। इसने आनन्द की खोज में घर—अन्तरका परित्याग कर संसार के चक्कर काटे, फलस्वरूप घर और बाहर दोनों स्थान पर इसे निराशा ही प्राप्त हुई। जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ वहीं-वहीं शोक और सांसारिक ताप विद्यमान है और संसार में वही जरा-मरण के द्वारा आवागमन का चक्र चल रहा है। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! अब मैं आपके श्री चरणों की वन्दना करता हूँ अतः आप मुझे हृदय में ही दर्शन दीजिये।

कसैं नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष बिचषन नारी ॥टेक॥
बैल बियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दूहै तीन्यूं सांझ।
मकड़ी घरि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी॥
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै साप पहरइया।
नित उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै ॥८०॥

शब्दार्थ—बिचषन = विलक्षण, चतुरा। नारी=माया रूपी स्त्री। मकड़ी घरि=कुण्डलिनी। छछिहारी=छाछ रूपी अमृत का व्यापार।

कबीर कहते हैं कि मैं प्रभु के पावन नगर में किस प्रकार प्रवेश करूँ (क्योंकि मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं)। यह जीवात्मा अत्यन्त चंचल है और इसको पथ-भ्रष्ट करने वाली माया जैसी चतुर स्त्री है जो विविध आकर्षणों से इसे अपने वश में करना चाहती है।

ईश्वर से ही समस्त जगत की उत्पत्ति हुई है, माया से नहीं, वह तो वन्ध्या ही रही। त्रिकाल में अर्थात् सर्वदा ईश्वर से, ब्रह्म से ही फल प्राप्ति होती है। ब्रह्म रन्ध्र (मकड़ी घरि) कुण्डलिनी (भाषा) अमृत (छाछि) का व्यापार कर रही है। सांसारिक प्रलोभनों से रक्षा सुषुम्णा (चील) ही करती है; क्योंकि उसी में समस्त मनःप्रवृत्तियां केन्द्रीभूत हो जाती हैं। सांसारिक पुरुषों की स्थिति ऐसी है कि वे माया-रूपी नौका में बैठे हुए हैं और उनका खेवनहार भी विषय-वासना संचालित मन है। अज्ञानान्ध जीव सोता रहता है और नित्यप्रति उठकर जीव रूपी शृंगाल संसार के महान् आकर्षण रूपी सिंह से संघर्ष करता है। कबीर कहते हैं कि इस पद का भाव कोई बिरले ही समझ सकते हैं।

भाई रे चूंन बिलूंटा खाई,
बाघनि संगि भयहिन कै, खसम न भेद लहाई ॥टेक॥
सब घर फोरि बिलूंटा खायो, कोई न जानैं भेव।
खसम निपूतो आंगणि सूतो, रांड न देई लेव॥
पाड़ोसनि पनि भई बिरांनीं, मांहि हुई घर घालै।
पंच सखी मिलि मंगल गांवैं, यहु दुख याकौं सालै॥

ढूं ढूं दीपक घरि जोया, मंदिर सदा अँधारा।
घर घेहर सब आप सवारथ, बाहरि किया पसारा॥
होत उजाड़ सबै कोई जांनैं, सब काहू मनि भावै।
कहै कबीर मिलै जे सतगुर, तौ यहु चून छुड़ावै॥८१॥

शब्दार्थ—चूंन = पुण्य—सतकर्मों का पुण्य। बिलूंटा = माया। खाई = नष्ट कर देता है। वाघनि = माया। खसम = स्वामी, पति, ईश्वर। लहाई = प्राप्त किया। भेव = भेद।

कबीर कहते हैं हे भाई! समस्त सत्कर्मों के पुण्य को यह मायारूपी बिल्ली खाये जा रही है, नष्ट कर रही है। यह माया सबके साथ लग जाती है पर इस प्रकार कोई भी ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर पाता। इस शरीर आगार को माया के विविध आकर्षण नष्ट कर रहे हैं। इस भेद को कोई नहीं जानता। ईश्वर रूपी स्वामी तो पुत्रहीन है अर्थात् उसका आंगन सूना है, अर्थात् वह ममत्व-बंधन में नहीं पड़ता। यह माया किसी को प्रभु का पुत्र नहीं बनने देती। इसी भावना से निकट का व्यक्ति भी कभी-कभी दूर का हो जाता है और माया जीव और ब्रह्म के मध्य दीवार खड़ी करने में सफल हो जाती है। पांचों ज्ञानेन्द्रियां अपने-अपने स्वाद में लिप्त रह मोद मनाती हैं। यह स्थिति भक्त को अच्छी नहीं लगती।

संसार के व्यक्ति अपने-अपने घरों में तो प्रकाश करने के लिए कई-कई दीपक प्रज्वलित करते हैं, किन्तु उनके हृदय मन्दिर में सदैव अज्ञानांधकार रहता है। मनुष्य अपनी पहुँच के भीतर तो स्वार्थ-साधना में तत्पर रहता ही है, साथ ही बाहर भी उसी की पूर्ति करना चाहता है। जब व्यक्ति सर्वथा नष्ट हो जाता है तो सब उसकी मूर्खता पर प्रसन्न होते हैं। कबीरदास जी कहते हैं कि यदि कोई सद्गुरु मिल जाय वही इस माया से सत्कर्मों के आटे (पुण्य) को बचा सकता है।

बिषिया अजहूँ सुरति सुख आसा,
हूंण न देइ हरि के चरन निवासा॥टेक॥
सुख मांगें दुख पहली आवै, तातैं सुख मांग्या नहीं भावैं।
जा सुख थैं सिव बिरंचि डरांनां, सो सुख हमहुँ सांच करि जाना॥
सुखि छ्याड्या तब सब दुख भागा, गुर के सबद मेरा मन लागा।
निस बासुरि बिषैतनां उपगार, बिषई नरकि न जातां बार॥
कहै कबीर चंचल मति त्यागी, तब केवल रांम नांम ल्यौ लागी॥८२॥

शब्दार्थ—हूण न देइ = होने नहीं देता। बिरंच = ब्रह्मा। बासुरि = दिन।

कबीर कहते हैं कि मेरा मन अब भी विषय-वासना जनित आनन्द-प्राप्ति की आशा में भटक रहा है, इसीलिए यह मुझे प्रभु-चरणों का आश्रय नहीं लेने देता।

मुझे वह विषय-वासना का सुख रुचिकर नहीं, जिसकी इच्छा करने पर दुख पहले मार्ग में आता है। जिस विषय-वासना के रसानन्द से शिव एवं ब्रह्मा जैसे महान् देव भी भयभीत हो प्रार्थना करते हैं कि इस सुख से हमें बचाओ, मैं उसी सुख को

वास्तविक सुख मान बैठा। सांसारिक सुख का परित्याग करने पर ही मेरे समस्त भव-ताप नष्ट हो गये और मन गुरु के उपदेशानुसार चलने लगा। हे मनुष्य यदि ! तू निशिदिन विषय-वासना में संक्षिप्त न रहता तो नरक का भागी न होता। कबीर कहते हैं कि जब मैंने चंचल बुद्धि का जो विषय-वासनाओं में भटकती रहती थी, परित्याग कर दिया, तभी मेरी राम से लगन लगी।

तुम्ह गारड़ू मैं विष का माता, काहे न जिवावौ मेरे अमृतदाता ॥टेक॥
संसार भवगम डसिले काया, अरु दुख दारन व्यापै तेरी माया।
सापनि एक पिटारैं जागैं, अह निसि रोवैं ताकूं फिरि फिरि लागैं।
कहैं कबीर को को नहीं राखे, रांम रसांइन जिनि जिनि आखे ॥८३॥

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! माया के सांप द्वारा काटे गये आप मेरे विष का अन्त क्यों नहीं कर देते; क्योंकि आप उस सर्प के लिए गरुड़-स्वरूप हैं। हे अमृत-मय प्रभु ! आप मेरा उद्धार कीजिए। यह समस्त संसार सर्प है जो जीव के शरीर को डसता है, विषयुक्त कर देता है। फिर ऊपर से तेरी माया अनेक दारुण दुखों से व्यथित करती है। इस संसार के पिटारे में माया-रूपी सर्पिणी का स्थायी वास है, उसके दंश से मानव दिन-रात रोता है, किन्तु फिर भीं बारम्बार उसका ही आलिंगन करता है।

कबीरदास जी कहते हैं कि इस माया—सर्पिणी से वही बच सकते हैं, जिन्होंने प्रभु-भक्ति का मधुर रसायन चखा है।

माया तजूं तजी नहीं जाइ,
फिर फिर माया मो लपटाइ ॥टेक॥
माया आदर माया मांन, माया नहीं तहां ब्रह्म गियांन।
माया रस माया कर पांन, माया कारनि तजै परान ॥
माया जप तप माया जोग, माया बांधे सबही लोग।
माया जल थलि माया आकासि,माया व्यापि रही चहूं पासि ॥
माया माता माया पिता, अति माया अस्तरी सुता।
माया मारि करै व्योहार, कहै कबीर मेरे रांम अधार ॥८४॥

कबीर यहाँ माया-प्रभाव का उल्लेख करते कह रहे हैं कि माया का यद्यपि मैं परित्याग करना चाहता हूँ किन्तु उसका आकर्षण इतना प्रबल है कि वह बारम्बार मुझे अपने में संलिप्त कर लेती है संसार में मनुष्य ने माया को ही आदर और सम्मान सब कुछ समझ लिया है। जहाँ माया का प्रभाव नहीं है, वहीं प्रभु का ज्ञान प्राप्त हो गया है। माया में ही समस्त रस और माया में ही समस्त आनन्द मानकर व्यक्ति उसके लिए प्राण भी छोड़ देता है। आज माया ही जप, तप और योग सब कुछ बन गई है—इस भांति माया ने समस्त जगत् को अपने बंधन में बांध रखा है। माया पृथ्वी, समुद्र, आकाश सर्वत्र अपना प्रभाव दिखा रही है। संसार में समस्त सम्बन्ध—माता, पिता, पत्नी और पुत्री मायाजनित मिथ्या हैं। कबीर कहते हैं कि मैं माया को नष्ट

कर आचरण करता हूँ और मेरे एकमात्र आधार प्रभु ही हैं।

ग्रिह जिनि जांनौ रूड़ौ रे।
कंचन कलस उठाइ लै मंदिर, रांम कहै बिन धूरौ रे ॥टेक॥
इन ग्रिह मन डहके सबहिन के, काहू कौं पर्यौ न पूरौ रे।
राजा रांणां राव छत्रपति, जरि भये भसम कौ कूरौ रे॥
सबथैं नींकी संत मंडलिया, हरि भगतनि कौ भेरौ रे।
गोबिंद के गुन बैठे गैहैं, खैहैं टूकौ टैरौ रे॥
ऐसें जांनि जपौ जग-जीवन, जम सूं तिनका तोरौ रे।
कहैं कबीर रांम भजबे कौं, एक आध कोई सूरौ रे॥८५॥

शब्दार्थ—ग्रिह = भवन। खड़ौ = सूने, भयानक। धूरौ—धूल के समान। नींकी = अच्छी। जम = मृत्यु।

उन स्वर्ण-कलशधारी मन्दिरों को जिनमें राम नाम, प्रभु-नाम का उच्चारण नहीं होता वे केवल कंकर-पत्थर से बने भूतों के घर हैं। इन मन्दिर नामधारी घरों ने सबके ही चित्त को भ्रमित किया है, किन्तु ये किसी को भी तत्वदर्शन न करा सके। राजा, ताल्लुकेदार एवं अन्य छत्रपति समस्त ही मृत्यु के पश्चात् जल कर भस्म के ढेर मात्र रह गये—उनका कोई आज अस्तित्व भी नहीं। इन सबसे श्रेष्ठ तो सन्त-समूह है। बेचारे रूखी-सूखी खाकर आनन्दसहित प्रभु का गुणगान करते हैं। कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! प्रभु को इस प्रकार भक्तिभाव से भजो कि संसार बन्धन से मुक्त हो जाओ। वे आगे कहते हैं कि प्रभु-भजन करने के लिए तो कोई एकाध बिरला ही तत्पर होता है।

रजसि मींन देखि बहु पांनीं, काल जाल की खबरि न जांनीं ॥टेक॥
गारै गरब्यौ औघट, सो जल छाड़ि बिकानौं हाट।
बंध्यौ न जांनैं जल उदमादि, कहै कबीर सब मोहे स्वादि ॥८६॥

शब्दार्थ—सरल है।

संसार-जल में लिप्त रहने वाले मछलीरूपी जीव विषय-वासना का आकर्षण देखकर उसमें फँस गया, किन्तु उसने काल, मृत्यु-रूप जाल का भय न जाना। भाव यह है कि यदि यह इस काल-पाश से परिचित होता तो विषय-वासना रूप जल में न पड़ता। प्रभु भक्ति के तट पर जाकर मनुष्य के मिथ्या अहं का नाश हो जाता है। इसलिए जीव रूपी मछली को इस विषय-जल को छोड़ यहाँ से, संसार से चल देना चाहिए। कबीर कहते हैं कि जो संसार बन्धन में बँधा हुआ है वह प्रभु भक्ति के रहस्य को नहीं जान पाता। कबीर कहते हैं कि सब मनुष्य संसार के माया-मोह में पड़े हुए हैं।

काहे रे मन वह दिसि धावै, बिखिआ संगि संतोष न पावै ॥टेक॥
जहां जहां कलपै तहां तहां बंधनां, रतन कौ थाल कियौ तैं रंधनां।
जो पै सुख पईयत इन मांहीं, तौ राज छाड़ि कत बन कौं जांहीं॥

आनंद सहत तजौ विष नारी, अब क्या झीवै पतित भिषारी।
कहै कबीर यहु सुख दिन चारि, तजि बिषिया भजि चरन मुरारि ॥८७॥

शब्दार्थ—कलपै=कल्पना करता है। बधनां=बंधन। झीषै=दुखी होना।

कबीर कहते हैं कि हे कि हे मन ! तू क्यों व्यर्थ भ्रमित होता फिरता है ! तू विषयानन्दों में संलिप्त है, किन्तु फिर भी तुझे सन्तोष नहीं—तृष्णाओं के पीछे बावला हुआ फिरता है। जिस-जिस स्थान की कल्पना मनुष्य करता है, वहीं पर उसे माया-मोह का वन्धन बांध लेता है। आत्मा रूपी पूर्ण स्वच्छ स्वर्ण थाली को उसने पापों से कलुषित कर दिया है। जो मनुष्य को इस सांसारिक वैभव, विलास एवं विषय-जनित आनन्दों में ही सुख प्राप्त होता और वैराग्य से प्रभु-प्राप्ति में नहीं, तो भला राजा लोग अतुलित सम्पत्ति और वैभव का परित्याग कर वन का मार्ग क्यों ग्रहण करते ? हे पतित जीव ! अब पाप कर्म कर के क्यों भिखारी-सदृश दीन बनकर सुख-शान्ति की प्रार्थना करता है। यदि तुम विषयों के भोग एवं नारी के संसर्ग का परित्याग कर दो तो वह आनन्दस्वरूप ब्रह्म सहज प्राप्त हो जायेगा। इसीलिए कबीर-दास जी कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू इस विषय-वासना के सुख को त्याग दे, क्योंकि यह क्षणिक है और प्रभु का ही भजन कर।

जियरा जाहि गौ मैं जांनां,
जो देख्या सो बहुरि न पेख्या, माटी सूं लपटांनां ॥टेक॥
बाकुल बसतर किता पहिरबा, का तप बनखंडि बासा।
कहा मुगधरे पांहन पूजै, कागज डारै गाता ॥
कहै कबीर सुर मुनि उपदेसा, लोका पंथि लगाई।
सुनौं संतौ सुमिरौ भगत जन, हरि बिन जनम गवाई ॥८८॥

शब्दार्थ—मुगधरे=जड़। पाहन=पत्थर, मूर्ति।

कबीर कहते हैं कि मैं अब यह जान गया हूँ कि मन प्रभु-मिलन के लिए अवश्य जायगा। जिसने उस ब्रह्म से साक्षात्कार कर लिया फिर वह इस विषय-वासनापूर्ण संसार की ओर नहीं देखता। प्रभु-भक्ति में व्याकुल साधक को वेशभूषा की चिन्ता की क्या आवश्यकता है एवं न ही वह वन में जाकर साधना करता है वह तो मन में ही प्रभु-मिलन सुख प्राप्त कर लेता है। कबीरदास जी लोक-वेद सम्मत साधुजनों की वाणी का आश्रय लेकर कहते हैं कि जड़ पाहन मूर्ति को पूजने एवं उसके सम्मुख तपस्या करके अपने शरीर को सुखाने से क्या लाभ ? इसलिए हे साधुजनो ! एवं प्रभु भक्तो ! ईश्वर-प्राप्ति के बिना यह जीवन व्यर्थ है।

हरि ठग जग कौं ठगौरी लाई,
हरि के वियोग कैसें जीऊं मेरी माई ॥टेक॥
कौंन पुरिष को काकी नारी, अभि अंतरि तुम्ह लेहु बिचारी।
कौंन पूत को काको बाप, कौंन मरैं कौंन करैं संताप ॥
कहै कबीर ठग सौं मनमांनां, गई ठगौरी ठग पहिचांनां ॥८९॥

कबीर अपनी आत्मा के द्वारा कहलाते हैं कि हे सखि ! प्रभु बड़े भारी ठग हैं जिन्होंने अपने प्रेम से समस्त संसार को ठग रखा है। उनके वियोग में भला मैं कैसे जीवन धारण करूँ ? भला तनिक मन में विचार करके सोचो तो सही कि इस संसार में कौन किसका पति और कौन किसकी पत्नी है। कौन किसका पुत्र और कौन किसका पिता है, भला इनमें कौन किसके दुख से मरा है। ये समस्त संसार-सम्बन्ध मिथ्या हैं। कबीर कहते हैं कि मेरा मन तो एक ठग से लग गया है, इस संसार-भ्रम के नष्ट होने पर मैंने उस ठग स्वरूप परमात्मा को पहचान लिया है।

विशेष—सभंगपद यमक अलंकार।

सांई मेरे साजि दई एक डोरी, हस्त लोक अरु मैं तें बोली ।।टेक।।
इक झंझर सम सूत खटोला, त्रिस्नां बाव चहूँ दिसि डोला।
पांच कहार का मरम न जांनां, एकैं कह्या एक नहीं मांनां ।।
भूभर घांम उहार न छावा, नैहर जात बहुत दुख पावा।
कहै कबीर बर बहु दुख सहिये, रांम प्रीति कर संगही रहिये ।।९०।।

शब्दार्थ—भूभर=गर्म रेत, तप्त बालू। नैहर=पीहर।

कबीर कहते हैं कि मेरे शरीर रूपी एक डोली का निर्माण प्रभु ने कर दिया। वह इस संसार में इधर-उधर भटकती फिर रही है। यह मानव-शरीर एक कच्चे सूत से निर्मित खटोले के समान है जिसको तृष्णा चारों ओर घुमाती फिरती है। इसे पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ बिना समझे-बूझे चारों ओर विषय-तुष्टि में भटकाती फिरती हैं। ऐसी अवस्था में आत्मा प्रियतम् ब्रह्म के पास कैसे जाय, क्योंकि मार्ग में तप्त बालू है एवं परिश्रम दूर करने के लिए छाया तक का आश्रय नहीं है। कबीरदासजी कहते हैं कि चाहे कितने ही दुःख सहने पड़ जायें किन्तु कभी भी राम-प्रेम, प्रभु-भक्ति का आश्रय नहीं छोड़ना चाहिए।

बिनसि जाइ कागद की गुड़िया,
जब लग पवन तबै लग उड़िया ।।टेक।।
गुड़िया कौ सबद अनाहद बोलै, खसम लियें कर डोरी डोलै।
पवन थक्यौ गुड़िया ठहरांनीं, सीस धुनै धुनि रोवै प्रांनी ।।
कहै कबीर भजि सारंग पानीं, नहीं तर ह्वै है खेंचा तांनी ।।९१।।

शब्दार्थ—कागद की गुड़िया=नश्वर शरीर। स्वरूप=स्वामी, प्रभु। सारंग पानी=कृष्ण, भगवान्।

कबीर कहते हैं कि यह मेरा शरीर कागज निर्मित गुड़िया के तुल्य क्षणिक अस्तित्व का है। जब तक इसमें प्राणावायु का संचार है, इसका अस्तित्व तभी तक है। यह शरीर योगसाधना द्वारा अनहद शब्द सुनने की स्थित, ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त कर लेता है। जब इस कागज की गुड़िया—शरीर—में स्थित प्राण-वायु निकल जाता है तब इसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है एवं अन्य पारिवारिक बहुत हृदय विदारक रुदन कर उठते हैं। कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू प्रभु का भजन कर अन्यथा

संसार वन्धनों में पड़ा हुआ तू इधर-उधर खिचता रहेगा।

मन रे तन कागद का पुतला।
लागै बूंद बिनसि जाइ छिन मैं, गरब करै क्या इतना ॥टेक॥
माटी खोदहिं भींत उसारैं, अंध कहै घर मेरा।
आवै तलब बांधि लै चालै, बहुरि न करिहै फेरा॥
खोट कपट करि यहु धन जोर्यों, लै धरती मैं गाड़्यो।
रोक्यौ घटि साँस नहीं निकसै, ठौर ठौर सब छाड़्यो॥
कहै कबीर नट नाटिक थाके, मंदला कौन बजावै।
गये पखनियां उझरी बाजी, को काहू कै आवै ॥६२॥

शब्दार्थ—विनस=नष्ट। भींत=दीवार, भित्ति। उसारे=फूस निर्मित छप्पर। तलब=मृत्यु। खोट=पाप। नाटिक=नाटिका। मंदला=एक वाद्य विशेष।

कबीर कहते हैं कि हे मन! तू इस शरीर पर क्यों व्यर्थ इतना गर्व करता है, इसके लिए क्यों व्यर्थ इतने सम्भार करता है? इसका अस्तित्व तो उस कागज के पुतले के समान क्षणिक है जो बूंद पड़ते ही नष्ट हो जाता है।

मिट्टी खोदकर कच्ची दीवार पर छप्पर डालकर जो टूटा-फूटा रहने का स्थान बनाया है उसे ही यह अज्ञानी जीव अपना घर बताता है। मृत्यु जब आयेगी तो इस मनुष्य शरीर को समाप्त कर जायेगी फिर इस संसार को तू देख भी नहीं सकता। यह जो धनराशि तूने विविध पाप कर्म करके एकत्रित कर पृथ्वी में गाड़ी है वही मृत्यु के समय तेरे प्राणों को निकलने में बाधा देती है, सोचता है, मैं इसे किस किस स्थान पर छोड़े जा रहा हूँ। कबीर कहते हैं कि यह शरीर अब इस संसार नाटक में अभिनय करता-करता परिश्रान्त हो गया फिर भला अब वाद्य से ध्वनि कौन निकाल सकता है। सब साथी चले गये, छूट गये, कौन किसका साथ देता है?

झूठ तन कौं कहा रखइये, मरिये तौ पल भरि रहण न पइये ॥टेक॥
षीर षांड घृत प्यंड संवारा, प्रान गये ले बाहरि जारा॥
चोवा चंदन चरचत अंगा, सो तन जरै काठ के संगा॥
दास कबीर यहु कीन्ह बिचारा, इक दिन ह्वै है हाल हमारा ॥६३॥

शब्दार्थ—चरचत=चर्चित।

इस मिथ्या शरीर को, जिसका अस्तित्व मृत्यु के एक क्षण अनन्तर नहीं रह पाता, क्या सँवारा जाय। खीर, मिष्ठान, घी आदि जैसे स्वादिष्ट एवं पौष्टिक पदार्थों से जिस शरीर का पोषण किया मृत्यु हो जाने पर उसी को घर से बहुत दूर श्मशान में ले जा कर भस्म कर देते हैं। चन्दन आदि विविध सुगन्धित पदार्थों के अंगराग से जिसका मण्डन किया था वही लकड़ी के साथ रखकर चिता पर जलाया जाता है। अतः इस शरीर के पोषण से क्या लाभ है? अतः कबीरदास जी विचार-

पूर्वक यह कहते हैं कि एक दिन हमारी भी यही गति होगी, अतः क्यों न शरीर का मोह त्याग प्रभु भजन किया जाय ?

देखहु यहु तन जरता है, घड़ी पहर बिलंबौ रे भाई जरता है ॥टेक॥
काहे कौं एता किया पसारा, यहु तन जरि बरि ह्वै है छारा।
नव तन द्वादस लागी आगी, मुगध न चेतै नख सिख जागी ॥
कांम क्रोध घट भरे बिकारा, आपहि आप जरै संसारा।
कहै कबीर हम मृतक समांनां, राम नांम छूटे अभिमांनां ॥६४॥

शब्दार्थ—बिलंबौ=रुको। पसारा=प्रसार, सम्भार। बरि है=प्रज्वलित होगा।

कबीर कहते हैं कि यह शरीर जिसके लिए तुम पाप-पंक में फँसते हो, भस्म होकर अस्तित्वहीन हो जाता है। तुम थोड़े समय बाद देख लेना कि यह जलता है या नहीं—अर्थात् अवश्य जल जायेगा। क्यों व्यर्थ तुमने इसके लिए पाप कर्म किये, यह तो जल कर क्षार हो जायेगा। इस शरीर को बारह प्रकार की अग्नियाँ जलाकर नष्ट कर देंगी, किन्तु जो संसार में लिप्त हैं, वह यह देखकर भी प्रभु-भक्ति में नहीं लगता। मनुष्यों के हृदय में काम-क्रोध आदि विकार भरे हुए हैं, इनके ताप से संसार स्वयं भस्म होता जाता है। कबीर कहते हैं कि मैं तो जीवन्मुक्त हूँ, क्योंकि मैंने प्रभु का आश्रय ले लिया है। ईश्वर भजन से ही संसार में मिथ्याभिमान नष्ट होता है।

तन राखनहारा को नाहीं, तुम्ह सोचि विचारि देखौ मन मांहीं ॥टेक॥
जौर कुटंब अपनौं करि पार्यौ, मूड ठोकि ले बाहरि जार्यौ।
दगाबाज लूटैं अरू रोवैं जारि गाडि पुर खोजहि षोवैं ॥
कहत कबीर सुनहुँ रे लोई, हरि बिन राखनहार न कोई ॥६५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि मन में यह भली भाँति विचार कर देख लिया कि इस शरीर को बचाने वाला कोई भी नहीं है। जिस परिवार का पालन-पोषण जीवनपर्यन्त किया, वे ही थोड़ी देर सिर पीटकर मृत्यूपरान्त इसे घर से निकाल देते हैं। ये सांसारिक बड़े धोखेबाज हैं जो उसे जीते जी लूटते हैं और मरने पर रोते भी हैं एवं मरने पर जलाकर या दफन करके फिर खूंटे अथवा कब्र के ऊपर कुछ चिनवाते हैं। कबीर अपनी शिष्या लोई को सम्बोधित करते कहते हैं कि इस मनुष्य की रक्षा प्रभु के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता।

अब क्या सोचै आइ बनीं, सिर परि साहिब रांम धनीं ॥टेक॥
दिन दिन पाप बहुत मैं कीन्हाँ, नहीं गोव्यंद की संक मनीं।
लेट्यौ भोमि बहुत पछितांनौं, लालचि लागौं करत धनी ॥
छूटी फौज आंनि गढ घेर्यौं, उड़ि गयौ गूड़र छाड़ि तनीं।
पकर्यौं हंस जम ले चाल्यौ, मंदिर रोवै नारि धनीं ॥

कहै कबीर रांम किन सुमिरत, चीन्हत नांहिन एक चिनीं ।
जब जाइ आइ पड़ोसी घेर्यौं छांड़ि चल्यौ तजि पुरिख पनीं ।।९६।।

शब्दार्थ—संक=भय । भोमि=भूमि, पृथ्वी । घनी=अत्यधिक ।

कबीर कहते हैं कि हे मूर्ख जीव ! अब जब शीश पर मृत्यु आ चढ़ी है तब क्या सोचता है कि प्रभु सर्वोपरि है, यह बात तो पहले सोचने की है । जब तो प्रभु का कोई भय न मानते हुए तूने प्रतिदिन बड़े-बड़े पाप कर्म किये । जब लोभ और लालच में बुरी तरह ग्रस्त था, किन्तु अब पृथ्वी पर लोट-लोट कर पश्चाताप करता है , जब मृत्यु ने इन शरीर रूपी किले पर आक्रमण कर दिया तो आत्मा इस शरीर को छोड़कर चली गई । प्राणों को पकड़कर यम लेकर चल दिया तो घर पर बहुत से सम्बन्धी रोने लगे । कबीर कहते हैं कि राम का स्मरण कोई नहीं करता, उस पहचानने योग्य को कोई नहीं पहचानने का प्रयत्न करता । जब इस शरीर को मृत्यु आ दबाती है तो सब अपने मनुष्यत्व को खो यहाँ से चल देते हैं ।

सुवटा डरपत कहु मेरे भाई, तोही डराई देत बिलाई ।
तीनि बार रूंधै इक दिन मैं, कबहूँ क खता खवाई ।।टेक।।
या मंजारी मुगध न मानैं, सब दुनियाँ डहकाई ।
राणां राव रंक कौं ब्यापैं, करि करि प्रीति सवाई ।।
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा, उबरे हरि सरनांई ।
लाषों मांहि तैं लेत अचांनक, काहू न देत दिखाई ।।९७।।

शब्दार्थ—सुवटा=तोता, यहाँ जीव से तात्पर्य है ।' बिलाई=माया । खता खवाई=धोखा हो जायगा, चट कर जायगी । मंजारी=बिल्ली । डहकाई=बहकाई । सरनांई=शरण ।

हे शुक रूप जीव ! तू यहाँ इसी प्रकार से भय-त्रस्त रहेगा, क्योंकि यहाँ यह माया-रूपी बिल्ली तुझे चट कर जाने के लिए बैठी हुई है । यह तुझे दिवस में अनेक बार रूंध देती हैं, किन्तु वह तो मेरा भाग्य है कि तू अब तक बचा है, किसी बार धोखा हो जायेगा और यह बिल्ली तुझे चटकर जायगी । तू इस बिल्ली के मोह में न पड़, इससे प्रेम न कर, इसने समस्त संसार को इसी प्रकार बहका रखा है । यह राजा, भिखारी सब को प्रेम सिखा कर अपने फंदे में डाल लेती है । कबीरदास जी कहते हैं कि हे तोते रूप जीव ! सुन, यह माया बिल्ली लाखों मनुष्यों के समूह में भी चुपचाप ही व्यक्ति को चट कर जाती है, इससे निस्तार प्रभु शरण द्वारा ही सम्भव है ।

का मांगूं कुछ थिर न रहाई,
देखत नैंन चल्या जग जाई ।।टेक।।
इक लष पूत सवा लष नाती, ता रावन घरि दिवा न बाती ।
लंका सा कोट समंद सी खाई, ता रावन की खबरि न पाई ।।

आवत संग न जात संगाती, कहा भयौ दरि बांधे हाथी ।
कहै कबीर अंत की बारी, हाथ झाड़ि जैसें चले जुवारी ।।९८।।

शब्दार्थ कोट=दुर्ग । संगाती=साथी । दरि=द्वार पर ।

कबीर कहते हैं कि मैं तुमसे हे प्रभु क्या मांगूं, देखते ही देखते संसार यूं ही चला जाता है । इस संसार में ऐसा कुछ भी तो नहीं है जो स्थिर है । जिस महाराजा रावण के एक लाख पुत्र एवं सवा लाख नाती थे उसका भी अन्त में समूलनाश ऐसा हो गया कि उसके घर में कोई दीपक जलाने वाला भी शेष न रहा । जिसका लंका जैसा भव्य किला और उसके चारों ओर विशाल समुद्र पर उसका आधिपत्य था, उसी रावण का आज चिह्न तक शेष नहीं है । चाहे कोई द्वार पर हाथी बांध-बांधकर कितना ही वैभवशाली क्यों न कहला ले किन्तु न तो उसके साथ कुछ संसार में आया था और न उसके साथ संसार से जायगा । कबीर कहते हैं कि मृत्यु के समय वैसे ही खाली हाथ मनुष्य जाता है जैसे जुए में हारने पर जुआरी खाली हाथ जाता है ।

विशेष—उपमा अलंकार ।

रांम ! थीरे दिन कौं का धन करनां,
धंधा बहुत निहाइति मरनां ।।टेक।।
कोटी धज साह हस्ती बंध राजा, क्रिपन को धन कौंन काजा ।
धन कै गरिब रांम नहीं जांनां, नागा ह्वै जम पैं गुदरांनां ।।
कहै कबीर चेतहु रे भाई, हंस गया कछु संगि न जाई ।।९९।।

शब्दार्थ—क्रिपन=कृष्ण, कंजूस । गरिब=गर्व, घमंड । नागा=नंगा, खाली हाथ । हंस=जीव ।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! थोड़े दिन स्थिर रहने वाले इस सांसारिक धन का क्या करना, इसके लिए न जाने कितने प्रयत्न जी तोड़कर करने पड़ते हैं । यदि कोई साहूकार अथवा राजा अपने द्वार पर हाथी बांधकर भवन पर सौ पताकाएँ फहरा दे और कृपण अपने कोष में अतुल धन जमा कर ले तो इसका किसी और को क्या लाभ ? ये लोग धनाभिमान में प्रभु को भी नहीं पहचान पाते, किन्तु जब यम इन्हें ले जाता है तो नंगे होकर खाली हाथ जाते हैं । कबीर कहते हैं कि सब सावधान हो प्रभु-भक्ति का भजन करो क्योंकि प्राण निकल जाने पर कुछ भी साथ नहीं जाता, यह सांसारिक वैभव यथावत् यों ही धरा रह जाता है ।

काहे कूं माया दुख करि जोरी,
हाथि चुंन गज पांच पछेवरी ।।टेक।।
मां को बंध न भाई साथी, बांधै रहे तुरंगम हाथी ।
मैड़ी महल बावड़ी छाजा, छाड़ि इये सब भूपति राजा ।।
कहै कबीर रांम ल्यौ लाइ, धरी रहै माया काहू न खाई ।।१००।।

शब्दार्थ—बंध=बन्धु । तुरंगम=घोड़े ।

कवीर कहते हैं कि हे जीव ! तूने यह माया, धन-सम्पत्ति व्यर्थ क्यों दुःख उठा-उठा कर संचित की है। तुझे मृत्यु होने पर लाल रंग का वही पाँच गज वस्त्र प्राप्त होगा, अन्य कुछ नहीं।

इस संसार में कोई किसी का न बन्धु है न सखा, समस्त संसार-सम्बन्ध मिथ्या हैं फिर क्यों व्यर्थ धनिक लोग द्वार पर हाथी घोड़े बाँध कर वैभव का प्रदर्शन करते हैं। झोंपड़ी, महल, सरोवर एवं अन्य भवन सब को यहीं छोड़कर बड़े-बड़े राजा मृत्यु-गामी हो गये। कबीर कहते हैं कि मूढ़ जीव ! तू प्रेम सहित प्रभु भक्ति कर। इस माया को कोई नहीं खाये जाता।

माया का रस षांण न पावा,
तब लग जम बिलवा ह्वै धावा ॥टेक॥
अनेक जतन करि गाड़ि दुराई, काहू सांची काहू खाई।
तिल तिल करि यहु माया जोरी, चलती वेर तिणां ज्यूं तोरी।
कहैं कबीर हूँ ताका दास, माया मांहैं रहै उदास ॥१०१॥

शब्दार्थ—जम=यम, मृत्यु। बिलवा=बिलौटा, नर बिल्ली। दुराई= छिपाई। तिना=तिनका।

कबीर कहते हैं कि मनुष्य अपनी विविध दुःखों सहित एकत्रित धन-सम्पत्ति का आस्वाद भी नहीं कर पाया था कि मृत्यु रूपी बिलौटा आ धमका। यह अनेक प्रयत्न करके गाड़ और छुपाकर रखी थी, किन्तु सत्य-सत्य बताओ इसका उपभोग आज तक कोई कर पाया है। कण-कण एकत्रित कर तो यह माया संचित की, किन्तु इस संसार से चलते समय तृण के समान इससे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। कबीर कहते हैं कि मैं उसी का दास हूँ उसी का भक्त हूँ, जो माया के मध्य रहता हुआ भी उससे संलिप्त न हो।

विशेष—कबीर भी यहां वेदान्तियों के समान 'पद्मपत्रमिवाम्भसि' जैसा आदर्श बताते हैं, वास्तव में यह आदर्श बहुत ऊँचा है और कदाचित् कबीर इस स्तर पर पहुँच गये थे तभी वे, इतनी दृढ़तापूर्वक इस मत की प्रस्थापना करते हैं।

मेरी मेरी दुनियां करते, मोह मछर तन धरते।
आगें पीर कूकदम होते, वै भी गये यौं करते ॥टेक॥
किसकी ममां चचा पुंनि किसका, किसका पंगुड़ा जोई।
यहु संसार बजार मंड्या है, जानैंगा जन कोई॥
मैं परदेसी काहि पुकारौं, इहाँ नहीं को मेरा।
यहु संसार ढूंढि सब देख्या, एक भरोसा तेरा॥
खांहि हलाल हरांम निवारैं, भिस्त तिनहु कौं होई।
पंच तत का मरम न जानैं, दोजगि पड़िहै सोई॥
कुटंब कारणि पाप कमावै, तूं जाणैं घर मेरा।
ए सब मिले आप सवारथ, इहाँ नहीं को तेरा॥

सायर उतरौ पंथ सँवारौ, बुरा न किसी का करणां।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, ज्वाब खसम कूं भरणां ॥१०२॥

शब्दार्थ—मछर=मत्सर। मरम=भेद। दोजगि=दोजख, नरक। कारणि=लिए। सवारथ=स्वार्थ। सायर=सागर। खसम=स्वामी, प्रभु।

कबीर कहते हैं कि सब मनुष्य अहं, अथवा ममत्व-भावना के कारण विविध शरीर धारण करते हैं। जो पहले समाज में सम्मानीय स्थानों और पदों की शोभा थे उन्हें भी चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ता है। इस संसार में माता-पिता आदि के जो सम्बन्ध हैं, वे सब मिथ्या है, यहाँ कोई किसी का नहीं है। यह संसार तो बाज़ार के समान है, जिसमें थोड़ी देर की पैंठ लगाकर सब अपने-अपने गन्तव्य स्थान को चल देते हैं। हे प्रभु ! मैं इस जगत् में परदेशी सदृश हूँ। मैं किसे अपना समझूं, एकमात्र अवलम्ब तेरा ही है। ये सांसारिक सम्बन्धी परिश्रम की कमाई खाकर आराम करते हैं और इस प्रकार भ्रष्ट आचरण करते हैं। यह मानव यह नहीं समझता कि इस शरीर का मोह कैसा ? यह तो मृत्यु के पश्चात् पंचतत्व में समाहित हो जाता है। इस रहस्य का न समझ सकने के कारण ही ये दोजख, नरक को भोगते हैं। हे जीव ! तू परिवारियों के लिए पाप कर्म कर धन संचित करता है और यह विश्वास करता है कि ये सब मेरे हैं। यह तेरा मिथ्या भ्रम है। यहाँ इस संसार में तेरा कोई नहीं है, सब अपना स्वार्थ साधन कर रहे हैं।

कबीर कहते हैं कि हे सज्जनो ! तुम अपना परलोक सँवार लो, किसी का बुरा मत सोचो, क्योंकि तुम्हें अन्ततः उस स्वामी, ब्रह्म, को अपने कर्मों का उत्तर देना होगा।

रे यामैं क्या मेरा क्या तेरा,
लाज न मरहिं कहत घर मेरा ॥टेक॥
चारि पहर निस भोरा, जैसें तरवर पंखि बसेरा।
जैसें बनिया हाट पसारा, सब जग का सो सिरजनहारा।
ये ले जारे वें ले गाड़े, इनि दखिइनि दोऊ घर छाड़े।
कहत कबीर सुनहु रे लोई, हम तुम्ह बिनसि रहैगा सोई ॥१०३॥

शब्दार्थ—भोरा=भोर, प्रातःकाल। पंखि=पक्षी। हाट=पैंठ, बाजार। बिनसि=नष्ट होना। सोई=वही, प्रभु।

कबीर कहते हैं कि हे मूर्ख मनुष्य ! तुझे इस संसार को अपना कहते लज्जा तक नहीं आती—इसमें 'मेरा और तेरा' भला क्या रखा है ? तेरी इस संसार में क्षणिक स्थिति ऐसी ही है जैसे रात्रि में चार प्रहर व्यतीत करने के लिए पक्षीगण पेड़ पर बसेरा डाल लेते हैं; अथवा जैसे वणिक पैंठ में जाकर थोड़ी ही देर के लिए वहाँ अपनी दुकान लगाकर उसे अपनी कहने लगता है और समस्त जगत् के स्रष्टा उस प्रभु को भूल जाता है। जो कृपण धन को संचित करते हैं एवं जो उसे विषय-भोगों में नष्ट करते हैं, वे दोनों ही दुःखी होकर इस संसार से जाते हैं। कबीर कहते हैं कि

हे लोई (शिष्या का नाम) ! हम तुम अर्थात् सब संसार तो नष्ट हो जायेगा, केवल ब्रह्म ही चिरन्तन और सत्य है, अतः उसी का भजन करो।

नर जांणें अमर मेरी काया, घर घर बात दुपहरी छाया ॥टेक॥
मारग छाड़ि कुमारग जोवैं, आपण मरैं और कूं रोवैं।
कछू एक किया कछू एक करणां, मुगध न चेतैं निहचै मरणां ॥
ज्यूं जल बूंद तैसा संसारा, उपजत बिनसत लगै न बारा।
पंच पंषुरिया एक ससीरा, कृष्ण कवल दल भवर कबीरा ॥१०४॥

शब्दार्थ—लगै न वारा=देर नहीं लगती। पंच पंषुरिया=पाँच तत्व।

कबीर कहते हैं कि मनुष्य यह सोचता है कि मेरा यह शरीर अमर है, किन्तु उसे यह ज्ञान नहीं है कि यह दुपहरी की छाया के सदृश क्षणिक एवं अस्तित्वहीन है। वह सन्मार्ग को छोड़ कुमार्ग को ग्रहण कर लेता है, स्वयं भी तो इसे मरना ही है फिर और मरण देखकर क्यों व्यर्थ रुदन करता है। कुछ तो दुष्कर्म उसने पहले ही किये हैं और कुछ अब और करेगा, वह यह नहीं सोचता कि संसार में लिप्त रहने से क्या लाभ ? निश्चय ही उसे एक दिन मरना है। यह संसार जल की एक बूंद के तुल्य है, जिसे उत्पन्न होते और नष्ट होते देर नहीं लगती। इस एक शरीर के पाँच संचालक—आँख, नाक, कान, रसना एवं त्वचा—उसे विविध वासना विषयों में भ्रमित करते रहते हैं। कबीर तो सहस्रदल में स्थित ब्रह्म में लीन हो गया है।

विशेष—उपमा अलंकार।

मन रे अहरषि वाद न कीजै, अपनां सुकृत भरि भरि लीजै ॥टेक॥
कुंभरा एक कमाई माटी, बहु विधि जुगति बणाई।
एकनि मैं मुकताहल मोती, एकनि व्याधि लगाई ॥
एकनि दीनां पाट पटंबर, एकनि सेज निवारा।
एकनि दीनीं गरै गूदरी, एकनि सेज पयारा ॥
सांची रही सूंम की संपति, मुगध कहै यहु मेरी।
अंत काल जब आइ पहूंता, छिन मैं कीन्ह न बेरी ॥
कहत कबीर सुनौं रे संतो, मेरी मेरी सब झूठी।
चड़ा चींथड़ा चूहड़ा ले गया, तणीं तणगती टूटी ॥१०५॥

शब्दार्थ—अहरषि=अहर्निश। सुकृत=पुण्य। कुंभरा=कुम्हार। जुगति=युक्ति सहित। सूम=कृपण। पहूंता=पहूंचा। बड़ा चींथड़ा=जर्जर वस्त्र। चूहड़ा=चूहा।

कबीर कहते हैं कि हे मन ! तू अहर्निश संसार-जाल में ही मत उलझा रह। पुण्य कर्म कर अपना परलोक सँभाल ले। कुम्हार एक ही मिट्टी के द्वारा अत्यन्त प्रयत्न करके बहुत-सी वस्तुएँ निर्मित कर देता है, किसी एक पात्र में मुक्ता-माणिक्य भरे रहते हैं और दूसरा व्याध के पास होता है जिसमें वह रक्त-मांस आदि जैसी वस्तुएं रखता है उसी प्रकार सब मनुष्य उस ब्रह्म से ही निर्मित हैं, किन्तु एक को तो विविध

प्रकार की सुन्दर-सुन्दर वेशभूषाएँ प्राप्त हैं तो दूसरे को बिछाने के लिए वस्त्र तक नहीं प्राप्त होते। एक के शरीर पर चिथड़े होते हैं तो दूसरे को सुन्दर शय्या प्राप्त होती है। यह सब अपने-अपने कर्मों का ही फल है। कृपण तक की सम्पत्ति यहां रखी रह जाती है, संसार में बद्ध जीव सम्पत्ति पर अपना स्वत्व बताता है और जब मृत्यु आ पहुँचेगी तो पल भर में सब कुछ समाप्त हो जायेगा। कबीर कहते हैं कि हे सज्जनो ! साधुओ ! इस संसार में तुम जिस-जिस वस्तु को अपनी बताते हो, वह सब झूठ है। इस जर्जर शरीर को काल रूपी चूहा ले गया तो सब सम्बन्ध चरमरा कर टूट जायेंगे।

विशेष—अनुप्रास अलंकार।

हड़ हड़ हड़ हड़ हसती, दिवांनपनां क्या करती है।
आड़ी तिरछी फिरती है, क्या च्यौं च्यों म्यों म्यों करती है ।।टेक।।
क्या तूं रंगी क्या तूं चंगी, क्या सुख लोड़ै कीन्हां।
मीर मुकदम सेर दिवांनीं, जंगल केर षजीनां।
भूले भरमि कहा तुम्ह राते, क्या मदुमाते माया।
रांम रंगि सदा मतिवाले, काया होइ निकाया।।
कहत कबीर सुहाग सुंदरी, हरि भजि ह्वै निस्तारा।
सारा षलक खराब किया है, मांनस कहा बिचारा ।।१०६।।

शब्दार्थ—हड़-हड़=खिलखिला कर, अट्टहासपूर्वक। च्यों-च्यौं म्यों-म्यों=चिल्ल पों मचाना, उथल-पुथल का वातावरण बनाना। मीर=मुसलमान समाज की श्रेष्ठ पदवी जिसका अर्थ प्रथम होता है। मुकदम=मुकद्दम, पहले ग्रामों में हुआ करते थे, यहाँ सम्माननीय व्यक्ति के अर्थ में। मदुमाते=मदमाते। निस्तारा=छुटकारा। षलक=संसार। मांनस=मनुष्य।

कबीर माया को सम्बोधित करते कहते हैं कि तू खिलखिलाकर अट्टहासपूर्वक हँसकर क्या उत्पात किया चाहती है। तू ऐसा पागलपन क्यों कर रही है? तू इधर-उधर शान्ति भंग करती क्यों फिर रही है ? कोई व्यक्ति तेरे रंग में रंगकर सुख प्राप्त कर रहा हो, भले ही वह मीर-मुकद्दम कोटि का श्रेष्ठतम व्यक्ति क्यों न हो, वह वन में गड़े अज्ञात खजाने के समान निरर्थक आनन्दोपभोग में लगे हैं क्योंकि उस आनन्द का किसी को लाभ तो प्राप्त होता ही नहीं है। इसलिए तुम भ्रम में पड़े हुए माया के रंग में मत पड़ो। यह माया सबको मदमस्त बना देती हैं। प्रभु-भक्ति के रस में रंगे हुए सर्वदा (स्थायी) आनन्द का सुख लाभ करते हैं। उसी से शरीर निष्पाप होता है। कबीरदास जी कहते हैं कि इस माया ने तो समस्त संसार को अपने दूषित प्रभाव से विषाक्त बना दिया है, फिर बेचारे मनुष्य की तो बात ही क्या ? अतः हे आत्मारूपी सुन्दरी ! तू प्रभु का भजन कर, इसी से मुक्ति सम्भव है।

हरि कै नांइ गहर जिनि करऊँ, रांम नांम चित भुलां न धरऊ ।।टेक।।
जैसैं सती तजैं स्यंगार, ऐसैं जियरा करम निवार।

राग दोष दहूँ मैं एक न भाषि, कदाचि ऊपजै तौ चिंता न राषि।
भूलै बिसरय गहर जौ होई, कहै कबीर क्या करिहौ मोही ॥१०७॥

शब्दार्थ—मुखां=मुख में। स्यंगार=शृंङ्गार। निवार=परित्याग।

कबीर कहते हैं कि जो मनुष्य प्रभु के सम्मुख भी अहं भाव का परित्याग नहीं करते हैं वे ऐसे लोग होते हैं जो कभी राम-नाम, प्रभु-नाम को हृदय अथवा मुख में आने ही नहीं देते। वे आगे जीव को समझाते हैं कि जैसे सती नारी शृङ्गार का पूर्ण परित्याग कर देती है, उसी प्रकार तू कर्मों का पूर्ण त्याग कर कर्म-विरत हो जा एवं राग-द्वेष दोनों में से किसी में भी अपना मन न लगा और यदि कभी राग-द्वेष उत्पन्न भी हो जाय तो तू उस पर विचार ही न कर, वह स्वयं समाप्त हो जायेगा। कबीर कहते हैं कि यदि धूलि में विषयरस हुआ तो वह मोह करके भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

भाव यह है कि हे मनुष्य! यदि तू इस उपर्युक्त स्थिति को प्राप्त कर ले तो माया-मोह, विषय-विकार तुझे प्रभु-भक्ति पथ से हटा नहीं सकते।

मन रे कागद कीर पराया।
कहा भयौ ब्यौपार तुम्हारै, कल तर बढ़ै सवाया ॥टेक॥
बड़ैं बोहरै सांठों दीन्हौं, कल तर काढ्यो खोट।
चार लाख अरु असी ठीक दे, जनम लिख्यौ सब चौटै।
अब की बेर न कागद कीर्‌यौ, तौ धर्म राइ सूं तूटै।
पूंजी वितड़ि बंदि लै दैहै, तब कहै कौंन कै छूटै॥
गुरदेव ग्यांनीं भयौ लगनियां, सुमिरन दीन्हौं हीरा।
बड़ी निसरनी नांव रांम कौ, चढ़ि गयौ कीर कबीरा ॥१०८॥

शब्दार्थ—पराया=दूसरे का। तर=तक। सवाया=सवा गुना। बौहरें=व्यापार करने वाला।

कबीर कहते हैं कि मन! तूने दूसरे बौहरे का कागज भरा है। ये पाप जो तू अर्जित कर रहा है, उसी प्रकार कल तक सवा गुने बढ़ जायेंगे जिस भाँति बौहरे का सूद। यह तेज बौहरा कल तक तुझ पर सूद बढ़ा कर न जाने क्या-क्या दोष निकाल देगा जिसका फल तुझे चौरासी लाख योनियों में जन्म लेकर भटकते हुए उठाना पड़ेगा। यदि अब की बार इस मनुष्य जन्म में कागज का सब पाप-कर्म रूपी धन न चुका दिया तो मृत्यु-पश्चात् धर्मराज तुझसे रुष्ट हो जायेंगे। पूंजी के बढ़ जाने पर तुझे जब बन्दी कर देगा, तब तुझे कौन मुक्त करायेगा? सद्‌गुरु रूपी जमानती ही तुझे स्मरण का हीरा देकर इससे मुक्त करा सकता है। जिसके द्वारा राम-नाम की सीढ़ी को पाकर इस संसार में बद्ध कबीर भी भक्ति के चरम सोपान—प्रभु—को प्राप्त कर लेगा।

धागा ज्यूं टूटै त्यूं जोरि।
तूटै तूटनि होयगी, नां ऊं मिलै बहोरि ॥टेक॥

उरझ्यो सूत पांन नहीं लागै, कूच फिरै सब लाई।
छिटकै पवन तार जब छूटै, तब मेरो कहा बसाई ।।
सुरझ्यौ सूत गुढ़ी सब भागी, पवन राखि मन धीरा।
पंचूं भइया भये सनतुखा, तब यहु पान करीला ।।
नांन्हीं मैंदा पीसि लई है, छांणि लई द्वै बारा।
कहैं कबीर तेल जब मेल्या, बुनत न लागी बारा ।।१०९।।

शब्दार्थ—ॐ=वह, ब्रह्म। वहोरि=दुबारा। पंचू भइया=पाँचों भइया, पाँचों इन्द्रियाँ। मैंदा=बारीक आटे को छान कर निकाली जाती है। छांणि=छान कर।

कबीर कहते हैं कि प्रभु भक्ति का धागा यदि टूट जाता है तो जैसे भी हो उसे जोड़ अवश्य लेना चाहिए क्योंकि यह टूटने का क्रम तो चलता ही रहेगा, किन्तु वह पुनः प्राप्त नहीं हो सकते। उलझा हुआ सूत पिंडी के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता, चाहे आप उसे मुहल्ले के सब व्यक्तियों से करा देखिये। यदि विषय-वासना रूपी वायु के चलने पर प्रभु-भक्ति का तार टूट जाय तो मेरा क्या वश है ? कर्म-सूत के सुलझ जाने पर सब गाँठें, मन के सन्ताप, दूर हो जाते हैं और इस प्रकार प्राणों में धैर्य का संचार होता है। पाँचों इन्द्रियां जब अपने वश में हो जाती है, तभी यह कर्म-रूपी सूत पान (जिसके ऊपर सूत लपेटा जाता है) पर चढ़ सकता है। कबीर कहते हैं कि इस कर्म सूत को कलफ लगाने के लिए जो प्रयत्न रूपी दो बार की छनी मैदा लगाई और थोड़ा-सा स्नेह (तेल) चुपड़कर कर्म-सूत से भक्ति का जो सुन्दर वस्त्र बुना, उसे बुनते थोड़ी भी तो देर न लगी।

विशेष—१. कबीर ने यहाँ भक्ति को जुलाहे कर्म से सम्बन्धित उपमानों द्वारा स्पष्ट किया है, इससे उनकी उपमा और रूपक योजना में कुछ दुरूपता अवश्य आ गयी है। किन्तु यदि उसे जुलाहे कर्म-ज्ञान के सन्दर्भ में देखें तो वह सर्वथा स्पष्ट है।

२. उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार स्वाभाविक ही पद में आ गये हैं।

ऐसा औसर बहुरि न आव, रांम मिल पूरा जन पाव ।।टेक।।
जनम अनेक गया अरू आया, की बेगारि न भाड़ा पाया।
भेष अनेक एकधूं कैसा, नांनां रूप धरै नट जैसा ।।
दांन एक मांगों कवलाकंत, कबीर के दुख हरन अनंत ।।११०।।

शब्दार्थ—औसर=अवसर। पूरा जन=पूर्ण पुरुष,ब्रह्म। भाड़ा=किराया। कवलाकंत=कमलाकान्त, लक्ष्मीपति, विष्णु, ब्रह्म।

कबीर कहते हैं कि यह मनुष्य जन्म जैसा सुअवसर फिर प्राप्त नहीं हो सकेगा अतः भक्ति को अपना ले, जिससे पूर्ण पुरुष नारायण की प्राप्ति हो जाय। हे जीव ? तू नाना योनियों में जन्म गँवा-गँवा कर आया है, किन्तु सब में तू बेगार

की है, जिसका तुझे कोई फल नहीं प्राप्त होगा। हे प्रभु ! उन विभिन्न जन्मों में मैंने नाना वेष नट के समान धारण किये हैं, भाव यह है कि भिन्न-भिन्न योनियों में भिन्न-भिन्न स्वरूप प्राप्त किया है। कबीर कहते हैं कि हे लक्ष्मीकान्त ! हे प्रभु ! मैं आपसे एक ही वरदान माँगता हूं, वह यह कि आप मेरे अनन्त दुखों को दूर कर दीजिए।

विशेष—१. कबीर का पुनर्जन्म में दृढ़ विश्वास ऐसे ही पदों से प्रकट होता है।

२. कबीर पर वैष्णव प्रभाव की घोषणा यत्र-तत्र प्रभु के लिए आये यह वैष्णव नाम भी करते हैं।

३. उपमा अलंकार।

हरि जननीं मैं बालिक तेरा,
काहे न औगुंण बकसहु मेरा ॥टेक॥
सुत अपराध करै दिन केते, जननीं कै चित रहैं न तेते।
कर गहि केस करै जौ घाता, तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी ॥१११॥

शब्दार्थ—सरल है।

हे प्रभु ! आप माता हैं और मैं तुम्हारा अबोध बालक हूं। तुम मेरे अवगुणों पापों को क्षमा क्यों नहीं कर देते ? बालक दिवस में न जाने कितने अपराध करता है, किन्तु माता के हृदय में उनमें से एक भी नहीं रह जाता। माता का हाथ पकड़ कर तो कभी बाल आदि खींचकर बालक उसे दुख पहुंचाता है, किन्तु तो भी माता उससे अपनी स्नेह छाया नहीं हटाती। कबीर बुद्धिपूर्वक विचार कर एक बात कहता है कि यदि पुत्र दुखी रहता है तो माता भी उसके दुख से व्यथित रहती है।

भाव यह है कि प्रभु मैं दुखी हूं, आप मेरे दुख से व्यथित हो मेरा दुःख हर लीजिए।

विशेष—कबीर के सम्बन्ध भावना के ये पद उन्हें ईश्वर के बहुत समीप पहुंचाकर वैष्णव रहस्यवादी भक्तों के साथ-साथ सूर, तुलसी जैसे भक्तों की कोटि में पहुंचा देते हैं।

गोब्यंदे तुम्ह थैं डरपौं भारी।
सरणाई आयौ क्यूं गहिये, यहु कौंन बात तुम्हारी ॥टेक॥
धूप दाझतैं छांह तकाई, मति तरवर सचपाऊं।
तरवर मांहैं ज्वाला निकसै, तौ क्या लेइ बुझाऊं ॥
जे बन जलै त जल कूं धावै, मति जल सीतल होई।
जलही मांहि अगनि जे निकसै, और न दूजा कोई ॥
तारण तिरण तिरण तूं तारण, और न दूजा जांनौं।
कहै कबीर सरनांई आयौं, आँन देव नहीं मांनौं ॥११२॥

शब्दार्थ—गोब्यंदे=गोविन्द, प्रभु । दाझतैं=जलते हुए, झुलसते हुए। तकाई=देखी। तरवर=तरुवर। सचपाऊं=शान्ति पाऊं। सरनांई=शरण में।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! मुझे आपसे बड़ा भय लगता है, इसीलिए आपकी शरण में आया हूँ। किन्तु आप शरण में आये हुए की भी रक्षा नहीं कर रहे हैं, यह आपका कैसा न्याय है ? संसार के माया-मोह की अग्नि में जलते हुए मैंने आपकी शीतल भक्ति का सहारा देखा, किन्तु अब उस प्रभु जिस तरुवर की भक्ति छाया है, की शरण में आकर भी शान्ति लाभ नहीं हो रहा है। यदि तरु-से ही अग्नि निकलने लगे तो मैं उस पाप-ताप को कैसे शान्त करूंगा ? यदि संसार रूपी वन जलने लगे और मैं प्रभु रूप शीतल जल की ओर आऊं किन्तु यदि वह जल भी शीतल न करे तो मेरी क्या दशा होगी ! कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! आप ही मेरे उद्धारक हैं, इस संसार-सागर से पार उतारने वाले हैं, मेरा सहायक और कोई नहीं है। हे प्रभु ! मैं तो एकमात्र आपकी ही शरण में आ गया हूं, किसी अन्य आराध्य को नहीं जानता। मेरे एकमात्र आप ही हैं, अतः मेरी रक्षा कीजिए।

मैं गुलांम मोहि बेचि गुसांईं, तन मन धन मेरा रांमजी कै तांईं ॥टेक॥
आंनि कबीरा हाटि उतारा, सोई गाहक सोई बेचनहारा ॥
बेचै रांम तौ राखै कौंन, राखै रांम तौ बेचै कौंन ।
कहै कबीर मैं तन मन जार्‌या, साहिब अपना छिन न बिसार्‌या ॥११३॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं तुम्हारा दास हूं, मेरा तन, मन, धन सर्वस्व आपके लिए ही है अतः आप मुझे चाहे तो बेच दें। उस स्वामी ने कबीर को लाकर इस संसार रूपी बाजार में रख दिया है—वस्तुतः वही मेरा बेचने वाला है और वही क्रय करने वाला। यदि मुझे राम बेच देना चाहें तो फिर भला कौन ऐसा है जो मुझे संसार में रख सके, एवं यदि वह रखना चाहें तो फिर भला कौन बेच कौन सकता है। कबीर कहते हैं कि मैंने प्रभु के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया है, प्रत्येक पल मेरा प्रभु के लिए ही है।

विशेष—भगवान् के प्रति पूर्णतया समर्पण भारतीय सन्तों की प्रमुख विशेषता है। यही विशेषता कबीर के इस पद में भी स्पष्टरूपेण परिलक्षित होती है।

अब मोहि राम भरोसा तेरा, और कौंन का करौं निहोरा ॥टेक॥
जाके रांम सरीखा साहिब भाई, सो क्यूं अनत पुकारन जाई ।
जा सिरि तीनि लोक कौ भारा, सो क्यूं न करै जन की प्रतिपारा ।
कहै कबीर सेवौ बनवारी, सींचौ पेड़ पीवैं सब डारी ॥११४॥

शब्दार्थ—निहोरा=आश्रय । सरीखा=समान । अनत=अन्यत्र, दूसरी जगह। प्रतिपारा=प्रतिपालन, पालन-पोषण।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! अब मुझे केवल मात्र आपका ही आश्रय है, अब मैं किसकी वन्दना आपके अतिरिक्त करूँ ? जिसके पूर्ण समर्थ राम जैसे स्वामी हैं उसे

अन्यत्र किसी और की वन्दना करने से क्या लाभ ? जिस प्रभु राम पर तीनों लोकों के पालन-पोषण करने का भार है, वह भला अपने भक्त की हितचिन्ता क्यों न करे ? कबीर कहते हैं कि प्रभु की भक्ति करने में ही मंगल है। जिस प्रकार पेड़ की जड़ को सींचने से समस्त शाखाएँ स्वयं जल प्राप्त कर लेती हैं, उसी भांति प्रभु-भक्ति से समस्त कामनाएँ स्वयं सफलीभूत हो जाती हैं।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

जियरा मेरा फिरै उदास।
रांम बिन निकसि न जाई सास, अजहूँ कौंन आस ।।टेक।।
जहाँ जहाँ जाऊं रांम मिलावै न कोई, कहौ संतो कैसें जीवन होई।
जरै सरीर यहु तन कोई न बुझावै, अनल दहै निस नींद न आवै ।।
चंदन घसि घसि अंग लगांऊं, रांम बिनां दारन दुख पाऊं।
सत संगति मति मन करि धीरा, सहज जांनि रांमहि भज कबीरा ।।११५।।

शब्दार्थ—अनल=आग। दहै=जलाती। दारन=दारुण, भयंकर।

कबीर कहते हैं कि मेरा मन संसार से उदास रहता है। मुझे शंका है कि कहीं बिना राम भक्ति के ही जीवन समाप्त न हो जाय। हे साधुओ ! मुझे बताओ कि मैं कैसे जीवन धारण करूँ, जहाँ-जहाँ भी प्रभु दर्शन जी आशा में जाता हूँ मुझे कोई भी प्रभु से साक्षात्कार नहीं कराता। मेरा यह शरीर रात-दिन विरह की आग में दग्ध होता रहता है, किन्तु इसका ताप नहीं मिटता। शरीर की शान्ति के लिए चाहे मैं शरीर पर घिस-घिस कर चन्दन लगाऊँ, किन्तु बिना प्रभु-भक्ति के मैं दुःखों की दारुण व्यथा से व्यथित हो रहा हूँ। कबीर कहते हैं कि हे मन ! तू साधु-संगति करता हुआ राम भक्ति में अपनी चित्तवृत्तियाँ केन्द्रित कर।

रांम कहौ न अजहूँ केते दिना, जब ह्वै है प्रांन प्रभू तुम्ह लीनां ।।टेक।।
भौ भ्रमत अनेक जन्म गया, तुम्ह दरसन गोब्यंद छिन न भया।
भ्रम्य भूलि पर्यौ भव सागर, कछू न बसाइ बसोधरा ।।
कहै कबीर देखभंजनां, करौ दया दुरत निकंदनां ।।११६।।

शब्दार्थ—छिन न भया=क्षण भर के लिए भी नहीं हुआ। दुरत निकंदना= पापों को नष्ट करने वाले।

कबीर कहते हैं कि हे मन ! तुझे कितने दिन इस संसार में व्यतीत हो गये, किन्तु आज तक तूने प्रभु का नाम उच्चारण नहीं किया। अब वह समय आ पहुँचा है जब ईश्वर इस जीवन को समाप्त कर देगा। इस जग के भ्रम में पड़े हुए अनेक जन्म व्यतीत हो गये किन्तु प्रभु दर्शन एक क्षण के लिए भी न हो सका। इस भ्रम में भ्रमित होकर ही मैं संसार-समुद्र में पड़ा हूँ, इससे निकलने के लिए प्रभु मेरा कोई वश नहीं चलता। कबीर कहते हैं कि हे दुख-भंजन प्रभु ! अब एकदम इस संसार से पार निकाल दो।

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव, हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ।।टेक।।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया, रांम बड़े मैं छुटक लहुरिया ।
किया स्यंगार मिलन कै तांई, काहे न मिलौ राजा रांम गुसांई ।।
अब की बेर मिलन जो पांऊं, कहै कबीर भौ-जलि नहीं आंऊं ।।११७।।

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि हे सखि ! सुन। प्रभु मेरे प्रियतम हैं, उनके अभाव मे मेरे प्राण पल भर भी नहीं रह सकते। वे मेरे पति है तो मैं उनकी पत्नी। वे महान् हैं मैं क्षुद्र। मैंने प्रेम-पथ पर अग्रसर होकर शृंगार किया, किन्तु प्रियतम राम न जाने क्यों नहीं मिल रहे हैं ? कबीर कहते हैं कि उस प्रियतम से यदि अब की बार मिलन हो गया तो फिर मैं इस संसार-जल में डूबने के लिए नहीं आऊँगा।

रांम बान अन्ययाले तीर, जाहि लागे सो जानें पीर ।।टेक।।
तन मन खोजौं चोट न पांऊं, ओषद मुली कहाँ घसि लांऊं ।
एकहीं रूप दीसै सब नारी, नां जानौं को पीयहि पियारी ।।
कहै कबीर जा मस्तिक भाग, नां जांनूं काहू देइ सुहाग ।।११८।।

शब्दार्थ—ओषद=औषध। मूली=मूलि। दीसै=दृष्टिगत।

कबीर कहते है कि राम भक्ति का बाण लगा है, इसकी वेदना को वही जान सकता है जिसको स्वयं यह बाण लगा है। इस बाण का प्रहार देखने के लिए मैं तन-मन को खोजता हूँ, किन्तु कहीं घाव दृष्टिगत नहीं होता वैसे वेदना शरीर के अंग-प्रत्यंग में है। इसलिए यदि कोई उपचार भी करूँ तो समझ में नहीं आता कि औषधि किस स्थान पर लगाऊँ। संसार में जितनी भी आत्माएँ हैं, वे सब एक ही रूप में दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु यह कहना बड़ा कठिन है कि इनमें प्रभु को यह प्रिय होगी। कबीर कहते हैं कि ज्ञात नहीं किस पुरुष का ऐसा भाग्य होगा, जिसे वह प्रियतम अचल सौभाग्य प्रदान कर अंगीकार करेंगे।

आह नहीं पूरिया रे, रांम बिन को कर्म काटणहार ।।टेक।।
जद सर जल परिपूरता, चात्रिग चितह उदास ।
मेरी विषम कर्म गति ह्वै परी, ताथैं पियास पियास ।।
सिध मिलै सुधि नां मिलै, मिलै मिलावै सोइ ।
सूर सिध जब भेटिये, तब दुख न व्यापै कोइ ।।
बोछै जलि जैसें मछिका, उदर न भरई नीर ।
त्यूं तुम्ह कारनि केसवा, जन ताला वेली कबीर ।।११९।।

शब्दार्थ—कर्म काट्टणहार=कर्म-बंधन से मुक्त करने वाला। जद=जैसे। चात्रिग=चातक। बोछै कलि=जल में बस कर भी। मछिका=मछली।

कबीर कहते हैं कि प्रभु के बिना कोई न तो आशा को पूर्ण कर सकता है और न इस भव-बंधन को ही विदूरित कर सकता है। जिस प्रकार,सरोवरों के जल के परिपूर्ण रहने पर चातक की प्यास नहीं मिटती उसी भांति मेरी भी गति बड़ी

विचित्र हो गई है, इसीलिए इस संसार के आनन्दों में भी तृप्ति नहीं हो रही है। साधु इत्यादि सज्जन-गण तो मिल जाते हैं किन्तु कोई प्रभुदर्शन-प्राप्त भक्त नहीं मिलता, जो प्रभु से मिला दे। जब ऐसा व्यक्ति मिल जायेगा तब कोई दुःख शेष नहीं रह जायगा। पानी में पड़े हुए भी जैसे मछली का पेट जल से ही नहीं भरता (वायु भक्षण भी करती है) उसी भाँति कबीर कहते हैं कि इस संसार के आनन्दों में भी आपके बिना मेरी तृप्ति सम्भव नहीं।

विशेष—दृष्टांत अलंकार।

रांम बिन तन की ताप न जाई, जल मैं अगनि उठी अधिकाई ॥टेक॥
तुम्ह जलनिधि मैं जल कर मीनां, जल मैं रहौं जलहि बिन षींनां ॥
तुम्ह प्यंजरा मैं सुवनां तोरा, दरसन देहु भाग बड़ मोरा।
तुम्ह सतगुर मैं नौतम चेला, कहै कबीर रांम रमूं अकेला ॥१२०॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में रहते हुए तो इस शरीर के ताप और भी बढ़ते जाते हैं। बिना प्रभु के इन तापों का शमन सम्भव नहीं। यदि प्रभु समुद्र हैं तो मैं जल पर ही जीवन धारण करने वा.ी मछली हूँ, किन्तु विडम्बना है कि मैं सर्वान्तर्यामी प्रभु के पास रहते हुए भी उनके दर्शन के लिए तड़पती हूँ। यदि आप पिंजड़े हैं तो मैं उनमें आबद्ध तोता हूँ जिसकी सीमाएं वह पिंजड़ा ही है। हे प्रभु! यदि आप दर्शन दें तो वह मेरा बड़ा भाग्य होगा। यदि आप सद्गुरु हैं तो मैं आपका आज्ञाकारी शिष्य हूँ। कबीर कहते हैं कि वह प्रभु एक ही है और सर्वत्र रमण करता है।

गोव्यंदा गुंण गाईये रे, तार्थं भाई पाईये परम निधांन ॥टेक॥
ऊंकारे जग ऊपजै, बिकारे जग जाइ।
अनहद बेन बजाइ करि, रह्या गगन मठ छाइ ॥
झूठै जग डहकाइया रे, क्या जीवण की आस।
रांम रसांइण जिनि पीया तिनिकौं बहुरि न लागी रे पियास ॥
अरध षिन जीवन भला, भगवंत भगति सहेत।
कोटि कलप जीवंन ब्रिथा, नांहिन हरि सूं हेत ॥
संपति देखि न हरषिये, बिपति देषि न रोइ।
ज्यूं संपति त्यूं बिपति है, करता करै सु होइ ॥
सरग लोक न बांछिये, डरिये न नरक निवास।
हूंणां था सो ह्वै रह्या, मनहु न कीजैं झूठी आस ॥
क्या जप क्या तप संजमां, क्या तीरथ ब्रत अस्नान।
जो पैं जुगति न जांनियै, भाव भगति भगवान ॥
सुंनि मंडल मैं सोधि लै, परम जोति परकास।
तहूवां रूप न रेष है, फूलनि फूल्यौ रे अकास।

कहै कबीर हरि गुण गाइ लै, सत संगति रिदा मंझारि।
जो सेवग सेवा करै, ता संगि रमैं रे मुरारि ॥१२१॥

शब्दार्थ—विकारे=पाप-कर्म। अनहद वेन=अनहद नाद। रसाँइण=रसायन। वांछिये=इच्छा करना। संजमां=संयम। सुंनि=शून्य। नहूवाँ=उसका।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू प्रभु का गुणगान कर, इसी उपाय से उन परमनिधान ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है। 'ओ३मकार' का स्मरण करने से संसार बनता है और पाप-कर्मों से तो इस लोक में भी जीवन नष्ट हो जाता है। वह ब्रह्म अनहद नाद उत्पन्न कर शून्य में रम रहा है। समस्त संसार जीवन की आशा में वृथा ही जग के धोखे में पड़ा हुआ है। जिन्होंने राम-भक्ति का अमूल्य रस पान कर लिया, उन्हें फिर संसार-रसों की प्यास शेष नहीं रह जाती।

यदि प्रभु से प्रेम नहीं है तो कोटि-कोटि युगों का दीर्घ जीवन वृथा और प्रभु-भक्ति युक्त एक क्षण का जीवन भी श्रेष्ठ है। सम्पत्ति सुख को देखकर हर्षित नहीं होना चाहिए और न विपत्ति को देखकर दुखित होना चाहिए। स्वर्ग लोक की इच्छा करना और नरक से भयभीत होना भी उचित नहीं है क्योंकि मन में इन मिथ्या आशा आकांक्षाओं को रखने से क्या लाभ ? जो होना है वह तो होकर ही रहेगा—

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।" २।३८ (गीता)

× × ×

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥" २।४७ (गीता)

प्रभु जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत, स्नान आदि विविध कर्मों से प्राप्त नहीं होते जब तक प्रेम-भक्ति सहित उनसे हृदय से निवेदन नहीं किया जाता तब तक सब व्यर्थ है।

हे साधक ! तू उस अलख निरंजन ज्योतिष्मान को शून्यमण्डल, ब्रह्मरन्ध्र में खोज ले। वहाँ उसका न तो कोई आकार है और न वर्ण, बिना वृत्त के ही पुष्प के समान वह वहां विकास पा रहा है। कबीर कहते हैं कि हे मानव ! तू प्रभु का गुणगान कर, साधु संगति कर, क्योंकि इसी से प्रभु-प्राप्ति होगी। जो प्रभु की सेवा प्रेम-भक्ति द्वारा करता है उसे उनका नैकट्य अवश्य ही प्राप्त होता है।

विशेष—अनहदवेन=अनहद वेणु, अनहद नाद से तात्पर्य।
गगन मठ=शून्यस्थान, ब्रह्मरन्ध्र' सहसदल कमल से तात्पर्य।
सुंनि मण्डल=शून्यमण्डल, सहसदल कमल से तात्पर्य।
परम जोति परकाश=नाथ पंथी योग साधना में ब्रह्म को परम ज्योतिस्वरूप निरंजन, निराकार माना गया है।

मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भजि भाई।
जा दिन तेरो कोई नांहीं, ता दिन रांम सहाई ॥टेक॥
तंत न जानूं मंत न जानूं, जानूं सुंदर काया।

मीर मलिक छत्रपति राजा, ते भी खाये माया ॥
बेद न जांनूं भेव न जांनूं, जानूं एकहि रांमां ।
पंडित दिसि पछिवारा कीन्हां, मुख कीन्हौं जित नांमां ॥
राजा अंबरीक कै कारणि, चक्र सुदरसन धारैं ।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसौं, भगत की सरन उबारै ॥१२२॥

शब्दार्थ—तंत=वंच । मीर=श्रेष्ठ महान् । पछिवारा=पीठ । अम्वरीक=एक राजा का नाम ।

कबीर कहते हैं कि हे मन ! तू सर्वदा प्रभु का स्मरण कर । जब मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होगा तब उसका राम के अतिरिक्त और कोई सहायक नहीं होगा । कबीर आगे कहते हैं कि मैं तन्त्र, मंत्र—किसी भी पूजा-विधान से जानकारी नहीं रखता, केवल रूप-सौन्दर्य में भटकता रहता हूँ । यह शरीर नाशवान है—सबको माया नष्ट कर देती है मीर, राव, राजा, छत्रपति सब ही नष्ट हो जाते हैं । हे प्रभु ! मैं वेदादि शास्त्रों के ज्ञान से परिचित नहीं हूँ, मैं तो एकमात्र आपको ही जानता हूँ । पण्डित लोग व्यर्थ के विधि-विधानों में पड़े रहते हैं, किन्तु मैं तो नामस्मरण में ही विश्वास रखता हूँ । कबीर के प्रभु बड़े दयालु हैं, वे भक्त को दुख से उबारकर शरण में ले लेते हैं, इन्होंने राजा अम्बरीष की दुर्वासा से सुदर्शन चक्र द्वारा बचाकर रक्षा की ।

रांम भणि रांम भणि रांम चिंतामणि, भाग बड़े पायो छाड़ै जिनि ॥टेक॥
असंत संगति जिनि जाइ रे भुलाइ, साध संगति मिलि हरि गुंण गाइ ।
रिदा कवल मैं राखि लुकाइ, प्रेम गांठि दे ज्यूं छूटि न जाइ ॥
अठ सिधि नव निधि नांव मंझारि, कहै कबीर भजि चरन मुरारि ॥१२३॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू रामरूप चिन्तामणि का भजन कर । उन व्यक्तियों के भाग्य बड़े महान हैं, जो इस संसार से मुक्त हो गये हैं । वे नर भी भाग्यशाली हैं जो दुर्जनों की संगति छोड़कर साधु-संगति या प्रभु-गुणगान करते हैं । कबीर कहते हैं कि वह ब्रह्म शून्य स्थान में छिपा हुआ बैठा है । उसे प्रेम भक्ति के द्वारा वहाँ रोके रखो कभी अन्यत्र न चला जाय । कबीर कहते हैं कि आठों सिद्धि, नवों निधि का सुख प्रभु नाभ में ही है, अतः उन्हीं के चरण कमलों का ध्यान करो ।

विशेष—१. चिंतामणि एक मणि विशेष जिसकी प्राप्ति से समस्त कामनाएँ तृप्त हो जाती हैं ।

२. आठ सिद्धि—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व ।

३. नवनिधि—पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकन्द, कुन्द, नील, वर्च ।

४. कहै कबीर भजि चरण मुरारि—कबीर निराकार ईश्वर के उपासक हैं

किन्तु उन पर वैष्णव प्रभाव इतना प्रबल है कि वे उस निराकार को कहीं-कहीं साकार बना देते हैं। निराकार के 'चरन' भजने की कैसी संगति।

निरमल निरमल रांम गुंण गावै, सो भगता मेरे मनि भावै ।।टेक।।
जे जन लेहिं रांम को नांउं, ताकी मैं बलिहारी जांउं।
जिहि घटि रांम रहे भरपूरि, ताकी मैं चरनन की धूरि ।।
जाति जुलाहा मति कौ धीर, हरषि गुंण रमैं कबीर ।।१२४।।

कबीर कहते हैं कि जो भक्त निर्मल-मन होकर राम के गुणों का गान करता है वह मेरे मन को अच्छा लगता है। जो भक्त प्रभु का स्मरण करता हैं, मैं उसकी बलि-बलि जाता हूँ। वैसे मैं जुलाहे जैसी पिछड़ी जाति का हूँ किन्तु भक्ति पथ में बड़ा धैर्यवान् हूँ, मैं हर्षित हो कर राम का गुणगान करता हूँ।

जा नरि रांम भगति नहीं साधी, सो जनमत काहे न मूवौ अपराधी ।।टेक।।
गरभ मुचे मुचि भई किन बांझ, सूकर रूप फिरै कलि मांझ।
जिहि कुलि पुत्र न ग्यांन बिचारी, वाकी बिधवा काहे न भई महतारी ।।
कहै कबीर नर सुंदर सरूप, रांम भगति बिन कुचल करूप ।।१२५।।

शब्दार्थ—जनमत=जन्म लेते ही। मूवौ=मरना। मुचे=समाप्त होना। कुचक=दुश्चरित्र।

कबीर कहते है कि जिसने प्रभु भजन नहीं किया, वह अपराधी, पापी जन्म लेते ही क्यों न मर गया। वह तो मनुष्य के रूप में सूअर जैसा इस कलियुग में रह रहा है, वह गर्भ में ही क्यों न समाप्त हो गया, उसकी माँ बाँझ क्यों न हो गई। जिस परिवार में पुत्र ज्ञान-सम्पन्न नहीं हुआ, उसकी जननी उसे जन्म देने से पूर्व विधवा क्यों न हो गई। कबीर कहते हैं कि चाहे मनुष्य कितना ही रूपवान् क्यों न हो किन्तु प्रभु भक्ति के बिना वह वह दुश्चरित्र और कुरूप है।

विशेष—पद के भाव की तुलना कीजिए—

"येषां न विद्या तपो न दानम्, ज्ञानम् न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्यु लोके भुवि भारभूता, मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति ।।"

रांम बिनां ध्रिग ध्रिग नर नारी, कहा तैं आइ कियौं संसारी ।।टेक।।
रज बिनां कैसो रजपूत, ग्यांन बिना फोकट अवधूत।
गनिका को पूत पिता कासौं कहै, गुर बिन चेला ग्यान न लहै ।।
कवारी कंन्यां करै स्यंगार, सोभ न पावै बिन भरतार।
कहै कबीर हूँ कहता डरूं, सुषदेव कहै तौ मैं क्या करौं ।।१२६।।

शब्दार्थ—ध्रिग=धिक्, धिक्कार। स्यंगार=शृंगार। सोभ=शोभा।

कबीर कहते हैं कि वे नर-नारी जिन्होंने संसार में आकर प्रभु का नाम नहीं लिया, धिक्कारने योग्य हैं। जिस भाँति वैभव के बिना, राजरूपी ठाट के बिना राजपुत्र अथवा राजपूत का कोई अर्थ नहीं, उसी प्रकार बिना ज्ञान के योगी किस काम का। सद्गुरु के बिना शिष्य ज्ञान लाभ वैसे ही नहीं कर सकता जैसे वेश्या-पुत्र यह कहने

का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर पाता कि वह अमुक का पुत्र है। कबीर कहते हैं कि शुकदेव आदि प्रतिष्ठित मुनिगण कहते हैं कि बिना गुरु के और प्रभु-भक्ति के मनुष्य वैसे ही हैं जैसे कुमारी कन्या बिना पति के व्यर्थ ही शृंगार करती है।

जरि जाव ऐसा जीवनां, राज, रांम सूँ प्रीति न होइ।
जन्म अमोलिक जात है, चेति न देख कोई ॥टेक॥
मधुमाषी धन संग्रहै, मधुवा मधु ले जाई रे॥
गयौ गयौ धंन मूंढ जनां फिरि पीछें पछिताई रे॥
विषिया सुख कै कारनैं, जाइ गनिका सूं प्रीति लगाई।
अंधै आगि न सूझई, पढ़ि पढ़ि लोग बुझाई॥
एक जनम कै कारणैं, कत पूजौ देव सषंसौ रे॥
काहे न पूजौ रांम जी, जाको भगत महेसौ रे॥
कहै कबीर चित चंचला, सुनहु मूंढ मति मोरी।
बिषिया फिरि फिरि आवई, राजा रांम न मिले बहोरी ॥१२७॥

शब्दार्थ—अमौलिक=अमूल्य। चेति = सावधान हो। मधुमाषी = मधु मक्खी। मधुवा=शहद एकत्र करने वाला। गनिका = वेश्या। सहंसौ=सहस्र। महेसौ = शिव।

कबीर कहते हैं कि ऐसा जीवन, जिसमें प्रभु से प्रेम न हो, समाप्त हो जाय। यह अमूल्य जन्म प्रभु भक्ति बिना व्यर्थ व्यतीत हुआ जा रहा है, किन्तु कोई सावधान होकर इसका कुपरिणाम नहीं देखते। मधुमक्खी मधु संचित करती है, किन्तु उसे मधु-विक्रेता इकट्ठा कर ले जाता है और वह पीछे पछताती रहती है, इसी भाँति मनुष्य तू विविध पाप कर्मों से जो सम्पत्ति संचित कर रहा है, उसका उपभोग करने के लिए तू शेष कहाँ रहेगा ? इस मनुष्य जन्म के चले जाने पर हे मूर्ख ! तू पीछे पछतायेगा विषयानन्द प्राप्त करने के लिए ही वेश्या से लोग प्रेम सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अज्ञानांध को दूर का दृष्टिगोचर नहीं होता चाहे कोई उन्हें कितना ही शास्त्रसम्मत वचनों द्वारा समझावे। इस एक जन्म के लिए क्यों सहस्रों देवताओं की आराधना करते हो, उस एक परम प्रभु राम को क्यो नहीं, भजते जिनका भजन शिव भी करते हैं।

कबीर कहते हैं कि हे चंचल मूर्ख-अज्ञानी मन मेरी बात सुन। यह विषय-वासना का आनन्द तो मुझे अन्य जन्मों में भी प्राप्त हो जायेगा किन्तु फिर प्रभु-दर्शन और प्रभु-भक्ति का अवसर प्राप्त नहीं होगा।

रांम न जपहु कहा भयौ अंधा,
रांम बिनां जंम मेलै फंधा ॥टेक॥
सुत दारा का किया पसारा, अंत की बेर भये बटपारा॥
माया ऊपरि माया मांडीं, साथ न चलै षोपरी हांडीं॥
जपौ रांम ज्यूं अंति उबारै, ठाढी बाँह कबीर पुकारै ॥१२८॥

शब्दार्थ—मेलै=डालेगा। दारा=स्त्री, पत्नी।

कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू राम नाम क्यों नहीं जपता, अज्ञानांध क्यों हो रहा है। प्रभु भक्ति बिना काल तुझे कवलित कर जायेगा। अब तो पुत्र-पत्नी आदि के लिए पाप कर्मों का प्रसार कर रहा है, किन्तु मृत्यु के समय कोई तेरा साथ नहीं देगा। माया-मोह का बन्धन मिथ्या है, तेरे साथ तो खाली हांड़ी तक नहीं जायेगी—फिर तू क्यों पाप कर्मों में रत है। हे मनुष्यो! राम का भजन करो जो संसार-सागर से बाहर पकड़ कर उबार लेता है।

डगमग छाड़ि दु मन बौरा।
अब तौं जरें बरें बनि आवै, लीन्हौं हाथ सिंधौरा ॥टेक॥
होइ निसंक मगन ह्वै नाचौ, लोभ मोह भ्रम छाड़ौ।
सूरौ कहा मरन थैं डरपै, सती न संचै भांडौ ॥
लोक वेद कुल की मरजादा, इहैं गलै मैं पासी।
आधा चलि करि पीछा फिरिहै, ह्वै है जग मैं हासी ॥
यहु संसार सकल है मैला, रांम कहै ते सूचा।
कहै कबीर नांव नहीं छाड़ौं, गिरत परत चढ़ि ऊँचा ॥१२६॥

शब्दार्थ—डगमग=चंचलता। बौरा—पागल। संचै=इकट्ठा करना। भाँडौ=साँसारिक मोह-माया के पदार्थ। पासी=फांसी, बन्धन। सूचा=अमर।

कबीर कहते हैं कि हे पागल मन; तू यह चंचलता त्याग दे। अब तो मैंने हाथ में प्रभु भक्ति का खाँड़ा ले लिया है, जसे भी होगा तुझे सीधा कर दूंगा अतः तू स्वयं ही सन्मार्ग पर आ जा। प्रभु भक्ति में मग्न हो संसार दुखों से निश्शंक हो नाचते रहो और लोभ, मोह, माया-भ्रम का परित्याग कर दो। शूरवीर मरण से नहीं डरते और सती स्त्री मोह में नहीं आती, उसी भाँति भक्त प्रभु-भक्ति पथ पर अडिग है। लोक शास्त्र एवं कुल मर्यादा के बन्धन शूर और सती की मर्यादा में रखते हैं, अब यह आधे मार्ग से ही लक्ष्य को प्राप्त किये बिना लौट पड़े तो उसकी संसार में हँसी होगी।

कबीर कहते हैं कि यह समस्त संसार मेला है जहाँ आवागमन लगा ही रहता है। जो यहाँ प्रभु का नाम लेते हैं वे अमर हो जाते हैं, इसलिए प्रभु का सम्बल नहीं छोड़ना चाहिए, गिरते पड़ते कैसे भी हो, प्रभु-मिलन के लिए कटिबद्ध रहना चाहिए।

का सिधि साधि करौं कुछ नाहीं,
रांम रसांइन मेरी रसनां मांहीं ॥टेक॥
नहीं कुछ ग्यांन ध्यान सिधि जोग, तायैं उपजै नांना रोग।
का बन मैं बसि भये उदास, जे मन नहीं छाड़ै आस पास।
सब कृत काच हरी हित सार, कहै कबीर तजि जग ब्यौहार ॥१३०॥

शब्दार्थ—सिधि=सिद्ध। रसांइन=रसायन। काच=कच्चे।

कबीर कहते हैं कि मैं प्रभु प्राप्ति के लिए अन्य साधनाएं, विधि-विधान क्या करूं, क्योंकि मेरी जिह्वा पर तो ब्रह्म-प्राप्ति का अचूक रसायन राम-नाम बसा है, किन्तु न तो प्रभु का नाम ले और न अन्य ज्ञान, जप, तप आदि करे तो उसमें अनेक दुखों का आविर्भाव होता है। विरक्त होकर वन में जाकर संन्यासी बनने का कोई लाभ नहीं, यदि मन आशा-तृष्णा का परित्याग न कर सका। कबीर कहते हैं कि यह सब सांसारिक कर्म मिथ्या हैं, इस संसार का कार्य-व्यापार त्याग देना चाहिए, क्योंकि केवल प्रभु भक्ति ही सत्य है।

जौं तैं रसनाँ रांम न कहिबौ,
तो उपजत बिनसत भरमत रहिबौ ।।टेक।।
जैसी देखि तरवर की छाया, प्रांन गयें कहु का की माया।
जीवत कछू न कीया प्रवांनां, मूवा मरम को काकर जांनां ।।
कंधि काल सुख कोई न सोवै, राजा रंक दोऊ मिलि रोवै ।
हंस सरोवर कंवल सरीरा, रांम रसांइन पीवैं कबीरा ।।१३१।।

शब्दार्थ—उपजत बिनसत=उत्पन्न और नष्ट हो कर; जन्म-मृत्यु के फेर में। काकर= किस प्रकार। कंधिकाल=मृत्युकाल।

कबीर कहते हैं कि हे जिह्वा ! यदि तू राम नाम का उच्चारण नहीं करेगी तो यह जीवात्मा बारम्बार जन्म-मृत्यु के फेर में पड़ी रहेगी। दूसरे की धन सम्पत्ति का अपने को कोई लाभ नहीं होता। मानव जीवन भर तूने ऐसा कोई कर्म नहीं किया, किन्तु मरते समय तक ज्ञान को कंकर पत्थर जानता रहा। मृत्यु के समय सुखपूर्वक कोई नहीं रहता, राजा और भिखारी सब इस समय दुखित होते हैं।

इन सरोवर रूपी शरीर में सहस्रदल कमल ले निःसृत अमृत का पान कबीर कर रहा है।

विशेष—रूपक अलंकार।

का नाँगें का बाँधे चाँम, जौ नहीं चीन्हसि आतम-राम ।।टेक।।
नाँगें फिरें जोग जे होई, बन का मृग मुकति गया कोई ।
मूंड मुंडायें जौं सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुँची कोई ।।
ब्यंद राखि जे खेलै है भाई, तौ षुसरै केण परम गति पाई ।
पढ़ें गुनें उपजै अहंकारा, अधधर डूबे वार न पारा ।।
कहै कबीर सुनहु रे भाई, रांम नांम बिन किन सिधि पाई ।।१३२।।

शब्दार्थ—नाँगे=नंगे। चांम=चमड़ा, यहाँ शरीर से तात्पर्य है। चीन्हसि= पहचाना।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्यो ! योगियों का आडम्बर भर कर चाहे नग्न हो जाओ या संसारी बन कर वस्त्र धारण कर लो, किन्तु जब तक हृदय स्थित परमात्म को न पहचानो तब तक इस सब का क्या प्रयोजन है ? अर्थात् इनसे कोई लाभ नहीं। नंगे रहने से योगसाधना पूर्ण हो जाय तो वन में जो मृग सर्वदा निर्वस्त्र रहता है, मुक्त

न हो गया होता ? यदि शीश पर केश न रखने मात्र से ही योगी हो जाते तो आये दिन मुंड़ने वाली भेड़ स्वर्ग की अधिकारी न बन गई होती। यदि शरीर की रक्षा करते हुए योग साधना हो जाती तो खसरो को परम गति किस भाँति प्राप्त होती है। कबीर कहते हैं कि ज्ञान को पढ़ने से उसे आत्मसात् करके भी यदि अहंकार उत्पन्न हो गया तो वह नर संसार समुद्र के अतल में डूब जाता है। राम नाम के विना तो किसी को भी परम पद प्राप्ति नहीं हुई।

हरि बिन भरमि बिगूते गंदा।
जापैं मांऊं आपनपौ छुड़ावण, ते बीधे बहु फंदा ॥टेक॥
जोगी कहैं जोग सिधि नीकी, और न दूजी भाई।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर, ऐ जु कहै सिधि पाई॥
जहाँ का उपज्या तहाँ बिलांनां, हरि पद बिसर्या जबहीं।
पंडित गुनीं सूर कवि दाता, ऐ जु कहैं बड़ हंमहीं॥
वार पार की खबरि न जांनीं, फिर्यौ सकल बन ऐसैं।
यहु मन बोहि थके कऊवा ज्यूं, रह्यौ ठग्यौ सौ बैसैं॥
तजि बांवैं दांहिणैं बिकार, हरि पद दिढ करि गहिये।
कहै कबीर गुंगैं गुड़ खाया, बूझै नौं का कहिये॥१३३॥

शब्दार्थ—भरमि=भ्रम। बीधे=बाँधता है। फंधा=फँदा,बन्धन। सिधि=सिद्धि। नीकी=अच्छी, श्रेष्ठ। लुंचित मुंडित=सिर घुटाये योगी। मोनि=मौन धारण करने वाले। बिलाँनां=समाप्त होना। वार-पार आदि-अंत।

कबीर कहते हैं कि बिना प्रभु के मनुष्य भ्रम के पाप-फंक में फँसा रहता है। जिसके पास भी अपनी मुक्ति के लिए जाता हूँ, वही स्वयं अनेक बन्धनों में बँधा हुआ है अथवा वह ऐसे उपाय बताता है जिससे और बन्धनों की सृष्टि होती है। योगी के पास यदि मुक्ति की आशा से जाओ तो वह यही बताता है कि योग-साधना ही मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है, अन्य व्यर्थ हैं। शीश घुटा देने वाले साधु, मौन धारण करने वाले मुनि कहते हैं कि हमने सिद्धि—ब्रह्म—को प्राप्त कर लिया है। कबीर कहते हैं कि यदि किसी साधना में प्रभु के चरण कमलों को विस्मृत कर दिया गया है तो वह तो वहीं की वहीं समाप्त हो जायगी। पण्डित, गुणवान्, शूरवीर और कवि अपने ज्ञान दम्भ में मरे जाते हैं और कहते हैं कि हम ही श्रेष्ठ हैं। इन्हें तो आदि—अन्त किसी का कुछ ज्ञान ही नहीं, व्यर्थ ही ससार में घूमते हैं। मन इन विभिन्न साधनावलम्बियों के द्वारा इसी प्रकार ठगा रह गया है जैसे जहाज से उड़ा कौवा चारों ओर समुद्र पाकर भ्रमित हो जाता है। कबीर कहते हैं कि इन सबका कथन मिथ्या है, क्योंकि जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुका, उसकी अनुभूति तो गूँगे के गुड़ सदृश है, वह उस का वर्णन कैसे करे ? अतः हे मनुष्य ! अथवा हे मन ! तू इधर-उधर से पाप कर्मों को छोड़कर प्रभु के चरण-कमलों को निष्ठापूर्वक दृढ़ता से पकड़ ले।

चलौ विचरी रहौ सँभारी, कहता हूँ ज पुकारी।
रांम नांम अंतर गहि नाँहीं, तौ जनम जुवा ज्यूं हारी ॥टेक॥
मूंड़ मुड़ाई फूलि का बैठे, कांनंनि पहरि मंजूसा।
बाहरि देह षेह लपटानीं, भीतरि तौ घर मूसा॥
गालिब नगरी गाँव बसाया, हांम कांम अहंकारी।
घालि रसरिया जब जंम खेंचै, तब का पति रहै तुम्हारी॥
छाँड़ि कपूर गाँठि बिष बांध्यौ, मूल हूवा न लाया।
मेरे रांम की अभै पद नगरी, कहै कबीर जुलाहा ॥१३४॥

शब्दार्थ—अंतर=हृदय। फूलि=फूलकर, प्रसन्न होकर। गालिब=प्रिय। रसरिया=रस्सी। जंम=मृत्यु। पति=इज्जत। लाहा=गर्म।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्यो ! यदि तुमने राम-नाम, प्रभु-नाम, को हृदय में धारण नहीं किया तो ऐसा समझो कि यह जन्म जुए में हार दिया। मैं पुकार-पुकार कर इस विचार की घोषणा करता हूँ, इससे तुम सावधान हो जाओ। हे संन्यासी ! तुम शीश घुटा कर, कानों में मंजूषा धारण कर प्रसन्न होकर क्या बैठे हो ? तुमने बाहर ही तो शरीर पर भस्म रमा रखी है, तुम्हारा हृदय तो विषय-वासना विकारों से गन्दा है। इन बाह्याडम्बरों से ही तो प्रभु प्राप्ति नहीं हो जाती ? उस प्रभु का स्थान अत्यन्त उच्च स्थल पर है, किन्तु वहाँ पहुँचने में दम्भ और काम बहुत बाधक है। रस्सी डालकर जब काल तुम्हें खींचेगा तब तुम्हारी क्या लज्जा शेष रह जायगी। प्रभु रूप कपूर को छोड़कर विष रूपी विषय-वासनाओं को सहेज रहा है, इससे तो मानव न तुझे मूल—ब्रह्म—ही प्राप्त होगा और न कुछ लाभ प्राप्त होगा। कबीर जुलाहा कहते हैं कि मेरे प्रभु का वास अभय स्थान पर है, उसे प्राप्त कर संसार में किसी भाँति के तापों का भय शेष नहीं रह जाता।

कौंन बिचारि करत हौ पूजा,
आतम रांय अवर नहीं दूजा ॥टेक॥
बिन प्रतीतैं पानी तोड़ै, ग्लान बिनां देवलि सिर फोड़ै॥
लुचरी लपसी आप संवारै, द्वारै ठाढा राम पुकारै।
पर-आत्मा जौ तत बिचारै, कहि कबीर ताकै बलिहारै ॥१३५॥

शब्दार्थ—अवर=अन्य। प्रतीतैं=प्रर्वात, विश्वास। देवलि=मंदिर में।

कबीर कहते हैं कि तुम क्या सोचकर दूसरे की पूजा कर रहे हो वह प्रभु तो हृदयस्थ है, अन्यत्र कहीं कहीं। विना विश्वास के पूजा में नैवेद्य चढ़ाना तो पत्ती तोड़ने के समान ही है एवं बिना ज्ञान के मन्दिर पर माथा टेकना पत्थर पर शीश रखना मात्र ही है। हे मनुष्य ! तू विषय-वासनाओं में फँसा हुआ है और उधर प्रभु भी मिलन के लिए तुझे पुकार लगा रहे हैं। कबीर उन पुरुषों की बलिहारी जाते हैं जो परमात्मा का विचार करते हैं, उसकी प्राप्ति के लिए कटिबद्ध रहते हैं।

कहा भयौ तिलक गरैं जपमाला, मरम न जाँनैं मिलन गोपाला ।।टेक।।
दिन प्रति पसू करै हरिहाई, गरैं काठ वाकी वांनिन जाई ।
स्वांग सेत करणीं मनि काली, कहा भयौ गलि माला घाली ।।
बिन ही प्रेम कहा भयौ रोयें, भीतरि मैल बाहरि कहा धोये ।
गल गल स्वाद भगति नहीं धीर, चीकन चंदवा कहै कबीर ।।१३६।।

शब्दार्थ—हरिहाई=पास जाना । वाँनि=आदत । सेत=श्वेत, निर्मल। चीकन चंदवा=चन्दन के समान चीकना ।

कवीर कहते हैं कि यदि मनुष्य प्रभु मिलन के रहस्य से परिचित नहीं तो गले में माला, माथे पर तिलक लगा लेने से क्या लाभ ? जंगल में भागने वाले पशु के गले में जिस प्रकार काठ का पाया पड़ा रहने पर भी वह भागने से बाज नहीं आता, चाहे भागने पर वह पाया कितना ही उसके पैरों में लगे, इस भाँति जीव भी यह जानते हुए कि विषयों के आनन्द में पाप पंक में फँसना है इस ओर जाये बिना बाज नहीं आता । यदि किसी का मन संसार-स्वांग में बुरी तरह फँसा हुआ है तो गले में ढोंग सहित माला धारण करने का कोई लाभ नहीं । प्रेम शून्य स्थिति में प्रभु के लिए रोने से क्या—भीतर मन में तो पाप, विषय-विकार हैं, बाहर से शरीर को धोने का क्या लाभ ? कवीर कहते हैं कि भक्ति पथ में सांसारिक आनन्द नहीं, वह वड़ा धैर्यपूर्ण मार्ग है एवं वह पथ चन्दन तुल्य शीतल और चिकना है ।

विशेष—अनुप्रास अलंकार ।

ते हरि के आवैंहि किहि कांमां, जे नहीं चीन्हैं आतमरांमां ।।टेक।।
थोरी भगति बहुत अहंकारा, ऐसे भगता मिलै अपारा ।।
भाव न चीन्हैं हरि गोपाला, जाँनि क अरहट कै गलि माला ।
कहै कबीर जिनि गया अभिमाँनां, सो भगता भगवन्त समाँनां ।।१३७।।

शब्दार्थ—चीन्हैं=पहिचानना ।

कवीर कहते हैं कि लोग प्रभु के किस प्रयोजन के, जो उसके हृदयस्थ रूप को नहीं पहचानते । ऐसे भक्त तो अनेक मिल जाते हैं जिनमें भक्ति तो थोड़ी वहुत होती है किन्तु भक्ति का दम्भ अधिक । वे लोग सोचते हैं कि प्रभु गले में माला देखकर प्रेम-भाव नहीं देखते—यह उनका भ्रम है । कवीर कहते हैं कि जिस भक्त का अभिमान चला गया वह तो फिर प्रभु के समान ही हो जाता है । भाव यह है कि भक्ति में अभिमान का त्याग आवश्यक है ।

कहा भयौ रचि स्वांग बनायौ, अंतरिजाँमीं निकटि न आयौ ।।टेक।।
विषई विषै दिढावै गावै, रांम नांम मनि कबहूँ न भावै ।।
पापी परलै जाँहि अभागे, अमृत छाड़ि बिषै रसि लागे ।
कहै कबीर हरि भगति न साधी, भग मुषि लागि मुये अपराधी ।।१३८।।

शब्दार्थ—अन्तरिजांमी=अन्तर्यामी प्रभु । भग=स्त्री । मुष=मुँह । मूये=मर गये, नष्ट हो गये ।

कबीर कहते हैं कि साधु की इस ढोंग साधना से क्या लाभ यदि उसने हृदयस्थ प्रभु को प्राप्त न किया। विषयी का मन सर्वदा विषयों में भ्रमित रहता है उसे प्रभु-नाम कभी भी रुचिकर नहीं लगता। ऐसे व्यक्ति अभागे हैं, क्योंकि वे स्वयं पाक-पंक में फँसे रहते हैं, प्रभु भक्ति के अमृत को त्याग कर विषयों में रुचि लेते हैं। कबीर कहते हैं कि ऐसे लोग प्रभु भक्ति की साधना तो करते नहीं और स्त्री के पीछे काम-वासना से लगकर पाप कमा नष्ट हो जाते हैं।

जौ पैं पिय के मनि नहीं भांयें तौ का परोसनि कें हुलराये ।।टेक।।
का चूरा पाइल झमकांयें, कहा भयो बिछुवा ठमकांयें ।।
का काजल स्यंदूर कै दीयें, सोलह स्यंगार कहा भयौं कीयें ।
अंजन मंजन करै ठगौरी, का पचि मरै निगौड़ी बौरी ।।
जौ पैं पतिब्रता ह्वै नारी, कैसें ही रहौ सो पियहि पियारी ।
तन मन जीवन सौंपि सरीरा, ताहि सुहागनि कहै कबीरा ।।१३९।।

शब्दार्थ—चूरा=चूड़ियाँ। पाइल=पायल। झमकायँ=बजाने से। बिछुआ =नूपुर। स्यंदूर=सिन्दूर।

कबीर कहते हैं कि यदि यह आत्मा प्रिय—प्रभु—को अच्छी नहीं लगती तो पड़ोसियों के प्रसन्न करने से क्या लाभ ? न ही फिर कोई सोलह शृंगार का प्रयोजन शेष रहता है, इसलिए चूड़ी, पायल एवं बिछुओं की मधुर ध्वनि अर्थात् इनके धारण करने से क्या लाभ ? सिंदूर एवं काजल लगाने का भी कोई अर्थ उस अवस्था में नहीं रह जाता। यह पागल आत्मा स्नादि द्वारा स्वच्छ हो इन शृंगारों के द्वारा स्वामी को रिझाना चाहती है, किन्तु इसे यह ज्ञात नहीं कि जो पतिव्रता नारी है वह किसी भी प्रकार से रहे, अन्ततः प्रिय को प्यारी ही लगेगी। कबीर कहते हैं कि सुहागिन का एकमात्र लक्षण यह है कि वह तन-मन-जीवन से—सर्वात्मना—अपने को प्रभु की शरण में डाल दे।

विशेष—आत्मा का वास्तविक पति परमात्मा है। परमात्मा के अतिरिक्त अन्य विषयों में उसका प्रसार व्यभिचार है। इसीलिए वे भक्ति के लिए सर्वात्म-समर्पण आवश्यक मानते हैं।

दूभर पनियाँ भयाँ न जाई, अधिक त्रिषा हरि बिन न बुझाई ।।टेक।।
ऊपरि नीर ले ज तलि हारी, कैसें नीर भरै पनिहारी ।।
ऊधर्यौं कूप घाट भयौ भारी, चली निरास पंच पनिहारी ।
गुर उपदेस भरी ले नीरा, हरषि हरषि जल पीवै कबीरा ।।१४०।।

शब्दार्थ—दूभर=दुष्कर। त्रिषा=तृष्णा। पंच पनिहारी=पांचों इन्द्रियाँ रूपी पनिहारी।

कबीर यहाँ कमल कुआँ से निसृत अमृत रस प्राप्ति को पनिहारिन के पानी भरने की क्रिया से उपमा देकर समझाते कहते हैं कि वह कमल कुएं में भरा हुआ पानी प्राप्त करना बड़ा दुष्कर है। जीवात्मा की आनन्द के लिए प्यास उस परमात्मा

के बिना शान्त नहीं होती। ब्रह्मरन्ध्र पर तो वह जल स्थित है और पानी भरने वाली पनिहारिन-कुण्डलिनी—तल (मूलाधार चक्र) पर उस औंधे कुएँ पर जहाँ घाट बड़ा विकट है, पाँचों इन्द्रियों रूपी पनिहारियों के लिए जल भरना अत्यन्त कठिन है क्योंकि वे पूर्णरूप से वहाँ केन्द्रित नहीं रहतीं। कबीर ने वही दुष्प्राप्य जल—अमृत गुरु उपदेश से केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया है और वह हर्षित हो होकर इसका पान करता है।

कहो भईया अंबर कासूं लागा,
कोई जांणंगा जांननहार सभागा ॥टेक॥
अंबरि दींसै केता तारा, कौंन चतुर ऐसा चितरनहारा।
जे तुम्ह देखो सो यहु नाहीं, यहु पद अगम अगोचर माँहीं॥
तीनि हाथ एक अरधाई, ऐसा अंबर चीन्हौं रे भाई।
कहै कबीर जे अंबर जांनैं, ताही सूं मेरा मन मानैं ॥१४१॥

शब्दार्थ—अंबर=शून्य ब्रह्मरन्ध्र। सभागा=सौभाग्यशाली। चितरनहारा =देखने वाला।

कबीर कहते हैं कि शून्य—ब्रह्मरन्ध्र—की क्या स्थिति है यह कोई भाग्यशाली तत्ववेत्ता ही जान सकता है। कौन ऐसा सुजान है जो उस शून्य में कौन-कौन लक्षण हैं, यह जान सके अर्थात् उसमें स्थित अलख निरंजन ब्रह्म को देख सके। जिस संसार को तुम देख रहे हो अर्थात् विषय-वासनाओं में फँस रहे हो, वहाँ आनंद नहीं वह तो अगम्य, अलख ब्रह्म के ही पास स्थित है। यह शून्य साढ़े तीन हाथ की कुण्डलिनी के द्वारा ही पहचाना जा सकता है। कबीर कहते हैं कि मेरा मन तो उसी से प्रसन्न रहता है, हर्षित होता है जो शून्य को पहचान गया है—जिसने प्रभु का साक्षात्कार कर लिया है।

विशेष—कबीर ने यहाँ उस भक्त की प्रशंसा की है जो ईश्वर से साक्षात्कार कर शून्य-रहस्य को समझ गया है।

तन खोजौ नर नां करौ बड़ाई, जुगति बिना भगति किनि पाई ॥टेक॥
एक कहावत मुलां काजी, रांम बिनां सब फौकटबाजी॥
नव ग्रिह बांमण भणता रासी, तिनहूं न काटी जम की पासी॥
कहै कबीर यहु तन काचा, सबद निरंजन रांम नांम साचा ॥१४२॥

शब्दार्थ—जम की पासी=मृत्यु बन्धन। काचा=कच्चा नश्वर।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम अपने चरित्र पर दृष्टिपात करो, व्यर्थ अपनी प्रशंसा मत हाँको। प्रयत्न—साधना—बिना भक्ति किसी को भी प्राप्त नहीं हुई है। एक कहावत है कि जितने भी धर्मानुष्ठान करने वाले मुल्ला, काजी (या पंडित) हैं बिना प्रभु भक्ति के सब व्यर्थ हैं। नव ग्रह, पंडित अथवा अन्य कोई राशिधारी मृत्यु बन्धन को न काट सका। कबीर कहते हैं कि यह शरीर तो मिथ्या है, सत्य तो केवल प्रभु नाम ही है, जिससे प्रभु प्राप्ति होती है।

विशेष—नव ग्रह—नौ ग्रह—

१. सूर्य, २. चन्द्र, ३. भौम, ४. गुरु, ५. बृहस्पति, ६. शुक्र, ७. शनि, ८. राहु, ९. केतु।

जाइ परौ हमरौ का करिहै,
आप करै आपै दुख भरिहै ।।टेक।।
उझड़ जातां बाट बतावै, जो न चलै तौ बहु दुख पावै ।।
अंधे कूप क दिया बताई, तरकि पड़ै पुनि हरि न पत्याई।
इन्द्री स्वादि बिसै रसि बहिहै, नरकि पड़ै पुंनि रांम न कहिहै ।।
पंच सखी मिलि मतौ उपायौ, जंम की पासी हंस बंधायौ।
कहै कबीर प्रतीति न आवै, पाषंड कपट इहै जिय भावै ।।१४३।।

शब्दार्थ— उझड़=ऊबड़-खावड़। तरकि पड़ै=बिगड़ उठे। पत्याई=विश्वास करना। हंस=प्राण।

कबीर यहाँ ऐसे मनुष्य को फटकारते हैं जो सद्गुरु के बताये हुए मार्ग पर तो चलता नहीं है, किंतु विपत्ति पड़ने पर पुनः सद्गुरु (कबीर) की शरण में आकर कहता है 'त्राहि माम् त्राहि माम्'। वे कहते हैं कि तुम स्वयं जैसा तुमने किया है उसका फल भोगो हम कोई सहायता नहीं कर सकते। जो ऊबड़-खावड़ मार्ग पर चल रहा है और यदि उसे अच्छा पथ बतलाया जाय और वह उस पर न चले तो वड़े दुख पाता है। जो कूप मंडूक ज्ञानान्ध है यदि उसे प्रभु के विषय में कुछ बताया तो वह बिगड़ तो उठेगा किंतु प्रभु के अस्तित्व में विश्वास नहीं करेगा। जो मनुष्य इन्द्रियों से संचालित हो नाना विषय-रसों में लिक्त रहते हैं और प्रभु नाम नहीं लेते वे नरक के अधिकारी हैं। पाँचों इन्द्रियों ने जीव को ऐसी कुमति दे दी कि वह मृत्यु बंधन से विमुक्त नहीं हो सकता। ऐसे लोगों का प्रभु-भक्ति में विश्वास नहीं होता, उन्हें तो केवल कपट और पाखण्ड में ही रुचि रह जाती है।

ऐसे लोगनि सूं का कहिये।
जे नर भये भगति थैं न्यारे, तिनथैं सदा डराते रहिये ।।टेक।।
आपण देही चरवा पांनीं, ताहि निंदैं जिनि गंगा आंनी ।।
आपण बूड़ैं और कौं बोड़ैं, अगनि लगाइ मंदिर मैं सोवैं।
आपण अंध और कूं कांनां, तिनकौं देखि कबीर डरांनां ।।१४४।।

शब्दार्थ—निंदैं=निंदा करना। बूड़ै=डूबना।

कबीर कहते हैं कि ऐसे मनुष्यों से कुछ भी नहीं कहा जा सकता जो भक्ति से अलग रहते हैं, उनसे तो दूर ही दूर रहना अच्छा। ऐसे लोग अपने कुचरित्र को गंगा तुल्य पवित्र समझते हैं। वे स्वयं तो पाप-गर्त में डूबते ही हैं अन्य लोगों को भी ले डूबते हैं, इस प्रकार संसार के अन्य मनुष्यों को भी विषय-वासना की ओर प्रवृत्त कर स्वयं निश्चिन्तता से बैठ जाते हैं। कबीर कहते कि ये लोग स्वयं अज्ञानान्ध,

होते ही हैं, दूसरों में भी अज्ञान का प्रसार करते हैं, इनसे हमें भय लगता है क्योंकि ये लोक-घातक हैं।

है हरि जन सूं जगत लरत है, फूंनिगा कैसें गरड़ भषत है ।।टेक।।
अचिरज एक देखहु संसारा, सुनहा खेदै कुंजर असवारा ।।
ऐसा एक अचंभा देखा जंबक करै केहरि सूं लेखा।
कहै कबीर रांम भजि भाई, दास अधम गति कबहूं न जाई ।।१४५।।

शब्दार्थ—जंवक=गीदड़। केहरि=शेर। कुंजर=हाथी।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! आपके भक्त का समस्त संसार विरोधी है। समस्त संसार बगुला भक्ति में लगा हुआ है। कबीर कहते हैं कि श्वान (सुनहां—कुत्ता विशेष) अर्थात् संसार-वासना ग्रस्त व्यक्ति प्रभु भक्ति के हाथी पर चढ़े हुए भक्त को तंग करता है। यह इसी भाँति है मानो गीदड़ शेर से लेखा जोखा ले। कबीर कहते हैं कि हे भाई ! प्रभु का भजन कर, इससे भक्त को कभी भी अधोगति प्राप्त नहीं होती।

विशेष—सुनहां—"सोनहा ! कुत्ता कुत्ते की जाति का छोटा जंगली जानवर जो झुंड में रहता है और बड़ा हिंसक होता है, यह शेर को भी मार डालता है।" —कबीर बीजक।

है हरिजन थैं चूक परी, जे कछु आहि तुम्हारौ हरौ ।।टेक।।
मोर तोर जब लग मैं कीन्हां, तब लग त्रास बहुत दुख दीन्हां।
सिध साधिक कहैं हम सिधि पाई, रांम नांम बिन सबै गंवाई ।।
जे बैरागी आस पियासी, तिनकी माया कदे न नासी।
कहै कबीर मैं दास तुम्हारा, माया खंडन करहु हमारा ।।१४६।।

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि प्रभु भक्त पर इसलिए दयालु नहीं हैं कि उससे कुछ दोष हो गया होगा। मेरी जब तक अहं-परत्व की भावना समाप्त नहीं हुई थी, तब तक मुझे बहुत दुख सहने पड़े। सिद्धि साधक वृथा यह मिथ्या दम्भ भरते हैं कि हमने सिद्धि प्राप्त कर ली है, किन्तु वस्तुतः बिना राम नाम के उनकी जो भी संचित सत्कर्मों की पूंजी होती है वह समाप्त हो जाती है। जिस विरक्त की तृष्णाएँ शान्त नहीं हुई हैं वह कभी भी माया-बन्धन से विमुक्त नहीं हो सकता।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं आपका भक्त हूं, मुझे माया-बन्धन से विमुक्त कर दो।

सब दुनीं संयानी मैं बौरा, हम बिगरे बिगरौ जिनि औरा ।।टेक।।
मैं नहीं बौरा रांम कियौ बौरा, सतगुरु जारि गयौ भ्रम मोरा।
बिद्या न पढूं बाद नहीं जांनूं, हरिगुंन कथत सुनत बौरांनूं ।।
कांम क्रोध दोऊ भये बिकारा, आपहि आप जरै संसारा।
मीठो कहा जाहि जो भावै, दास कबीर रांम गुंन गावै ।।१४७।।

शब्दार्थ—दुनीं=द्वैत भावना से युक्त लोग। संयानीं=चतुर। वाद=वाद-विवाद।

कबीर कहते हैं कि जिनकी द्वैत भावना नष्ट नहीं हुई है वे सब चतुर हैं और मैं प्रभु प्रेमदीवाना। मुझे सब पागल बताते हैं, और कोई पागल मन बनो। अरे मूर्खो! मैं स्वयं पागल नहीं, प्रभु ने मुझे पागल कर दिया है। सद्गुरु ने मेरा संशय दूर कर दिया है। मैं न तो शास्त्रग्रंथों के ज्ञान का तत्वज्ञ हूँ और न ही शास्त्रार्थ ही करता हूँ, केवल प्रभु के गुण का गायन और श्रवण करता हूं। उसी से मैं प्रभु प्रेम में पागल हूं। काम और क्रोध दोनों विकार हैं, जिनकी अग्नि में यह संसार स्वतः ही दग्ध हो रहा है। कबीर कहते हैं कि यह तो अपनी-अपनी रुचि का प्रश्न है, मधुर तो वही है जो जिसको रुचिकर लगे। कबीर अपनी रुचि के अनुकूल प्रिय प्रभु का गुणगान करता है।

अब मैं रांम सकल सिधि पाई, आंन कहूँ तौ रांम दुहाई ॥टेक॥
इहि चित चाषि सबै रस दीठा, रांम नांम सा और न मीठा।
औरे रसि ह्वै है कफ गाता, हरि-रस अधिक अधिक सुखदाता॥
दूजा बणिज नहीं कछू वाखर, रांम नांम दोऊ तत आखर।
कहै कबीर जे हरि रस भोगी, ताकूं मिल्या निरंजन जोगी ॥१४८॥

शब्दार्थ—आंन कहूं=अन्य किसी देवता का आश्रय ग्रहण करूँ। कंफ गाता=व्याधियों को उपजाने वाले। बणिज=वाणिज्य, व्यापार।

कबीर कहते हैं कि अब मैंने राम के रूप में समस्त सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं यदि अब मैं अन्य किसी देवता का आश्रय ग्रहण करूँ तो मुझे राम की ही सौगन्ध है। मैंने समस्त रसों का स्वाद ग्रहण कर देख लिया है, किन्तु उनमें राम नाम सदृश मधुर कोई नहीं है। अन्य सांसारिक रस तो व्याधियों के जन्मदाता हैं, किन्तु प्रभु भक्ति रस का पान करने से अधिकाधिक आनन्द प्राप्त होता है। इस संसार में कोई व्यापार सारपूर्ण नहीं, केवल राम-नाम का व्यापार ही सार है। कबीर कहते हैं कि जो प्रभु-भक्तिरस के आस्वादक हैं, उन्हें योग का निरंजन पद, सहज ही प्राप्त हो जाता है।

रे मन जांहि जहां तोहि भावै, अब न कोई तेरैं अंकुस लावै ॥टेक॥
जहां जहां जाइ तहां तहां रांमां, हरि पद चीन्हि कियौ विश्रामा॥
तन रंजित तब देखियत दोई, प्रगट्यौ ग्यांन जहां तहां सोई।
लीन निरंतर वपु बिसराया, कहै कबीर सुख सागर पाया ॥१४९॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर अपने मन को वश में कर फिर उसे इतनी स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं कि वह जहाँ चाहे, चला जाय किन्तु अब वह उस नियन्त्रण में है, जहाँ भी जावेगा उसे प्रभु ही प्रभु मिलेंगे।

वे कहते हैं कि हे मन ! तू जहाँ चाहे चला जा अब तुझ पर कोई नियन्त्रण नही रखूंगा । जहां जहां भी तू जायेगा तुझे मेरे संसार में राम ही राम दृष्टिगत होंगे। अब मैं प्रभु चरण-कमलों को पहचान कर पूर्ण निश्चित हूं । जब शरीर का रोम-रोम अंग-प्रत्यंग, मस्ती रस में स्नात हो जाता है तो ज्ञान का स्वतः उदय हो जाता है। कबीर कहते हैं कि प्रभु भक्ति में पूर्णरूपेण लीन हो, आत्मा-विस्मृत हो मैंने सुख के अनन्त सागर को प्राप्त कर लिया है ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

बहुरि हम काहे कूं आवहिगें ।
बिछुरे पंचतत की रचनां, तब हम रांमहि पांवहिगे ।।टेक।।
पृथ्वी का गुण पांणी सोष्या, पांनीं तेज मिलांवहिगे ।
तेज पवन मिल पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगांवहिगे ।।
जैसै बहुकंचन के भूषन, ये कहि गालि तवांवहिगे ।
ऐसैं हम लोक वेद बिछुरें, सुंनिहि मांहि समांवहिगे ।।
जैसें जलहि तरंग तरंगनीं, ऐसें हम दिखलांवहिगे ।
कहै कबीर स्वांमीं सुख सागर, हंसहि हंस मिलांवहिगे ।।१५०।।

शब्दार्थ—बहुरि=पुनः । बिछुरे पंच तन की रचना=शरीर के नष्ट हो जाने पर । बहुमूल्य=अमूल्य सोना । तरंग=लहर । हंसाई हंस=प्राणों में प्राण ।

कबीर कहते हैं कि हम इस संसार में पुनः क्यों कर आयेंगे, इस पंचतत्व निर्मित शरीर की सत्ता छूट जाने पर प्रभु की प्राप्ति होगी । पृथ्वी का गुण धूलि में क्षार रूप में, जल का जल में, एवं अग्नि-अग्नि में लय हो जायेगी । प्राणवायु में प्रवेश कर जायेगी, इस प्रकार इस मृण्मय सत्ता से विमुक्त हो हम सहज समाधि लाभ करेंगे । जिस प्रकार विभिन्न आकार-प्रकार के स्वर्ण-निर्मित आभूषण पिघलकर सोने में ही परिवर्तित हो जाते हैं, उसी भांति हम इस संसार से छूटने पर पुनः परमात्म स्वरूप में समाहित हो जायेंगे । जिस भाँति लहर जल से उत्पन्न हो उसी में समा जाती है, उसी प्रकार हम पुनः परमात्मा के स्वरूप में लय हो जायेंगे । कबीर कहते हैं कि इस प्रकार शरीर की सत्ता छूट जाने पर हम उस सुख सागर स्वरूप ब्रह्म से एकाकार हो जायेंगे ।

विशेष—१. कबीर ने यहाँ वेदान्तियों के समान ही अंश-अंशी, आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध को जल-तरंग न्याय आदि के द्वारा स्पष्ट किया है ।

२. दृष्टांत अलंकार ।

कबीरो संत नदी गयो बहि रे ।
ठाढ़ी माइ कराड़ै टेरै, है कोई ल्यावै गहि रे ।।टेक।।
बादल बांनीं रांम घन उनयां, बरिषै अमृत धारा ।
सखी नीर गंग भरि आई, पीवै प्रान हमारा ।।

जहां बहि लागे सनक सनंदन, रुद्र ध्यांन धरि बैठे।
सुयं प्रकास आनंद बमेक मैं, घन कबीर ह्वै पैठे ॥१५१॥

शब्दार्थ—कराड़ै=किनारे पर। उनयां=उमड़ा।

कबीर कहते हैं कि संत—प्रभु-भक्त—तो ईश्वर-भक्ति की सरिता के प्रवाह में वह चुका है, माया किनारे पर खड़ी कोटिशः टेर लगाती है किन्तु अब कोई उसे वहां से निकाल नहीं सकता। बादल, जिससे यह सरिता उमड़ी, स्वयं प्रभु नाम का था जिससे अमृत-वर्षा (भक्ति की) हुई। आत्मा इस पुनीत गंगा तट पर उस जल को भरने आई थी, उसी को अब हम छक-छक कर पान कर रहे हैं। जिस भक्ति की सरिता के प्रवाह में सनक-सनन्दन जैसे ऋषि बहे और महेश जिसके लिए ध्यानावस्थित हैं, उसी आनन्ददायिनी भक्ति धारा में कबीर डूब चुका है।

राग रामकली

अवधू कांमधेन गिह बांधी रे।
भांडा भंजन करै सबहिन का, कछू न सूझै आंधी रे ॥टेक॥
जौ ब्यावै तो दूध न देई, ग्याभण अमृत सरवै।
कौली घाल्यां बीडरि चालै, ज्यूं घेरौं त्यूं दरवै॥
तिहि धेन थैं इंछया पूगी, पाकड़ि खूंटै बांधी रे।
ग्वाड़ा मांहैं आनन्द उपनौं, खूंटै दोऊ बांधी रे॥
साई माइ सास पुनि साई, साई याकी नारि।
कहै कबीर परम पद पाया, संतो लेहु विचारी ॥१५२॥

शब्दार्थ—इंछया पूगी=इच्छायें परितृप्त हो जाती हैं। ग्वाड़ा=ग्वाला, भक्त से तात्पर्य है।

कबीर कहते हैं कि हे अवधूत! मैंने प्रभु भक्ति की कामधेनु पकड़ कर बाँध ली है, यह सबके सांसारिक उपकरण, मिथ्याडम्बरों रूपी पात्रों को फोड़ देती है। यदि यह माया की ओर चली जाय तो फल नहीं देती, दूध नहीं देती और यदि अपनी गम्भीरता बनाये रखे तो अमृतोपम आनन्द प्रदान करती है। मन पर बड़े नियन्त्रण रख इसे प्राप्त किया जा सकता है। इस कामधेनु से मनुष्य की समस्त इच्छाएँ परितृप्त हो जाती हैं। यदि इसे दृढ़तापूर्वक साधा जाय तो यह ग्वाल (भक्त) को अमित आनन्द प्रदान करती है। फिर तो यह भक्त के लिए उसकी चित्तवृत्तियों के अनुकूल हो जाती है। कबीर कहते हैं कि हे संतो! मैंने भक्ति की इसी कामधेनु से प्रभु को प्राप्त कर लिया है।

विशेष—विरोधाभास अलंकार।

जगत गुर अनहद कींगरी बाजै, तहां दीरघ नाद ल्यौ लागै ॥टेक॥
त्री अस्थांन अंतर मृगछाला, गगन मंडल सींगीं बाजै।
तहुआं एक दुकांन रच्यौ है, निराकार व्रत साजै॥

गगन हीं भाठी सींगी करि चूंगी, कनक कलस एक पावा।
तहुवां चवैं अमृत रस नीझर, रस ही मैं रस चुवावा।।
अब तौ एक अनूपम बात भई, पवन पियाला साजा।
तीनि भवन में एकै जोगी, कहौ कहां बसै राजा।।
बिरन जांनि परिणऊं परसोतम, कहि कबीर रंगि राता।
यह दुनियां कांइ भ्रमि भुलांनीं, रांम रसाइन माता ।।१५३।।

शब्दार्थ—त्री अस्थान=त्रिकुटी। कनक कलस=सोने का कलश। नीझर=निर्झर, झरना। माता=मस्त।

कबीर कहते हैं कि साधक या भक्त उस अवस्था में पहुँच गया है कि वहाँ अनहद नाद का आनन्दमयी स्वर समा बाँध रहा है और साधक ने वहाँ अपनी चित्त-वृत्तियों को केन्द्रित कर रखा है। त्रिकुटी के मध्य ही वह रह कर शून्य मण्डल—ब्रह्मरन्ध्र में होने वाले विस्फोट-शब्द को सुन रखा है। वहीं अपना स्थायी वास बनाकर वह अलख निरंजन की साधना में दत्तचित्त है। अब आगे वे मदिरा खींचने के रूपक द्वारा स्पष्ट करते हैं कि शून्य स्थल की भट्टी बनाकर सहस्र दल कमल के स्वर्ण पात्र के द्वारा सींगी की उड़ीक लगा दी है जिससे अमृत निस्सृत हो रहा है। इस अमृत का पान साधक की आत्मा करती है। इसको पीकर साधक सर्वोत्तम एवं सर्वश्रेष्ठ बन जाता है, इसीलिए तीन लं.कों के स्वामी के समान उसे अपना वैभव इस सयय प्रतीत होता है। कबीर कहते हैं कि पूर्ण पुरुषोत्तम के रंग में कबीर पूर्णतः रंग गया है और वह अन्य किसी को नहीं जानता। यह जगत् माया-भ्रम में उलझा हुआ है किन्तु मैं राम-रसायन के आनन्द से मदमस्त हूँ।

विशेष—१. यहां कबीर ने योगसाधना का सम्पूर्णतः वर्णन किया है। योग साधना के अनहद नाद, गगन, त्रिकुटी, सींगी गगन-भाठी, रस चर्वणा—सबका वर्णन नाथपंथी योगसाधनानुकूल किया है।

२. रूपक अलंकार।

ऐसा ग्यांन बिचारि लै, लै लाइ लै ध्यांनां।
सुंनि मंडल मैं घर किया, जैसैं रहै सिचांनां ।।टेक।।
उलटि पवन कहां राखिये, कोई मरम बिचारै।
सांधै तीर पताल कूँ, फिरि गगनहि मारैं।।
कसा नाद बजाव ले, धुंनि निमसि ले कंसा।
प्यंड परें जीव कहां रहै, कोई मरम लखावै।।
जीवित जिस घरि जाइये, ऊँधै मुषि नहीं आवै।
सतगुरु मिलै त पाईये, एसीं अकथ कहांणीं।।
कहै कबीर संसा गयां, मिले सारंग पांणीं ।।१५४।।

कबीर कहते हैं कि हे साधक! तू ऐसा ज्ञान अर्जित कर ले, जिससे प्रभु में अपनीं वृतियाँ केन्द्रित कर शून्यमण्डल में अपना स्थायी वास बना सके। प्राणायाम

द्वारा संसार के इस माया-भ्रम को विदूरित कर देना चाहिए। मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी को शून्य तक पहुँचाने में प्रवृत्ति कर दे। फिर उसके विस्फोट से अपरिमित आनन्ददायी अनहद नाद को सुने। अनहद नाद के सुनाई देते ही ब्रह्म ही ब्रह्म सर्वत्र दृष्टिगत होता है। फिर साधक आत्मविस्मृत हो अपने शरीर को भी भूल जाता है, फिर भला शरीर के अचेत होने पर जीव-आत्मा कहाँ जायगी—वह जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेगी। किसी सद्‌गुरु के मिलने से ही इस अकथ साधना का रहस्य समझ में आ सकता है। कबीर कहते हैं कि संसार-भ्रम दूर होने पर प्रभु-प्राप्ति सुनिश्चित है।

है कोई संत सहज सुख उपजै, जाकौं जप तप देउ दलाली।
एक बूंद भरि देइ रांम रस, ज्यूं भरि देइ कलाली॥
काया कलाली लांहनि करिहूं, गुरु सबद गुड़ कीन्हां।
कांम क्रोध मोह मद मंछर, काटि काटि कस दीन्हां॥
भवन चतुरदस भाठी पुरई, ब्रह्म अगनि परजारी।
मूंदे मदन सहज धुनि उपजी, सुखमन पोतनहारी॥
नीझर झरै अंमी रस निकसै, तिहि मदिरावल छाका।
कहै कबीर यहु बास बिकट अति, ग्यांन गुरू ले बांका॥१५५॥

शब्दार्थ—कलाली=शराबी। मंछर=मत्सर। परजारी=जलाई। अंमी रस=अमृत रस।

यहां कबीर मदिरा के रूपक द्वारा भक्ति का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि कोई ऐसा सज्जन, साधु, गुरु है जिसको मैं अपने समस्त सत्कृत्य दलाली के रूप में दे दूं और वह केवल इतना कर दे कि कलश के समान मेरे पात्र में एक बूंद रामभक्ति की मदिरा डाल दे। यह शरीर ही कलश बन गया हैं एवं सदगुरु की वाणी गुड़ है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को काट-काट कर इस गुड़ को नियन्त्रित कर दिया है। चौदह भुवनों की भट्टी बनाकर इसमें ब्रह्म की अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी है। उस मदिरा के पात्र को कामदेव के द्वारा ऊपर से बन्द कर दिया है (काम का परित्याग कर दिया है) अब अनहद नाद की सहज ध्वनि हो रही हैं जिसकी मुख्य संचालिका सुषुम्णा नामक नाड़ी है। उस शून्य ब्रह्मरन्ध्र से अमृत निर्झर का स्रवण निरन्तर हो रहा है जिससे साधक खूब छक गया है। कबीर कहते हैं कि इस शून्य स्थल पर वास बड़ा कठिन है जहां पर ज्ञानी सद्‌गुरु ही साधक को ले जा सकता है।

विशेष—१.योग की समाधि का वर्णन किया गया है—इसका विस्तृत उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है।

२. **'चौदह भुवन'**—सात स्वर्ग—भूलोक, भुवर्लोक' स्वर्ग लोक, जन लोक, तपलोक, सत्यलोक एवं सात पाताल—अतल, वितल, तल, सुतल, महातल, रसातल, पाताल।

अकथ कहांणीं प्रम की, कछू कहीं न जाई।
गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई ॥ टेक ॥
भोमि बिनां अरू बीज बिन, तरवर एक भाई।
अनत फल प्रकासिया, गुर दीया बताई॥
मत थिर बैसि बिचारिया, रांमहि ल्यौ लाई।
झूठी अनभै बिस्तरी, सब थोथी बाई॥
कहै कबीर सकति कछु नांही, गुर भया सहाई।
आंवण जांणी मिटि गई, मन मनहि समाई ॥१५६॥

शब्दार्थ—सरकरा=शर्करा। भोमि=भूमि। थिर=स्थिर। ल्यौ=लगन। नभै=निर्भय। थोथी=निस्सार। आँवण जाँणी=आवागमन।

कबीर कहते हैं कि ईश्वरीय प्रेम की कथा अकथनीय है जिसका वर्णन नहीं क्या जा सकता, वह तो गूंगे की शर्करा के समान है, जिसका वह आस्वादन और शंसा मन ही मन कर लेता है।

वे आगे कहते हैं कि विना भूमि और बीज के भक्ति का एक तरुवर पल्लवित रहा है। उस पर लगे अनन्त आनन्ददायी ब्रह्म रूप फल को सद्‌गुरु ने बता दिया जिससे मन स्थिर होकर प्रभु के ध्यान में लग गया है। यह माया का निस्संकोच ार सर्वथा मिथ्या है, इसका कोई लाभ नहीं। कबीर कहते हैं कि जिस अवस्था वर्णन किया गया है उसकी प्राप्ति के लिए गुरु का अनुकूल होना आवश्यक है, कृपा से ही इस भक्ति को प्राप्त किया है जिसके द्वारा आवागमन, जन्म-मृत्यु का बन्धन छूट गया है एवं मन अन्तर्मुखी हो ब्रह्म में एकाकार हो गया है।

विशेष—वेदान्तियों के समान उस ब्रह्म के आनन्द को कबीर ने भी मूकास्वा-वत कहा है।

संतो मो अनभै पद गहिये।
कला अतीत आवि निधि निरमल,
ताकूं सदा विचारत रहिये ॥ टेक ॥
सो काजी जाकौं काल न व्यापै, सो पंडित पद बूझै।
सो ब्रह्मा जो ब्रह्म बिचारै, सो जोगी जग सूझै॥
उदै न अस्त सूर नहिं ससिहर, ताकौ भाव भजन करि लीजै।
काया थैं कछू दूरि बिचारै, तास गुरु मन दीजै॥
जायौं जरै न काट्यौ सूकै, उतपति प्रलै न आवै।
निराकार अषंड मंडल मैं, पांचौं तत समावै॥
लोचन अछित सबै अंधियारा, बिन लोचन जन सूझै।
पड़दा खोलि मिलै हरि ताकूं, जो या अरथहि बूझै॥
आदि अनंत उभै पख निरमल, द्रिष्टि न देख्या जाई।
ज्वाला उठी अकास प्रजल्यौं, सीतल अधिक समाई॥

एकनि गंध बासनां प्रगट, जग थैं रहै अकेला।
प्रांन पुरिस काया थैं बिछुरैं, राखि लेहु गुर चेला ॥
भागा भर्म भया मन असथिर, निद्रा नेह नसांनां।
घट की जोति जगत प्रकास्या, माया सोक बुझांनां ॥
बंकनालि जे संमि राखै, तौ आवागमन न होई।
कहै कबीर धुनि लहरि प्रगटी, सहजि मिलैगा सोई ॥१५७॥

शब्दार्थ—अनभैपद=ब्रह्मपद । कलाअतीत=कलातीत आदि-अन्तविहीन। निधि निर्मल=निर्मल ब्रह्म।

कबीर कहते हैं कि सन्त वही है जो परमपद को प्राप्त कर कलातीत निर्मल ब्रह्मनिधि का निरन्तर ध्यान करता रहता है जिसको मृत्यु-भय नहीं, वही काजी है, तथा जो ब्रह्म पद के रहस्य को जान लेता है वही पण्डित—ज्ञानी है। ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म विचार करे और जोगी वही है जो सम्पूर्ण जगत् का द्रष्टा है। जिस प्रभु के समीप सूर्य चन्द्र आदि किसी की सत्ता नहीं है उसी का प्रेम सहित भजन करो जो गुरु इस शरीर को छोड़ ब्रह्म की भी बात सोचता है उसी को आत्मसमर्पण कर दो। वह ब्रह्म न तो जलाने पर जल सकता है, न काटने पर सूख सकता है—उसे उत्पत्ति प्रलय कुछ भी नहीं व्यापती। ऐसा निराकार ब्रह्म के शून्यमण्डल में ही समस्त मानसिक शक्तियाँ एवं वृत्तियां केन्द्रित हो गई हैं। भक्ति में आगा-पीछा कर (आँख खोलकर चलने से समस्त संसार में अंधकार ही अंधकार दृष्टिगत होता है, किन्तु इस भक्ति पथ पर आंख मूंद कर केवल प्रभु-प्रेम का आश्रय लेकर चलने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है। जो इस रहस्य को समझ लेता है, उसका भ्रम-आवरण नष्ट कर प्रभु उसे दर्शन देते हैं। वह ब्रह्म आदि से अन्त—प्रत्येक पक्ष से ऐसा निर्मल है कि सांसारिक दृष्टि से उसे नहीं देखा जा सकता। उसके प्रकट होते ही निर्मल ज्योति आविर्भूत होती है एवं आकाश जलने लगता है, शून्यमण्डल में केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाता है। उसकी सुगन्ध से समस्त संसार सुवासित हो उठता है, क्योंकि वह समस्त संसार में अनूठा जो है। साधक के प्राण उसके इस पंचतत्वनिर्मित शरीर को छोड़ गुरु उद्योग से ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। उसके दर्शन से भ्रम भाग जाता है, मन अस्थिर उसी के लिए व्याकुल हो जाता है। संसार मोह सर्वथा विनष्ट हो जाता है। उस हृदयस्थ ज्योति से ही समस्त संसार आलौकित दीख पड़ता है, माया जाल नष्ट हो जाता है- "लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।"

वे आगे कहते हैं कि यदि मेरुदण्ड में स्थित इडा, पिंगला, सुषुम्णा का समन्वय मनुष्य करता रहे तो न तो उसे आवागमन चक्र में बँधना पड़े और ब्रह्म को प्राप्त कर वह सर्वथा अनहद नाद को सुनता रहे।

विशेष—१. योगसाधना का वर्णन इस पद में किया गया है।

२. अनुप्रास, अतिशयोक्ति, विरोधाभास आदि अलंकार स्वाभाविक रूप से आ गये हैं।

जाइ पूछौ गोबिंद पढ़ियां पंडिता, तेरां कौंन गुरू कौन चेला।
अपणें रूप की आपहि जांणें, आपें रहे अकेला ।। टेक ।।
बांझ का पूत बाप बिन जाया, बिन पांऊं तरबरि चढ़िया।
अस बिन पाषर गज बिन गुड़िया, बिन षंडै संग्रांम जुड़िया ।।
बीज बिन अंकूर पेड़ बिन तरबर, बिन साषा ततवर फलिया।
रूप बिन नारी, पुहुप बिन परमल, बिन नीरै सरवर भरिया ।।
देव बिन देहुरा पत्र बिन पूजा, बिन पांषां भवर बिलंबिया।
सूरा होइ सु परम पद पावै, कीट पतंग होइ सब जरिया ।।
दीपक बिन जोति जोति बिन दीपक, हद बिन अनाहद सबद बागा।
चेतनां होइ सु चेति लीज्यौ, कबीर हरि के अंगि लागा ।।१५८।।

शब्दार्थ - पाऊं=पैर। षंडै=खड्ग, तलवार। पुहप=पुष्प। परिमल= सुगन्धि। देहुरा=मन्दिर।

कबीर ब्रह्म का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि उस प्रभु से जाकर पूछ लो कि उसका कौन गुरु है, वह किसका चेला है तो कुछ भी ज्ञात नहीं होगा। क्योंकि वह न किसी से उत्पन्न और न किसी से पालित-पोषित, वह तो सर्वथा अकेला है, उसके आदि अन्त को भी कोई नहीं जानता. वह स्वयं ही अपने स्वरूप को जानता है अन्य कोई नहीं।

वह ब्रह्म बंध्या के बिन जाये पुत्र के समान है। वह बिना पैरों के वृक्ष पर चढ़ने की सामर्थ्य रखता है। वह बिना बीज के प्रस्फुटित अंकुर और पेड़ के समान है। माया से असम्पृक्त होते हुए भी वह 'एकोऽहम् बहु स्याम्' को चरितार्थ करता है। आकारहीन सुन्दरी एवं परिमल विकास के पुष्पित कुसुम है। वह बिना जल के ही सरोवर को भरने की सामर्थ्य रखता है। वह उसी भाँति है जैसे बिना इष्ट देव की मूर्ति के भी देवालय हो सकता है, बिना पत्र-पुष्प के पूजा तुल्य है। वह बिना पृष्प-राजि के भ्रमित होने वाले भ्रमर के समान है। इस परम विचित्र ब्रह्म को शूरवीर ही प्राप्त कर सकते हैं, वे तो संसार में ही नष्ट हो जाते हैं। वह बिना दीपक के ही ज्योतिष्मान है, एवं असीम और अनहद है। कबीर कहते है कि हे मनुष्यों ! यदि तुम्हें सावधान होकर इस प्रभु को पाना है तो शीघ्र चेत जाओ, कबीर तो प्रभु को प्राप्त कर चुका है।

विशेष—विभावना अलंकार।

पंडित होइ सु पदहि बिचारै, मूरषि नांहिन बूझै।
बिन हाथिन पांइन बिन कांननि, बिन लोचन जग सूझै ।।टेक।।
बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।
आछै रहै ठौर नहीं छाड़ै, वह दिसिहीं फिर आवै ।।
बिनहीं तालां ताल बजावै, बिन मंदल षट ताला।
बिनहीं सबद अनाहद बाजै, तहां निरतत है गोपाला ।।

बिनां चोलनैं बिना कंचुकी, बिनहीं संग संग होई।
दास कबीर औसर भल देख्या जांनैंगा जन कोई ॥१५९॥

शब्दार्थ—लोचन=आँख। तालां=मृदंग आदि वाद्य। निरतत=नाचना।

कबीर कहते हैं कि जो ज्ञानी हैं वही इस पद का भाव, अर्थ, मर्म, हृदयंगम कर सकते हैं, मूर्ख लोग नहीं। अब वे प्रभु-स्वरूप का कथन करते हैं कि उसे बिना हाथ, पैर, कान, नेत्र एवं जिह्वा के समस्त जगत दृष्टिगत हो जाता है। वह अपने स्थान पर स्थिर रहता हुआ भी दसों दिशाओं में घूम आता है। वह बिना कर-तल के तान बजा सकता है एवं बिना मृदंग आदि के ताल-तुकमय संगीत का सृजन कर सकता है। जहाँ किसी बाह्य शब्द के अनहद नाद हो रहा है वहीं प्रभु निवास करते हैं, वहीं उनका नृत्य चल रहा है किन्तु वह नृत्य (कृष्ण के समान नहीं अपितु) बिना किसी वस्त्र एवं वेशभूषा के प्रत्येक स्थान पर हो रहा है। कबीर कहते हैं कि मैं उपयुक्त अवसर देखकर इस प्रभु रहस्य का कथन कर रहा हूँ कोई बिरला भक्त ही इसे जान सकता है।

विशेष—विभावना अलंकार।

है कोई जगत गुर ग्यांनीं, उलटि बेद बूझै।
पांणी मैं अगनि जरै, अंधेरे कौं सूझै ॥टेक॥
एकनि दादुरि खाये पंच भवंगा।
गाइ नाहर खायौ काटि अंगा॥
बकरी बिघार खायौ, हरनि खायौ चीता।
कागिल गर फांदियां, बटेरै बाज जीता॥
मूसै मंजार खायौ, स्यालि खायौ स्वांनां।
आदि कौं आदेस करत, कहै कबीर ग्यांनां ॥१६०॥

शब्दार्थ—दादुरी=मन। भवंगा=सर्प। गाइ=गाय। नाहर=सिंह। बिघार=उघेरा। मंजार=बल्ली। स्वांनां=कुत्ता।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में कोई ऐसा ज्ञानी है जो इस उलटे ज्ञान व्यापार को स्पष्ट कर सके। सहस्र-दल कमल से अमृत झर रहा है, वहीं ज्योतिस्वरूप ब्रह्म प्रकट हो रहा है जो संसार से आँख बन्द किये साधक को दिखता है। कुण्डलिनी की साधना ने पाँचों इन्द्रियों रूपी भुजंगनियों को चट कर लिया, नियन्त्रण में कर लिया। गाय तुल्य सीधे साधक ने भ्रम के सिंह को काट-काट कर खा लिया, विदूरित कर दिया। यह कर्म ऐसा ही है जैसे बकरी ने बघेरे को एवं हरिण ने चीते को खा डाला। जो माया जीव को अपने फन्दे में फँसाये रहती थी उसी जीव ने साधना द्वारा माया को अपने कब्जे—नियन्त्रण में कर लिया—इस प्रकार बटेर बाज से जीत गई। यह उसी भाँति अद्भुत है जैसे चूहा बिल्ली (माया) को, तथा बिल्ली ने श्वान को खा लिया हो।

ज्ञानी कबीर इस कथन द्वारा प्रभु का ही सन्देश अर्थात् प्रभु-भक्ति का सन्देश कहना चाहते हैं।

विशेष—१. उलटवांसी के माध्यम से अद्‌भुत रस की प्रतिष्ठा हुई है।

२. मालोपमा, विरोधाभास, अतिशयोक्ति आदि अलंकार स्वाभाविक रूप से आये हैं।

ऐसा अद्‌भुत मेरे गुरि कथ्या, मैं रह्या उभेषै।
मूसा हसती सौं लड़ै, कोई बिरला पेषै ॥टेक॥
मूसा पैठा बांबि मैं, लारै सापणि धाई।
उलटि मूसै सापणि गिली, यहु अचिरज भाई ॥
चींटी परबत ऊषण्यां, ले राख्यौ चौड़ै।
मुर्गा मिनकी सूं लड़ै, झल पांणीं दौड़ै ॥
सुरहीं चूंषै बछतलि, बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुंणी भया, सारदूलहि मारै ॥
भील लुक्या बन बीझ में, ससा सर मारै ॥
कहै कबीर ताहि गुर करौं, जो या पदहि बिचारै ॥१६१॥

शब्दार्थ—बांबि=सांप का बिल। ऊषण्यां=उखाड़ लिया। झल=अग्नि सुरहीं=सुरभि, गाय। सारदूलहि=सिंह को। ससा=खरगोश। सर=बाण।

कबीर कहते हैं कि सद्‌गुरु ने उस ब्रह्म का स्वरूप निरूपण ऐसी अद्‌भुत विधि से किया है कि मैं आश्चर्य-चकित हो देखता ही रह गया। मन मायारूपी हाथी से जूझता है जिसको कोई भक्त ही देख पाता है। साधक साधना स्थित हो बैठ जाता है एवं माया रूपी सर्पिणी उसकी ओर को लपकती है किन्तु आश्चर्य यह है कि उस साधक ने माया को परास्त कर दिया। यह कार्य वैसा ही हुआ कि चौड़े में चींटी ने पर्वत को उखाड़ कर रख दिया हो। माया और साधक का युद्ध होता है। ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित अमृतोपम जल के मध्य ज्योतिस्वरूप ब्रह्म रहता है। इस प्रकार आत्मा रूपी गाय ब्रह्मरन्ध्र रूपी वछड़े के नीचे चूस रही है, अमृत का पान कर रही है। अब यह साधक साधना द्वारा इतना सबल हो गया कि माया के सिंह को मार गिराता है। भ्रमरूपी भील संसार-वन में छिप गया है और साधक रूपी खरगोश फिर भी उसे वाण मार-मार कर नष्ट कर रहा है।

कबीर कहते हैं कि मैं उसे अपना गुरु बना लूँगा जो इस पद को विचारेगा।

अवधू जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ कलप नहीं व्यापै, देही जुरा न छीजै ॥टेक॥
उलटी गंग संमुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नव ग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल मैं व्यंब प्रकासै ॥
डाल गह्यां थैं मूल न सूझै, मूल गह्यां फल पावा।
बंवई उलटि सरप कौं लागी, धरणि महा रस खावा ॥

बैठि गुफा मैं सब जग देख्या, बाहिर कछू न सूझै।
उलटै धनकि पारधी मार्‌यो, यहु अचिरज कोई बूझै।।
औंधा घड़ा न जल मैं डूबै, सूधा सूभर भरिया।
जाकौं यहु जग घिण करि चालै, ता प्रसादि निस्तरिया।।
अंबर बरसै धरती भीजै, यहु जांणें सब कोई।
धरती बरषै अंबर भीजै, बूझै बिरला कोई।।
गांवणहारा कदे न गावै, अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेषि पेषनां, पेषै, अनहद बेन बजावै।।
कहणीं रहणीं निज तत जांणें, यहु सब अकथ कहाणीं।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसां की बांणीं।।
बाझ पियालै अमृत सोख्या, नदी नीर भरि राष्या।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, धरणि महारस चाष्या।।१६२।।

शब्दार्थ—काल=मृत्यु। कलप=कल्प। जुरा=जरावस्था। छीजै=क्षीण होना। ससिहर=चन्द्रमा। गरासै=ग्रस लेता है। बंबई=बांबी, साँप का बिल।

कबीर कहते हैं कि हे अवधूत! ज्ञान प्राप्त कर पुनः अज्ञान-निद्रा में मत पड़ो। जागृत रहने से मृत्यु बन्धन कभी नहीं बाँधता तथा शरीर जरावस्था द्वारा जीर्ण नहीं होता। सुषुम्ना में इड़ा और पिंगला का समन्वय हो जाने पर कुण्डलिनी ऊर्ध्वगति से शून्य कमल में पहुँच वहाँ से स्रवित अमृत का पान करती है। नौ चक्रों का भेदन कर साधक उस अमृत में ज्योतिस्वरूप अलख निरंजन ब्रह्म के दर्शन करता है। किन्तु यदि साधक कुन्डलिनी को मूलाधार से ऊपर न चढ़ावे तो उस ब्रह्मरस की प्राप्ति नहीं हो सकती अपितु मूलाधार चक्र से ही साधना प्रारम्भ करने से ही उसकी प्राप्ति होगी। कुण्डलिनी वहाँ से उलटी होकर ऊर्ध्वगति से चल दी और उसने शून्य में पहुँच महारस का पान किया। मन को अन्तर्मुखी करने से ही ब्रह्म दर्शन होता है, इस दर्शन से संसार का प्रत्येक रहस्य प्रकट हो जाता है, किन्तु यदि मन बाहर विषय-वासनाओं में ही भटकता रहा तो फिर कुछ प्राप्त नहीं हो सकता। साधक ने इस प्रकार समाधिस्थ हो कुण्डलिनी की ऊर्ध्वगति से इस ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त किया। इस आश्चर्य को जानने वाले थोड़े ही होते हैं।

जिस भाँति उल्टा घट जल में डूबता नहीं है और सीधा ऊपर तक भर कर डूब जाता है उसी भाँति जिन्होंने अपने आत्म-घट को संसार से उल्टा कर लिया है वे भवसागर में डूब नहीं सकते किन्तु जो संसार की ओर ही इसका मुख किये रहेंगे वे निश्चय ही यहाँ डूब जायेंगे। जो इस संसार से घृणा करके चलता है अर्थात् इसके आकर्षणों में लिप्त नहीं होता वह मुक्त हो जाता है। आकाश से बादलों के बरसने को तो सब कोई ही जानता है। किन्तु औंधे कुएँ—ब्रह्मरन्ध्र—से अमृत वर्षा के रहस्य से कोई-कोई ही परिचित होता है। जो प्रभु के गुणों का गान सर्वदा अपने मन में करता रहता है, वह कभी चिल्ला कर प्रार्थना नहीं करता, जो उसका नाम मन में

प्रतिपल नहीं लेता वही बाँग दे देकर प्रभु का नाम पुकारता है। यदि उस नटवर ब्रह्म को देखना है तो देखो, वह अनहद नाद की वेणु की स्वर लहरी छेड़ता है। साधक का कथन, वास और प्रत्येक कर्म-कलाप इस अलख से ही सम्बन्धित होना चाहिए। यह महापुरुषों का कथन है कि कुण्डलिनी उलट कर आकाश-शून्य में जाकर अमृत का पान करती है। यह अमृत कुण्ड कभी सूख नहीं सकता, सरिता के रूप में सर्वदा प्रवाहित रहता है। कबीर कहते हैं कि कोई बिरला योगी ही इस ब्रह्मरस—ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित अमृत का पान करता है।

विशेष—१. योगसाधना का उसके पारिभाषिक शब्दों एवं परिभाषानुसार वर्णन हुआ है।

२. अतिशयोक्ति, अनुप्रास, विरोधाभास, उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग है।

३. उलटवांसियों की अद्भुत रसपूर्ण विरोधाभासयुक्त प्रतीकात्मकता दर्शनीय है।

रांम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरखनाथि जांणी।
नाति सरूप न छाया जाके, बिरध करैं बिन पांणीं ॥टेक॥
बेलड़िया द्वै अणीं पहूँती, गगन पहूँती सैली।
सहज बेलि जब फूलण लागी, डाली कूपल मेल्ही ॥
मन कुंजर जाइ बाड़ी बिलंब्या, सतगुर बाही बेली।
पंच सखी मिलि पवन पयंप्या, बाड़ी पाँड़ीं मेल्ही ॥
काटत बेली कूपले मेल्हीं, सींचताड़ी कुमिलाँणीं।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरंतर जाँणीं ॥१६३॥

शब्दार्थ—बेलड़ी=बेल, लता। विरध=वृद्धि। कूपन=कोंपल। कुंजर=हाथी।

हे अवधूत! गोरखनाथ जैसे सन्त ने रामगुणलता को पहचाना था। उसका न तो कुछ स्वरूप है, स्वरूपविहीन होने से उसकी छाया भी नहीं है एवं बिना माया-जल के ही उसकी वृद्धि होती है, माया बिना ही वह पल्लवित और पुष्पित होती है। यह रामगुणबेली पृथ्वी से आकाश तक फैली हुई है। जब सहज समाधि लगने लगी तभी यह बेली और अधिक पल्लवित हुई। सद्गुरु ने मनरूपी हाथी को इस लता के पास भेज दिया; अर्थात् मन प्रभु गुणगान करने लगा। पाँचों इन्द्रियाँ विषय-रस से हटकर इधर ही लग गईं, इसी को सिंचित करने लगीं। माया-बेली को काटने से इस राम-गुण-लता पर नवीन पल्लव प्रस्फुटित होते हैं और माया-बेली का अभिसिंचन करने से यह कुम्हला जाती है। कबीर कहते हैं कि कोई बिरला योगी ही सहज साधना के मर्म को समझ पाता है।

विशेष – विभावना, रूपक, विरोधाभास अलकार।

रांम राइ अविगत बिगत न जानं,
कहि किम तोहि रूप बषानं ॥टेक॥

प्रथमे गगन कि पुहमि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पवन कि पाँणीं।
प्रथमे चंद कि सूर प्रथमे प्रभू, प्रथमे कौंन बिनाँणीं॥
प्रथमे प्राण कि प्यंड प्रथमे प्रभू, प्रथमे रकत कि रेतं।
प्रथमे पुरिष कि नारि प्रथमे प्रभू, प्रथमे बीज कि खेतं॥
प्रथमे दिवस कि रैंणि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पाप कि पुन्यं।
कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन, तहाँ कुछ आहि कि सुन्यं॥१६४॥

शब्दार्थ—पुहुमि=पृथ्वी। बिनांणीं=रचना की। प्यंड=शरीर। रकत=रक्त, खून। सुन्यं=शून्य।

कबीर कहते हैं कि हे भाई! राजा राम, प्रभु का स्वरूप कथन करना अत्यंत कठिन है, मैं उनके स्वरूप का वर्णन किस भाँति कर सकता हूँ। पृथ्वी और आकाश पहले हुए अथवा प्रभु? वायु, पवन, चन्द्र, सूर्य और प्रभु इनमें पहले कौन जन्मा? पहले प्राण हुए कि शरीर, पहले रक्त हुआ कि रज, पहले नारी हुई अथवा पुरुष, पहले बीज का अस्तित्व है कि क्षेत्र का? पहले रात्रि हुई थी या दिवस? पहले पाप-पुण्य में किसकी धारणा उद्‌भूत हुई?—जिस भाँति ये सब प्रश्न बड़े विचित्र और निरुत्तर कर देने वाले हैं, उसी प्रकार प्रभु के स्वरूप, आकार-प्रकार के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

क़बीर कहते हैं कि जहाँ अलख निरंजन ज्योतिस्वरूप परमात्मा का निवास है वहां शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

अवधू सो जोगी गुर मेरा, जो या पद का कर नबेरा॥टेक॥
तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूला फल लागा।
साखा पत्र कछू नहीं वाकै, अष्ट गगन मुख बागा।
पैर बिन निरति करां बिन बाजै, जिभ्या हींणां गावै।
गावणहारे कै रूप न रेखा, सतगुर होइ लखावै॥
पंषी का षोज मींन का मारग, कहै कबीर बिचारी।
अपरंपार पार परसोतम, वा मूरति की बलिहारी॥१६५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि हे अवधूत! जो योगी इस पद का अर्थ स्पष्ट कर दे वही मेरा गुरु है। एक पेड़ बिना तने के खड़ा है एवं बिना पल्लवित हुए ही उस पर फल लग रहे हैं। उस पर शाखा एवं पत्र भी कुछ नहीं हैं, वह केवल अष्ट चक्रों के भेदनोपरान्त प्राप्त होता है। वह ब्रह्म बिना पैर एवं साज के नृत्य कर रहा है और रचना बिना गान—अनहद नाद करता है। उस गायक का कोई स्वरूप और आकार-प्रकार नहीं, केवल सद्‌गुरु ही उसे दर्शा सकते हैं। कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि ब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग पक्षी की गति के समान एवं मीन के कार्य जैसा है। वह अपार, अनादि पूर्ण पुरुषोत्तम है, मैं उस प्रभु की बलिहारी जाता हूँ।

विशेष—विभावना अलंकार।

अब मैं जाँणिबौ रे केवल राइ की कहाँणी ।
मंझा जोति रांम प्रकासै, गुर गमि बाँणी ।।टेक।।
तरवर एक अनत मूरति, सुरता लेहु पिछांणीं ।
साखा पेड़ फूल फल नाँहीं, ताकी अंमृत बाँणीं ।।
पुहप बास भवरा एक राता, बारा ले उर धरिया ।
सोलह मंझै पवन झकोरै, आकासे फल फलिया ।।
सहज समाधि बिरष यहु सींच्या, धरती जल हर सोष्या ।
कहै कबीर तास मैं चेला, जिनि यहु तरवर पेष्या ।।१६६।।

शब्दार्थ—मंझा जोति = प्रकाश के अन्दर । राता = अनुरक्त । विरष = वृक्ष ।

कबीर कहते हैं कि मैं उस प्रभु का रहस्य जान गया हूँ । गुरु उपदेश से यह ज्ञात हुआ कि अनन्त प्रकाश के मध्य उस ज्योति स्वरूप ब्रह्म का निवास है । शून्य तरु पर एक अनन्त सौन्दर्यमयी मूर्ति—ब्रह्म—है । 'सुरत' द्वारा, सहज समाधि द्वारा उसके दर्शन किये जा सकते हैं । उस तरु की शाखा, पत्र, तना इत्यादि सामान्य वृक्ष की भाँति नहीं है, अपितु वहां तो केवल मात्र अमृत का ही स्रवण होता है । उस तरुवर के फल पर मधु-लोभी मधुकर—साधक—पहुँचता है और उस अमृत को अपने हृदय में संचित कर लेता है । इस प्रकार सोलह पवनों से वह स्पर्श करता है और उसका फल शून्य में ही लगा हुआ है । सहज समाधि के द्वारा इस वृक्ष का अभिसिंचन किया जाता है, उसे सांसारिकता का आभास तक नहीं होता । कबीर कहते हैं कि मैं उस साधक भक्त का शिष्य हूँ, जिसने ब्रह्मस्वरूप इस अद्‌भुत वृक्ष को देख लिया है ।

राजा रांम कवन रंगैं, जैसैं परिमल पुहप संगैं ।।टेक।।
पंचतत ले कीन्ह बंधान, चौरासी लष जीव समांन ।
बेगर बेगर राखि ले भाव, तामैं कीन्ह आपकौ ठाँव ।।
जैसै पावक भंजन का बसेष, घट उनमान कीया प्रवेस ।
कह्या चाहूँ कछू कह्या न जाइ, जल जीव ह्वै जल नहीं बिगराइ ।।
सकल आतमां बयतै जे, छल बल कौ सब चीन्हि बसे ।
चीनियत चीनियत ता चीन्हिलै से, तिहि चीन्हिअत धूंका करके ।।
आपा पर सब एक समांन, तब हम पाया पदं निरबण ।
कहै कबीर मन्य भया संतोष, मिले भगवंत गया दुख दोष ।।१६७।।

शब्दार्थ—परिमल पुहप संगैं = फूल के साथ सुगंधि । लष = लाख ।

कबीर कहते हैं कि प्रभु उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक और सबके साथ हैं जैसे कि पुष्प के साथ सुगन्ध ! हे मनुष्य उसके समान पंच तत्वों से इस सृष्टि का निर्माण किया है और वह चौरासी लाख जीव-योनियों पर सम दृष्टि रखता है । तू प्रभु को हृदय में निष्ठापूर्वक बसा ले जिससे तू संसार में कुछ समय अपने अस्तित्व की रक्षा कर सके । जिस भाँति अग्नि किसी वस्तु में शीघ्र प्रवेश करती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी ने ऊर्ध्वगति प्राप्त कर सूक्ष्म में प्रवेश किया है । अब मेरी गति ऐसी हो

गई है कि कुछ कहना तो चाहता हूँ, किन्तु कुछ कह नहीं सकता, यह आत्मा उसी अंशी का अंश है, किन्तु अपनी कलुषता से उस परमात्मा का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। जितनी भी शुभकामनाएँ हैं वे सब प्रकार के माया-भ्रम को दूर करके ही मुक्त हुई हैं। शनैः शनैः ऐसा अभ्यास कर जो प्रभु को अवसर पाकड़ (घूंका) पहचान ले। जब मैंने 'अहं पर' की भावना का परित्याग कर दिया तभी यह मुक्ति-पद प्राप्त हुआ है। कबीर वर्णन करते हैं कि प्रभु के मिलने से मेरे दुःख तथा क्लेश नष्ट हो गये और मन को परितोष प्राप्त हुआ।

विशेष—सहोक्ति अलंकार।

अंतर गति अनि अनि बांणीं।
गगन गुपत मधुकर मधु पीवत, सुगति सेस सिव जांणीं ॥टेक॥
त्रिगुन त्रिबिधि तलपत तिमरातन, तंती तंत मिलांनीं।
भागे भरम भोइन भये भारी, बिधि बिरंचि सुधि जांणीं॥
बरन पवन अबरन बिधि पावक, अनल अमर मरैं पांणीं।
रबि ससि सुभग रहे भरि सब घटि, सबद सुंनि थितिमांहीं॥
संकट सकति सकल सुख खोये, उदधि मथित सब हारे।
कहै कबीर अगम पुर पटण प्रगटि पुरातन जारे ॥१६८॥

कबीर कहते हैं कि हृदय में प्रभु का वास है। शून्य लोक में, ब्रह्मरन्ध्र में, मधुकर—आत्मा—अमृत रूपी जिस मधु का पान कर रही है उसके मधुर रस को शेषनाग व शिव ही जान सकते हैं। यह आत्मा त्रिगुणात्मक विविध-युक्त संसार के माया-मोह में उलझ रही थी किन्तु इस अमृत पान से तत्व—आत्मा—अंश परम तत्व, परमात्मा, अंशी से एकाकार हो जाती है, जिसके द्वारा संसार भ्रम का महा जंजाल दूर हो गया—इस सुख का अनुभव ब्रह्मा आदि ही जान सकते हैं। इस स्थिति में पहुँचने पर क्षिति, जल, पावक, गगन, वायु आदि तत्व परम तत्व में लीन हो जाते हैं—शरीर का महत्व नहीं रहता। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि सब अनहद नाद सुनकर पूर्ण रूपेण स्थित हो गये, साधक स्थितप्रज्ञ स्थिति में आ गया। इस संसार का वारि—बिलोने में ही मनुष्य ने अपने समस्त सुखों को नष्ट कर डाला है। कबीर कहते हैं कि अगम्य प्रभु के लोक की प्राप्ति पुरातन पापों का प्रक्षालन करने से ही होती है।

विशेष—१. त्रिगुण—सत, रज, तम।
२. त्रिविधि—वेद विधि, लोक बिधि, कुल विधि।
३. अनुप्रास, विरोधाभास अलंकार।

लाधा है कछू लाधा है, ताकी पारिख को न लहै।
अबरन एक अकल अबिनासी, घटि घटि आप रहै ॥टेक॥
तोल न मोल माप कछु नाहीं, गिणंती ग्यांन न होई।
नाँ सो भारी नाँ सो हलका, ताकी पारिष लखै न कोई॥

जामैं हम सोई हम हीं मैं, नीर मिलैं जल एक हूवा।
यौं जाणैं तौ कोई न मरिहै, बिन जांणैं थैं बहुत मूवा।।
दास कबीर प्रेम रस पाया, पीवणहार न पाऊं।
बिघनां वचन पिछाणत नांहीं, कहु क्या काढ़ि दिखाऊं।।१६९।।

शब्दार्थ—हलका=हल्का। पारिष=परख, पहचान।

वह अरूप अविनाशी ब्रह्म घट-घट व्यापी है, यह जानते हुए भी कोई उसके विषय में कुछ भी जान नहीं सका है। न उसका कोई भार अथवा माप है, न उसे अंकों की गणना द्वारा जाना जा सकता है। न वह भारी ही है और न हल्का ही, उसे कोई भी पहचान नहीं सकता। हम उसके अन्दर समाहित हैं और वह हम सबके हृदय में रम रहा है, जिस प्रकार जल के दो प्रकार मिलकर एकमेक हो जाते हैं, उसी भाँति उस अंशी से अंश मिलाकर तद्रूप हो जाता है। यदि मनुष्य उसको जान लें तो फिर कोई न मरे और बिना उसे जाने तो समस्त संसार मृत्यु को प्राप्त हो ही रहा है। कबीर कहते हैं कि मैंने उस प्रभु के प्रेम रस को प्राप्त कर लिया है किन्तु अब मुझे अन्य कोई उसका पीने वाला नहीं मिलता। ब्रह्मा तक तो मेरे शब्दों का अर्थ नहीं समझ पाता है फिर भला प्रभु मिलन से सम्बन्धित आनन्द को अभिव्यक्ति कैसे दूँ? (गुंगे का गुड़ ही जो ठहरा)।

हरि हिरदै रे अनत कत चाहौ,
भूले भरम दुनीं कत बाहौं ।।टेक।।
जग परबोधि होत नर खाली, करते उदर उपाया।
आतम रांम न चीन्हैं संतो, क्यूं रमि लै रांम राया।।
लागैं प्यास नीर सो पीवैं, बिन लागैं नहीं पीवैं।
खोजैं तत मिलै अविनासी, बिन खोजैं नहीं जीवैं।।
कहै कबीर कठिन यह करणीं, जैसी षंडे धारा।
उलटीं चाल मिलै परब्रह्म कौं, सो सतगुरू हमारा।।१७०।।

शब्दार्थ—अनत=अन्यत्र। परबोधि=प्रबोध। षंडे धारा=तलवार की धार।

कबीर कहते हैं कि वह प्रभु तो प्रत्येक हृदय में स्थित है किन्तु फिर भी जगत् भ्रम में भटक कर उसे अन्यत्र खोजता है। इस मूर्ख, अज्ञानग्रस्त संसार को समझाने से तो बुद्धि खाली होती है, यह तो उदरपूर्ति के ही साधनों में भटका हुआ है। ये घटवासी प्रभु को भी नहीं पहचानते, इसीलिए सृष्टि के कण कण में व्याप्त प्रभु के दर्शन इन्हें नहीं हो सकते। जिस प्रकार तृषित को ही खोजने पर जल की प्राप्ति होती है, बिना खोज (साधन) के नहीं उसी भाँति जो प्रभु को साधन द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं उन्हें ही उसकी प्राप्ति होती है। कबीरदास कहते हैं कि यह साधना मार्ग इतना ही कठिन है जितना तलवार की धार पर गमन करना। जो अपनी कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्वगामी कर साधना द्वारा प्रभु को प्राप्त करता है, वह

योगी हमारे लिए गुरुवत् पूज्य है।

विशेष—उपमा, विरोधाभास अलंकार।

रे मन बैठि किते जिनि जासी, हिरदै सरोवर है अबिनासी ॥टेक॥
काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी।
काया मधे कवलापति, काया मधे बैकुंठवासी॥
उलटि पवन षटचक्र निवासी, तीरथराज गंग तट बासी॥
गगन मंडल रवि ससि दोइ तारा, उलटी कूंची लागि किवारा।
कहै कबीर भई उजियारा, पंच मारि एक रह्यौ निनारा ॥१७१॥

शब्दार्थ—कवलापति=कमलापति, विष्णु। पंचमारि=पाँचों इन्द्रियों को मारकर, वश में करके।

कबीर कहते हैं कि हे मन! तू व्यर्थ इधर-उधर क्यों भटक रहा है? वह अविनाशी प्रभु तो हृदय सरोवर में ही विद्यमान है अन्यत्र जाकर तीर्थ-पूजा की क्या आवश्यकता है, इस शरीर में ही करोड़ों काशी आदि तीर्थ हैं। इस शरीर में ही लक्ष्मी पति वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु विद्यमान हैं। इसलिए तू प्राणायाम साधना से कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगामी कर षट्चक्रों का भेदन करता हुआ तीर्थराज प्रयाग (त्रिकुटी) एवं गंगा (ब्रह्मरंध्र) तट का वासी हो। उन शून्यमंडल में सूर्य, चंद्र तारे का प्रकाश—अनन्त ज्योतिस्वरूप परमात्मा—का वास है। उसके किवाड़ लगे हैं जिसे कुण्डलिनी को उल्टी कर खोलना है। कबीर कहते हैं कि पाँचों इन्द्रियों को वहीं केन्द्रस्थित कर देने से ज्ञान-स्वरूप परमात्मा का दर्शन प्राप्त होता है।

रांम बिन जन्म मरन भयौ भारी।
साधिक सिध सूर अरु सुरपति, भ्रमत गये हारी ॥टेक॥
ब्यंद भाव भ्रिग तत जंत्रक, सकल सुख सुखकारी।
श्रबत सुनि रवि ससि सिव सिव, पलक तुरिह पल नारी॥
अंतर गगन होत अंतर धुनि, बिन सासनि है सोई।
घोरत सबद समंगल सब घटि, ब्यंदत ब्यंदे कोई॥
पांणीं पवन अवनि नभ पावक, तिहि संगि सदा बसेरा।
कहै कबीर मन मन करि बेध्या, बहुरि न कीया फेरा ॥१७२॥

शब्दार्थ—साधिक=साधक। सिध=सिद्धि। सुरपति=इन्द्र। बिनसासनि=विना सांसों के। घटि=हृदय में।

साधक, सिद्ध, शूरवीर एवं देवराज इन्द्र सब इस संसार में भटक-भटक कर हार गये किंतु बिना प्रभु के तो वे जन्म-मरण के बन्धन में ही बंने रहते हैं। प्रभु-प्रेम एक ऐसा मंत्र है जो समस्त प्राणियों के लिए सुखदायी है। शिव, सूर्य, चन्द्र आदि सब जानते हैं कि वह प्रभु कभी पल में स्त्री तो कभी पल में पुरुष रूप में परिवर्तित हो जाता है। शून्य मण्डल में उसके रहते हुए एक मंगल ध्वनि होती है एवं वह प्रभु बिना सांस प्राण वायु के भी जीवित है। यह अनहद शब्द प्रत्येक हृदय में

हो रहा है किंतु बिरले ही इसको सुनकर प्रभुवन्दना करते हैं। उस ईश्वर के सम्पर्क में क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर— सब सर्वदा साथ रहते हैं। कबीर कहते हैं कि मन को मैंने इतनी दृढ़ता से नियन्त्रित किया है कि यह पुनः विषय-वासनाओं में संलिप्त नहीं होगा।

विशेष—अनुप्रास, विभावना अलंकार।

नर देही बहुरि न पाईये, ताथैं हरषि हरषि गुंण गाईये ।।टेक।।
जे मन नहीं तजै बिकारा, तौ, क्यूं तिरिये भौ पारा।
जब मन छाड़ै कुटिलाई, तब आइ मिलै राम राई ।।
ज्यूं जींमण त्यूं मरणां, पछितावा कछू न करणा।
जांणि मरै जे कोई, तौ बहुरि न मरणां होई ।।
गुर वचनां मंझि समावै, तब रांम नांम ल्यौ लावै।
जब रांम नांम ल्यौ लागा, तब भ्रम गया भौ भागा ।।
ससिहर सूर मिलावा, तन अनहद बेन बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै, तब सांई संगि बिराजै ।।
होइ सन्त जनन के संगी, मन राचि रह्यौ हरि रंगी।
धरौ चरन कवल बिसवासा, ज्यूं होइ निरभै पर बासा ।।
यहु काचा खेल न होई, जन षरतर खेलै कोई।
जब षरतर खेल मचावा, तब गगन मंडल मठ छावा ।।
चित चंचल निहचल कीजै, तब रांम रसांइन पीजै।
जब रांम रसांइन पीया तब काल मिट्या जन जीया ।।
यूं दास कबीर गांवै, ताथैं मन कौं मन समझावै ।।
मन हीं मन समझाया, तब सतगुर मिलि सचु माया ।।१७३।।

शब्दार्थ—बहुरि=पुनः। ल्यौ=प्रेम। राचिरसो=रंग रहा है। प्रेम कर रहा है। निहचल=निश्चल। सचु सुख।

हे मनुष्य! तू पुनः इस मानव शरीर को प्राप्त नहीं कर पायेगा, इसलिए उल्लास और प्रसन्नता-सहित प्रभु का गुणगान कर; क्योंकि प्रभु-भक्ति इसी जन्म में सम्भव है। जो यह मन विषय-वासनाओं को नहीं त्यागेगा तो यह संसार-सागर से किस भांति पार होगा। जब मन कुटिलता छोड़ निर्मल हो जाएगा तो भगवान् स्वयं आकर तुझसे मिलेंगे। जो मनुष्य जीवन धारण किए हुए है, वह मरेगा अवश्य ही, फिर इस भांति पछताने से कुछ नहीं होगा कि काश हम प्रभु-भक्ति के लिए ही मरे होते। यदि कोई जीते जी मर जाय, जीवनमुक्त स्थिति को प्राप्त कर ले तो फिर उसे बार-बार जन्म-मृत्यु के बंधन में दंधना न पड़े। जो साधक, भक्त, गुरु उपदेश में अपना मन लगा देगा वही प्रभु नाम से अपना ध्यान लगा सकता है। प्रभु से प्रेम होने पर इस संसार का भ्रम विदूरित हो जाता है। यदि सूर्य-चंद्र रूप इड़ा-पिंगला मिल जांय (कुण्डलिनी उस मार्ग से शून्य भेदन करे) तो अनहद नाद की वेणु मुखरित हो

जाती है। जब यह अनहद शब्द बजता है तभी भक्त को ज्योतिरूप भगवान् के दर्शन होते हैं। अब यह मन प्रभु के रंग में रंग साधु पुरुषों की संगति में रहता है। मैं अब प्रभु के चरण कमलों का विश्वासी हो गया हूं इससे तो वहां (चरणों में) निर्भय पद की प्राप्ति होती है। यह प्रभु भक्ति कोई कच्चा खेल नहीं है, इसे कोई धैर्यवान् ही खेल सकता है। जब साधना के रूप में यह कठिन खेल प्राप्त हो जाता है तो भक्त शून्यमण्डल का वासी बन जाता है। मन को पूर्णरूपेण स्थिर कर प्रभु-भक्ति का मधुर रस पान करना चाहिए जिसके पान करते ही काल—मृत्यु—का भय समाप्त हो जाता है इस प्रकार भक्त कबीर प्रभु-भक्ति का निरूपण करते हैं और मन ही मन में मन को प्रबोध देते हैं जब मन स्वयं ही मन को समझाने लगता है तभी सच्चे गुरु की प्राप्ति होती हैं जिससे प्रभु-दर्शन होता है।

अवधू अगनि जरै कै काठ।
पूछौं पंडित जोग संयासी, सतगुरु चीन्हैं बाट ॥टेक॥
अगनि पवन मैं पवन कवन मैं, सबद गगन के पवनां।
निराकार प्रभु आदि निरंजन, कत रवंते भवनां॥
उतपति जोति कवन अंधियारा, घन बादल का बरिषा।
प्रगट्यौ बीज धरनि अति अधिकै, पारब्रह्म नहीं देखा॥
मरना मरै न मरि सकै, मरदां दूरि न नेरा।
द्वादस द्वादस सनमुख देखैं, आपै आप अकेला॥
जे बांध्या ते छुछंद मुकता, बांधनहार बांध्या।
बांध्या मुकता मुकता बांध्या तिहि पारब्रह्म हरि लांधा॥
जे जाता ते कौंण पठाता, रहता ते किन राख्या।
अंमृत समांनां, विष मैं जांनां, विष मैं अमृत चाख्या॥
कहै कबीर बिचार बिचारी, तिल मैं मेर समांनां।
अनेक जनक का गुर गुर करता, सतगुर तब भेटांनां ॥१७४॥

शब्दार्थ—नेरा=समीप। द्वादह=बारस आदित्य; अर्थात् परम प्रकाश। बांध्या=बन्दी होना। मेर=मेरु, सुमेरु पर्वत।

हे अवधूत! यह माया में वासना अग्नि-लग रही है अथवा जीव में जो प्रभु का अंश है? यह बात मैं योगी, संन्यासी, ज्ञानी सभी से पूछता हूं, किन्तु इसके ज्ञाता तो केवल सद्गुरु ही हैं। अग्नि तो प्राणवायु—वायु—में समा जाती है, किन्तु यह पवन किस में समाता है? यह वायु भी अनहद नाद के महाशब्द में लीन हो जाती है। वह प्रभु तो निराकार, निरंजन एवं अनादि है वह किसी मन्दिर—भवन—में कब रहता है। उस ज्योतिस्वरूप परमेश्वर के प्रकट होते ही अज्ञानांधकार शेष नहीं रह जाता एवं उस अनुपम बादल से अमृत वर्षा होने लगती है। इस प्रकार से प्रभु का दर्शन होता है, किन्तु यह संसार फिर भी अपने तापों से दुखित है, प्रभु के दर्शन का

प्रयास नहीं करता। प्रभु को प्राप्त करने में मरना पड़ता है, अर्थात् साधना-स्थली कठिन है, यह मरण बड़ा कठिन है, सरल नहीं। मरकर जीवन्मुक्त होकर प्रभु-प्राप्ति करते समय द्वादश आदित्यों का प्रकाश दृष्टिगत होता है और आत्मा वहाँ ब्रह्म के साथ अकेली रह जाती है। जो संसार में बद्ध हैं उनकी गति छछून्दर तुल्य है, सृष्टा ही ने उन्हें माया बंधन में बांध दिया है। जो बन्धन में पड़े हुए हैं वे मुक्त होने का प्रयास क्यों नहीं करते, वे पारब्रह्म परमेश्वर की आराधना नहीं करते। जो प्रभु की भक्ति के मार्ग में प्रवृत्त होना चाहता है, उसे कौन भेजता है? वह तो स्वयं वहाँ चला जाता है और जो उस मार्ग को ग्रहण नहीं करता, भला उसे किसने रोका है? इस कठिन प्रभु-भक्ति के द्वारा मैंने अमृत का पान किया है इस विष में ही कष्ट में ही अमृत की प्राप्ति होती है। कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि भक्ति अपनाने से पलभर में ही मेरा अहंत्व समाप्त हो गया और अनेक जन्म के पुण्य-फलों द्वारा मुझे उस सद्गुरु की प्राप्ति हुई, जिसने मुझे प्रभु से मिला दिया।

अवधू ऐसा ग्यांन बिचारं।
भौरे चढे सु अधवर डूबे, निराधार भये पारं ॥टेक॥
ऊघट चले सु नगरि पहूँते, बाट चले ते लूटे।
एक जेवड़ी सब लपटांनें, के बांधे के छूटें॥
मंदिर पैसि चहूँ दिस भीगे, बाहरि रहे ते सूका।
सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूखा॥
बिन नैंनन के सब जग देखै, लोचन अछते अंधा।
कहैं कबीर कछु समझि परी है, यहु जग देख्याधंधा ॥१७५॥

शब्दार्थ—ऊघट=ऊबड़-खाबड़। पैसि=प्रवेश करके। धंधा=धोखा।

हे अवधूत! तू ऐसा अनुपम ज्ञान का विचार कर जिसमें आश्रय ढूंढने पर मनुष्य डूब जाता है। और संसार से अपने सम्बन्ध विच्छेद कर देने पर वह इस सागर से पार हो जाता है। जो उल्टी चाल, कुण्डलिनी की ऊर्ध्वगति, से चले वे प्रभु के उस प्रदेश (शून्य) में पहुंच गये किन्तु जो मार्ग आदि में सीधे ही अन्य सांसारिकों की भाँति चले वे तो लुट कर सर्वस्व गँवा कर बैठ गये। एक माया रज्जु से समस्त संसार बंधा हुआ है वहां शून्य मन्दिर में जो कोई भी पहुंचा वह उस अनुपम अमृत रस से भीग कर अमर हो गया और जो बाहर रह गया वह सूखा ही रहा, उसे वह अद्भुत अमृत प्राप्त नहीं हुआ जिन्होंने अपने मन को मार दिया है वे सर्वदा सुखी रहे जिन्होंने उसे स्वतन्त्र छोड़ दिया वह तो दुखी हैं ही। वह बिना नेत्रों के ही समस्त संसार की गतिविधि को देख लेता है और इस प्रकार नेत्र वाले अन्धे से अच्छा है। कबीर कहते हैं कि अन्ततः यह समझ में आया कि संसार धोखे से परिपूर्ण है।

विशेष—१, विरोधाभास, विभावना आदि अलंकार।

२. संसार को इसी प्रकार सब सन्तों, समस्त विचारकों ने एवं सामान्य

प्राणी तक ने धोखा प्रपंच, छल, माया ही माना है। पं० प्रतापनारायण मिश्र अपने "धोखा" निबन्ध में कितने सुन्दर ढंग से इसी बात को प्रस्तुत करते हैं—

'सच हे ! भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान् के बनाये हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जब तक भ्रम है, तभी तक संसार है, वरंच संसार का स्वामी तभी तक है फिर कुछ भी नहीं।"

जग धंधा रे जग धंधा, सब लोगन जांणै अंधा।
लोभ मोह जेवड़ी लपटानीं, बिनहीं गांठि गह्यो फंदा ॥टेक॥
ऊंचै टीलै मछ बसत है, ससा बसै जल मांहीं।
परबत ऊपरि लोक डूबि मूवा, नीर मूवा यूं कांहीं ॥
जलै नीर तिण षड सब उबरै, बैसंदर ले सींचै।
उपरि मूल फूल तिन भीतरि, जिन जान्या तिन नीकै ॥
कहै कबीर जांनहीं जांनैं, अन-जांनत दुख भारी।
हारी बाट बटाऊ जीत्या, जांनत की बलिहारी ॥१७६॥

शब्दार्थ—मछ = मत्स्य। ससा = खरगोश। बैसन्दर = अग्नि।

"यह संसार प्रपंच है—इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं" इस तथ्य से सब अवगत हैं। यहाँ जीव को लोभ, मोह की रज्जु बिना गाँठ डाले फन्दा बना कर फंसाये रहती है। ऊँचे टीले, शून्य-शिखर पर मछली—ब्रह्म—बसता है और खरगोश, कुण्डलिनी, नीचे मूलाधार चक्र पर स्थित है। इस शून्य पर्वत के ऊपर अर्थात् इसे पाने के प्रयत्न में बहुत से नष्ट हो गये किन्तु वहाँ से स्रवित अमृत की प्राप्ति किसी को नहीं होती। उस जल को जिसने भी प्राप्त कर लिया वे सब मुक्त हो गये। उस वृक्ष की जड़ ऊपर तथा फल नीचे हैं, जिन्होंने उसे जान लिया वे ही श्रेष्ठ हैं। कबीर कहते हैं कि जानने का प्रयत्न करने से ही उसे जाना जा सकता है, बिना जाने तो उससें महान् वेदना होती है, संसार ताप विदूरित नहीं होते। साधना मार्ग में एक दिन वह अवश्य आ जाता है जब लक्ष्य—ब्रह्म - सम्मुख आ जाता है, कबीर उस लक्ष्य प्राप्त भक्त की बलिहारी जाता है।

विशेष —विभावना रूपकातिशयोक्ति, रूपक आदि अलंकार।

अवधू ब्रह्म मत घरिं जाइ।
कालिह जु तेरी बंसरिया छीनीं, कहा चरावै गाइ ॥टेक॥
तालि चुगैं बर तीतर लउवा, परबति चरैं सौरा मछा।
बन की हिरनीं कूवै बियांनी, ससा फिरै अकासा ॥
ऊंट मारि मैं चारै लावा, हस्ती तरंडवा देई।
वंबूर की डरियां बनसी लेहूं, सीयरा भूंकि भूंकि बाई ॥
आंब कै बौरै चरहल करहल, निबिया छोलिछोलि खाई।
मोरे प्राग विवास दरी बल, कहै कबीर समझाई ॥१७७॥

हे अवधूत ! ब्रह्म का रहस्य जान पाना बड़ा कठिन है, क्योंकि कल जिसने

तेरी बाँसुरी चुराई, उस चोर से गायों के चराने की आशा कैसे की जाये ? अथवा कल जिसने स्वयं तेरी बाँसुरी कृष्णरूप में चुराई थी उससे इन्द्रियों के वश में रखने की आशा कैसे की जाये ? बन रूपी संसार जीवरूपी तीतर को नष्ट कर रहा है और सुसरी मछली माया पर्वत सदृश संसार को खा रही है। मृग-तुल्य वन-वन भटकने वाला मन हृदयकूप में केन्द्रित हो गया और खरगोश रूप कुण्डलिनी आकाश—शून्यमण्डल—में रम रही है। मैंने अहं के ऊंचे ऊंट को समाप्त कर दिया है। माया रूपी हस्तिनी स्वयं अब मेरी चेरी है। शुष्क साधना रूप बबूल वृक्ष पर मधुर फल लग रहे हैं जिन्हें कुण्डलिनी के द्वारा साधक प्राप्त कर रहा है। आम की डाली (भक्ति) पर बैठकर मनभावन स्वादों से युक्त फल प्राप्त किये जा सकते हैं। कबीर कहते हैं कि मुझे तो दाख आदि सब कुछ प्राप्त हो गये हैं।

विशेष—रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास, विभावना आदि अलंकार।

कहां करौं कैसें तिरौ, भौ जल अति भारी।
तुम्ह सरणा-गति केसवा, राखि राखि मुरारी ॥टेक॥
घर तजि बन खंडि जाइये खानि खइये कंदा।
बिषै बिकार न छूटई, ऐसा मन गंदा।
बिष बिषिया की बासनां, तजौं तजी नहीं जाई।
अनेक जतंन करि सुरझिहौं, फुनि फुनि उरझाई॥
जीव अछित जोबन गया, कछू कीया न नीका।
यहु हीरा निरमोलिका, कौडी पर बीका॥
कहै कबीर सुनि केसवा, तूं सकल बियापी।
तुम्ह समांनि दाता नहीं, हंम से नहीं पापी ॥१७८॥

शब्दार्थ—भौजल=संसार रूपी जल। फुनि-फुनि=पुनः-पुनः, बार-बार। अछित=अक्षत, सुन्दर। नीका=सत्कर्म, भलाई का काम। निरमोलिका=अमूल्य। बियापी=व्याप्त।

कबीर अपने प्रभु की वन्दना करते कहते हैं कि मैं हे प्रभु ! इस गम्भीर संसार सागर-जल से कैसे पार पाऊँ ? केवल आप ही हमारे एकमात्र आश्रय हैं, अतः हे नाथ रक्षा करो। यह मन तो इतना पाप-पूर्ण है कि घर का परित्याग कर संन्यास लेने पर वन में जाकर तपस्या करते हुए, खाने में कंद आदि पर ही जीवन निर्भर रखते हुए भी इसके विषय-विकार नहीं छूट सकते। यह विषय-वासना का विष कितना ही त्यागने का प्रयत्न करो किन्तु छोड़ते नहीं बनता। इस भव-जाल से मुक्त होने का कितना ही प्रयत्न करो किन्तु इसमें अधिकाधिक उलझते जाते हैं। हे जीवात्मा ! तेरा यह सुन्दर यौवन काल व्यर्थ ही समाप्त हो गया, उसमें तूने कोई सत्कर्म ही नहीं किया। यह तेरा हीरे के समान अमूल्य मानव-जीवन कौड़ी के मूल्य में चला गया। कबीर कहते हैं कि हे ईश्वर ! आप सर्वत्र व्यापी हैं आपके समान

उदार, औघड़ दानी कोई नहीं है और मुझ जैसा पापी कोई नहीं है, अतः मेरा उद्धार करो।

विशेष—यह पद बड़ा ही सरस, भक्त की दैन्यपूर्ण मधुर भावनाओं से परिपूर्ण है। इसमें अपना लघुत्व और इष्ट का महत्व तो तुलसी के ही समान है।

बाबा करहु कृपा जन मारगि लावो, ज्यूं भव बंधन षूटै।
जुरा मरन दुख फेरि करंन सुख, जीव जनम थैं छूटै ॥टेक॥
सतगुर चरण लागि यौं बिनऊं, जीवन कहां थैं पाई।
जा कारनि हम उपजैं बिनसैं, क्यूं न कहौ समझाई॥
आसा-पास षंड नहीं पाड़ै, यौं मन सुंनि न लूटै।
आपा पर आनंद न बूझै, बिन अनभै क्यूं छूटै॥
कह्यां न उपजैं उपज्यां नहीं जांणैं, भाव अभाव विहूनां।
उदै अस्त जहाँ मति बुधि नाँहीं, सहजि रांम ल्यौ लीनां॥
ज्यूं बिंबहि प्रतिबिंब समांनां, उदकि कुंभ बिगरांनां।
कहै कबीर जांनि भ्रम भागा, जीवहि जीव समांनां ॥१७९॥

शब्दार्थ—षूटै=नष्ट होना। जुए=जरावस्था। उपजैं=जन्म लिया। बिनसैं=नष्ट हुए। अनभै=निडर, निर्भय। कुम्भ=घड़ा।

कबीर कहते हैं कि हे गुरुवर! कृपा करके दास को उचित पथ पर लगा दो जिससे संसार का यह असह्य बन्धन छूट जाय एवं जीव जन्म-मरण से छूट, आवागमन से मुक्त हो जाय। सद्गुरु के चरण छूकर मैं यह प्रार्थना करता हूं कि कृपा कर इस जन्म का प्रयोजन बतायें। जिस (भक्ति) के लिए हम जन्मे हैं, उस उद्देश्य को हमें समझा कर कहें। आशा, तृष्णा, जब तक पीछा नहीं छोड़ देती तब तक शून्य स्थित ज्योतिस्वरूप आनन्दमय का आनन्द प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

अहं आनन्द की प्राप्ति में बहुत बाधक है। बिना सांसारिक भय भागे भला मुक्ति सम्भव कहाँ? जिस बात को सद्गुरु कहते हैं उसका तू अनुगमन नहीं करता एवं अभावों के संसार में ग्रस्त रहता है जहाँ वासनाओं—माया आदि का न उदय है और न अस्त—वहीं प्रभु के पास कबीर ने अपनी वृत्ति रमा दी है जिस भाँति बिम्ब-प्रतिबिम्ब एक ही हो जाते हैं, जल और कुम्भ के भीतर का जल मायारूप कुम्भ के फूटते ही एक हो जाते हैं उसी प्रकार भ्रम के नष्ट होते ही जीव परमात्मा में लीन हो जाता है।

विशेष—दृष्टांत अलंकार।

संतौ धोखा कासूं कहिये।
गुंण मैं निरगुंण निरगुंण मैं गुंण है, बाट छाड़ि क्यूं बहिये ॥टेक॥
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई।
नाति सरूप बरण नहीं जाकै, घटि घटि रह्यौ समाई॥

प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरू अंत न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई ॥१८०॥

शब्दार्थ—बहिये=पथ-भ्रष्ट होना।

कबीर ईश्वर के सम्बन्ध में कहते हैं यह रहस्य किससे कहा जाय वह सगुण होते हुए भी निर्गुण है और निर्गुण होते हुए भी सगुण है। उचित पथ को छोड़ इस भ्रम में कभी नहीं पड़ना चाहिए कि वह निर्गुण है अथवा सगुण। वह ब्रह्म तो अजर अमर अलख है—ऐसा सब मानते हैं किन्तु फिर भी उसके स्वरूप का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। न जिसका कोई रूप-रेखा आकार है वह सबके हृदय में रम रहा है। सब यह कहते हैं कि जो शरीर—पिंड—में है वही ब्रह्माण्ड में भी है किन्तु फिर भी उसका आदि और अन्त नहीं जाना जा सकता। पिंड—शरीर को छोड़ कर सूक्ष्म रूप शून्यवासी ब्रह्म है. कबीर के मत से वहीं सब कुछ है।

पषा पषी कै षेषणैं, सब जगत भुलांनां।
निरपष होइ हरि भजै, सो साध सयांनां ॥टेक॥
ज्यूं षर सूं षर बंधिया, यूं बंधे सब लोई।
जाकै आतम द्रिष्टि है, साचा जन सोई॥
एक एक जिनि जांणियां, तिनहीं सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौ लींन मन, ते बहुरि न आया॥
पूरे की पूरी द्रिष्टि, पूरा करि देखै।
कहै कबीर कछू समझि न परई, या कछू बात अलेखै ॥१८१॥

शब्दार्थ—पषा पषी=पक्ष-विपक्ष, तेर-मेर निज पर।

यह संसार निज पर, तेरे-मेरे के फेर में पड़ा हुआ भ्रमित है। जो निष्पक्ष—इन दोनों सीमाओं से ऊपर उठकर ईश्वर भक्ति करता है, वही सज्जन और साधु है। जिस प्रकार गधे से गधा, मूर्ख से मूर्ख बंधा हुआ एक दूसरे को चाहे जिधर ठेल देते हैं वही इस जगत् की गति हो रही है। जिस व्यक्ति को आतम-दृष्टि प्राप्त है, वही सच्चा है। जिन्होंने उस एक परमात्मा के स्वरूप को जान लिया है, उन्हें ही शान्ति की प्राप्ति होती है। जिस मनुष्य का मन प्रभु-प्रेम में लगन सहित केन्द्रित है, वह पुनः संसार में नहीं आता, वह मुक्त हो जाता है। ऐसे पूर्ण मनुष्य की दृष्टि सर्वांग-सम्पूर्ण होती है और वह पूर्ण-पुरुष ब्रह्म को पा लेता है। कबीर इतना सब कहने के पश्चात् भी कहते हैं कि उसका रहस्य कुछ समझ में नहीं आता है।

विशेष—अर्थान्तरन्यास।

अजहूं न संक्या गई तुम्हारी, नांहि निसंकि मिले बनवारी ॥टेक॥
बहुत गरब गरबे संन्यासी, ब्रह्मचरित छूटी नहीं पासी॥
सुद्र मलेछ बसैं मन मांहीं आतमरांम सु चीन्ह्यां नांहीं।
संख्या डाइनि बसै सरीरा, ता कारणि रांम रमै कबीरा ॥१८२॥

शब्दार्थ—संक्या=संशय। बनवारी=प्रभु, भगवान। आतमरांम=हृदय में स्थित भगवान्।

हे साधक! आज भी तुम्हारा संशय नष्ट नहीं हुआ, विना निश्शंक हुए प्रभु प्राप्ति नहीं होती। संन्यासी मिथ्या दम्भ में मरे जाते हैं किन्तु न तो उन्हें प्रभु दर्शन होता है और न वे भव-बन्धन से मुक्त ही होते हैं संसार के अन्य प्राणियों को शूद्र, म्लेच्छ कहने से क्या ये सब तो दुर्भावनाओं के रूप में तुम्हारे मन में ही रहती है। इसी कारण तुम आत्मस्थित ब्रह्म को न पहचान पाये। इस शरीर में शंका रूपी डायन का वास है, जिसे निकालने के लिए कबीर अपने प्रभु की भक्ति करता है।

सब भूले हो पाषंडि रहे, तेरा बिरला जन कोई राम कहै ।।टेक।।
होइ अरोकि बूंटी घसि लावै, गुर बिन जैसें भ्रमत फिरै।
है हाजिर परतीति न आवै, सो कैसें परताप धरै।।
ज्यूं सुख त्यूं दुख द्रिढ़ मन राखै, एकादसी इकतार करै।
द्वादसी भ्रमैं लष चौरासी, गर्भ बास आव सदा मरै।।
मैं तैं तजै तजैं अपमारग, चारि बरन, उपरांति चढ़ै।
ते नहीं डूबै पार तिरि लंघै, निरगुण अगुण संग करै।
होइ मगन रांम रँगि राचै, आवागमन मिटै धापै।
तिनह उछाह सोक नहीं ब्यापै, कहै कबीर करता आपै ।।१८३।।

शब्दार्थ—मैं तैं=मेरा तेरा, अपने पराये की भावना। अपमार्ग=कुमार्ग। उछाह=उत्साह।

समस्त मानव प्रभु विस्मृत कर संसार के जंजाल में उलझे हुए हैं, कोई-कोई ही प्रभु का नाम लेता है। सद्गुरु बिना चाहे उसे जानने के कितने ही प्रयत्न किये जायं किन्तु सब व्यर्थ। वह प्रभु विद्यमान है, किन्तु इस बात का विश्वास-दर्शन किसी को नहीं है कि वह किस भाँति इतना अनुपम है। मनुष्य को सुख-दुख में समत्ववृत्ति रखते हुए मन सहित दसों इन्द्रियों को प्रभु में केन्द्रित रखना चाहिए। किन्तु वह तो शरीर द्वायश-अंगों की पूर्ति में ही भटकता रहता है जिससे बार-बार गर्भ में आ चौरासी लाख योनियों में यातना भोगनी पड़ती है। जो व्यक्ति चारों वर्णों का भेद भाव छोड़ अहं पर की भावना को विदूरित कर देते हैं वे इस संसार-सागर में डूबते नहीं हैं अपितु उस परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं। मग्न होकर प्रभु भक्ति में लगने से आवागमन चक्र से व्यक्ति विमुक्त हो जाता है। ऐसे लोगों की बुद्धि सम अवस्था को प्राप्त कर लेती हैं और वे ब्रह्म से मिल जाते हैं।

तेरा जन एक आध है कोई।
काम क्रोध अरु लोभ बिवर्जित, हरिपद चीन्है सोई ।।टेक।।
राजस तांमस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया।
चौथे पद कौं जे जन चीन्हैं, तिनहि परम पद पाया ।।

असतुति निंद्या आसा छाँड़ै, तजै मांन अभिमांनां।
लोहा कंचन समि करि देखै, ते मूरति भगवांनां॥
च्यंतै तौ माधौ च्यंतामणि, हरिपद रमैं उदासा।
त्रिस्नाँ अरु अभिमांन रहित है, कहै कबीर सो दासा॥१८३॥

शब्दार्थ—असतुति=स्तुति। निंद्या=निन्दा। च्यंतै=चिन्तन करना।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! तेरी भक्ति करने वाला भक्त तो साधक विरला ही है जो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि पंच विषयों से दूर आपके चरणों को पाने का प्रयत्न करता है।

सत, रज, तम, त्रिगुणात्मक संसार तो तेरी ही माया है किन्तु जो इन सबसे तटस्थ हो प्रभु आराधना करते हैं वे प्रभु के परम पद से साक्षात्कार कर लेते हैं। जो भक्त निज प्रशंसा, परनिन्दा, संसार तृष्णा को छोड़ मानाभिमान को त्याग देता है और लोह स्वर्ण, सुख-दुख, सबको समान मानता है वस्तुतः वह तो प्रभु के ही समान आदरणीय, पूंज्य है। यदि तू किसी वस्तु की चिन्ता करता है तो चिन्तामणि स्वरूप प्रभु का विचार कर, संसार से उदासीन हो भक्ति में लग। यह प्रभु-भक्ति का मार्ग, कबीर के विचार से तृष्णा और अभिमान रहित मनुष्य के लिए ही है।

हरि नांमैं दिन जाइ रे जाकौ,
सोई दिन लेखै लाइ रांम ताकौ॥टेक॥
हरि नांम मैं जन जागै, ताक गोब्यंद साथी आगै।
दीपक एक अभंगा, तामैं सुर नर पड़ें पतंगा॥
ऊंचा नींच सम सरिया, ताथैं जन कबीर निसतरिया॥१८५॥

शब्दार्थ—निसतरिया=पार उतरना, संसार के वन्धनों से छुटकारा पाना।

जिस व्यक्ति का समस्त दिवस प्रभु गुणगान में बीतता है वही दिवस प्रभु को प्रिय है। जिस भक्त का आधार राम नाम ही है उसकी प्रभु सहायता करते हैं। यह माया का एक प्रज्ज्वलित आकर्षणमय दीपक है, उसमें देवता और मनुष्य शलभ के समान पड़-पड़कर प्राण दे रहे हैं। जो भक्त ऊंच-नीच, सुख-दुख में समदृष्टि रखता है, उससे कबीर तर जायेगा अर्थात् वह कबीर को प्रिय है।

जब थैं आतम-तत विचारा।
तब निरवैर भया सबहिन थैं, कांम क्रोध गहि डारा॥टेक॥
व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी।
रांणा राव कवन सूं कहिये, कवन वैद को रोगी॥
इनमैं आप, जाप सबहिन मैं, आप आपसूं खेलै।
नांनां भाँति घड़े सब भांडे, रूप धरे धरि मेलै॥
सोचि विचारि सबै जग देख्या, निरगुंण कोई न बतावै।
कहै कबीर गुंणी अरु पंडित, मिलि लीला जस गावै॥१८६॥

शब्दार्थ—निरवैर=द्वेष-रहित।

जब से मैंने आत्म तत्व, प्रभु रहस्य पर विचार करना प्रारम्भ किया है, तभी से मुझे किसी से द्वेष नहीं रह गया है एवं काम, क्रोध को मैंने उठाकर पटक दिया है। पण्डित, ज्ञानी और योगी—सभी में वही एक ब्रह्म व्यापक है। राजा, राव, सामान्य पुरुष और वैद्य तथा रोगी, चिकित्सक तथा चिकित्सा कराने वाले—सब ही तो समान हैं क्योंकि इन सब में वही ब्रह्म स्थित है जो स्वयं अपनी क्रीड़ा-लीला स्वयं के आनन्द के लिये कर रहा है। संसार में यह विभिन्नता तो उसी भाँति है जिस भाँति अनेक प्रकार के घड़े, स्वरूप में भिन्न होते हुए भी एक ही मिट्टी के बने होते हैं। कबीर कहते हैं मैंने भली-भांति विचार कर देख लिया है कि लीलामय भगवान् का स्वरूप गुण-गान तो सब ज्ञानी और गुणीजन करते हैं किन्तु उस निर्गुण परब्रह्म को कोई नहीं पहचानता।

तू माया रघुनाथ की, खेलण चढ़ी अहेड़ै।
चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे, कोई न छोड्या नैड़ै ॥टेक॥
मुनियर पीर डिगंबर मारे, जतन करंता जोगी।
जंगल महि के जंगम मारे, तूं र फिरै बलिवंती ॥
बेद पढंतां ब्राह्मण मारा, सेवा करतां स्वामीं।
अरथ करतां मिसर पछाड्या, तूं र फिरै मैंमंती ॥
साषित कै तूं हरता करता, हरि भगतन कै चेरी।
दास कबीर रांम कै सरनै, ज्यूं लागी त्यूं तोरी ॥१८७॥

शब्दार्थ—रघुनाथ=प्रभु ! अहेड़ै=शिकार, आखेट। नैड़ै=पास। मुनियर=श्रेष्ठ मुनि। डिगम्बर=दिगम्बर। जतन=यत्न, साधना। बलिवती=बलशाली। मिसर=मिश्र, पंडितों की जाति विशेष। मैंमंती=मदमस्त। साषित=शाक्त।

कबीर कहते हैं कि प्रभु की माया इस संसार में आखेट को निकली है। चतुर मृग रूप भोले मनुष्यों को इसने छान-छान कर मार डाला है, कोई भी अपने पास जीवित नहीं छोड़ा। इसने मुनिवर, पीर, दिगम्बर एवं साधनारत योगी सबको भ्रष्ट किया, किसी को नहीं छोड़ा। इस पृथ्वी पर इसने जंगल के जंगल अपनी मार से साफ कर दिये। हे प्रभु-माया ! तू अत्यन्त शक्तिमती है। इसने शास्त्र-ग्रंथों, धर्म-ग्रंथों में अनुरक्त ब्राह्मण, तार्किक मिश्र, प्रभु सेवा में रत मनुष्य किसी को मुक्त नहीं किया, अब भी यह मदमस्त फिर रही है। शाक्त लोगों के यहां तो तू निस्संकोच रमी रहती है, किन्तु प्रभु-भक्त के पास चोरी-छिपे जाती है। कबीर कहते हैं कि जो प्रभु की शरण में चला जायेगा, वह माया से मुक्त हो जायेगा, इसे ही उल्टा समाप्त कर देगा।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

जग सूं प्रीति न कीजिये, संमझि मन मेरा ।
स्वाद हेत लपटाइए, को निकसै सूरा ।।टेक।।
एक कनक अरु कांमनीं, जग मैं दोइ फंदा ।
इनपै जौ न बंधावई, ताका मैं बंदा ।।
देह धरें इन मांहि बास, कहु कैसें छूटै ।
सीव भये ते ऊबरे, जीवत ते लूटै ।।
एक एक सूं मिलि रह्या, तिनहीं सचु पाया ।
प्रेम मगन लैलीन मन, सो बहुरि न आया ।।
कहै कबीर निहचल भया, निरभै पद पाया ।
संसा ता दिन का गया, सतगुर समझाया ।।१८८।।

शब्दार्थ—सूरा=शूरवीर । कनक=सोना, सांसारिक आकर्षण । कांमनी=स्त्री, सांसारिक माया । फंदा=बंधन । निहचल=निश्चल ।

कबीर मन को प्रबोध देते हुए कहते हैं हे मन ! तू इस संसार के माया-मोह में मत पड़ । इससे तो कोई शूरवीर ही मुक्त हो पाता है ।

इस संसार में दो ही बन्धन हैं । प्रथम धन, द्वितीय रूप-यौवन-सम्पन्न नारी । जो इन दोनों के बन्धन में नहीं पड़ता है, मैं उसका दास हूँ । इस पंच तत्वमय भौतिक शरीर के रहते हुए इनका वास कैसे छूट सकता है ? जो शिव के समान योगी और साधक हो जाय, तब तो इस माया-जाल से मुक्त हो सकता है । जो उस एक पूर्ण ब्रह्म से मिल गया, शान्ति का लाभ तो उसने ही किया है । जिसका मन प्रभु-भक्ति में तल्लीन हो गया, वह मुक्त हो जाता है और पुनः इस संसार बन्धन में नहीं फंसता । कबीर कहते हैं कि इस प्रकार ही निश्चल हो निर्भय पद की प्राप्ति सम्भव है । संसार-संशय तो उसी दिन समाप्त हो गया, जब सद्गुरु ने ज्ञानोपदेश दे प्रभु-भक्ति मार्ग में प्रवृत्त किया ।

रांम मोहि सतगुर मिलै अनेक कलानिधि, परम तत सुखदाई ।
कांम अगनि तन जरत रही है, हरि रसि छिरकि बुझाई ।।टेक।।
दरस परस तैं दुरमति नासी, दीन रटनि ल्यौ आई ।
पाषंड भरंम कपाट खोलि कैं, अनभै कथा सुनाई ।।
यहु संसार गंभीर अधिक जल, को गहि लावै तीरा ।
नाव जिहाज खेवइया साधू, उतरे दास कबीरा ।।१८९।।

शब्दार्थ - कलानिधि=कलाओं में पारंगत । कांम=काम-वासना ।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मुझे अनेक कलाओं में पारंगत, अमित संतोष देने वाले अनेक गुरु मिले किन्तु फिर भी मेरा शरीर कामाग्नि से दग्ध होता रहा । उसकी शान्ति तो प्रभु-भक्ति का रस छिड़क कर ही हो सकी । प्रभु के दर्शन एवं स्पर्श से कुबुद्धि का नाश हो गया और मन प्रभु-भक्ति में लवलीन रहा । जिससे पाखंड और भ्रम के कपाट खुलकर प्रभु की रहस्यपूर्ण कथा ज्ञात हुई । यह जगत् गहरे जल से

परिपूर्ण है, इसमें जीवात्मा को पकड़ कर कौन पार लगा सकता है ! इस शरीर रूपी नौका के केवट तो साधुजन हैं, जिससे कबीर पार निकल सकता है।

विशेष—रूपक, छेकानुप्रास अलंकार।

दिन दहूँ चहूँ कै कारणैं जैसै सैंवल फूले।
झूठी सूं प्रीति लगाइ करि, साचे कूं भूले ॥टेक॥
जो रस गा सो परहर्‌या, बिड़राता प्यारे।
आसति कहूं न देखिहूं, बिन नांव तुम्हारे ॥
सांची सगाई रांम की, सुनि आतम मेरे।
नरकि पड़ें नर बापुड़े, गाहक जम तेरे ॥
हंस उड़्या चित चालिया, संगपन कछू नांहीं।
माटी सूं माटी मेलि करि, पीछै अनखांहीं ॥
कहै कबीर जग अंधला, कोई जन सारा।
जिनि हरि मरम न जांणिया, तिनि किया पसारा ॥१९०॥

शब्दार्थ—विड़राता=नाश का कारण होना। आसति=आश्रय, रक्षा। बापुड़े=बेचारे। पसारा=संसार के आकर्षण के जल में फँसना।

इस तृष्णा के कारण मैं सेमल-फूल के समान ऊपर से प्रसन्न रहता हुआ भी भीतर ही भीतर दग्ध होता रहता हूँ। इन मिथ्या सांसारिक आकर्षणों से प्रेम कर उस सच्चे प्रभु को मैं विस्मृत कर बैठा हूँ। हे प्रभु ! जिस रस को स्वाद में मैं अच्छा समझ बैठा हूँ वही नाश का कारण सिद्ध होता है। प्रभु ! आपके नाम के बिना कहीं भी रक्षा दृष्टिगत नहीं होती। हे मन ! तू सुन, एक राम से ही सम्बन्ध सत्य है, शेष सम्बन्ध मिथ्या है। अन्त में तो हे मनुष्य ! यदि तूने प्रभु-भक्ति न की तो तुझे नरक में पड़ना पड़ेगा और यमदूत तुझे आकर ले जायेंगे। जिस समय तेरी आत्मा यहां से महा प्रयाण करेगी, उस समय तेरा यहाँ कोई भी निकट सम्बन्धी नहीं होगा। मिट्टी में मिट्टी मिल जायगी तो बाद में बिलखने से क्या ? कबीर कहते हैं कि जिन्होंने प्रभु-भक्ति का रहस्य न समझा, वे संसार के आकर्षण-जाल में पड़ते हैं। इस प्रकार समस्त जग अज्ञानान्ध है।

विशेष—उपमा अलंकार।

माधौ मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति हत नहीं साधी ॥टेक॥
कारनि कवन आइ जग जनम्यां, जनमि कवन सचुपाया।
भौ जल तिरण चरण च्यंतामणि, ता चित घड़ी न लाया ॥
पर निंद्या पर धन पर दारा, पर अपवादें सूरा।
ताथैं आवागमन होइ फुनि फुनि, ता पर संग न चूरा ॥
कांम क्रोध माया मद मंछर, ए संतति हंम मांहीं।
दया धरम ग्यांन गुर सेवा, ए प्रभु सुपिनैं नांहीं ॥

तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत-बछल भौ-हारी ।
कहै कबीर धीर मति राखहु, सासति करौ हमारी ॥१६१॥

शब्दार्थ—जनमि कवन सचुपाया = जन्म में कौन-सा सुख मिला ? अर्थात् कोई भी सुख नहीं मिला, पर = दूसरे की । दारा = स्त्री। मंछर = मत्सर । भौ-हारी = संसार के दुःखों को दूर करने वाले । सासति = रक्षा ।

हे प्रभु ! मैं ऐसा अपराधी हूँ कि मुझ से आपकी भक्ति की साधना नहीं होती । न जाने मैं क्यों इस जगत् में आकर उत्पन्न हुआ, इस अमूल्य मानव-जीवन प्राप्ति का क्या सुख । इस संसार-सागर जल से निस्तार के लिए आपके श्रीचरण चिन्तामणि के समान दुःख दूर करने वाले थे, किन्तु उनमें मैंने पल भर भी ध्यान नहीं लगाया । मैं परनिन्दा, परधन-लालसा, पर-स्त्री-गमन एवं दूसरों पर दोषारोपण करने में लगा रहा । इसी कारण मैं बार-बार आवागमन के चक्र में पड़ता हूँ और फिर भी तनिक देर के लिए भी साधु-संगति नहीं करता । काम, क्रोध, मोह आदि का निवास प्रतिपल मुझ में रहता है । दया, धर्म, ज्ञान, गुरु सेवा—जैसे सद्गुणों से मेरा सम्बन्ध स्वप्न तक में नहीं है । हे प्रभु ! आप कृपालु, दयालु, वत्सल एवं भय विदूरित करने वाले हैं । कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मुझे कृपा कर बुद्धि एवं धैर्य प्रदान करो ।

रांम राइ कासनि करौं पुकारा,
ऐसे तुम्ह साहिब जाननिहारा ॥टेक॥
इंद्री सबल निबल मैं माधौ, बहुत करैं बरियाई ।
ल घरि जांहि तहाँ दुख पइये, बुधि बल कछू न बसाई ॥
मैं बपरौ का अलप मूंड मति, कहा भयौ जे लूटे ।
मुनि जन सती सिध अरु साधिक, तेऊ न आयें छूटे ॥
जोगी जती तपी संन्यासी, अह निसि खोजें काया ।
मैं मेरी करि बहुत बिगूते, बिषै बाघ जग खाया ॥
ऐकत छाँड़ि जांहि घर घरनीं, तिन भी बहुत उपाया ।
कहैं कबीर कछु समझि न परई, विषम तुम्हारी माया ॥१६२॥

शब्दार्थ—बरियाई = भटकाना । बपरौ = वेचारा ।

हे प्रभु ! आप तो सब कुछ जानते ही हैं, मैं आपके अतिरिक्त और किससे अपनी व्यथा कहूँ ? हे माधव ये इन्द्रियाँ अत्यन्त शक्तिशाली हैं और मैं निर्बल हूँ, ये मुझे नाना विषयों में भटकाती हैं । जहाँ कहीं भी ये ले जाती हैं वहीं दारुण व्यथा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इन इन्द्रियों के सम्मुख बुद्धि परास्त हो जाती है । इनके जाल से मुनि, सती, सिद्ध, साधक कोई भी मुक्त नहीं हुआ फिर मैं बेचारा अल्पज्ञ, मूर्ख भला कैसे इनके विपरीत चलता । योगी, यति, तपस्वी, संन्यासी आदि प्रभु को शरीर के मध्य खोजने का प्रयास करते हैं किन्तु वे यह नहीं जानते कि अहं ने समस्त संसार को नष्ट कर दिया है और विषय-वासनाओं का वास भी जग को

नित्य प्रति चट कर रहा है। जो संन्यास के द्वारा भी प्रभु को खोजते-खोजते हार गये, वन को छोड़कर घर जाकर गृहस्थ बन गये। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! तुम्हारी यह विषय माया मेरी समझ में नहीं आती, यह एक रहस्य ही है।

विशेष—रूपक अलंकार।

माधौ चले बुनांवन महा, जग जीतें जाइ जुलाहा ॥टेक॥
नव गज दस गज गज उगनींसा, पुरिया एक तनाई।
सात सूत दे गंड बहतरि, पाट लगी अधिकाई॥
तुलह न तोली गजह न मापी, पहजन सेर अढाई।
अढाई मैं जे पाव घटै तो, करकस कर बजहाई॥
दिन की वेठि खसम सूं कीजै, अरज लगीं तहाँ ही।
भागी पुरिया घर ही छाड़ी, चले जुलाह रिसाई॥
छोछी नलीं कांमि नहीं आवै, लहटि रही उरझाई।
छाडि पसारा रांम कहि बौरे, कहै कबीर समझाई ॥१९३॥

शब्दार्थ—बुनांवन=बुनने। नव गज=नौ गज। दस गज=दस गज। उगनींसा=उन्नीस।

प्रभु ! आपने इस संसार रूपी वस्त्र का निर्माण बुनकर किया है, किन्तु आपके इस वस्त्र को माया नष्ट कर रही है। नवद्वार एवं दसों इन्द्रियाँ, इस उन्नीस गज से इस थान रूपी संसार का निर्माण किया है। सात धातुओं के सूत का इसमें पाट फैलाया हुआ है। इसका विस्तार इतना है कि न इसे तोला जा सकता है और न नापा जा सकता है। यदि इसमें तनिक भी मात्रा कम हो तो संसार का क्रय नहीं चल सकता है। हे मनुष्य ! तू दिन भर अपने व्यवसाय की जो पैंठ लगाये उसमें प्रभु-नाम स्मरण के अतिरिक्त और कुछ न हो। इस प्रकार के व्यवसाय से माया घर छोड़ कर भाग जायगी। संसार में झूठे सम्बन्धों की यह नलिका किसी कार्य नहीं आती, यह तो और गुत्थी को उलझाती है। कबीर मनुष्य को समझाते हुए कहते हैं कि हे अज्ञानी जीव ! तू विषय-वासनाओं से अपनी गति रोक राम-नाम का स्मरण कर।

शब्दार्थ—१. रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार।

२. नव गज=नव द्वार—दो नेत्र, दो कान, दो नासिका विवर, मुख, गुदा, लिंग।

३. दस गज=दस इन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा, हाथ, पाँव, गुदा, लिंग, मुख।

४. सात सूत—सप्तधातु—रस, रक्त, माँस, बसा, मज्जा, अस्थि, शुक्र।

बाजै जंत्र बजावै गुंनीं, रांम नांम बिन भूली दुनीं ॥टेक॥
रजगुन सतगुन तमगुन तीन, पंच तत ते साज्या बीन।
तीनि लोक पूरा पेखनाँ, नाच नचावै एकै जनाँ॥
कहै कबीर संसा करि दूरि, त्रिभवन नाथ रह्या भरपूरि ॥१९४॥

यह संसार रूपी वाद्य बज रहा है, जिसे एक गुणी (ब्रह्म) ही बजाता है। प्रभु-नाम बिना समस्त संसार भ्रम में पड़ा हुआ है। रज, सत, तम—त्रिगुणात्मक प्रकृति एवं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—पंचतत्वों से इस वाद्य—संसार—का निर्माण हुआ है। समस्त सृष्टि—तीनों लोक को देखकर यही निष्कर्ष निकला कि इसका संचालक वह प्रभु ही है। कबीर कहते हैं कि माया-भ्रम को दूर कर मन में यह दृढ़ विश्वास जमा लो कि इस संसार में ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है।

जंत्री जंत्र अनूपम बाजै, ताका सबद गगन मैं गाजै ॥टेक॥
सुर की नालि सुरति का तूंबा, सतगुर साज बनाया।
सुर नर गण गंध्रप ब्रह्मादिक, गुर बिन तिनहूँ न पाया॥
जिभ्या तांति नासिका करहीं, माया का मैण लगाया।
दसां बतीस मोरणां पांचौं, नीका साज बनाया॥
जंत्री जंत्र तजै नहीं बाजै, तब बाजै जब बावै।
कहै कबीर सोई जन साचा, जंत्री सूं प्रीति लगावै ॥१९५॥

यह हृदय-तन्त्री प्रभु के नाम से बज रही है जिसका अनुपम शब्द—अनहद नाद—शून्य लोक में हो रहा है। सुरति के तूम्बे को स्वर—भक्तिस्वर से बाँधकर ही सद्गुरु ने इस संगीत का सृजन किया है। देव, मनुज, गन्धर्व, ब्रह्मादि किसी ने भी उस परमप्रभु को बिना गुरु की सहायता से प्राप्त नहीं किया है। जिह्वा एवं नासिका के तन्तु पर माया को नष्ट कर उस पर लाग लगायी है। बत्तीस दाँतों अर्थात् मुख एवं पाँचों इन्द्रियों को भी वाद्य में प्रयुक्त किया है—इस प्रकार प्रभु भक्ति का यह सुन्दर वाद्य बनाया है। यह वाद्य-यन्त्र नाम का आश्रय छोड़ने पर नहीं बजता, जब बजता है तब नामोच्चारण का संगीत मुखरित हो। कबीर कहते हैं कि वही भक्त सच्चा है जो इस प्रभु-भक्ति के वाद्य से अपना मन लगा ले।

विशेष—रूपक अलंकार।

अवधू नादैं व्यंद गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै।
अंतरि गति नहीं देखै नैड़ा, ढूंढत बन बन डोलै ॥टेक॥
सालिगरांम तजौं सिव पूजौं, सिर ब्रह्मा का काटौं।
सायर फोड़ि नीर मुकलांऊं, कुंवा सिला दे पाटौं॥
चंद सूर दोइ तूंबा करिहूँ, चित चेतनि की डांडी।
सुषमन तंती बाजण लागी, इहि बिधि त्रिष्णां षांडी॥
परम तत आधारी मेरे, सिव नगरी घर मेरा।
कालहि षंडूं मीच बिहंडूं, बहुरि न करिहूं फेरा॥
जपौं न जाप हतौं नहीं गूगल, पुस्तक ले न पढांऊं।
कहै कबीर परंम पद पाया, नहीं आंऊं नहीं जांऊं ॥१९६॥

शब्दार्थ—नैड़ा=समीप। सायर=सागर। सुषमन=सुषुम्ना नाड़ी। षांडी= खंडित कर दी, नष्ट कर दी। फेरा=जन्म लेना।

हे अवधूत ! इस शरीर में ही उस प्रभु का शब्द होता रहता है। वह दिव्य निनाद 'अनहदनाद' होता है। मनुष्य उस प्रभु को पाने के लिए वन-वन भटकता है किन्तु अपने अन्तस् में खोजने का प्रयास नहीं करता। शालिग्राम का परित्याग कर शिव की उपासना करने का क्या प्रयोजन ? मैं तो ब्रह्मा तक का अस्तित्व समाप्त कर दूँगा। सागर—जिसकी पूजा होती है उसको फोड़ जल को सुखा दूँगा और कुएँ में पत्थर डालकर उसे अटवा दूँगा। इड़ा पिंगला के तूम्बों को मन की सतर्कता की डंडी पर बाँध कर सुषुम्णा नाड़ी की ताँत लगा, प्रभु-भक्ति का अलौकिक राग अलाप कर मैं तृष्णा का अन्त कर दूँगा। वह परम ब्रह्म ही मेरे इष्ट हैं और उनका देश ही मेरा घर है। मैं समय के व्यवधान को समाप्त कर मृत्यु का नाश कर दूँगा और इस भाँति पुनः इस जगत् में नहीं आऊँगा। अब न मैं मंदिर या मस्जिद में बैठकर गूगल धूम्र का ठाठ खड़ा कर जाप करूँगा और न शास्त्रग्रंथों आदि का उपदेश दूँगा। कबीर कहते हैं कि मैंने तो अब परमपद प्राप्त कर लिया है, मैं आवागमन से विमुक्त हो गया हूँ।

बाबा पेड़ छाडि सब डालीं लागे, मूंढे जत्र अभागे।
सोइ सोइ सब रैंणि बिहांणीं, भोर भयौ तब जागे ॥टेक॥
देवलि जांऊ तौ देवी देखौं, तीरथि जांऊं त पांणीं।
ओछी बुधि अगोचर बांणीं, नहीं परम गति जांणीं ॥
साध पुकारें समझत नांहीं, आंन जन्म के सूते।
बांधे ज्यूं अरहट की टीडरि, आवत जाति बिगूते ॥
गुर बिन इहि जग कौंन भरोसा, काकै संगि ह्वै रहिये।
गनिका कै घरि बेटा जाया, पिता नांव किस कहिये ॥
कहै कबीर यह बिरोध्या, बूझौ अमृत बांणीं।
खोजत खोजत सतगुर पाया, रहि गई आंवण जांणीं ॥१९७॥

शब्दार्थ—जत्र=आराधना करना। सूते=नष्ट करना। गनिका=वेश्या।

कबीर कहते हैं कि इस संसार के अभागे लोग मूल—प्रभु—को छोड़ कर शाखा—माया—आराधना में लगे हुए हैं। इस अज्ञान में ही उन्होंने आयु व्यतीत कर डाली और जब सुबह होने को है, जीवन का अन्त निकट है, तब इन्हें सुधि आयी है। यदि मैं मंदिर में जाता हूँ तो देव प्रतिमा दिखाई देती है और तीर्थ स्नान में जल किन्तु प्रभु—ब्रह्म—कहीं नहीं। यह बुद्धि अत्यल्प है जो परमतत्व का रहस्य जानने में अक्षम है। साधुजन इस विषयसंलिप्त मनुष्य को बराबर पुकारते हैं किंतु यह तो दूसरे जन्म को भी भ्रष्ट करके रहेगा और जिस भाँति रहट की डोंगियों, बाल्टियों का धारावाहिक क्रम चलता रहता है, उसी प्रकार यह भी आवागमन चक्र से विमुक्त नहीं होगा। इस संसार में बिना सद्गुरु के कोई साथी नहीं और मनुष्य की स्थिति वेश्यापुत्र के समान, अनामधारी पिता के पुत्र के समान हो जाती है। कबीर अनुपम

वाणी कहते हैं कि यह बड़ा चित्र-विचित्र है। सद्गुरु की सहायता से खोजते-खोजते प्रभु को पा लिया और जो रह गये वे आवागमन से विमुक्त नहीं हुए।

विशेष—उपमा अलंकार।

भूली मालिनी है गोव्यंद जागतौ जगदेव,
तू करै किसकी सेव ॥टेक॥
भूली मालनि पाती तोड़ै, पाती पाती जीव।
जा मूरति कौं पाती तोड़ै, सो मूरति नर जीव ॥
टांचणहारै टांचिया, दे छाती ऊपरि पाव।
जे तूं मूरति सकल है, तौ घड़णहारे कौं खाव ॥
लाडू लावण लापसी, पूजा चढ़ै अपार।
पूजि पुजारा ले गया, दे मूरति कै मुहि छार ॥
पाती ब्रह्मा पुहपे विष्णु, फूल फल महादेव।
तीनि देवौं एक मूरति, करै किसकी सेव ॥
एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसारा।
एक न भूला दास कबीरा, जाकै रांम अधारा ॥१६८॥

शब्दार्थ—सेव=सेवा। लावण=लवण, नमक। छार=धूल।

हे मालिन! तू भ्रम में पड़ी हुई है! तू तनिक यह तो विचार कर कि पत्र पुष्प तोड़ इससे किस प्रभु की सेवा करेगी? तू व्यर्थ फल-पत्ते तोड़ रही है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक जीव—जीवन है, किन्तु तू जिस इष्ट-मूर्ति के लिए इनका नाश कर रही है वह निर्जीव प्रस्तर है। काल छाती पर पांव रख कर बढ़ता आ रहा है। यदि तेरी मूर्ति सत्य है तो उस काल को समाप्त कर दे, उस मूर्ति से इसका नाश करा दे। उस मूर्ति पर लड्डू, लवणयुक्त पकवान और अन्य विविध मिष्टान अपरिमित मात्रा में चढ़ते हैं किन्तु पुजारी सबको अपने घर ले जाता है और उसे खाक भी नहीं मिलता। फूल, पत्र, सब में ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों का निवास है और तीनों देव एक ही हैं—केवल उनका स्वरूप पृथक् है, अब बता तू किसकी अर्चना करेगी। मालिनी! यह स्थिति तेरी ही नहीं या एक दो की ही नहीं, समस्त संसार इसी भांति भ्रम में पड़ा हुआ है। कबीर कहते हैं कि केवल एक प्रभु-भक्त जिसके राम ही आश्रय हैं, भ्रम में नहीं पड़ा है।

विशेष—मूर्ति पूजा का तीव्र विरोध है।

सेइ मन समझि समर्थ सरणांगता, जाकी आदि अंति मधि कोइ न पावै।
कोटि कारिज सरैं देह गुंण सब जरैं, नेंक जौ नाव पतिव्रत आवै ॥टेक॥
आकार की ओट आकार नहीं ऊबरं, सिव विरंचि अरू बिष्णु ताईं।
जास का सेवक तास कौं पाइहै, इष्ट कौं छाड़ि आगै न जांही ॥
गुंणमई मूरति सेइ सब भेष मिली, निरगुण निज रूप बिश्रांम नांहीं।
अनेक जुग बंदिगी विविध प्रकार की, अंति गुंण का गुंणहीं समांहीं ॥

पांच तत तीनि गुण जुगति करि सांनियां, अष्ट बिन होत नहीं क्रम काया।
पाप पुन बीज अंकूर जांमैं मरै, उपजि बिनसै जेती सबं माया।।
क्रितम करता कहैं, परम पद क्यूं लहैं, भूलि भ्रम मैं पड़्या लोक सारा।
कहै कबीर रांम रमिता भजें, कोई एक जन गए उतरि पारा।।१६६।।

शब्दार्थ – कारिज = कार्य। सरैं = पूर्ण होना। पाँच तत = पांच तत्व। उपजि = उत्पन्न कर। बिनसै = नष्ट होना। क्रितम करता = सृष्टि-कर्ता।

हे मन! तू उस समर्थ प्रभु की जिसका आदि, मध्य, अवसान कोई न पा सका, सेवा कर, भक्ति कर। यदि उस प्रभु का नाम एकाग्रमन हो अल्प समय के लिए भी ले लिया जाय तो मनुष्य के करोड़ों कार्य सफल हो जाते हैं तथा देह के दुःख नष्ट हो जाते हैं। यदि इस शरीर की भूख—तृप्ति में ही लगे रहेंगे तो शिव, ब्रह्मा अथवा किसी भी उपास्य का स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं होगा। तू जिसका भक्त है उसको निश्चय ही प्राप्त कर लेगा, किन्तु अपने आराध्य को छोड़ अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं। इष्ट को पूजने से सब तृप्तियाँ हो जाती हैं, निर्गुण ब्रह्म को अपने कार्य से फुर्सत नहीं, सृष्टि संचालन में वह सर्वदा व्यस्त रहता है। अनेक युगों तक अनेक प्रकार से पूजा करने पर भी वह प्रभु हमें प्राप्त न हो सका। पाँचों तत्वों, तीन गुणों समेत समस्त उपाय करने पर भी योग की अष्टांग साधना बिना उस प्रभु की प्राप्ति नहीं होती। इसी मार्ग से पाप-पुण्य, जन्म-मरण, माया, विषय-वासना आदि समस्त पचड़ों का हो जाता है। इस सृष्टि का कर्त्ता कहता है कि तुम्हें किस भाँति परम-पद की प्राप्ति हो सकती है क्योंकि समस्त संसार संसय से ग्रसित हैं।

कबीर कहते हैं कि राम-नाम-स्मरण से कितने ही भक्त इस भवसागर को पार कर गये।

रांम राइ तेरी गति जांणी न जाई।
जो जस करिहै सो तस मइहै, राजा रांम नियाई।।टेक।।
जैसी कहै करै जो तैसी, तौ तिरत न लागै बारा।
कहता कहि गया सुनता सुंणि गया करणीं कठिन अपारा।।
सुरही तिण चरि अंमृत सरवै, लेर भवंगहि पाई।
अनेक जतन करि निग्रह कीजै, बिषै विकार न जाई।।
संत करै असंत की संगति, तासूं कहा बसाई।
कहै कबीर ताके भ्रम छूटैं, जे रहे रांम ल्यौ लाई।।२००।।

शब्दार्थ—नियाई = त्यागी, त्याग करने वाला। तिरत = पार उतरते हुए, भव-वन्धन से मुक्त होते हुए। ल्यौ = प्रेम।

हे राजा राम, परम प्रभु! तेरा रहस्य किसी को ज्ञात नहीं होता। राजा राम न्यायी है, जो जैसा कर्म करता है, तदनुकूल ही वह फल भोगता है। जिसकी सत् कहनी और करणी में अन्तर नहीं होता, उसे भवसागर से पार जाते देर नहीं लगती। सद्वचन कहने और सुनने में कठिन नहीं, इन्हें व्यवहार में लाना कठिन है। शून्य—

ब्रह्मरन्ध्र—से अमृत स्रवित होता है, वहाँ मधुलोभी कोई विरली आत्मा ही पहुँच पाती है किन्तु सामान्य लोगों के साथ आप कितने ही उपाय संसार छुड़ाने के कर लें, किंतु वे विषय-विकार को नहीं छोड़ सकते। यदि सज्जन दुर्जन की संगति करने लगे तो भला उसका क्या उपचार ? कबीर कहते हैं कि उसी का संसार-संशय विदूरित होता है जिसकी वृत्तियाँ राम में केन्द्रित हों।

कथणीं बदणीं सब जंजाल,
भाव भगति अरु रांम निराल ।।टेक।।
कथैं बदैं सुणैं सब कोई, कथें न होई कीयें होई।
कूड़ी करणीं रांम न पावै, साज टिकै निज रूप दिखावै।
घट मैं अग्नि घर जल अवास, चेति बुझाइ कबीरदास ।।२०१।।

शब्दार्थ—बदणीं = कार्य। निराल = निराला, सत्य।

कबीर कहते हैं कि व्यर्थ का धार्मिक उपदेश, मिथ्याचरण, यह सब वृथा है, केवल प्रभु की भावपूर्ण भक्ति ही सत्य है। साधना का कथन, टीका-टिप्पणी और श्रवण तो सब करते ही हैं, किन्तु प्रयोजन-सिद्धि मौखिक लेन-देन से नहीं अपितु-कर्म से होती है। बुरे आचरण से प्रभु-प्राप्ति सम्भव नहीं, केवल सत्याश्रित होने पर ही वह प्रभु अपना रूप दिखाते हैं। इस मन में विषयाग्नि और मायजल भरा है। कबीर कहते हैं कि सावधान होकर इसे समाप्त कर दे।

राग आसावरी

ऐसी रे अवधू की वांणीं, ऊपरि कूवटा तलि भरि पांणी ।।टेक।।
जब लग गगन जोति नहीं पलटै, अबिनासी सूं चित नहीं चिहुटै।
जब लग भवर गुफा नहीं जांनैं, तौ मेरा मन कैसैं मांनैं ।।
जब लग त्रिकुटी संधि न जानैं, ससिहर कै घरि सूर न आनैं।
जब लग नाभि कवल नहीं सोधै, तौ हीरै हीरा कैसैं बेधैं ।।
सोलह कला संपूरण छाजा, अनहद कै घरि वाजैं वाजा।
सुषमन कै घरि भया अनंदा, उलटि कवल भेटे गोब्यंदा ।।
मन पवन जब परचा भया, ज्यूं नाले रांधी रस मईया।
कहै कबीर घटि लेहु बिचारी, औघट घाट सींचि ले क्यारी ।।२०२।।

शब्दार्थ—गगन = शून्य। जोति = ज्योतिस्वरूप ब्रह्म। भवर गुफा = ब्रह्मरन्ध्र। त्रिकुटि = आँख नाक मस्तिष्क का सन्धि स्थल, भौंहों के बीच का स्थान। नाभि कमल = नाभि पर स्थित मणिपूरक चक्र—"इसमें दल-दल होते हैं। यह नील वर्ण का होता है, इसका लोक स्वः है। इसका ध्यान करने से क्रमशः डँ, टँ, णँ, तँ, थँ, दँ, धँ, नँ, पँ, फँ की ध्वनि झंकृत होती है। इसके सिद्धि लाभ से मनुष्य संसार पालन में समर्थ तथा वचन रचना में चतुर हो जाता है और उसकी जिह्वा पर सरस्वती निवास करती है।

कबीर कहते हैं कि योगी का उपदेश इस भाँति है—ऊपर शून्य लोक में कुँआ है, किन्तु उससे पानी प्राप्त करने का साधन कुण्डलिनी (जल) नीचे है, मूलाधार चक्र में स्थित है। जब तक शून्य में ज्योतिस्वरूप परमात्मा का दर्शन नहीं होता, तब तक उस अलख निरंजन से मन कैसे लगे? जब तक मन को शून्यदल, ब्रह्मरन्ध्र, का भी ज्ञान नहीं फिर उसे कैसे परितोष प्राप्त हो। जब तक साधक को त्रिकुटी का ज्ञान नहीं है तब तक चन्द्र, सूर्य, इड़ा, पिंगला कैसे एकमेक हों। जब तक नाभि में स्थित मणिपूरक चक्र का भेदन साधक नहीं कर लेता, तब तक मणि रूप प्रभु को कैसे प्राप्त कर लेगा? वह सोलह कलाओं से पूर्ण ब्रह्म वहाँ बसा हुआ है, जहाँ घण्टे की चोट पड़कर अनहद नाद का निरन्तर घोष हो रहा है। जब सुषुम्णा के द्वारा शून्यकमल भेदन हो अमृत स्रवित होते लगता है तो अपरिमित आनन्द का सृजन होता है। जब मन और परमात्मा का साक्षात्कार हुआ तो दोनों उसी प्रकार एकमेक हो गये, जिस भाँति नाले का जल (गंगा की) पवित्र धारा में मिलकर एक हो जाता है। कबीर कहते हैं कि इस भांति तुम मन में विचार कर उस अलख निरंजन को प्राप्त कर लो।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

मन का भ्रम मन हीं थैं भागा, सहज रूप हरि खेलण लागा ॥टेक॥
मैं त तैं मैं ए द्वै नांहीं, आपैं अकल सकल घट मांहीं।
जब थैं इन मन उनमन जांना, तब रूप न रेख तहाँ ले बांनां॥
तन मन मन तन एक समांनां, इन अनभै मांहैं मन मांनां।
आतमलीन अखंडित रांमां, कहै कबीर हरि मांहि समांनां ॥२०३॥

शब्दार्थ—मैं = अपनापन। तैं = परायापन। उनमन = उन्मनी अवस्था।

मन से भ्रम के भाग जाने पर चित्त, हृदय, प्रभु-भक्ति में रमने लगा। 'मैं तू' 'अहं पर' का भेद मिथ्या है। समस्त प्राणिमात्र के हृदय में एक वही प्रभु विद्यमान है। जब से इस मन को उन्मनी अवस्था का ज्ञान हुआ है, तभी से इसका वास उस प्रभु के लोक में हो गया है, जिसका कोई रूप आकार नहीं है। शरीर और हृदय दोनों समान ही हैं और इन्हीं के मध्य मनभावन प्रभु का वास है। वह प्रभु आत्मा-स्थित एवं अविभाज्य है, कबीर कहते हैं कि उसी प्रभु मे मेरा मन रम गया है।

आत्मां अनंदी जोगी, पीवै महारस अमृत भोगी ॥टेक॥
ब्रह्म अगनि काया परजारी, अजपा जाप उनमनीं तारी।
त्रिकुट कोट मैं आसण मांडै, सहज समाधि विषै सब छांडै॥
त्रिवेंणी बिभूति करै मन मंजन, जन कबीर प्रभू अलख निरंजन ॥२०४॥

शब्दार्थ—सरल है।

आत्मानंदी योगी रन्ध्र से स्रवित उस अमृतोपम महारस का पान करता है। वह ब्रह्माग्नि से शरीर के पाप भस्म कर उन्मनावस्था द्वारा अनहद नाद का श्रवण करता है। त्रिकुटी के किले में समाधि लगाकर साधक बैठ जाता है, यह सहज समाधि

समस्त विषय-रसों से मुक्त कर देती है। जब मन इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा द्वारा प्रवाहित त्रिवेणी में स्नान करने लगता है तो अलख निरंजन, ज्योतिस्वरूप परमात्मा का दर्शन होता है।

या जोगिया की जुगति जु बूझै,
रांम रमैं ताकौं त्रिभुवन सूझै ॥टेक॥
प्रगट कंथा गुपत अधारी, तामैं मूरति जीवनि प्यारी।
है प्रभू नेरै खोजैं दूरि, ग्यांन गुफा मैं सींगी पूरि॥
अमर बेलि जो छिन छिन पीवै, कहै कबीर सो जुगि जुगि जीवै ॥२०५॥

शब्दार्थ—कंथा = कथा। अधारी=आधारी। नेरै=समीप।

जो मनुष्य इस योगी की साधना को समझ लेगा उसे प्रभु-दर्शन हो जायेगा और साथ ही त्रिभुवन-समस्त सृष्टि उसके लिए दृश्य हो जायेगी। प्रकट में तो वह योगी प्रभु कथा कहता ही रहता है, वैसे उसकी आधारी भी प्रभु की प्रिय मूर्ति ही है, वह उसी के द्वारा जीवन धारण करता है। प्रभु तो पास में ही; अन्तर में ही स्थित है, उसे दूर कहाँ खोजते हो ! ज्ञान से वह प्राप्य है। कबीर कहते हैं कि शून्यकमल से उत्पन्न अमरबेलि रस का जो प्रतिपल पान करता है, सर्वदा अनहद नाद का श्रवण करता है, वह युग-युग तक अमर रहता है। उसे काल-बन्धन नहीं व्यापता।

सो जोगी जाकै मन मैं मुद्रा,
राति दिवस न करई निद्रा ॥टेक॥
मन मैं आसण मन मै रहणां मन का जप तप मन सूं कहणां।
मन मैं षपरा मन में सींगी, अनहद बेन बजावै रंगी॥
पंच परजारि भसम करि भूका, कहै कबीर सो लहसं लंका ॥२०६॥

शब्दार्थ—पंच परजारि= काम आदि पाँचों विकारों को जला कर।

कबीर कहते हैं कि योगी वही है जो अहर्निश जागृत, सावधान, रहता हुआ मन में ही खेचरी मुद्रा को धारण करता है। वह मन में ही समाधिस्थ होकर रहता है एवं जप-तप आदि साधना के जितने भी सोपान हैं, सबकी पूर्ति वहीं करता है। योगी का खप्पर और सींगी, अनहद नाद—ये सब सम्भार उनके मन में हो रहते हैं। कबीर कहते हैं कि शून्यलोक रूपी लंका को वही प्राप्त कर सकता है जो काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह—पाँच विकारों को नष्ट कर दे।

विशेष—कबीर ने यद्यपि योगसाधना पर पर्याप्त पद-रचना की है, किन्तु वे विशेष बल मनःसाधना पर ही देते हैं। इसे हम अन्तर्मुखी वृत्ति भी कर सकते हैं।

बाबा जोगी एक अकेला, जाकै तीर्थ व्रत न मेला ॥टेक॥
झोली पत्र विभूति न बटवा, अनहद बेन बजावै।
मांगि न खाइ न भूखा सोवै घर आंगनां फिरि आवै॥
पांच जनां की जमाति चलावै, तास गुरू मैं चेला।
कहै कबीर उनि देसि सिधाये, बहुरि न इहि जगि मेला ॥२०७॥

शब्दार्थ—पांच जनां की =पाँचों इन्द्रियों की अथवा पाँच विकारों की ।

कबीर कहते हैं कि योगी संसार में अपने ही ढंग का एक होता है इसे तीर्थ, व्रत, मेला आदि से कोई प्रयोजन नहीं होता । उसके पास सामान्य साधुओं के समान न तो झोली होती है, न शरीर पर मली हुई क्षार, न पैसे संचित करने के लिए बटुवा । वह तो अनहद नाद के श्रवण में ही मस्त रहता है । वह न तो भिक्षा मांग कर खाता है, न भूखा ही रहता है, वह तो शून्यलोक, ब्रह्मरन्ध्र, के स्रवित अमृत का पान करता है । कबीर कहते हैं कि जो पंच विषयों अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह पंच विकारों की सेना को नष्ट कर दे, ऐसे योगी को मैं गुरु बना लूं । वे आगे कहते हैं जो साधक उस प्रभु के शून्य लोक को प्राप्त कर लेता है, वह पुनः इस संसार में आ आवागमन के चक्र में नहीं पड़ता ।

जोगिया तन कौ जंत्र बजाइ,
ज्यूं तेरा आवागवन मिटाइ ।।टेक।।
तत करि ताँति धर्म करि डांडी, सत की सारि लगाइ ।
मन करि निहचल आसंणैं निहचल, रसनाँ रस उपजाइ ।।
चित करि बटवा तुचा मेषली, भसमैं भसम चढ़ाइ ।
तजि पाषंड पांच करि निगृह, खोजि परम पद राइ ।।
हिरदै सींगी ग्यांन गुणि बांधौ, खोजि निरंजन साचा ।
कहै कबीर निरंजन की गति, जुगति गिनां प्यंड काचा ।।२०८।।

शब्दार्थ—आवागवन=जन्म-मरण का बंधन । निहचल=निश्चल । तुचा=त्वचा । निग्रह=रोक, संयम । प्यंड=शरीर । काचा=कच्चा, निस्सार ।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! इस शरीर रूपी वाद्य की साधना कर जिससे तेरा जन्म-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाय । तू इस वाद्य में परम-तत्व का तंतु एवं धर्म की डंडी लगा और सत्य व्यवहार, सत्य आचरण की इस तंतु पर पुट लगा दे । मन को दृढ़ और एकाग्र कर समाधिस्थ हो जा एवं अपनी जिह्वा में प्रभु-भक्ति, प्रभु-नाम का रस उत्पन्न कर । इस हृदय को ही प्रभु गुण स्मरण संरक्षण का बटुआ, कोष, बना ले और अपनी शरीर त्वचा को योगियों के धारण करने की मेखला समझ ले । काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को भस्म कर उन्हीं की विभूति बना ले । पाखण्ड का परित्याग कर पाँच विषयों को छोड़ परमप्रभु की खोज की साधना करो । हृदय रूपी श्रृंगी को ज्ञान रज्जु से बांध दो और इस प्रकार अलख निरंजन ज्योतिस्वरूप परमात्मा, ब्रह्म को खोज लो । कबीर कहते हैं कि ब्रह्म का रहस्य बिना साधना के प्राप्त नहीं किया जा सकता, बिना योग साधना के यह शरीर निस्सार है ।

अवधू ऐसा ज्ञांन बिचारी, ज्यूं बहुरि न ह्वै संसारी ।।टेक।।
च्यंत न सोज चित बिन चितवै, बिन मनसा मन होई ।

अजपा जपत सुंनि अभि-अंतरि, यहु तत जानैं सोई ।।

कहे कबीर स्वाद जब पाया, बंक नालि रस खाया।
अमृत झरैं ब्रह्म परकासै, तब ही मिलै रांम राया ॥२०९॥

शब्दार्थ—च्यंत=चिता करना। सोज=शोक। मनसा=मन। सुंनि=शून्य। वंद नाल=सुषुम्णा से अभिप्राय है। राया=राजा, श्रेष्ठ।

कबीर कहते हैं कि हे अवधूत! तू ऐसे ज्ञान—प्रभु-रहस्य—का विचार कर जिससे तुझे पुनः इस जगत में आकर दुख न उठाना पड़े। उसे (ब्रह्म को) न चिन्ता है न कोई शोक, वह बिना ही हृदय और नेत्र के सृष्टि को देखता है एवं बिना मानसिक भावनाओं के भी मन रसता है। इस तत्व को तो कोई बिरले साधक ही जान सकते हैं, जिसमें हृदय के भीतर ही अजपा जाप, अनहद नाद, शून्य लोक, ब्रह्म लोक से ध्वनित होता है। कबीर कहते हैं कि मैंने उस महारस का स्वाद तब पाया जब सुषुम्णा के माध्यम से कुण्डलिनी ने विस्फोट कर अमृत प्राप्त किया। जब वहाँ से अमृत स्रवित होने लगता है तो वह ज्योतिस्वरूप परमात्मा—ब्रह्म प्रकट होता है और उसका साक्षात्कार होता है।

विशेष—विभावना अलंकार।

गोब्यंदे तुम्हारै बन कंदलि, मेरी मन अहेरा खेलै।
बपु बाडी अनगु मृग, रचिहीं रचि मेलै ॥टेक॥
चित तरउवा पवन षेदा, सहज मूल बांधा।
ध्यांन धनक जौग करम, ग्यांन बांन सांधा॥
षट चक्र कंवल बेधा, जारि उजारा कीन्हां।
कांम क्रोध लोभ मोह, हाकि स्यावज दीन्हां॥
गगन मंडल रोकि बारा, तहाँ दिवस न राती।
कहै कबीर छांडि चले, बिछुरे सब साथी ॥२१०॥

शब्दार्थ—कंदलि=कदली। अहेरा=शिकार। बपु=शरीर। नाड़ी=वल। धनक=धनुष। षट चक्र=मूसलाधार आदि छः चक्र। रात्रि=दाद, अज्ञान अथवा ज्ञान बंधन।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! आपके कदली वन में मेरा मन रूपी आखेटक आखेट कर रहा है। हृदय रूपी वृक्ष पर प्राणायाम साधना कर इसे सहज समाधि से बाँध दिया है। योगकर्मानुरूप ध्यान के धनुष पर ज्ञान बाण से लक्ष्य संधान—प्रभु-प्राप्ति—किया है। इस वाण से षटचक्र कमल जो मार्ग में है, उनका भेदन कर ज्ञाना-लोक विकीर्ण किया है। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह को हांककर भगाकर, उस लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायता ली। समस्त चित्तवृत्तियों को शून्यलोक में केन्द्रीभूत कर दिया है जहाँ न अंधकार है न प्रकाश अर्थात् सम अवस्था है। इस प्रकार कबीर कहते हैं कि हम तो अब इस प्रकार से सम्बन्ध-विच्छेद कर प्रभुलोक में चल दिये।

विशेष—रूपक, सांगरूपक, अनुप्रास, रूपकातिशयोक्ति अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग है।

(२) योगसाधना षट्चक्रों के स्थान पर प्राय: अष्ट-चक्रों का ही उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु कबीर ने अनेक स्थलों पर षट्चक्रों का ही वर्णन किया है। इन्होंने शून्यचक्र एवं सुरति कमल को छोड़ दिया है। वे षट्चक्र निम्नस्थ प्रकार हैं :— (१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान चक्र (३) मणिपूरक चक्र (४) अनाहत चक्र (५) विशुद्ध चक्र (६) आज्ञा चक्र।

साधन कंचू हरि न उतारै, अनभै ह्वै तौ अर्थ बिचारै ॥टेक॥
बांणीं सुरंग सोधि करि आंणौं, आणैं नौ रंग धागा।
चंद सूर एकंतरि कीया, सीवत बहु दिन लागा॥
पंच पदार्थ छोड़ि समांनां, हीरै मोती जड़िया।
कोटि बरस लूं कचूं सीयाँ, सुर नर धंधै पड़िया॥
निस बासुर जे सोवैं नांहीं, ता नरि काल न खाई।
कहै कबीर गुर परसादैं, सहजैं रह्या समाई ॥२११॥

शब्दार्थ—निस बासुर=दिन रात। गुरु प्रसादैं=गुरु की कृपा से।

बिना साधना के प्रभु प्राप्त नहीं हो सकते, हे साधक! यदि तुझे सांसारिक तापों का भय नहीं है तो इस पद का अर्थ स्पष्ट कर, हृदयंगम कर।

शरीर के नव द्वारों को गुरु उपदेश की सुरम्य वाणी से संचालित कर दिया है। इस भक्ति वस्त्र को सीने में मुझको बहुत समय लगा है। सीने से पूर्व इड़ा पिंगला को मिला दिया गया था। पांच विषयों का रस छोड़कर मैंने इसमें हीरे और माणिक्य जड़ दिये हैं। समस्त संसार, देव-मनुष्य सभी विषय-वासना जंजाल में पड़े हुए थे और मैंने इस साधना वस्त्र को दीर्घ समय तक सीया है। जो व्यक्ति, भक्त, अहर्निश बिना बंधन में रह प्रभु-भक्ति में संलग्न रहते हैं, उन्हें मृत्यु नहीं व्यापती। कबीर कहते हैं कि मैं तो गुरु कृपा से सहज समाधि में लगा हुआ हूँ।

जीवत जिनि मारै मूवा मति ल्यावै,
मास बिहूंणा घरि मत आवै हो कंता ॥टेक॥
उर बिन पुर बिन चंच बिन, बपु बिहूंनां सोई।
सो स्यावज जिनि मा रैकंता, जाकै रगत मास न होइ॥
पैली पार के पारधी, ताकी धुनहीं पिनच नहीं रे।
ता बेलीं कौ ढूंक्यौ मृग लौ, ता मृग कैसी सनहीं रे॥
मार्‌या मृग जीतता राख्या यहु गुर ग्यांन मही रे।
कहै कबीर स्वामीं तुम्हारे मिलन कौ, बेली है पर पात नहीं रे ॥२१२॥

शब्दार्थ—मास=महारस। बिहूंना=विहीन।

आत्मा के माध्यम से कबीर जी को सम्बोधित करते कहते हैं कि हे स्वामिन! तू जीवन्मुक्त स्थिति को प्राप्त कर ले। (मांस—गौमांस) महारस की प्राप्ति बिना तेरा घर आना व्यर्थ है। वह हृदय विहीन, नगर विहीन, मुख विहीन एवं रूप आकार परे है वही साधक श्रेष्ठ है, योगी है, जो इस रक्त मास विहीन आखेट को प्राप्त कर। जिस धनुष से उस दूसरे तट पर स्थित लक्ष्य का संधान किया

जाता है उसमें न तो प्रत्यंचा है और न बांस की खप्पच ही। उस अनुपम अमृत-बेलि को मन रूपी मृग ने अन्य तृष्णाओं से आवृत कर लिया है। इसलिए मन-मृग से मित्रता कैसी ? गुरु का उपदेश तो यही कि इस मृग को मारकर, नियन्त्रित कर उस अमर बेलि को प्राप्त किया जाय। कबीर कहते हैं कि प्रभु ! आपसे मिलन के लिए साधना, या भक्ति-लता का ही साधन है, माया का नहीं।

धीरा मेरे मनवां तोहि धरि टांघौं, तैं तौ कीयौ मेरे खसम सूं षागौं ।।टेक।।
प्रेम की जेवरिया मेरे गलि बांधूं, तहां लैं जांउं जहाँ मेरौ माधौ।
काया बगरीं पैसि किया में बासा, हरि रस छाड़ि बिष रसि माता।
कहै कबीर तन मन का ओरा, भाव भगति हरि सूं गठजोरा ।।२१३।।

शब्दार्थ—टांघौं=दंड देना। षांगौं=विश्वास करना।

हे मेरे मन ! तनिक रुक, मैं तुझे अभी दण्डित करता हूँ, तूने प्रभु, स्वामी से विश्वासघात कैसे किया ? मैं तेरे गले में प्रेम-रज्जु बांधकर तुझे वहाँ ले जाऊंगा जहाँ भगवान् हैं। इस शरीर की क्षुधा-पूर्ति में ही तू व्यस्त रहता है, प्रभु-भक्ति के मधुर रस को त्याग विषय-वासनाओं में उलझा रहता है। कबीर कहते हैं कि मैं तन-मन-सर्वस्व प्रभु को अर्पित कर चुका हूँ और अब भगवान् से ही मेरा सम्बन्ध रह गया है।

पारब्रह्म देख्या हो, तब बाड़ीं फूली, फल लागा बडहूली।
सदा सदाफल दाख बेजौरा कौतिकहारी भूली ।।टेक।।
द्वादस कूबा एक बनमाली, उलटा नीर चलावै।
सहजि सुषमनां कूब भरावै, दह दिसि बाड़ी पावै ।।
ल्योकी लेज पवन का ढींकू, मन मटका ज बनाला।
सत की पाटि सुरति का चाठा, सहजि नीर मुकलाया ।।
त्रिकुटी चढ्यो पाव ढौ ढारै, अरध उरध की क्यारी।
चंद सूर दोऊ पांणति कहि हैं, गुर मुषि बीज बिचारी ।।
भरी छाबड़ी मन बैकुंठा, साईं सूर हिया रंगा।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि हंम एकै संगा ।।२१४।।

शब्दार्थ—बाड़ी=लता, बेल। ढींइ=ढेकुली। चंद सूर=इड़ा, पिंगला से तात्पर्य है।

जब ईश्वर के दर्शन हो जायें तभी यह भक्ति-लतिका पल्लवित होती है और तभी इस पर परम फल लगता है। साधक आत्मा उस सदैव मधुर रहने वाले दाख तुल्य सुमधुर पदार्थ को प्राप्त कर आश्चर्य में पड़ जाती है। वहाँ पर बारह पंखुड़ियों युक्त कमल का एक कुंआ है जिसका अधिष्ठाता एक ब्रह्म ही है और वहां पर अमृत स्रवित होता रहता है। सहज समाधि द्वारा सुषुम्णा के माध्यम से कुण्डलिनी पहुँचकर वहां दसों बावड़ियों का सृजन करती है। प्राणायाम की ढेंकुली पर लय की रस्सी से मन-गागरी को भर, सत्य की पिरो एवं सुरति द्वारा खींच इस प्रभु-भक्ति

के सहज जल को प्राप्त किया जाता है। त्रिकुटी पर आकर मन केन्द्रित हो जाता है, मनगागरी ढुलक जाती है जिससे इधर-उधर बने क्षेत्र की क्यारियाँ उस अनुपम प्रभु भक्ति जल से अभिसिंचित हो जाती हैं। चन्द्र और सूर्य, इड़ा, पिंगला दोनों उस क्षेत्र को जोतकर उत्तम कृषि योग्य बना देती हैं जिसमें गुरु वाणी के उत्तम बीज का वपन होता है। इस भाँति ईश्वर-भक्ति से समस्त क्षेत्र पल्लवित हो उठा और हृदय प्रभु के रंग में ही रंग गया। कबीर कहते हैं कि इस स्थिति में पहुँचकर मैंने प्रभु का साक्षात्कार कर लिया है।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

रांम नांम रंग लागौ कुरंग न होई।
हरि रंग सौ रंग और न कोई ॥टेक॥
और सबै रंग इहि रंग थें छूटै, हरि-रंग लागा कदे न छूटै।
कहै कबीर मेरे रंग रांम राई, और पतंग रंग उड़ि जाई ॥२१५॥

शब्दार्थ—कुरंग=रंग-विहीन होना।

कबीर कहते हैं कि मेरा अन्तर प्रभु भक्ति के रंग से रँग गया है और अब वह छूट नहीं सकता क्योंकि इस ईश्वर-भक्ति रंग के समान और कोई रंग नहीं है। कबीर कहते हैं कि मेरे पर तो राम भक्ति का ही रंग चढ़ चुका है और रंग तो पतंग के रंग के समान क्षणिक हैं।

विशेष—उपमा अलंकार।

कबीरा प्रेम कूल ढरै, हंमारै रांम बिनां न सरै।
बांधि ले धोरा सींचि लै क्यारी, ज्यूं तूं पेड़ भरै ॥टेक॥
काया बाड़ी मांहैं माली, टहल करै दिन राती।
कबहूं न सोवै काज संवारे, पांणतिहारी माती॥
सेभै कूवा स्वाति अति सीतल, कबहूं कुबा बनहीं रे।
भाग हंमारे हरि रखवाले, कोई उजाड़ नहीं रे॥
गुर बीज जमाया कि रखि न पाया, मन की आपदा खोई।
औरै स्यावढ करै षारिसा, सिला करै सब कोई॥
जो घरि आया तो सब ल्याया, सबही काज संवार्या।
कहै कबीर सुनहु रे संतो, थकित भया मैं हार्या ॥२१६॥

शब्दार्थ—धोरा=बांध, संयम का बांध। माली=ब्रह्म से तात्पर्य है। आपदा=विपत्ति, चंचलता।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-प्रेम के तट पर ही निवास श्रेय है, क्योंकि प्रभु के बिना हमारा निर्वाह सम्भव नहीं। संयम का बांध बांधकर इस क्यारी को प्रभु-भक्ति के भरपूर जल से अभिसिंचित कर ले। वह अनुपम माली—ब्रह्म—इस शरीर रूपी क्षेत्र के अन्तर्गत ही रहता है जो दिन-रात सृष्टि पालन में तत्पर रहता है। वह माली, क्षेत्र को उर्वर करने वाला कभी भी नहीं सोता। इस खेती की सिंचाई के लिए

सहज का अत्यन्त शीतल और मधुर जल वाला कुँआ है। यह हमारा परम सौभाग्य है कि इस खेती के रक्षक स्वयं श्री भगवान् हैं, इसकी कोई हानि नहीं कर सकता।

गुरु ने सदुपदेश का बीज इस क्षेत्र में डाला था। मन की चंचलता ने उसे विनष्ट कर दिया। जौहरी, पारखी ही उस बीज को पहचान सकते हैं, शेष तो जूठन को प्राप्त करते हैं। जो इस प्रभु भक्ति को घर ले आये तो समस्त कामनाएं परितृप्त हो जाती हैं। कबीर कहते हैं कि हे सन्तो ! मैं इस तथ्य का कथन करते-करते हार गया, किन्तु फिर भी संसार अपनी विषय वासनाओं में गति नहीं छोड़ता।

राजा राम बिना तकती धो धो।
राम बिनां नर क्यूं छूटौगे, जम करैं नग धो धो धो ॥टेक॥
मुद्रा पहर्‌यां जोग न होई, घूंघट काढ्यां सती न कोई ॥
माया कै संगि हिलि मिलि आया, फोकट साटै जनम गँवाया।
कहै कबीर जिनि हरि पद चीन्हां, मलिन प्यंड थैं निरमल कीन्हां ॥२१७॥

शब्दार्थ—फोकट साटै जनम गंवाया=व्यर्थ में ही सारा जीवन बिता दिया। चीन्हां=पहचानना। प्यंड=शरीर।

ईश्वर के बिना इस संसार में व्यर्थ-परिश्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं है। काल—मृत्यु—तुम्हें बारम्बार परेशान करेगी। बिना राम के भला कैसे उससे मुक्ति होगी।

मुद्रा धारण कर लेने मात्र से ही कोई साधु—योगी नहीं बन जाता जसे घूंघट काढ़ लेने मात्र से किसी नारी में सतीत्व नहीं आ जाता। जो मनुष्य माया के साथ करके रहा, उसने तो अपना जीवन वृथा ही गँवा दिया। कबीर कहते हैं कि जिन्होंने प्रभु के चरणों को पहचान लिया उन्होंने इस पाप मलिन शरीर शो पुण्यवान बना दिया।

विशेष—दृष्टांत अलंकार।

है कोई रांम नांम बतावै, वस्तु अगोचर मोहि लखावै ॥टेक॥
रांम नांम सब कोई बखांनै, रांम नांम मरम न जांनैं ॥
ऊपर की मोहि बात न भावै, देखै गावै तौ सुख पावै।
कहैं कबीर कछू कहत न आवैं, परचै बिनां मरम को पावै ॥२१८॥

ऐसा कौन इस संसार में है, जो राम-नाम का मर्म समझाकर उस अगोचर वस्तु को प्राप्त करा दे। राम नाम का गुणगान तो सब कोई करता है किन्तु उसके रहस्य से सब अनभिज्ञ हैं। कबीर कहते हैं कि मुझे बाह्याडम्बर भक्ति के ढोंग से बहुत घृणा है, उस प्रभु के गुणगान और दर्शन से ही वास्तविक सुख प्राप्त होता है। उसका रहस्य बिना साक्षात्कार के बताना असम्भव ही है।

गोब्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन तूं निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं मुद्रा नाहीं माया ॥टेक॥

समद नाहीं सिषर नाहीं, धरती नाहीं गगनां।
रवि ससि दोउ एकै नाहीं, बहत नांहीं पवनां।।
नाद नांहीं व्यंद नांहीं, काल नहीं काया।
जब तैं जल व्यंब न होते, तब तूंहीं राम राया।।
जप नांहीं तप नांहीं, जोग ध्यांन तहीं पूजा।
सिव नांहीं सकती नांहीं, देव नहीं दूजा।।
रुग न जुग न स्यांम अथरबन, बेद नहीं व्याकरनां।
तेरी गति तूंहीं जांनैं, कबीरा तो सरनां।।२१९।।

शब्दार्थ—समद=समुद्र। सिषर=शिखर, पर्वत। बहत=चलना अथरबन=अथर्ववेद। रुग=ऋग्वेद। जुग=यजुर्वेद। स्यांम=सामवेद।

हे ईश्वर! तू निरंजन है, साधारण नेत्रों से न देखे जाने के कारण अलख निरञ्जन है। तेरा कोई रूप, आकार, मुख, मुद्रा नहीं, माया का भी तुझ तक प्रसार नहीं। तू न तो समुद्र है, न पर्वतशिखर, न पृथ्वी एवं तू सूर्य-चन्द्र दोनों में से एक भी नहीं है, न वायु ही तू है। न तू नाद है न मृत्यु और न शरीर। जब सृष्टि में जल आदि की भी सत्ता नहीं थी, तब हे प्रभु! आप ही का अस्तित्व था। न तू जप-जप, योग, ध्यान अथवा पूजा से प्राप्य है। तू न शिव है और न शक्ति—न इसके अतिरिक्त अन्य कोई देवता है। न तू ऋग्, यजु, अथर्व और सामवेद और न व्याकरण में से ही तू कोई है। हे प्रभु! आपकी गति केवल आप ही जानते हैं, कबीर तो आप की शरण में पड़ा हुआ है।

विशेष—ईश्वर के निर्गुण स्वरूप का वर्णन है।

राम कै नांइ नींसांन बागा, ताका मरम न जानैं कोई।
भूख त्रिषा गुण वाकै नांहीं, घट घट अंतरि सोई।।टेक।।
बेद बिबर्जित भेद बिबर्जित, बिबर्जित पाप रु पुंन्यं।
ग्यान बिबर्जित ध्यान बिबर्जित, बिबर्जित अस्थूल सुंन्यं।।
भेष बिबर्जित भीख बिबर्जित, बिबर्जित ड्यंभक रूपं।
कहैं कबीर तिहूं लोक बिबर्जित, ऐसा तत्त अनूपं।।२२०।।

शब्दार्थ—नींसान=चिह्न। मरम=रहस्य। बिबर्जित=शून्य, रहित।

यहाँ कबीर ईश्वर के अद्भुत स्वरूप का कथन करते हुए कहते हैं कि प्रभु राम का कोई चिह्न है ही नहीं उसका रहस्य कोई नहीं जानता। उसे न भूख-प्यास लगती है। वह तो प्रत्येक हृदय में बसा हुआ है। वह वेद, भेद एवं पाप-पुण्य की परिभाषाओं से अलग है। ज्ञान, ध्यान, स्थूल एवं सूक्ष्य इन परिधि से भी वह दूर है। बाह्याडम्बर, भिक्षाटन, दम्भ आदि के स्वरूप से भी वह प्राप्त नहीं हो सकता। कबीर कहते हैं कि वह ब्रह्म तो ऐसा अनुपम, चित्र-विचित्र है कि वह तीनों लोकों से अनोखा है।

रांम रांम रांम रमि रहिए, साषित सेती भूलि न कहिये ।।टेक।।
का सुनहां कौं सुमृत सुनांयें, का साषित पैं हरि गुन गांये ।
का कऊवा कौं कपूर खवाये, बिसहर कौं दूध पिलांये ।।
साषित सुनहां दोऊ भाई, वो नींदै वौ भौंकत जाई ।
अंमृत ले ले नींब स्यंचाई, कहै कबीर वाकी वांनि न जाई ।।२२१।।

शब्दार्थ—साषित=शाक्त । सेती=शक्ति । सुनहा=श्वान । सुमृत=स्मृति । विषहर=विषधर ।

कबीर कहते हैं कि हे शाक्त ! तुम भूलकर भी शक्ति का जप मत करो, सदैव राम-नाम में अपनी वृत्ति रमाये रहो । जिस भाँति श्वान को स्मृति सुनाने का कोई लाभ नहीं, उसी प्रकार शाक्त के सम्मुख प्रभु-गुणगान का कोई महत्व या अर्थ नहीं । उसके सम्मुख यह ऐसे ही निरर्थक है जिस भांति कौए को कपूर जैसी सुगन्धित वस्तू खिलाने से वह अपना दुष्ट स्वभाव नहीं छोड़ना तथा सर्प दूध पिलाने से दंशन करना नहीं छोड़ता । शाक्त और श्वान दोनों एक जैसे ही हैं, शाक्त दूसरों की निन्दा में सर्वदा भौंकता रहता है, कुत्ता भी भौंकता है । चाहे उसे कितना ही प्रभु-भक्ति का अमृत दिया जाय, किन्तु उसकी आदत नहीं छूटती ।

विशेष—१. उदाहरण अलंकार ।

२. कबीर की तीव्र शाक्त विरोधी भावना यहाँ स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आई है ।

अब न बसूं इहिं गांइ गुसाईं,
तेरे नेवगी खरे सयांने हो राम ।।टेक।।
नगर एक तहां जीव धरम हता, बसैं जु पंच किसानां ।
नैनूं निकट श्रवनूं रसनूं, इंद्री कह्या न मांनैं हो रांम ।।
गांइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै ।
जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोकौ मारै हो रांम ।।
खोटौ महतौ विकट बलाही, सिर कसदम का पारै ।
बुरों दिवांन दादि नहिलागै, इक बांधै इक मारै हो रांम ।।
धरमराइ जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी ।
पांच किसांनां भाजि गये हैं, जीव धर बांध्यौ पारी हो रांम ।।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि भजि बांधौ भेरा ।
अब कीं बेर बकसि बंदे कौं, सब खत करौं नबेरा ।।२२२।।

शब्दार्थ—गांइ=गाँव । हता=नष्ट हो गया । पंच किसानां=पाँच किसान रूपी इन्द्रिय । ठाकुर=स्वामी, काल से तात्पर्य है । काइथ=कायस्थ । महतौ=मुकद्दम । दिवान=पुलिस का दीवान । धरमराइ=धर्मराज । बकसि=क्षमा करना । खत=पाप । नबेरा=हिसाब चुकाना ।

हे प्रभु ! मैं आपके सम्मुख प्रार्थना करता हूँ कि इस संसार रूपी ग्राम में पुन: नहीं बसूंगा । यहाँ रहकर जीवात्मा का धर्म नष्ट हो गया है । उस नगर में पाँच विषयों के रूप में पंच कृषक वास करते हैं । इन्द्रियाँ मेरा कहना मानती ही नहीं, वे दौड़-दौड़ कर इन विषयों में लिप्त रहती हैं । गांव का स्वामी काल इस शरीर रूपी क्षेत्र को नाप रहा है और कायस्थ पटवारी भी अपना हिस्सा नहीं छोड़ता । जर्जर बन्धनों की रज्जु में ये मेरे अस्तित्व को बाँध रहे हैं । इस प्रकार हे राम ! ये सब मिलकर मुझे मार दे रहे हैं । इस गाँव का मुकद्दम और अन्य कर्मचारी भी दुर्जन हैं जो आसामी को मारकर ही छोड़ेंगे । पुलिस के जो दीवान हैं वे भी कुचरित्री हैं, जो इन आततायियों से मुझे नहीं बचाते । रक्षक ही भक्षक हैं । मृत्यु होने पर जब धर्मराज ने कर्मों का लेखा-जोखा देखा तो मेरी ओर बहुत हिसाब निकला । इस स्थिति को देखकर पंच विषयों के कृषक भाग गये है ।

कबीर कहते हैं कि हे सज्जनों ! साधुओ ! प्रभु का स्मरण करते हुएं इस जीवन-बेड़े को बाँध लो । हे प्रभु ! अब की बार मुझे क्षमा कर दो, दया-दान दे दो तो मैं पिछला समस्त हिसाब सत्कर्मों से चुकता कर दूंगा ।

विशेष—१. सांगरूपक अलंकार ।

ला म थें मन लागौ राम तोही, करौ कृपा जिनि बिसरौ मोही ।।टेक।।
जननीं जठर सह्या दुख भारी, सो संक्या नहीं गई हमारी ।।
दिन दिन तन छीजै जरा जनावै, केस गहैं काल बिरदंग बजावै ।
कहै कबीर करुणांमय आगैं, तुम्हारी क्रिपा बिना यहु बिपति न भागै ।।२३२।।

शब्दार्थ—जठर=उदर । छीजै=नष्ट होता है । जरा=वृद्धावस्था । बिरदंग=मृदंग ।

हे प्रभु ! मैं इस संसार-ताप भय से आपका आश्रय ग्रहण कर रहा हूँ । हे दयामय दया कीजिए । मातृ-उदर में बारम्बार ताप और दुःख सहता हूँ, किन्तु फिर भी यह संसार संशय नष्ट नहीं होता । प्रति दिन यह शरीर क्षीण होता हुआ वृद्धावस्था के आगमन की सूचना देता है और मृत्यु सर्वदा हम पर छायी हुई आनन्द मना रही है । कबीर दीनबन्धु प्रभु के सम्मुख यह प्रार्थना करता हैं कि आपकी अनुकम्पा बिना यह दारुण-दुःख दूर नहीं होगा अतः कृपा करो ।

कब देखूं मेरे राम सनेही, जा बिन दुख पावै मेरी देही ।।टेक।।
हूँ तेरा पंथ निहारूँ स्वांमीं, कब र मिलहुगे अंतरजांमीं ।
जैसे जल बिन मीन तलपै, ऐसे हरि बिन मेरा जियरा कलपै ।।
निस दिन हरि बिन नींद न आवै, दरस पियासी रांम क्यूं सचुपावै ।
कहै कबीर अब बिलंब न कीजै, अपनौं जानि मोहि दरसन दीजै ।।२२४।।

शब्दार्थ—कलपै=व्यथित होता है । सचु=सुख ।

हे प्रभु ! मैं आपके दर्शन कब प्राप्त करूँगा, आपके अभाव में यह शरीर प्रतिपल वेदना का अनुभव कर रहा है । मैं आपका मार्ग तभी से जोह रहा हूँ, हे प्रभु

आप कब दर्शन दोगे ? जिस भाँति जल के अभाव में मछली व्यथित होती हैं वही स्थिति मेरी आपके अभाव में है। मुझे अहर्निश प्रभु-दर्शन के बिना नींद नहीं आती है। भला जो स्वामी के दर्शन की भूखी है वह शान्ति लाभ कैसे करेगी ?

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! आप मुझे अपना ही जानकर अब दर्शन देने में देरी मत कीजिए।

विशेष—उदाहरण अलंकार।

सो मेरा रांम कबै घरि आवै, ता देखें मेरा जिव सुख पावै ॥टेक॥
बिरह अगिनि तन दिया जराई, बिन दरसन क्यूं होइ सराई ॥
निस बासुर मन रहै उदासा, जैसे चातिग नीर पियासा।
कहै कबीर अति आतुरताई, हमकौं बेगि मिलौ रांमराई ॥२२५॥

शब्दार्थ—सराई=शीतलता, सुख की प्राप्ति। निज बासुर=रात-दिन।

कबीर अपनी आत्मा के माध्यम से कहते हैं कि मेरे स्वामी राम ! आप मुझे कब दर्शन दोगे, जिससे मेरा मन आह्लादित हो जायेगा। यह शरीर विरहाग्नि से दग्ध हो रहा है, दर्शन के बिना यहाँ शीतलता, शान्ति, सम्भव नहीं। जिस प्रकार चातक स्वाति नक्षत्र के जल के लिए तृषित रहता है उसी भाँति मेरा मन प्रभु दर्शन के लिए बेचैन रहता है। कबीर विरहातुर होकर मनुहार करते हैं। मुझे शीघ्र दर्शन दो।

विशेष—उदाहरण अलंकार।

मैं सासने पीव गौंहनि आई।
सांई संगि साध नहीं पूगी, गयौ जोबनसुपिनां की नांई ॥टेक॥
पंच जनां मिलि मंडप छायौ, तीनि जनां मिलि लगन लिखाई।
सखी सहेली मंगल गांवैं, सुख दुख माथै हलद चढ़ाई ॥
नांनां रंगैं भांवरि फेरी, गांठि जोरि बावै पति ताई।
पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह, चौक कै रंगि धर्यौ सगौ भाई ॥
अपने पुरिष मुख कबहूं न देख्यौ, सती होत समझी समझाई।
कहै कबीर हूं सर रचि मरि हूं, तिरौं कंत ले तूर बजाई ॥२२६॥

शब्दार्थ—गौंहनि=श्वसुर-गृह, ससुराल। पूगी=पूरी हुई। तीनि=सत्त्व, रज और तमोगुण।

कबीर आत्मा से कहलाते हैं कि मैं इस संसार रूपी श्वसुर गृह में नवपरिणीता वधू के रूप में आई थी, किन्तु कभी भी मेरा अपने स्वामी (प्रभु) से साक्षात्कार नहीं हुआ। यह आयु (जीवन) यूं ही बीत गई। यद्यपि मेरा सांसारिक रीति से विवाह हुआ था किन्तु साक्षात्कार आज तक नहीं हुआ। पाँचों इन्द्रियों ने मिलकर विवाह-मण्डप रचाया था और तीनों गुणों ने लग्न लिखी थी। सांसारिक साथियों ने मिलकर मंगल गान इस विवाहोत्सव पर गाये थे और मेरे शरीर पर सुख दुख की हल्दी चढ़ा दी थी। अनेक रंगों की परिक्रमाएँ कर गठ-बन्धन आदि की समस्त क्रियाएं सम्पूर्ण

कीं। चौक के रंगों को सगे भाई ने रखा था। इस भांति बिना पति के ही विवाह की समस्त क्रियाएं सम्पन्न कर दी गईं। इस आत्मा ने अपने स्वामी का मुख देखने का सौभाग्य कभी भी प्राप्त नहीं किया है। कबीर कहते हैं कि हे आत्मा! अब ऐसे सुकर्म कर कि मंगल वाद्य बजाकर प्रियतम का स्वागत कर सके।

विशेष—रूपक, उपमा, विभावना अलंकार।

धीरैं धीरैं खाइबौ अनत न जाइबौ, रांम रांम रांम रमि रहिबौ ।।टेक।।
पहली खाई आई माई, पीछैं खैहूं सगौ जवाई।
खाया देवर खाया जेठ, सब खाया सुसर का पेट ।।
खाया सब पटण का लोग, कहै कबीर तब पाया जोग ।।२२७।।

शब्दार्थ—अनत=अन्यत्र, दूसरी जगह। पटण=नगर।

कबीर कहते हैं कि 'राम-राम' जपने से ही जीव का कल्याण होगा, इसलिए अपने सांसारिक सम्बन्धों को तो धीरे-धीरे समाप्त करना ही श्रेयस्कर है।

पहले जीवात्मा ने माया (अपनी माँ, क्योंकि जीव माया सृष्टि है) को समाप्त किया, तदनन्तर उससे उत्पन्न विषय-वासना के जितने भी आकर्षण थे, सबको समाप्त कर दिया। देवर, जेठ, श्वसुर—जितना भी माया का परिवार था, सबको समाप्त कर ही भक्तात्मा ने प्रभु-भक्ति, योग को प्राप्त किया है।

विशेष—वीप्सा अलंकार।

मन मेरौ रहटा रसनां पुरइया,
हरि कौ नांउं लै लै काति बहुरिया ।।टेक।।
चार खूंटी दोइ चमरख लाई, सहजि रहटवा दियौ चलाई ।।
सासू कहै काति बहू ऐसैं, बिन कातें निसतरिबौ कैसें।
कहै कबीर सूत भल काता, रहटां नहीं परम पद दाता ।।२२८।।

शब्दार्थ—रहटा=चर्खा। पुरइया=माल। निसतरिबौ=उद्धार।

कबीर अपनी आत्मा को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे बहू! तू प्रभु का नाम ले-ले कर भक्ति का सूत कात। मेरा मन ही चरखे का घेरा है जिस पर जिह्वा की माल चढ़ी हुई है। चारों पदार्थों को खूंटों के रूप में स्थापित कर दोनों लोकों की चमरख लगायी है और 'सहजसमाधि' की घेरी को चला दिया है। शिष्य आत्मा को कहते हैं कि तू इस भाँति भक्ति का सूत कात, बिना इसे काते तेरा उद्धार सम्भव नहीं। कबीर कहते हैं कि हे आत्मा! तू इस सूत को कात ले, मन के वश में मत पड़ मन रूपी रहट (घेरा) परमपद का दाता नहीं, उसकी प्राप्ति तो भक्ति से होती है।

विशेष—सांगरूपक, रूपक, रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

अब की घरी मेरो घर करसा, साध संगति ले मोकौं तिरसी ।।टेक।।

पहली को घाल्यौ भरमत डोल्यौ, सच कबहूं नहीं पायौ।
अब की धरनि धरी जा दिन थैं, सगलौ भरम गमायौ ।।

पहली नारि सदा कुलवंती, सासू सुसरा मानैं।
देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय कौ मरम न जानैं॥
अबकी धरनि धरी जा दिन थैं, पीय सूं बांन बन्यूं रे।
कहै कबीर भाग बपुरी कौं, आइ रु रांम सुन्यूं रे॥२२६॥

शब्दार्थ—भरमत = भ्रम में पड़ा हुआ। सगलौ = सारा। बपुरी = बेचारी।

कबीर कहते हैं कि अब मैं साधु-संगति से इस भवसार से तर जाऊंगा और अपने वास्तविक घर पहुंच जाऊंगा। मैं अपने पहले किये हुए कुकर्मों के बल पर ही इस संसार में भ्रमित हो रहा हूँ और सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पा रहा हूँ किन्तु अब जिस समय मैंने प्रभु-भक्ति का संकल्प किया है, मेरा समस्त भ्रम विदूरित हो गया है। साधक आत्मा बड़ी सती होती है जो प्रिय का ही ध्यान करती हुई गुरुजनों का भी सम्मान करती है किन्तु यह सांसारिक आत्मा प्रियतम (प्रभु) की चिन्ता न करती हुई वासना में लिप्त रहती है। यह पहली, साधक, आत्मा का ही भाग्य होता है कि प्रभु उससे मिलते हैं।

मेरी मति बौरी रांम बिसार्यौ, कहि बिधि रहनि रहूँ हो दयाला।
सेज रहूँ नैंन नहीं देखौं, यहु दुख कासौं कहूँ हो दयाला॥टेक॥
सासु की दुखी ससुर की प्यारी, जेठ कै तरसि डरौं रे।
नणद सहेली गरब गहेली, देवर कै बिरह जरौं हो दयाल॥
बाप सावकौ करै लराई, माया सद मतवाली।
सगौ भईया लै सलि चढ़िहूँ, तब ह्वै हूँ पीयहि पियारी॥
सोचि बिचारि देखौ मन मांहीं, औसर आइ बन्यूं रे।
कहै कबीर सुनहु मति सुंदरि, राजा रांम रमूं रे॥२३०॥

शब्दार्थ—बौरी = पागल। गरब = गर्व, घमंड। औसर = अवसर।

कबीर कहते हैं कि हे दीनबन्धु! मैं किस भाँति जीवन धारण करूं। यह कैसी विडंबना है कि आप सदैव समीप रहते हो किन्तु आपका दर्शन नहीं होता, इस व्यथा-कथा किससे कहा जाय। यह आत्मारूपी दुलहन मायारूपी सास से तो दुःखी है किन्तु प्रभु-रूप श्वसुर की प्यारी है एवं काल के कारण तो यह थर-थर काँपती है। सखियां इसे वासना-पथ पर चलने को प्रेरित करती हैं किन्तु यह किसी और के ही प्रेम में घुली जा रही है। यह माया अपने जन्म देने वाले पिता—प्रभु से ही विरोध ठान रही है। यह आत्मा मायाजन्य आकर्षणों को चाहे वे भाई तुल्य ही प्रिय क्यों न हों, जब तक मार नहीं देती तब तक प्रियतम को प्रिय नहीं हो सकती। कबीर कहते हैं कि मन में भली-भाँति सोच-समझ कर देख लो यह, इस जन्म के रूप में, प्रभु-भक्ति का अवसर आ गया है। इसलिए प्रभु का भजन करो।

विशेष—१. रूपक, अन्योक्ति, विरोधाभास।

२. टेक की तीसरी पंक्ति से विद्यापति के भाव की तुलना कीजिए—
"एकहि पलंग पर कान्ह रे, मोर लख दूर देस मान रे।"

अवधू ऐसा ग्यांन विचारी, तायैं भई पुरिष थैं नारी ।।टेक।।
नां हूं परनीं ना हूं क्वारी, पूत जन्यूं द्यो हारी।
काली मूंड को एक न छोड़्यो, अजहूं अकन कुवारी ।।
बाम्हन कै बम्हनेडी कहियौं, जोगी कै घरि चेली।
कलमां पढि पढि भई तुरकनीं, अजहूं फिरौं अकेली ।।
पीहरि जांऊं न रहूं सासुरैं, पुरषहि अंगि न लांऊं।
कहै कबीर सुनहु रे संतो, अंगहि अंग न छुवांऊं ।।२३१।।

शब्दार्थ--परनीं=परिणीता। क्वारी=कन्या।

हे अवधूत ! तू इस रहस्य को समझने की चेष्टा कर, जिससे 'ब्रह्म' परम-पुरुष होते हुए भी माया रूप में क्यों सृष्टि करता है ? यह वैसा ही है जैसे स्त्री न तो परिणीता है और न क्वारी, किन्तु फिर भी पुत्र को जन्म देती है। इस माया ने किसी भी मनुष्य को धर्मनिष्ठ नहीं रहने दिया, किन्तु फिर भी यह आज भी क्वारी ही है। यह ढोंगी पंडितों के घर तो अपना पूर्ण प्रभुत्व जमा लेती है, किन्तु ज्योतिस्वरूप परमात्मा की साधना में लगे हुए साधक की यह चेरी मात्र है। यह शास्त्र ग्रंथों को भी पढ़कर व्यभिचार नहीं छोड़ती। आत्मा कहती है कि अब मैं इस संसार रूपी श्वसुर गृह में नहीं रहना चाहती, अपने प्रभु के लोक—पीहर—को जाना चाहती हूँ। इसलिए मैं अब तनिक भी विषय-वासना में नहीं पड़ूंगी। कबीर कहते हैं कि हे संतो अब मेरी आत्मा पूर्ण निर्मल रहेगी जिससे प्रभु से मिलन हो सके।

विशेष --उदाहरण अलंकार।

मीठी मींठी माया तजी न जाई, अग्यांनीं पुरिष कौं भोलि भोलि खाई ।।टेक।।
निरगुंण सगुंण नारी, संसारि पियारी, लषमणि त्यागी गोरषि निवारी।
कीड़ी कुंजर मैं रही समाई, तीनि लोक जीत्या माया किनहूं न खाई ।।
कहै कबीर पद लेहु विचारी, संसारि आइ माया किनहूं एक कहीं षारी ।।२३२।।

शब्दार्थ—भोलि-भोलि=भोला समझकर गोरषि—गोरखनाथ। कुंजर=हाथी।

कबीर कहते हैं कि ऊपर से मीठी-मीठी इस माया का परित्याग करते नहीं बनता। अज्ञानी मनुष्य को तो यह भोला समझ कर खूब नष्ट करती है। यह निर्गुण और सगुण रूप माया बड़ी भयानक है। लक्ष्मण और गोरखनाथ जी जैसे इसको त्याग चुके हैं। इसने तीनों लोकों को विजित कर चिऊंटी से हाथी जैसे बड़े पदार्थ तक में अपना अस्तित्व बना रखा है किन्तु इसे कोई समाप्त नहीं कर सका। कबीर कहते हैं कि यह तुम भली-भाँति समझ लो कि संसार में आकर माया से विरले ही बचते हैं।

मन कै मैलौ बाहरि ऊजलौ किसौ रे,
खांडे की धार जन कौ धरम इसौ रे ।।टेक।।

हिरदा को बिलाव नैंन बग ध्यांनीं ।
ऐसी भगत न होइ रे प्रांनीं ।।
कपट की भगति करै जिन कोई ।
अंत की बेर बहुत दुख होई ।।
छांडि कपट भजौ रांम राई ।
कहै कबीर तिहुँ लोक बड़ाई ।।२३३।।

शब्दार्थ—खांड़े की धार=तलवार की धारा । बेर=समय ।

यदि मन विषय-वासना विकारों से दूषित है तो शरीर को उज्ज्वल रखने से क्या लाभ ? अन्तर और बाह्य—दोनों की ही शुद्धता वांछनीय है । भक्त का कर्त्तव्य 'तलवार की धार पैं धावनों' है ।

हृदय में कपट रखते हुए बगुला भक्त के समान नेत्र मूँदने से भक्ति-साधना नहीं होती । जो भक्ति में कपटपूर्ण व्यवहार करता है अन्ततः उसे दारुण दुःख उठाने पड़ते हैं । यदि कपट छोड़कर प्रभु राम का भजन किया जाय तो भक्त का यश तीनों लोकों में फैल जाता है ।

चोखौ बनज ब्यौपार करीजै,
आइनैं दिसावरि रे रांम जपि लाहौ लीजै ।।टेक।।
जब लग देखौं हाट पसारा, उठि मन बणियों रे, करि ले बणज संवारा ।
बेगे हो तुम्ह लाद लदांनां, औघट घाटा रे चलनां दूरि पयांनां ।।
खरा न खोटा नां परखानां, लाहे कारनि रे सब मूल हिरांनां ।
सकल दुनीं मैं लोभ पियारा, मूल ज राखै रे सोई बनिजारा ।।
देस भला परिलोक बिरांनां, जन दोइ चारि नरे पूछो साध सयांनां ।
सायर तीर न वार न पारा, कहि समझावै रे कबीर बणिजारा ।।२३४।।

शब्दार्थ—चोखौ=अच्छा । बनज=व्यापार । सवारा=सँभालकर, कुशलता से । लाहे कारनि=लोभ के लिए । सायर=शायर, कवि ।

कबीर जीवात्मा की तुलना वणिक् से करते हुए कहते हैं कि इस विदेश (संसार) में आकर भले कर्मों का व्यापार करना ही श्रेयस्कर है अतः हे वणिक् (जीव) तुम राम नाम जपो । शीघ्रतापूर्वक तुम अपना सामान बाँध लो, भक्ति कर्म कर लो क्योंकि तुम्हारा लक्ष्य दूर और साधना की विकट पगडंडी के द्वारा तुम्हें वहां जाना होगा । इस संसार में तुमने लाभ के लोभ में खरे-खोटे कर्मों की कुछ भी पहचान न की, जिस से लाभ के स्थान पर पूर्वसंचित सत्कर्मों का मूलधन भी गंवा बैठे । समस्त संसार लोभ के वशीभूत है, जो कोई प्रभु-भक्ति के मूलधन की रक्षा करता है वही वास्तविक भक्त है । जिन दो चार सज्जनों से परामर्श किया उन्होंने यही सद्विचार बताया कि अपना देश ही अच्छा है । यह विदेश तो बाधाओं एवं व्यथाओं से परिपूर्ण है । भक्त कबीर समझाते हुए कहते हैं कि शूरवीर का तीर तो पार ही कर देता है

अन्यथा भक्त वे तीर ही नहीं छोड़ते ।

भाव यह है कि ऐसी भक्ति करो जो इस संसार सागर से पार हो अपने देश—प्रभु लोक—में पहुंच जाओ ।

विशेष - सांगरूपक अलंकार ।

जो मैं ग्यांन बिचार न पाया,
तौ मैं यौंहीं जन्म गंवाया ।।टेक।।
यहु संसार हाट करि जांनूं, सबको बणिजण आया ।
चेति सकै सो चेतौ रे भाई, मूरखि मूल गंवाया ।।
थाकै नैंन बैंन भी थाकै, थाकी सुन्दर काया ।
जांमण मरण ए द्वै थाके, एक न थाकी माया ।।
चेति चेति मेरे मन चंचल, जब लग घट मैं सासा ।
भगति जाव पर भाव न जइयौ, हरि के चरन निवासा ।।
जे जनि जांनि जपैं जग जीवन, तिनका ग्यांन न नासा ।
कहै कबीर वै कबहूं न हारे, जांनि न ढारैं पासा ।।२३५।।

शब्दार्थ—मूल = मूलधन । जांमण = जन्म । सासा = सांस । जाव = जाना ।

यदि मैंने ज्ञान एवं मनन-चिन्तनपूर्ण विचार को प्राप्त न किया तो मेरा यह जन्म व्यर्थ ही चला जायेगा । यह संसार तो एक बाजार—पैंठ है । वहां सब कर्म व्यापार करने आये हैं । हे जीव ! यदि तू इस विषय-वासना पूर्ण संसार में सावधान हो प्रभु का भजन कर सके तो ठीक है, अन्यथा अज्ञानियों ने अपने पूर्व संचित सत्कर्मों के मूलधन को भी गँवा दिया है । यह सुन्दर शरीर, नयन तथा वाणी सभी कुछ परिश्रान्त और क्लान्त हो चुकी हैं, जन्म-मरण के चक्र में पड़ जीव ऊब गया है किन्तु माया फिर भी पराजित नहीं हुई । हे मेरे चंचल मन ! तू प्राणों के रहते सावधान हो जा । हरि-चरणों की शरण और भक्ति-भाव के बिना माया-प्रभाव दूर नहीं हो सकता । जो भक्त-जन संसार की स्थिति को जानते हुए करुणामय का भजन करते हैं उनका ज्ञान नष्ट नहीं होता । वे कभी भी इस माया से पराजित नहीं होते और पुनः इस भव-बन्धन में नहीं पड़ते ।

साधौ बाबा आगि जलाबो घरा रे,
ता कारनि मन धंधै परा रे ।।टेक।।
इक डांइनि मेरे मन मैं बसै रे, नित उठि मेरे जीय कौं डसै रे ।
या डांइन्य के लरिका पांच रे, निस दिन मोहि नचांवैं नाच रे ।।
कहै कबीर हूं ताकौ दास, डांइनि कै संगि रहै उदास ।।१३६।।

शब्दार्थ—घरा = घर, गृह । लरिका = लड़के, विषय-विकार । उदास = उदासीन ।

कबीर कहते हैं कि भाइयो ! मुझे अग्नि ला दो, आज मैं इस गृह को भस्म

सात् कर दूं जिसके कारण मन सर्वदा बन्धन में पड़ा रहा है।

मेरे मन में एक माया रूपी डंकिनी का वास है जो नित्य उठ कर मन को सालती है। इस माया-डंकिनी के पाँच पुत्र—पाँच विषय अथवा पाँच विकार—(काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह) हैं जो अहर्निश मुझे अपने जाल में फांसे रहते हैं। कबीर कहते हैं कि मैं उस भक्त का दास हूँ जो इस माया डायन से उदासीन रहता है, इसके प्रभाव में नहीं आता।

बंदे तोहि बंदिगी सौं कांम, हरि बिन जांनि औंर हरांम।
दूरि चलणां कूंच बेगा, इहाँ नहीं मुकांम ।।टेक।।
इहाँ नहीं कोई यार दोस्त, गांठि गरथ न दांम।
एक एकैं संगि चलणां, बीचि नहीं बिश्रांम ।।
संसार सागर बिषम तिरणां, सुमरि लै हरि नांम।
कहै कबीर तहां जाइ रहणां, नगर बसत निधांन ।।२३७।।

शब्दार्थ—कूंच=प्रस्थान करना। मुकाम=ठहरना। दाम=सम्पत्ति। निधान=कृपा निधान ब्रह्म।

हे जीवात्मा! तुझे तो प्रभु-भक्ति से ही प्रयोजन है। ईश्वर के अतिरिक्त और सबको तो तू वृथा-जंजाल जान। तुझे अभी दूर जाना है, संसार तीर्थ में ही नहीं रुक जाना है क्योंकि तेरी मंजिल यहाँ नहीं है। इस संसार में तेरा कोई मित्र—हितैषी नहीं है, सब स्वार्थ के सम्बन्धी हैं तथा तेरे पास कुछ भी सम्पत्ति नहीं है जिसके आधार पर तू अपना लक्ष्य प्राप्त कर सके। उस अपनी मंजिल की डगर पर तुझे अनवरत चलना होगा, तनिक भी विश्राम का अवसर नहीं है। इस भव सागर को पार करना बड़ा कठिन है, इसलिए ईश्वर-नाम का गुणगान कर ले। कबीर कहते हैं कि तुझे अपने उसी देश में जाकर रहना चाहिए, जहां कृपानिधान ब्रह्म का वास है।

झूठा लोग कहैं घर मेरा।
जा घर मांहैं बोलै डोलै, सोई नहीं तन तेरा ।।टेक।।
बहुत बंध्या परिवार कुटंब मैं, कोई नहीं किस केरा।
जीवत आंषि मूंदि किन देखो, संसार अंध अँधेरा ।।
बस्ती मैं थैं मारि चलाया, जंगलि किया बसेरा।
घर की खरच खबरि नहीं भेजीं, आप न कीया फेरा ।।
हस्ती घोड़ा बैल बांहणीं, संग्रह किया घणेरा।
भीतरि बीबी हरम महल मैं, साल मिया का डेरा ।।
बाजी की बाजीगर जांनैं, कै बाजीगर का चेरा।
चेरा कबहूँ उझकि न देखै, चेरा अधिक चितेरा ।।
नौ मन सूत उरझि नहीं सुरझै, जनमि जनमि उरझेरा।
कहै कबीर एक रांम भजहुँ रे, बहुरि न ह्वैगा फेरा ।।२३८।।

शब्दार्थ—बंध्या=बँधना। मस्ती=हस्ती, हाथी। फेरा=जन्म।

इस संसार में आकर लोग व्यर्थ ही यह उद्घोषण करते हैं कि यह घर मेरा है। अरे मूर्ख ! घर में तेरा यह सुन्दर शरीर बोलता है और संचरण करता है वह शरीर भी तेरा नहीं है।

हे जीव ! तू इस संसार के परिवार आदि बंधन में बहुत बंध चुका है किन्तु वास्तव में कोई भी तेरा नहीं है। तुम जीवन्मुक्त स्थिति प्राप्त कर इस संसार को देखेगा तो यह अंधकार पूर्ण ही ज्ञात होगा अथवा यदि झूठे ही मर कर देख लो तो थोड़े समय के पश्चात् तुम्हें कोई स्मरण नहीं करेगा। कुछ लोग संसार त्याग विरक्त हो वन में आ जाते हैं। गृह की वे खबर तक नहीं लेते और फिर स्वयं उधर जाते भी नहीं किन्तु इस अवस्था में भी वे बन्धन मुक्त नहीं रहते।

सांसारिक व्यक्ति हाथी, घोड़ा, बैल आदि ऐश्वर्य और सम्पत्ति का संचय करता है। साथ ही अपने अन्तःपुर में विषय-वासना की पूर्ति के लिए सुन्दरी भी रखता है। किन्तु भक्त इधर आँख उठाकर भी नहीं देखता क्योंकि इस माया-मोह से सावधान रहता है। भक्ति साधना को या तो गुरु ही जानते हैं अथवा उनका शिष्य ही उससे परिचित होता है। पच विषय, तीन गुण एवं एक मन का जो जंजाल है वही व्यक्ति को जन्म-जन्म में, आवागमन के चक्र में फांसता है। कबीर कहते हैं एक प्रभु नाम के जपने से आवागमन के चक्र में नहीं पड़ेगा।

विशेष—१. रूपक, अनुप्रास, रूपकातिशयोक्ति।

२. 'नौ मन सूत'—पाँच विषय—शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श; तीन गुण —सत, रज, तम; एवं मन से ही समस्त कुकर्मों का जंजाल खड़ा होता है, यदि इन्हें अपने वश में कर ले तो फिर वह मुक्त हो जाय।

हावड़ि धावड़ि जनम गवावै,
कबहूँ न रांम चरन चित लावै ॥टेक॥
जहाँ जहाँ दाँम तहाँ मन धावै, अंगुरी गिनतां रैंनि बिहावै।
तृया का बदन देखि सुख पावै, साध की संगति कबहूँ न आवै॥
सरग के पंथि जात सब लोई, सिर धरि पोट न पहुँच्या कोई।
कहै कबीर हरि कहा उबारे, अपणें पाव आप जौ मारें ॥२३६॥

शब्दार्थ—हावड़ि धावड़ि=आपाधापी। रैंनि=रात। तृया=स्त्री। बदन =मुख। सरग=स्वर्ग। पंथि=मार्ग।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! इस आपाधापी में वासना कर्मों के प्रति जब देखो तब अनुरक्त रहने में ही तूने अपना जीवन व्यर्थ नष्ट कर दिया है। जहाँ-जहाँ धन प्राप्ति की आशा रहती, मन वहीं भटकता रहता है और हिसाब लगाते-लगाते ही तेरी रात्रि कटती है। सुन्दरी को देखने को प्रत्येक समय लालायित रहता है किन्तु साधुओं की संगति में तेरी वृत्ति नहीं रमती। शीश पर पाप-कर्मों का भार रख सब

स्वर्ग लोक जाने का उपक्रम करते हैं, किन्तु वहाँ तक पहुँच कोई नहीं पाता है। कबीर कहते हैं कि प्रभु भी उसका उद्धार क्या करें जो स्वयं विषय-वासनाओं को घातक जानते हुए भी उनमें संलिप्त रहता है।

प्रांणीं कहे कै लोभ लगि, रतन जनम खोयौ।
बहुरि हीरा हाथ न आवै, रांम बिना रोयौ ॥टेक॥
जल बूंद थैं ज्यनि प्यंड बांध्या, अगनि कुंड रहाया।
दस मास माता उदरि राख्या, बहुरि लागी माया॥
एक पल जीवन की आस नाँहीं, जम निहारै सासा।
बाजीगर संसार कबीरा, जांनि ढारौ पासा ॥२०४॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर, पुनः। प्यंड=शरीर। जम=जमराज, मृत्यु।

हे मनुष्य तूने किस लोभ में पड़ अमूल्य जीवन को व्यर्थ नष्ट कर दिया है। यह मणितुल्य मानव जीवन पुनः प्राप्त नहीं होगा, अब तू राम-भक्ति बिना व्यथा-पीड़ित होता रह। उस प्रभु की लीला बड़ी विचित्र है जिसने वीर्य की एक बूंद से इस शरीर का निर्माण कर दस मास तक मातृ-उदर की जठराग्नि के अग्निकुण्ड में इसे सुरक्षित रखा किन्तु फिर भी तू उसे विस्मृत कर माया में पड़ा रहता है। यह स्थिति तो तब है जब एक क्षण के लिए भी जीवन अस्तित्व की आशा नहीं क्योंकि प्रति श्वास पर यम का पहरा है—फिर भी तू सावधान हो प्रभु-भक्ति नहीं करता ? कबीर कहते हैं कि यह संसार तो बाजीगर के समान है जो इसमें ज्ञान रखता है वही इसके पाशों से विमुक्त हो सकता है।

विशेष—रूपक अलंकार।

फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ
जब दस मास उरध मुखि होते, सो दिन काहे भूल्यौ ॥टेक॥
जौ जारै तौ होइ भसम तन, रहत कृम ह्वै जाई।
काचै कुंभ उदक भरि राख्यौ, तिनकी कौन बड़ाई॥
ज्यूं माषी मधु संचि करि, जोरि धन कीनो।
मूयें पीछे लेहु लेहु करि, प्रेत रहन क्यूं दीनो॥
ज्यूं घर नारी संग देखि करि, तब लग संग सुहेलौ।
मरघट घाट खैंचि करि राखे, वह देखहु हंस अकेलौ॥
रांम न रमहु मदन कहा भूले, परत अंधेरैं कूवा।
कहै कबीर सोई आप बंधायौ, ज्यूं नलनीं का सूवा ॥२४१॥

शब्दार्थ—उरध=ऊर्ध्व, ऊपर। कृम=कीड़ा। उसक=उदक, पानी। माषी=मक्खी।

हे मनुष्य ! तू फला-फूला आह्लादित क्यों घूम रहा है। जब दस मास तक मातृ-उदर में व्यथा भोगी थी उसे क्यों विस्मृत कर बैठा ? यदि वह तब इस शरीर

को भस्म करना चाहता तो आज कहीं कीड़े के रूप में तुम्हारा अस्तित्व होता। वह ईश्वर तो इतना महान् है कि यदि चाहे तो बिन पके, कच्चे घड़े में ही जल भर कर रख सकता है, उसकी महिमा का वर्णन कहाँ तक किया जाय ? जिस भाँति मधु-मक्खी थोड़ा-थोड़ा करके बहुत सा मधु एकत्रित कर लेती है उसी भाँति तुम प्रभु-भक्ति को नित्य नाम-जप करके संचित कर लो। मृत्यु के पश्चात् इस शरीर का कोई लाभ नहीं ? बुरे कर्मों को कर प्रेत योनि में पड़ना अच्छा नहीं। जो नारी प्रियतम को अमित प्रेम करती थी और साथ-साथ लगी फिरती थी वही श्मशान में इस शरीर को निकाल कर चिता पर रख देती है और आत्मा अकेली ही इस संसार से महाप्रयाण करती है, कोई सगा-सम्बन्धी उसके साथ नहीं जाता। जो व्यक्ति प्रभु-भजन न करता हुआ, विषय-वासना में संलिप्त रहता है, वह अज्ञान-कूप में पड़कर आप ही बन्धन में उसी प्रकार पड़ जाता है जिस भाँति 'नलिनी का तोता' स्वयं ही भ्रम-रत रहता है।

विशेष—उपमा, रूपक, दृष्टांत अलंकार।

जाइ रे दिन हीं दिन देहा, करि लै बौरी रांम अनेहा ॥टेक॥
बालापन गयौ जोबन जासी, जुरा मरण भौ संकट आसी।
पलटे केस नैंन जल छाया, मूरिख चेति बुढ़ापा आया ॥
रांम कहत लज्या क्यूं कीजै, पल पल आउ घटै तन छीजै।
लज्या कहै हूँ जमकी दासी, एकै हाथि मुदिगर दूजै हाथि पासी ॥
कहै कबीर तिनहूँ सब हार्‌या, रांम नांम जिनि मनहु बिसार्‌या ॥२४२॥

शब्दार्थ—बौरी=पागल। पलटे=परिवर्तित हो गये। लज्या=लज्जा। आउ=आयु। मुदिग=मुगदड़, व्यायाम के लिये प्रयुक्त होता है।

कबीर कहते हैं कि हे पागल अज्ञानी मूर्ख मनुष्य ! दिन व्यतीत हुए जाते हैं, अतः प्रभु से प्रेम कर ले। शैशव यौवन व्यतीत हो गये, वृद्धावस्था भी बीतने वाली है और मृत्यु ऊपर खड़ी है। केश श्वेतता में परिवर्तित हो गये और नेत्रों की दृष्टि मंद हो इनमें पानी ढलने लगा। हे अज्ञानी ! अब तो इन्हें वृद्धावस्था के चिन्ह जान सावधान हो जा। तुम्हारी आयु प्रति पल घटती जा रही है, राम-नाम के उच्चारण में लज्जा क्यों आती है ? लज्जा तो तब आवेगी जब यम-दासी मृत्यु के एक हाथ में इस जीवन को समाप्त करने के लिये मुगदड़ और दूसरे हाथ में पुनः आवागमन चक्र में फांसने के लिये बंधन होगा। कबीर कहते हैं कि जिनके मन में राम-नाम बस जाता है, उनसे समस्त माया-आकर्षण परास्त हो जाते हैं।

मेरी मेरी करतां जनम गयौ,
जनम गयौ परि हरि न कह्यौ ॥टेक॥
बारह बरस बालापन खोयौ, बीस बरस कछू तप न कीयौ।
तीस बरस के रांम न सुमिर्‌यौ, फिरि पछितानौं बिरध भयौ ॥

सूकै सरवर पालि बधावै, लुणैं खेत हठि बाड़ि करै ।
आयौ चोर तुरंग मुसि ले गयौ, मोरी राखत मुगध फिरै ॥
सीस चरन कर कंपन लागे, नैंन नीर अस राल बहै ।
जिभ्या बचन सूध नहीं निकसै, तब सुकरित की बात कहै ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, धन संच्यौ कछू संगि न गयौ ।
आई तलब गोपाल राइ की, मैंडी मंदिर छाड़ि चल्यौ ॥२४३॥

शब्दार्थ—विरध=वृद्ध । पाति=सीमा । लुणै=नष्ट हुए । मुसि ले गयौ=चुराकर ले गया । मुगध=मुग्ध, पागल । सुकरित=सुकृत, सत्म । तलब=भक्ति से तात्पर्य है ।

हे मानव ! अहं के अथवा अपने पराये के फेर में पड़े तेरी समस्त आयु व्यतीत हो गई किन्तु फिर भी तूने प्रभु का नाम नहीं लिया । आयु के बारह वर्ष तो शैशव में व्यर्थ खो दिये, २० वर्ष तक यौवन के मद में मस्त रहा और प्रभु के लिए तप नहीं किया । तीस वर्ष तक संसार की उधेड़-बुन में लगा रहा फिर पश्चात्ताप करने से क्या, वृद्धावस्था आ पहुँची । संसार के कर्मों में लगे रहना ऐसे ही है जैसे सूखे सरोवर को पाल बाँधने और कटे हुए खेत की सुरक्षा के लिये बाड़ लगाने का उपक्रम मृत्यु रूपी चोर तुरन्त आकर समस्त कमायी हुई सम्पत्ति को ले गया और सम्पत्ति के रक्षक का अस्तित्व तक नहीं रहा । अब वृद्धावस्था आने पर शीश, हाथ, पैर कांपने लगे और नेत्रों से जल तथा मुख से राल वृद्धावस्था के चिन्हस्वरूप गिरने लगी एवं जब वाणी जरा के कारण अभिव्यक्ति में अक्षम हो गयी तब तुझे भक्ति की सूझी है । कबीर कहते हैं कि सन्तो ! जीवन भर एकत्रित किया धन साथ नहीं जाता, अतः जब प्रभु भक्ति का मन होता है तो यह गृह द्वार त्याग देना चाहिए

जाहि जाती नांव न लीया, फिरि पछितावैंगो रे जीया ॥टेक॥
धंधा करत चरन कर घाटे, आउ घटी तन खींना ।
बिषै बिकार बहुत रुचि मांनीं, माया मोह चित दीन्हां ॥
जागि जागि नर काहे सोवै, सोइ सोइ कब जागैगा ।
जब घर भीतरि चोर पड़ैंगे, तब अंचलि किस कै लागैगा ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, करि ल्यौ जे कछु करणां ।
लख चौरासी जोनि फिरौगे, बिनां रांम की सरनां ॥२४४॥

शब्दार्थ—नांव=नाम । आउ=आयु । खींना=क्षीण । अंचलि=आश्रम

कबीर कहते हैं कि यदि आयु रहते प्रभु का नाम नहीं लिया तो फिर बाद में पछताना पड़ेगा । सांसारिक कर्म करते-करते पग भी थक गये और आयु व्यतीत हो चली, शरीर क्षीण हो गया । विषय-वासना में जीव ने बहुत अनुरक्ति दिखायी और माया-मोह में उलझा रहा । हे मनुष्य ! तू जाग, कब तक पड़ा सोता रहेगा । जब इस शरीर रूपी गृह में मृत्यु का चोर आ धमकेगा तो किसका आश्रय ग्रहण करोगे ?

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्यो ! जो कुछ सत्कर्म करना है, वह करलो अन्यथा बिना प्रभु-कृपा के तो चौरासी लाख योनियों में पड़ आवागमन के चक्र में भटकना पड़ेगा।

माया मोहि मोहि हित कीन्हां,
साथें मेरो ग्यांन ध्यांन हरि लीन्हा ।।टेक।।
संसार ऐसा सुपिन जैसा, जीव न सुपिन समांन।
सांच करि नरि गांठि बांध्यो, छाँड़ि परम निधांन ।।
नैन नेह पतंग हुलसै, पसू न पेखै आगि।
काल पासि जु मुगध बांध्या, कलंक, कांमिनीं लागि ।।
करि बिचार बिकार परहरि, तिरण तारण सोइ।
कहै कबीर रघुनाथ भजि नर, दूजा नांहीं कोइ ।।२४५।।

शब्दार्थ—परम निधान=सुह्य। पहिरि=छोड़ना।

माया ने मोह कर प्रेम का ऐसा बन्धन डाला कि मेरा (जीव का) समस्त ज्ञान और विचार हरण कर लिया। संसार स्वप्नवत् मिथ्या है किन्तु इसमें व्यक्ति की सत्ता स्वप्न तुल्य भी नहीं है। हे जीवात्मा ! तू सत्य तत्व को गाँठ बाँध ले और सब कुछ प्रभु के ऊपर छोड़ दे। जिस प्रकार शलभ पशु-बुद्धि के कारण प्रेम में अग्नि को नहीं देखता, उसी भाँति कलंकस्वरूप सुन्दरी पर मनुष्य दीवाना बना रहता है, यह नहीं देखता कि काल-बन्धन में बंधा हुआ है। इसलिए विचार कर विषय-विकारों को त्याग उसी तरण-तारण प्रभु का स्मरण कर क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा नहीं है जो तेरे बेड़े को पार लगा दे।

विशेष—उदाहरण अलंकार।

ऐसा तेरा झूठा मीठा लागा, साथें साचे सूं मन भागा ।।टेक।।
झूठ के घर झूठा आया, झूठा खान पकाया।
झूठी सहन क झूठा बाह्या, झूठै झूठा खाया ।।
झूठा ऊठण झूठा बैठण, झूठी सबै सगाई।
झूठे के घरि झूठा राता, साचे को न पत्याई ।।
कहै कबीर अलह का पंगुरा, साचे सूं मन लावौ।
झूठे केरी संगति त्यागौ, मन बंछित फल पावौ ।।२४६।।

शब्दार्थ—पत्याई=विश्वास करना। अलह=ब्रह्म। पंगुरा=अंश।

हे मनुष्य तेरी वृत्ति मिथ्या आनन्दों में—विषयानन्दों में, इतनी रमती है कि तुझे वास्तविक, सत्यानन्द मिथ्या लगने लगा। इसीलिये तू प्रभु-भक्ति नहीं करता। तेरा समस्त अन्तर-बाह्य और वातावरण झूठ—विषय-वासना—से प्रेरित होकर रहता है। उठना, बैठना और स्नेहपूर्ण सम्बन्ध सब मिथ्या हैं। ठीक भी है जो विषय वासना-संलिप्त हैं वे झूठ में ही अनुरक्त रहेंगे, सत्य ब्रह्म का वे विश्वास तक नहीं करते। कबीर कहते हैं कि हे जीव ! तू ईश्वरांश है अतः उसी सत्य स्वरूप परमात्मा

में अपना मन लगा। यदि तुम दुर्जनों की संगति का परित्याग कर दो तो मन-वांछित फल प्राप्त करोगे।

कौंण कौंण गया रांम कौंण कौंण न जासी,
पड़सी काया गढ़ माटी थासी ।।टेक।।
इंद्र सरीखे गये नर कोड़ी, पाँचों पांडौं सरिषी जोड़ी।
ध्रू अविचल नहीं रहसी तारा, चंद सूर की आइसी वारा ।।
कहै कबीर जग देखि संसारा, पड़सी घट रहसी निरकारा ।।२४७।।

शब्दार्थ—सरीखे=समान। सरिषी=समान।

हे मनुष्य ! इस संसार से कौन-कौन चले गये और अभी कौन-कौन जायेंगे, यह शरीर मृत्युपरान्त मिट्टी में ही मिल जायेगा। इन्द्र जैसे अधिपति और पाँचों पांडव जैसे यशस्वी मनुष्य भी मृत्यु मुख में चले गये। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र कुछ भी तो संसार में अचल नहीं है। कबीर कहते हैं कि संसार की क्षणभंगुरता देखकर हृदयस्थित निराकार ब्रह्म की अर्चना करो।

ताथैं सेयिये नारांइणाँ,
प्रभु मेरो दीनदयाल दया करणां ।।टेक।।
जौ तुम्ह पंडित आगम जांणौं, विद्या व्याकरणां।
तंत मंत सब ओषधि जांणौं, अंति तऊ मरणां ।।
राज पाठ स्यंघासण आसण, बहु सुंदरि रमणां।
चंदन चीर कपूर बिराजत, अंति तऊ मरणां ।।
जोगी जती तपी संन्यासी, बहु तीरथ भरमणां।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर, अंति तऊ मरणां ।।
सोचि बिचारि सबै जग देख्या, कहूँ न ऊबरणां।
कहै कबीर सरणाई आयौ, मेटि जामन मरणां ।।२४८।।

शब्दार्थ—स्यंघासण=सिंहासन। मौनि=मौनधारी तपस्वी। जामन-मरणां=जन्म-मरण, आवागमन।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं आपकी वन्दना करता हूँ, अतः दीनदयाल आप मुझ पर अनुकम्पा करना। हे पंडित चाहे तुम आगम-निगम, व्याकरण आदि शास्त्र ग्रंथों में निष्णात हो, किन्तु अन्त में मरना तुम्हें भी होगा। तन्त्र, मन्त्र एवं औषधि आदि समस्त रखी रह जाती हैं। राज्य वैभव, सिंहासन, आसन बहुत सी सुन्दरियाँ जो चन्दन, कपूर के अंगराग लगाकर सुन्दर वस्त्र पहनती हैं—जिनके पास ये सब साधन हैं अन्त में उन्हें भी मरना होगा। योगी, यती, तपस्वी आदि जो बहुत से तीर्थों का भ्रमण करते हैं तथा जैन साधु, मौनधारी, जटाधारी जो भी हैं—उन्हें भी मरना होगा। कबीर कहते हैं कि मैंने भली भाँति विचार कर देख लिया है कि कोई भी संसार-परिसाटी से उबर नहीं है। मैं तो आपकी शरण में आ गया हूं, अतः

मेरा आवागमन छुड़ा, मुझे मुक्त कर दो ।

पाँडे न करसि बाद बिबादं,
या देही बिन सबद न स्वादं ।।टेक।।
अंड ब्रह्मंड खंड भी माटी, माटी नवनिधि काया ।
माटी खोजत सतगुर भेट्या, तिन कछू अलख लखाया ।।
जीवत माटी मूवा भी माटी, देखौ ग्यांन बिचारी ।
अंति कालि माटी मैं बासा, लेटै पांव पसारी ।।
माटी का चित्र पवन का थंमा, ब्यंद संजोगि उपाया ।
भांनैं घड़ै संवारै सोई, यहु गोब्यंद की माया ।।
माटी का मंदिर ग्यान का दीपक, पवन बाति उजियारा ।
तिहि उजियारैं सब जग सूझै, कबीर ग्यांन बिचारा ।।२४९।।

शब्दार्थ - मूवा = मृत्यु । बाति = वर्तिका ।

हे पंडित ! व्यर्थ शास्त्रार्थ मत कर । इस शरीर के रहते हुए ही मन संगीत और स्वाद तथा अन्य विषयों में लिप्त होता है । यह सृष्टि, सुन्दर शरीर और सृष्टि की प्रत्येक वस्तु मिट्टी ही है । इस मिट्टी के बनाने वाले को खोजने की चाह में ही सद्गुरु के दर्शन हुए, जिनकी कृपा से कुछ अलख-निरंजन का ज्ञान प्राप्त हुआ । तनिक. विचारपूर्वक देखो तो संसार में समस्त मिट्टी ही मिट्टी है, मनुष्य जीवितावस्था में भी पाँच तत्वों से निर्मित मिट्टी का पुतला मात्र है, जो मर कर भी क्षार हो जाता है । अन्त में कब्र में पड़ लम्बे पाँव कर मिट्टी में ही मिलना होता हैं । यह मनुष्य कुछ नहीं, मिट्टी की मूर्ति मात्र है, जिसे पवन ने आधार दे रखा है । प्रभु की यही विलक्षण माया है कि एक ही मिट्टी से उसने भिन्न-भिन्न प्रकार के घड़ों के रूप में हमारा निर्माण कर दिया है । इस मिट्टी से बने मन्दिर (शरीर) में ज्ञान के दीपक को वायु-वर्तिका द्वारा प्रज्ज्वलित कर आलोकित करने से समस्त संसार दृष्टिगत हो जाता है ।

मेरी जिभ्या बिस्न नैंन नारांइन, हिरदै जपौं गोबिंदा ।
जंम दुवार जब लेख मांग्या, तब का कहिसि मुकंदा ।।टेक।।
तूं ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा, चीन्हि न मोर गियाना ।
तैं सब मांगे भूपति राजा, मोरे रांम धियाना ।।
पूरब जनम हम बांह्मन होते, वोछै करम तप हींनां ।
रांमदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कींन्हां ।।
नौंमी नेम दसमीं करि संजम, एकादसी जागरणां ।
द्वादसी दांन पुंनि की बेलां, सर्व पाप छ्यौ करणां ।।
भौ बूड़त कछू उपाइ करीजे, ज्यूं तिरि लंघै तीरा ।
रांम नांम लिखि भेरा बांधो, कहै उपदेस कबीरा ।।२५०।।

शब्दार्थ—मुकंदा = मुकुंद, कृष्ण । भौ = भवसागर । बूड़त = डूबना । भेरा = बेड़ा ।

हे मेरी जिह्वा ! तू हृदय में भगवान को रख, प्रभु के अनन्त गुणों, नामों का गुणगान कर। हे प्रभु ! जब यमराज कर्मों का हिसाब मांगेगा तो उसे मैं क्या प्रत्युत्तर दूंगा। हे शास्त्रार्थी पंडित ! तू ब्राह्मण है, किन्तु मैं भी पंडितों की नगरी काशी का जुलाहा हूं—कोई ऐरा-गैरा नत्थू-खैरा नहीं। तू राजाओं द्वारा आश्रित है, मेरे आश्रय तो भगवान ही हैं। पिछले जन्म में मैं ब्राह्मण ही था किन्तु प्रभु-भक्ति न कर सका इसीलिए इस जुलाहा जाति में जन्म ग्रहण करना पड़ा। नवमी, दशमी और एकादशी, द्वादशी के जो व्रत महात्म्य हैं सबको भली-भांति करने से समस्त पापों का प्रक्षालन हो जायेगा ? हे अज्ञानी ! तू संसार-सागर में डूब रहा है; अतः शीघ्र कोई उपाय कर ले जिससे तू उस पार पहुँच सके। कबीर इसके लिए मार्ग बताते हैं कि राम-नाम के बेड़े से अपनी नौका बांध दो, नैया पार लग जायगी।

विशेष—इस पद से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि कबीरदास की जाति जुलाहा थी।

कहु पांडे सुचि कवन ठांव,
जिहि घरि भोजन बैठि खाऊं ॥टेक॥
माता जूठी पिता पुनि जूठा, जूठे फल चित लागे।
जूठा आंवन जूठा जांनां, चेतहु क्यूं न अभागे ॥
अंन जूठा पांनी पुनि जूठा, जूठे बैठि पकाया।
जूठी कड़छी अंन परोस्या, जूठे जूठा खाया ॥
चौका जूठा गोबर जूठा, जूठी का ढीकारा।
कहै कबीर तेई जन सूचे, जे हरि भजि तर्जाहं बिकारा ॥२५१॥

शब्दार्थ—सुचि=शुचि, शुद्ध। ठांव=स्थान। आंवन=आना, जन्म लेना। जांना=मृत्यु। अंन=अन्न, भोजन। सूचे=सच्चे।

हे पण्डे ! यदि तुम खान-पान में इतना छुआछात रखते हो तो फिर बताओ कि ऐसा कौन सा स्थान है जहाँ जूठन नहीं जिससे मैं वहाँ बैठकर भोजन ग्रहण कर सकूं। माता पिता तथा अन्य स्नेही सब झूठे हैं, झूठे प्रलोभनों में फंसे हुए। जन्म-मरण सब नित्य है फिर हे अभागे जीव ! तू सावधान क्यों नहीं होता ? अन्न-पानी और इसको बनाने वाला सभी तो मिथ्या है। यह भोजन परोसा भी झूठे चमचे से जाता है और जिससे वह लिया है—सब ही तो झूठा है। कबीर कहते हैं कि केवल वही सच्चे हैं जो विषय-वासना विकारों का परित्याग कर प्रभु भजन करते हैं।

हरि बिन झूठे सब ब्यौहार, केते कोऊ करौ गँवार ॥टेक॥
झूठा जप तप झूठो ग्यांन, रांम रांम बिन झूठा ध्यांन।
बिधि न खेद पूजा आचार, सब दरिया मैं वार न पार ॥
इंद्री स्वारथ मन के स्वाद, जहां साच तहां मांडै बाद।
दास कबीर रह्या ल्यौ लाइ, भर्म कर्म सब दिये बहाइ ॥२५२॥

शब्दार्थ—मांडेवाद=वाद नष्ट हो जाते हैं। भर्म=भ्रम। बहाई=छोड़ देना।

कबीर कहते हैं कि ईश्वर के बिना जगत का समस्त कार्य-व्यापार निस्सार है, चाहे कोई मूर्ख कितने ही कर्म करे किन्तु बिना प्रभु-आश्रय के उनका कोई महत्व नहीं। वेद-विधान, पूजा आचार, सब कुछ प्रभु बिना नदी में बोरने योग्य हैं। इन्द्रिय-जन्य स्वाद एवं मन के स्वार्थ जहाँ सत्य स्वरूप ब्रह्म है नष्ट हो जाते हैं। कबीर ने तो प्रभु से अपनी लौ लगा ली है, इसलिए संसार संशय और समस्त कर्म छोड़ दिये हैं।

चेतनि देखै रे जग धंधा।
रांम नांम का मरम न जांनै, माया कै रसि अंधा ॥टेक॥
जनमत होऊ कहा ले आयो, मरत कहा ले जासी।
जैसे तरवर बसत पंखेरू, दिवस चारि के वासी ॥
आपा थापि अवर कौ निंदै, जन्मत हीं जड़ काटी।
हरि की भगति बिना यहु देही, धव लोटै ही फाटी ॥
कांम क्रोध मोह मद मछर, पर अपवाद न सुणियें।
कहै कबीर साध की संगति, रांम नांम गुन भणियें ॥२५३॥

शब्दार्थ—रसि=मोह बंधन। मछर=मत्सर। अपवाद=निन्दा। भणिये =कहिये।

कबीर कहते हैं कि सावधान होकर इस संसार-चक्र को देखो कि मानव ईश्वर नाम की महिमा न जानता हुआ किस भाँति माया-मोह में अन्धा हो रहा है। संसार में जन्म लेकर हीरे जैसे अमूल्य जीवन की क्या गति कर दी? मरने पर तो यह मिट्टी में मिल ही जायगा। यहाँ इस संसार में तो जीवन इतना क्षणिक है जितना पक्षी का पेड़ पर बसेरा। जन्म से ही यह प्रवृत्ति बना ली है कि दूसरों की ओर स्वार्थ-पूर्ति में ही तेरा समय कटता है। प्रभु-भक्ति के बिना यह शरीर मिट्टी में मिल जायगा। दूसरों की निन्दा को न सुनते हुए काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह का परित्याग कर दीजिए। कबीर कहते हैं कि हे जीवात्मा! साधु-संगति करता हुआ प्रभु-भक्ति में लगा रह।

विशेष—साधुसंगति के महत्व पर उक्ति देखिए—

रे जम नांहि नवै व्योपारी, जे भरैं जगाति तुम्हारी ॥टेक॥
वसुधा छाड़ि बनिज हम कीन्हौं, लाद्यो हरि को नांऊं।
रांम नांम की गूंनि भराऊं, हरि कै टांडै जांऊं ॥
जिनकै तुम्ह अगिवानीं कहियत, सो पूंजी हम्ह पासा।
अब तुम्हारो कछु बल नांहीं, कहै कबीरा दासा ॥२५४॥

शब्दार्थ—बनिज=व्यापार। अगिवानी=पथ-प्रदर्शक।

हे यम (मृत्यु)! अब तुम्हारे सम्मुख प्रभु-भक्त झुकेगा नहीं, जिससे तुम्हारा यश बढ़ता है, अब वह अधर नहीं जायेगा। इस संसार को त्याग कर हमने प्रभु-

भक्ति का व्यापार प्रारम्भ कर दिया है और व्यापार के लिए प्रभु-नाम का कोष अपने पास संचित कर लिया है। राम-नाम की सामग्री लादकर मैं ईश्वर के लोक को जाऊँगा। तुम अपने को ईश्वर दूत उद्घोषित करते थे किन्तु अब वही राम-नाम की सम्पत्ति हमारे पास है। अब तुम्हारा कुछ भी बल हमारे ऊपर नहीं चल सकता।

मींयां तुम्ह सौं बोल्यां बणि नहीं आवै।
हम मसकीन खुदाई बंदे, तुम्हारा जस मनि भावै ॥टेक॥
अलह अवलि दीन का साहिब, जोर नहीं फुरमाया।
मुरिसद पीर तुम्हारे है को, कहौ कहां थैं आया॥
रोजा करैं निवाज गुजारैं, कलमैं भिसत न होई।
सतरि काबे इक दिल भींतरि, जे करि जानैं कोई॥
खसम पिछांनि तरस करि जिय मैं, माल मनीं करि फीकी।
आपा चीन्हि सांई कूं जांनैं, तब ह्वै भिस्त सरीकी॥
माटी एक भेष धरि नांनां, सब मैं ब्रह्म समानां।
कहै कबीर भिस्त छिटकाई, दोजग ही मन मानां ॥२५५॥

शब्दार्थ—बणि नहीं आवै=व्यवहार करना नहीं आता। साहिब=रक्षक। मुरिसद=गुरु। स्वरूप=स्वामी, प्रभु। दोजक=नरक।

हे मियां! तुमसे बोलने, परस्पर व्यवहार करने का ढंग भी नहीं आता। हम सब एक ही खुदा के बन्दे हैं, यह जानकर भी तुम दूसरों में मनमाना व्यवहार करते हो। यह अल्लाह, प्रभु दीनबन्धु है, उसने तुम्हें शक्ति प्रयोग की आज्ञा नहीं दी। तुम्हारा कोई गुरु अथवा शिष्य भी है? तुम्हारा आगमन कहां से हुआ है? भाव यह है कि तुम तो दूसरों से निकृष्ट हो। काबा आदि तीर्थ स्थान यदि तुम खोजकर देखो तो मन के अन्दर ही हैं, व्यर्थ इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं। स्वामी को हृदय में पहचान कर मन में उसका अनवरत भजन करो। आत्म-तत्व का परिज्ञान कर जब प्रभु को जान जाओगे तो श्रेष्ठ साधुओं की पंक्ति में गिने जाओगे। हम सब जीव एक ही मृत्तिका से निर्मित पात्र हैं, सब में ब्रह्म की समान स्थिति है, अतः सबको समान समझो। कबीर कहते हैं कि इस भांति संसार से निस्तार सम्भव है, वैंकुण्ठ (वहिश्त) प्राप्त हो जायेगा।

अलह ल्यौं लायें काहे न रहिये,
अह निसि केवल राम नांम कहिये ॥टेक॥
गुरमुखि कलमां ग्यांन मुखि छुरी, हुई हलाल पंचूं पुरी।
मन मसीति मैं किनहूं न जांनां, पंच पीर मालिम भगवांनां॥
कहै कबीर मैं हरि गुंन गांऊं, हिंदू तुरक दोऊ समझाऊं ॥२५६॥

शब्दार्थ—ल्यौं=प्रेम। पंचू पुरी=पांचों इन्द्रियाँ।

ईश्वर से अपनी लगन लगाये रहो और अहर्निशि प्रभु-नाम का जाप करो।

गुरु उपदेश से प्राप्त ज्ञान-कटारी से पांच इन्द्रियों के विषय की समाप्ति हो गई। मन रूपी मस्जिद में प्रभु की स्थिति को किसी ने नहीं पहचाना। पांचों इन्द्रियों की वृत्ति अब प्रभु में ही केन्द्रित हो गई है। कबीर कहते है कि मैं प्रभु-गुणगान करता हुआ हिन्दू-मुसलिम दोनों को ही समझाकर एकता लाने में प्रयत्नरत हूँ।

रे दिल खोजि दिलहर खोजि, नां परि परेसांनी मांहि।
महल माल अजीज औरति, कोई दस्त गीरी क्यूं नांहि ॥टेक॥
पीरां मुरीदां काजियां, मुलां अरु दरवेस।
कहां थैं तुम्ह किनि कीये, अकलि है सब नेस॥
कुरांना कतेबां अस पढ़ि पढ़ि, फिकरि या नहीं जाइ।
टुक दम करारी जे करै, हाजिरां सूर खुदाइ॥
दरोगां बकि बकि हूँहि खुसियां, बे-अकलि बकहि पुमांहि।
हक साच खालिकखलाजक स्यानें सो कछू सच सुरति मांहि॥
अलह पाक तूं नापाक क्यूं अब दूसर नांहीं कोइ।
कबीर करम करीम का, करनीं करै जांनै सोइ ॥२५७॥

शब्दार्थ—दिलहर=हृदय—स्वामी। नापाक=अपवित्र, पापी। करम=दया। करीम=ईश्वर।

हे मन! तू उस हृदय-स्वामी परमात्मा को खोज और व्यर्थ के सांसारिक कर्मों में मत उलझ। ये महल, सम्पत्ति, धन-वैभव, पत्नी तथा अन्य प्रियजन कोई तेरे साथ नहीं जाएगा। पीर, पैगम्बर, काजी, मुल्ला और दरवेश—तुम्हारा सृजन उस परमात्मा के द्वारा ही तो हुआ है, अब तुम अपने को जगत् का नियामक समझ रहे हो–तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। कुरान आदि धर्म ग्रंथों का पारायण कर तुम्हें प्रभु की चिन्ता नहीं। किन्तु जो एकदम प्रभु, खुदा के लिए व्याकुल हो जाते हैं और उसे पाने का प्रयत्न करते हैं, वे ही वास्तव में शूरवीर कहलाने के अधिकारी हैं। दरोगा आदि राज्य कर्मचारी राजमद में अन्धे हो गालियां बक-बक कर प्रसन्न होते हैं, वे कैसे अज्ञानी हैं? उन्हें उस सर्वशक्तिमान् की शक्ति का ज्ञान नहीं जो इस सृष्टि में सर्वत्र रमा हुआ है। हे प्रभु-भक्त! जब ईश्वर पवित्र है तो तू भी तो उसी का अंश है, जब तुझे संसार के किसी विषयाकर्षण से प्रयोजन नहीं रह गया तो तू भी पवित्र ही है। भक्त के जो भी कर्म होते हैं, वे प्रभु के ध्यान में रखते हुए उसी के लिए होते हैं।

खालिक हरि कहीं दर हाल।
पंजर जसि करद दुसमन, मुरद करि पैमाल ॥टेक॥
भिस्त हुसकां दोजगां, दुंदर दराज दिवाल।
पहनांम परदा ईत आतस, जहर जंगम जाल॥
हम रफत रहबरहु समां, मैं खुर्दा सुमां बिसियार।

हम जिमीं असमांन खालिक, गुंद मुसिकल कार ॥
असमांन म्यांनें लहंग दरिया, तहां गुसल करदा बूद ।
करि फिकर रह सालक जसम, जहां स तहां मौजूद ॥
हंम चु बूंदनि बूंद खालिक, गरक हम तुम पेस ।
कबीर पनह खुदाइ को, रह दिगर दावानेस ॥२५८॥

शब्दार्थ – भिस्त=स्वर्ग । दोजगां=नरक । दुन्दर=दादुर । आतस=अग्नि । गुसल=स्नान ।

ईश्वर प्रत्येक स्थल पर वर्तमान है । वह शत्रु का सर्वनाश ही कर देता है और अपने दास को समृद्धता प्रदान करता है । उस भक्त के लिए दादुर रूप विकार—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को नष्ट कर, नरक को भी स्वर्ग बना देता है । वह संसार विषवन के सदृश है जिसमें अज्ञानान्धकार तथा विषय-वासना की इति और अग्नि है । मैं तो इस भयंकर वन से गुरु से साथ चल बच लिया । हे प्रभु मैं दीन हूँ और आप महान् । मैं पृथ्वी पर हूँ और ईश्वर आकाश, शून्य, पर—दोनों का मिलन कठिन है, आकाश के बीच, शून्य के मध्य एक अमृत सरिता है । जहां मुक्तात्माएं स्नान करती हैं । (ब्रह्मरन्ध्र से अमृत स्रवण का वर्णन है) । हे मन ! तू ईश्वर का चिन्तन करता हुआ संसार भय से निश्चिन्त हर, जहां तू चाहेगा, वह प्रभु वहीं उपस्थित हो जायेगा क्योंकि वह सर्वत्र-व्यापक है । हम—जीवात्माएं तो उस प्रभु रूप जल से उत्पन्न ही बूंद हैं जो मिलकर एकमेक हो जाती हैं । कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तू सर्वदा उस ईश्वर की शरण ग्रहण करता हुआ प्रभु का ध्यान कर ।

विशेष—१. "हम चु बूंदनि······पेख" से तुलना कीजिए—

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी ।
फूटा, कुम्भ जल जलहि समाना, इहि तथ कथ्यौ ग्यानी ॥"

२. इस पद में कबीर की भाषा पर फारसी और पंजाबी का अत्यधिक प्रभाव देखा जा सकता है ।

अलह रांम जिऊं तेरे नांई,
बंदे ऊपरि मिहर करैं मेरे सांइ ॥टेक॥
क्या ले माटी मुंइ सूं मारैं, क्या जल देह न्हवायें ।
जार करै मसकीन सतावै, गुंन हीं रहै छिपायें ॥
क्या तू जू जप मंजन कीयें, क्या मसीति सिर नांयें ।
रोजा करें निमाज गुजारें, क्या हज काबै जांयें ॥
ब्रांह्मण ग्यारसि करै चौबींसौं, काजी मरहम जांन ।
ग्यारह मास जुदे क्यूं कीये, एकहि मांहि समांन ॥
जौर खुदाइ मसीति बसत है, और मुलिक किस केरा ।
तीरथ मूरति रांम निवासा, दुहु मैं किनहूं न हेरा ॥

पूरिब दिसा हरी का बासा, पछिम अलह मुकाँमां।
दिल ही खोजि दिलै दिल, भींतरि, इहां रांम रहिमांनां ॥
जेती औरति मरदां कहिये, सब मैं रूप तुम्हारा।
कबीर पंगुड़ा अलह रांम का, हरि गुर पीर हमारा ॥२५६॥

शब्दार्थ—अलह=अल्लाह। बन्दे=बन्दा, मनुष्य भक्त। मिहर=कृपा। भुंई=भूमि। मसकीन=निर्मल। मसीति=मस्जिद। हज जाबै=मुस्लिम समाज के तीर्थ स्थल। ग्यारसी=एकादशीव्रत। महरम=मुहर्रम। मुलिक=देश, स्थान। पंगुड़ा=दास, भक्त।

हे प्रभु! मैं तो आप ही के समाश्रय से जीवन-धारण किये हुए हूँ, अतः तुम कब मेरे ऊपर कृपा करोगे? जल में स्नान करने और शरीर से भस्म लपेटने से क्या लाभ? इस सब ढोंग को करते हुए तुम लोग निर्बल को सताते हो और अपने अवगुणों पर इन बाह्याडम्बरों का पर्दा डाले रहते हो। इस जप, तप, स्नान, ध्यान का क्या लाभ है और मस्जिद में मत्था टेकने का क्या प्रयोजन है। रोजा रखे, नमाज पढ़े और हज काबा की धार्मिक यात्रा का, ब्राह्मण के वर्ष में चौबीस एकादशी व्रत रखने का एवं काजी के मुहर्रम मनाने का कोई लाभ नहीं, यदि ये प्रत्येक जीव को, प्रत्येक मनुष्य को समान नहीं समझते। इतने दीर्घ समय तक दोनों भेद-भाव क्यों रखे रहें? हिन्दू-मुस्लिम दोनों समान हैं। जो ईश्वर केवल मस्जिद में ही रहता है तो फिर अन्य संसार की अवस्थिति कैसे है? तीर्थ और पत्थर प्रतिमा दोनों में ही भगवान बताते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों में कहीं भी उसके दर्शन प्राप्त न हुए। मुस्लिम मानते हैं कि पश्चिम दिशा में अल्लाह का निवास है, इसलिए वह उधर ही मुँह करके नमाज पढ़ते हैं दूसरी ओर हिन्दू मानते हैं यह पूर्व में है, इसलिए पूर्व को मुख करके ही सन्ध्योपासना आदि करते हैं। अरे अज्ञानी जीव! अपने मन को खोज कर देख लो, ईश्वर वहीं स्थित है। हे प्रभु! संसार में जितने भी स्त्री पुरुष हैं सबमें आपका स्वरूप विद्यमान है। कबीर तो परमेश्वर का दास हो गया है, वही उसका पीर, पैगम्बर, गुरु सर्वस्व है।

मैं बड़ मैं बड़ मैं बड़ मांटी,
मण दसना जट का दस गांठी ॥टेक॥
मैं बाबा का जोध कहाऊं, अपणीं मारी गींद चलाऊं ॥
इनि अहंकार घणें घर घाले, नाचत कूदत जमपुरि चाले।
कहै कबीर करता की बाजी, एक पलक मैं राज बिराजी ॥२६०॥

मनुष्य अहं दर्प में किसी को कुछ नहीं समझता, इसीलिए मदमस्त फूला-फूला फिरता है। मैं उस ईश्वर का अंश कहाकर भी अपने अहं से परिचालित हो संसार में भटकता फिरता हूँ। इस अहंकार ने बहुतों का सर्वनाश कर दिया है और वे सांसारिक आकर्षणों में बँधे हुए ही मृत्यु के गाल में चले गये। कबीर कहते हैं कि उस ईश्वर की माया बड़ी विचित्र है, वह एक क्षण में ही कुछ से कुछ कर देते हैं।

काहे बीहो मेरे साथी, हूँ हाथी हरि केरा ।
चौरासी लख जाके मुख मैं, सो च्यंत करैगा मेरा ।।टेक।।
कहौ कौंन खिवै कहौं कौंन गाजै, कहां थैं पांणीं निसरै ।
ऐसी कला अनंत हैं जाकै, सो हंम कौं क्यूं बिसरै ।।
जिनि ब्रह्मंड रच्यौ बहु रचना, बाव बरन ससि सूरा ।
पाइक पच पुहमि जाकै प्रकटैं, सो क्यूं कहिए दूरा ।।
नैंन नासिका जिनि हरि सिरजे, दसन बसन बिधि काया ।
साधू जन कौं सो क्यूं बिसरै, ऐसा है रांम राया ।।
को काहु का मरम न जांनै, मैं सरनांगति तेरी ।
कहै कबीर बाप रांम राया, दुरमति राखहु मेरी ।।२६१।।

शब्दार्थ—च्यंत=चिन्ता । मुहपि=पृथ्वी । सिरजे=रचना की । दसन=दांत । बसन=वस्त्र ।

कबीर कहते हैं कि मेरा साथी कौन बनेगा ? मैं प्रभु-भक्ति रस का मदमस्त हाथी हूँ । जो सन्त चौरासी लाख योनियों की व्यथा को समझ प्रभु भक्ति में लग गया है, वही मेरा साथी हो सकता है । यह बताओ कि कौन खाने और पीने की व्यवस्था करता है, जो बैठा ही बैठा अपनी अनन्त कलाओं से संसार की व्यवस्था करता है वह हमें कैसे भुला सकता है ? जिस प्रभु ने सृष्टि की रचना कर वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, पंचाग्नि, पृथ्वी आदि का सृजन किया है, वह दूर नहीं सर्वत्र परिव्याप्त है । राजा राम बड़े दयालु हैं, उन्होंने कितने सुन्दर नेत्र, नासिका आदि अंग-प्रत्यंग की रचना की है, वे भला दयालु राजा राम अपने भक्त को किस प्रकार विस्मृत कर सकते हैं ।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! आपका रहस्य कोई नहीं जानता मैं आपकी शरण चाहता हूँ । हे पिता परमेश्वर ! आप मुझे सद्बुद्धि प्रदान कर मेरी रक्षा करें ।

राग सोरठि

हरि कौ नांव न लेहु गंवारा, क्या सोचै बारंबारा ।।टेक।।
पंच चोर गढ मंझा, गढ लूटैं दिवस र संझा ।।
जौ गढपति मुहकम होई, तौ लूटि सकै न कोई ।
अंधियारै दीपक चहिए, तब वस्त अगोचर लहिये ।
जब वस्त अगोचर पाई, तब दीपक रह्या समाई ।।
जौ दरसन देख्या चहिये, तौ दरपन मंजत रहिये ।
जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई ।।
का पढ़िये का गुनियें, का बेद पुराना सुंनियें ।
पढ़े गुनें मति होई, मैं सहजैं पाया सोई ।।

कहै कबीर मैं जांनां, मैं जांनां मन पतियानां।
पतियानां जौ न पतीजै, तौ अंधे कूं का कीजै ॥२६२॥

शब्दार्थ—पंच चोर=पाँच विकार अथवा इन्द्रिय रूपी चोर। गढ़=शरीर। संध्या=शाम। काई=मैल, पाप। पतीजै=विश्वास करना।

हे अज्ञानी जीव! तू न जाने किस चिन्ता में व्यस्त है जो प्रभु नाम का स्मरण नहीं करता। पांच विकारों अथवा पंच विषयों के चोर इस शरीर रूपी किले को अहर्निश लूट रहे हैं। यदि इस किले में उसके स्वामी—प्रभु की ही आराधना हो तो कोई इसे लूट नहीं सकता। जब इस शरीर रूपी बस्ती में ज्ञानदीप बुझकर अज्ञानांधकार हो जाता है, तभी इसे चोर लूटते हैं। जब यह बस्ती—बुद्धि—अज्ञान तिमिर से परिपूर्ण होती है तो ज्ञान-दीप कहीं भी नहीं सूझता। जो तुम प्रभु का दर्शन प्राप्त करना चाहते हो तो इस हृदय रूपी दर्पण का परिष्कार करते हुए उज्ज्वल रखो। जब दर्पण पर विषयों की काई जम जाती है तो प्रभु-दर्शन नहीं होता। शास्त्र ग्रन्थों के पठन-पाठन, श्रवण का कोई लाभ नहीं हैं, मैंने उस प्रभु को सहज साधना द्वारा प्राप्त कर लिया है। कबीर कहते हैं कि मैं उस परमेश्वर के रहस्य से परिचित हो गया हूँ और विश्वास सहित उन्हें अपने मन में बसा लिया है। यदि कोई मेरा विश्वास नहीं करता तो उस अज्ञानान्ध मनुष्य का क्या बनाया जा सकता है।

अंधे हरि बिन को तेरा, कवन सूं कहत मेरी मेरा ॥टेक॥
तजि कुलाक्रम अभिमांनां, झूठे तन की कहा गुमांनां।
झूठे तन की कहा बड़ाई, जे निमष मांहि जरि जाई॥
जब मन निरमल करि जानां, तब निरमल मांहि समानां॥
ब्रह्म अगनि ब्रह्म सोई, अब हरि बिन और न कोई।
जब पाप पुंनि भ्रंम जारी, तब भयौ प्रकास मुरारी॥
कहै कबीर हरि ऐसा, जहां जैसा तहां तैसा।
भूलै भरमि परै जिनि कोई, राजा रांम करै सो होई ॥२६३॥

शब्दार्थ—निमष=अत्यन्त अल्प काल। जिनि=मत।

हे अज्ञानांध नर! ईश्वर के बिना तेरा कौन हितैषी है? तू किससे स्नेह सम्बन्ध जोड़ता है। कुलाभिमान एवं झूठे भ्रम का परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। मिथ्या, मृण्मय शरीर का अभिमान क्या, इसे नष्ट होते पल भी नहीं लगता। जब तक मन विषय-वासना में पड़ा हुआ है, तब तक इस संसार से मुक्ति सम्भव नहीं। जब यह मन निर्मल हो जायेगा, तभी उस शुद्ध स्वरूप से भेंट सम्भव है। ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही सब कुछ है। प्रभु के बिना अब मेरा, कोई अवलम्बन नहीं। जब पाप पुण्य और भ्रम की द्वैत भावना समाप्त हो गई, तभी ज्योतिस्वरूप परमात्मा का प्रकाश विकीर्ण हुआ। कबीर कहते हैं कि वह प्रभु ऐसा अद्भुत है कि कहीं कैसा है तो कहीं किसी और स्वरूप का। भूल कर भी किसी को संसार में संलिप्त नहीं होना चाहिए। इस संसार में वही होता है जो प्रभु को स्वीकार है।

मन रे सर्यौ न एकौ काजा,
तार्थं भज्यौ न जगपति राजा ॥टेक॥
वेद पुरांन सुमृत गुन पढि पढि, पढि गुनि मरम न पावा।
संध्या गाइत्री अरु षट करमा, तिन थैं दूरि बतावा॥
बनखंडि जाई बहुत तप कीन्हाँ, कंद मूल खनि खावा।
ब्रह्म गियांनीं अधिक धियांनीं, जंम कै पटैं लिखावा॥
रोजा किया निमाज गुजरी, बंग दे लोग सुनाया।
हिरदै कपट मिलै क्यूं सांई, क्या हज काबै जावा॥
पहर्यौ काल सकल जग ऊपरि, मांहि लिखे सब ग्यांनीं।
कहै कबीर ते भये षालसै, रांम भगति जिनि जांनी॥२६४॥

शब्दार्थ—पटैं=सूची में।

हे मन ! तुझसे प्रभु-भक्ति की साधना न हो सकी, तूने संसार में आकर और कुछ तो किया ही नहीं ईश्वर को भी नहीं भजा। वेद, पुराण, स्मृति आदि धर्म-ग्रंथ पढ़कर उस ईश्वर का रहस्य नहीं जाना जा सकता। संध्या, गायत्री-जप और वैधी भक्ति के अन्य कर्मों से वह प्रभु दूर ही दूर रहा। वन प्रदेश में जाकर तपस्या करने, कन्द, मूल-फल खाने, ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने का उपक्रम रचने अर्थात् ध्यान धारण करने से मृत्यु को ही आमन्त्रित किया, क्योंकि मन में तो कपट भरा हुआ था। रोजा रखने, नमाज की उच्च ध्वनि लोगों को सुनाने और हज्ज करने का कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि हृदय में तो कपट भरा हुआ था। कबीर कहते हैं कि मृत्यु ने अपनी सूची में समस्त संसार को सम्मिलित कर लिया, केवल वही बच रहे जो प्रभु-भक्ति के रहस्य को जान कर उसमें प्रवृत्त हो गये थे।

मन रे जब तैं रांम कह्यौ,
पीछै कहिबे कौं कछू न रह्यौ ॥टेक॥
का जोग जगि तप दांनां, जौ तैं रांम नहीं जांनां॥
कांम क्रोध दोऊ मारे, तार्थं गुरु प्रसादि सब जारे।
कहै कबीर भ्रम नासी, राजा रांम मिले अविनासी॥२६५॥

हे मन ! जब से मैंने राम-नाम जपा है तब से और कुछ वाणी का विषय संसार में रह ही नहीं गया। योग साधना और जप-तप का क्या लाभ यदि राम नाम का रहस्य न समझ सके। काम और क्रोध दोनों जीवन को भारस्वरूप बना देते हैं, किन्तु गुरुप्रसाद से वे समाप्त हो गये। कबीर कहते हैं कि माया-भ्रम के नाश होने पर अविनाशी प्रभु के दर्शन हो जाते हैं।

रांम राइ सो गति भई हंमारी, मो पै छूटत नहीं संसारी ॥टेक॥
ज्यूं पंखी उड़ि जाइ अकासां, आस रही मन मांहीं।
छूटी न आस टूटयो नहीं फंधा, उडिबौ लागौ कांहीं॥

जो सुख करत होत दुख तेई, कहत न कछू बनि आवै।
कुंजर ज्यूं कसतूरी का मृग, आपैं आप बँधावै॥
कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी।
इत भभीत डरौं जम दूतनि, आये सरनि तुम्हारी॥२६६॥

शब्दार्थ—पंखी = पक्षी। फंधा = बंधन। कुंजर = हाथी। भभीत = भयभीत।

राम-नाम को न जपने से हमारी जो दुर्गति हो रही है, वह अवर्णनीय है, फिर भी मुझसे यह संसार छोड़ते नहीं बनता। जिस प्रकार पक्षी मन में प्राप्ति की इच्छा रखते हुए आकाश में ऊंचा ही ऊँचा उड़ता है, उसी भाँति सांसारिक इच्छाएँ और आशाएँ तृप्त नहीं होतीं और मन संसार के माया-मोह में भटकता रहता है। मैं जितने भी सुख के उपक्रम करता हूँ, उनसे अन्ततः दुःख ही मिलता है। जिस प्रकार कस्तूरी-मृग सुगन्धि को नाभि में रखे हुए भी मस्त हाथी के समान उसकी खोज में भटकता है उसी प्रकार मैं प्रभु के हृदयस्थ होते हुए भी आनन्द की खोज में स्थान-स्थान पर भटक रहा हूँ। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! ऐसी दयनीय स्थिति में मेरा कुछ बस नहीं चलता और मैं मृत्यु, काल-गाल से भयभीत हुआ आपकी शरण में आया हूँ, मेरी रक्षा करो।

विशेष—उदाहरण अलंकार।

राँम राइ तूं ऐसा अद्‌भुत अनुपम, तेरी अनभै थैं निस्तरिये।
जे तुम्ह कृपा करौ जग जीवन, तौ कतहूँ भूलि न परिये॥टेक॥
हरि पद दुरलभ अगम अगोचर, कथिया गुर गमि बिचारा।
जा कारंनि हम ढूंढत फिरते, आथि भर्‌यो संसारा॥
प्रगटी जोति कपाट खोलि दिये, दगधे जंम दुख द्वारा।
प्रगटे बिस्वनाथ जगजीवन, मैं पाये करत बिचारा॥
देख्यत एक अनेक भाव है, लेखत जात अजाती।
बिह कौ देव तजि ढूंढत फिरते, मंडप पूजा पाती॥
कहै कबीर करुणाँमय किया, देरी गलियाँ बहु बिस्तांरा।
रांम कै नाँव परंम पद पाया, छूटै बिघन बिकारा॥२६७॥

शब्दार्थ—निस्तरिये = पार होना। दगधे = नष्ट कर दिये। बिघन = विघ्न। बिकारा = दोष।

हे प्रभु! आप ऐसे अद्‌भुत, अनुपम हैं कि वर्णन नहीं किया जा सकता। आपकी कृपा से यह भवसागर निःशंक पार किया जा सकता है। हे जगन्नाथ! यदि आप किसी पर कृपा करो तो वह कभी भी पथ-विचलित नहीं हो सकता। सद्‌गुरु ने अत्यंत कठिनता से प्राप्त प्रभु-पद का मार्ग-दर्शन करा दिया जिससे मैंने साधना द्वारा उसे खोजने का प्रयास किया और संसार को त्याग दिया। वह अनन्त प्रकाशवान् ज्योतिस्वरूप परमात्मा प्रकट हुआ और मेरे अज्ञान-कपाट खुल गये; जिससे मृत्यु एवं अन्य सांसारिक दुःख नष्ट हो गये। निखिल सृष्टि के जीवनदाता विश्वम्भर को मैंने

सतत साधना द्वारा प्राप्त किया है। उस प्रभु को देखकर हृदय में अनेक भावनाएँ प्रकट हुईं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। ये सांसारिक लोग विश्वदेव को मण्डप-मन्दिर आदि में पूजा-पत्र आदि के माध्यम से खोजने का व्यर्थ उपक्रम करते हैं। कबीर कहते हैं कि उस करुणानिधान प्रभु का प्रसार सृष्टि के अणु-प्रति-अणु में है। प्रभु-नाम से सांसारिक बाधाओं, व्यथाओं का अन्त होकर परम-पद की प्राप्ति होती है।

राँम राइ को ऐसा बैरागी,
हरि भजि मगन रहैं विष त्यागी ।।टेक।।
ब्रह्मा एक जिनि सिष्टि उपाई, नाँव कुलाल धराया।
बहु बिधि भांडै उनहीं घड़िया, प्रभू का अंत न पाया।
तरवर एक नांनाँ बिधि फलिया, ताकै मूल न साखा।।
भौजलि भूलि रह्या रे प्रांणीं, सौ फल कदे न चाखा।
कहै कबीर गुर बचन हेत करि, और न दुनियां आथी।
माटी का तंन मांटी मिलिहै, सबद गुरू का साथी ।।२६८।।

शब्दार्थ—कुलाल=कुम्भकार। भांडै=बरतन, मनुष्य। चटाई मूल=जड़। भौजलि=संसार रूपी सागर का जल। हेत=प्रेम।

इस संसार में प्रभु का ऐसा कौन-सा प्रेमी है जो संसार से विरक्त रहे, विषय वासनाओं का परित्याग कर ईश्वर-भक्ति में तल्लीन रहे। परमेश्वर की लीला का रहस्य ज्ञानातीत है, उसने एक ब्रह्मा के द्वारा एक ही प्रकार के समान तत्वों से कुम्भकार के समान विविध घटरूपी जीव-सृष्टि का निर्माण कर दिया। प्रभु-भक्ति का मूल और शाखा विहीन वृक्ष अनेक प्रकार से सर्वत्र फूल रहा है किन्तु प्राणी संसार-जल, माया-मोह में पड़े हुए हैं और उस फल का आस्वादन नहीं करते। कबीर कहते हैं कि गुरु-वचनों से प्रेम कर, शेष संसार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लो, क्योंकि यह मिट्टी निर्मित कलेवर मृत्यूपरान्त मिट्टी में ही मिल जायगा और केवल गुरु-उपदेश, ज्ञान ही उसका मार्ग प्रशस्त करेगा।

नैंक निहारि हो माया बीनती कर,
दीन बचन बोलै कर जोरे, फुनि फुनि पाइ परै ।।टेक।।
कनक लेहु जेता मनि भावै, कांमनि लेहु मन-हरनीं।
पुत्र लेहु विद्या अधिकारे, राज लेहु सब धरनीं।।
अठि सिधि लेहु तुम्ह हरि के जनाँ नवै निधि हैं तुम्ह आगैं।
सुर नर सकल भवन के भूपति, तेऊ लहै न मांगैं।।
तैं पापणीं सबै संघारे, काको काज संवार्यौ।
जिनि जिनि संग कियौ है तेरौ, को बेसासि न मार्यौ।।
दास कबीर राँम कै सरनैं, छाड़ी झूठी माया।
गुर प्रसाद साध की संगति, तहाँ परम पद पाया ।।२६९।।

शब्दार्थ—कनक=सोना, सम्पत्ति । कांमनि=नारी । संघारे=मार डालती है। बेसासि=विश्वासी ।

यहां कबीर प्रभु-भक्त की महिमा का वर्णन करके कहते हैं कि माया उसके सम्मुख दासी के समान बारम्बार दीन-वचन कहती हुई पैर पड़ती है। वह चाहे जितना स्वर्ण, धन, एवं सुन्दरतम सुन्दरी को प्राप्त कर सकता है। विद्या-अधिकारी सुखदाता पुत्र, समस्त पृथ्वी का चक्रवर्ती राज्य एवं आठ सिद्धि तथा नवों निधि का सुख उन्हें सहज प्राप्त है।

यह माया देव, मनुष्य, राजे-महाराजे सबको विमोहित करती है, किन्तु इस पापमयी से लाभान्वित कोई नहीं होता, सब उसके द्वारा विनष्ट हो जाते हैं। जिस व्यक्ति ने भी माया का साथ किया वह इसके विश्वासघात से मारा गया। भक्त कबीर ने प्रभु-शरण पाकर इस मिथ्या मोह-जाल को विदूरित कर दिया। गुरु उपदेश और साधु-संगति से उसे तो परम-पद की प्राप्ति हो गयी।

तुम्ह घरि जाहु हंमारी बहनाँ, बिष लागैं तुम्हारे नैंनाँ ॥टेक॥
अंजन छाड़ि निरंजन राते, नां किसहीं का दैनां।
बलि जांउ ताकी जिनि तुम्ह पठई, एक माइ एक बहेनाँ ॥
राती खांड़ी देखि कबीरा, देखि हमारा सिंगारौ।
सरग लोक थैं हम चलि आई, करन कबीर भरतारौ ॥
सर्ग लोक मैं क्या दुख पड़िया, तुम्ह आई कलि माँहीं।
जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहूँ पतीजौ नाँहीं ॥
तहाँ जाहु जहाँ पाट पटंबर, अगर चंदन घसि लीनाँ।
आइ हमारे कहा करौगी, हम तौ जाति कमींनाँ ॥
जिनि हंम साजे साज्य निवाजे, बाँधे काचै धागै।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, पाँणीं आगि न लागै ॥
साहिब मेरा लेखा माँगै, लेखा क्यूं करि दीजै।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, तौ पाँहण नीर न भीजै ॥
जाकी मैं मछी सो मेरा मछा, सो मेरा रखवालू।
टुक एक तुम्हारे हाथ लगाऊं, तौ राजा रांम रिसालू ॥
जाति जुलाहा नाँम कबीरा, बनि बनि फिरौ उदासी।
आसि पासि तुम्ह फिरि फिरि बैसो, एक माउ एक मासी ॥२०८॥

शब्दार्थ—पतीजै=विश्वास करना। पांहण=पत्थर। मछी=मछली। टुक=तनिक भी। रिसालू=क्रोधित होना।

कबीर दूसरी आत्माओं या माया-प्रलोभनों को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे संसार-वासना में लिप्त आत्माओ ! तुम अपनी राह गहो, तुम्हारे नेत्र विषयों के विषय से आरक्त हैं।

मैं इस संसार को छोड़ प्रभु को भजता हूँ, मुझे किसी अन्य से कोई प्रयोजन नहीं है। में उसकी बलिहारी जाता हूँ जिसने तुम्हें मेरी परीक्षार्थ प्रेषित किया है। मैं तुम्हारे साथ विषय-लिप्त नहीं हो सकता, तुम मेरे लिए माता और बहन तुल्य पूज्य हो। इस पर वे सुन्दरी आत्माएँ प्रत्युत्तर देती हैं कि हमारे शृंगार और सौन्दर्य को देखकर रात्रि की नीरवता मादक हो उठी है और हम स्वर्ग से कबीर—आपको—वरण करने आई हैं। कबीर उत्तर देते हैं कि स्वर्ग में ऐसी कौन सी विपत्ति आ गई जो तुम इस कलियुगी संसार में निकृष्ट जाति, जुलाहे कबीर को जो आज तक पथ-विचलित नहीं हुआ, वरण करने आई हो ? तुम तो वहीं जाओ जहाँ वस्त्र की चमक-दमक एवं कस्तूरी चन्दन की सुगन्धित वायु हो, हम जैसे निम्न-जाति जुलाहे के यहाँ आकर क्या करोगी ? जिस स्वामी से हमने अपने दृढ़, अचल प्रेम का तन्तु जोड़ा है, उसे चाहे तुम कितना भी प्रयत्न करो कभी भी विच्छिन्न नहीं कर सकतीं ; भला पानी में आग लगायी जा सकती है ? तुम कहती हो कि ईश्वर ने मेरे कर्मों का लेखा मांगा है किन्तु उससे क्या लाभ ? जिस प्रकार अगणित प्रयत्न करने पर भी पत्थर पानी से गल नहीं सकता उसी भाँति हमारे हिसाब में पाप-कर्म नहीं मिल सकता। मेरी पवित्र आत्मा जिस मछेरे—प्रभु—की मछली है वही मेरा रक्षक है, यदि मैं तुम्हारा स्पर्श तक भी कर लूँ तो मेरे स्वामी राम रुष्ट हो जायेंगे। मेरी तो जुलाहें की निम्न जाति है और कबीर मेरा नाम है, प्रभु की खोज में संसार से असम्पृक्त रहता हुआ वन-वन फिरता हूँ। हे माया सुन्दरी ! तुम कितना ही मेरे इर्द-गिर्द लगो, तुम मेरे लिए मातृ-तुल्य हो—तुम्हारा स्पर्श तक पाप-मय है।

विशेष—१. निदर्शना, दृष्टान्त, अनुप्रास, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार हैं।

२. कबीर जैसा उज्ज्वलमना व्यक्ति ही अपने चरित्र की शुद्धता को इतनी दृढ़ता से कह सकता है। हमें इसे आत्मश्लाघा के रूप में नहीं देखना चाहिए।

ताकूं रे कहा कीजै भाई, तजि अंमृत बिषै सूं ल्यौ लाई ॥टेक॥
बिष संग्रह कहा सुख पाया, रंचक सुख कौ जनम गंवाया।
मन बरजैं चित कह्यौ न करई, सकति सनेह दीपक मैं परई ॥
कहत कबीर मोहि भगति उमाहा, कृत करणीं जाति भया जुलाहा ॥२७१॥

शब्दार्थ—ल्यौ=प्रेम। रंचक=थोड़ा-सा। उमाहा=उत्साह।

कबीर कहते हैं उस व्यक्ति की क्या सहायता की जाय जो स्वयं ही प्रभु-भक्ति के अमृत को छोड़ विषय-वासना में पड़ा रहता है। इन विषयों के सुख से कोई स्थायी आनन्द लाभ नहीं होता, क्षणिक सुख के लिए जन्म यूँ ही नष्ट कर दिया। बुद्धि (यहाँ मन का अर्थ बुद्धि एवं चित्त का अर्थ हृदय, मन, होगा) मन को विषयों में भटकने से वर्जित करती है किन्तु शलभ की भाँति दीपक में बारम्बार उड़-उड़ कर

पड़ता है । कबीर कहते हैं कि मैं तो भगवान् की भक्ति में लग गया हूँ, निम्न जुलाहा जाति का भी होकर श्रेष्ठ हो गया ।

रे सुख इब मोहि बिष भरि लागा,
इनि सुख डहके मोटे छत्रपति राजा ।।टेक।।
उपजैं बिनसैं जाइ बिलाई, संपति काहू कै संगि न जाई ।
धन जोबन गरब्यौ संसारा, यहु तन जरि बरि ह्वै है छारा ।।
चरन कवल मन राखि ले धीरा, राँम रमत सुख कहे क़बीरा ।।२७२।।

शब्दार्थ—डहके=नष्ट कर दिये । छारा=क्षार, धूल ।

कबीर कहते हैं कि यह सांसारिक सुख अब मुझे विष तुल्य लगने लगा है, बड़े-बड़े छत्रपति राजा इस आनन्द प्राप्ति की इच्छा में नष्ट हो गये । यह सांसारिक सम्पत्ति उत्पन्न होती है और फिर क्षणिक स्थिति के पश्चात् समाप्त हो जाती है, किन्तु किसी के साथ नहीं जाती । धन और यौवन के सौन्दर्य का घमण्ड संसार व्यर्थ ही करता है, क्योंकि यह तन भस्म होकर क्षण भर में क्षार में परिवर्तित हो जायगा । हे मनुष्य ! प्रभु के चरण-कमलों को अपने हृदय में बसा ले, क्योंकि राम-भक्ति में अपरिमित स्थायी आनन्द है ।

इब न रहूँ माटी के घर मैं, इब मैं जाइ रहूँ मिलि हरि मैं ।।टेक।।
छिनहर घर अरु झिरहर टाटी, घन गरजत कंपै मेरी छाती ।
दसवैं द्वारि लागि गई तारी, दूरि गवन आवन भयौ भारी ।।
चहुँ दिसि बैठे चारि पहरिया, जागत मुसि गये मोर नगरिया ।
कहै कबीर सुनहु रे लोई, भांनड़ घड़ण संवारण सोई ।।२७३।।

शब्दार्थ—माटी के घर में=नश्वर संसार में । छिनहर=नश्वर । झिरहर=जर्जर । मुसि गये=चुराकर ले गये । भांनड़=नष्ट करना । घड़ण=रचना करना ।

कबीर कहते हैं कि अब मैं इस मिट्टी के अर्थात् मृण्मय संसार में नहीं रहूँगा, अब मैं प्रभु के समीप जाकर रहूँगा । यह घर टूटा-फूटा है और इसमें जर्जर टट्टी लगी हुई है, जब कालरूपी घन गर्जन करता है, तब मुझे बहुत भय लगता है । दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र पर मेरी कुण्डलिनी पहूंच गई है, अब मेरा आवागमन छूट गया । इस संसार में स्थिति तो ऐसी है कि चारों ओर मन बुद्धि, चित्त, अहंकार चार पहरेदार बैठे हुए होते हैं फिर भी काल रूपी चोर प्राण, जीवन को लूट कर ले जाता है । कबीर कहते हैं कि हे मनुष्यो ! अथवा कबीर अपनी शिष्या लोई को सम्बोधन कर कहते हैं कि वह ईश्वर ही सृजन, पोषण, संहार करने वाला है । इसमें मनुष्य का कोई वश नहीं ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

कबीरा बिगर्‌या रांम दुहाई,
तुम्ह जिनि बिगरौ मेरे भाई ।।टेक।।
चंदन कै ढिग बिरष जु भैला, बिगरि बिगरि सो चन्दन ह्वै ला ।

पारस कौं जे लोह छिवैंगा, बिगरि बिगरि सो कंचन ह्वैला ॥
गंगा मैं जे नीर मिलैगा, बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वैला ।
कहै कबीर जे रांम कहैला, बिगरि बिगरि सो रांमहि ह्वैला ॥२७४॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर रामाश्रय से परिवर्तित हो गया है, हे भाइयो ! तुम क्यों नहीं परिवर्तित हो जाते । चन्दन के पास जो दूसरी जाति का वृक्ष होता है, धीरे-धीरे वह भी चन्दन की सुगन्ध से सुवासित हो चन्दन जैसा हो जाता है । जिस लोहे का स्पर्श पारस पत्थर से हो जाता है वह भी परिवर्तित हो स्वर्ण बन जाता है । गंगा में गंदे नाले का पानी मिलकर भी शुद्ध और पवित्र गंगा-जल हो जाता है । कबीर कहते हैं कि जो राम कहेगा, राम को भजेगा वह भी राम तुल्य या तद्रूप हो जायेगा । ध्वनि यह भी है कि मैं संसार मुक्त हूँ, मेरे सम्पर्क में रहकर तुम भी मुक्त हो जाओ ।

विशेष—तद्गुण अलंकार ।

रांम राइ भई बिकल मति मेरी,
कै यहु दुनीं दिवांनीं तेरी ॥टेक॥
जे पूजा हरि नाहीं भावै, सो पूजनहार चढ़ावै ।
जिहि पूजा हरि भल मांनैं, सो पूजनहार न जांनैं ॥
भाव प्रेम की पूजा, तार्थं भयौ देव थैं दूजा ।
का कीजै बहुत पसारा, पूजी जै पूजनहारा ॥
कहै कबीर मैं गावा, मैं गावा आप लखावा ।
जे इहि पद मांहि समांनां, सो पूजनहार सयांनां ॥२७५॥

शब्दार्थ—सरल है ।

हे प्रभु राम ! आपके प्रेमी माने जाने वाले जग को देखकर मेरी चेतना विश्रृंखलित हो रही है । जो पुजापा प्रभु को रुचिकर नहीं ये आराधक उसे ही आपकी भेंट चढ़ाते हैं एवं वे जिस पूजा से प्रसन्न होते हैं पूजक उससे परिचित नहीं । प्रेम-भावसहित प्रभु की पूजा करने से साधक, भक्त, प्रभुरूप ही हो जाता है । इस व्यर्थ के पूजाडम्बर से क्या लाभ ? पूजा तो वही श्रेष्ठ है जिससे इष्ट प्रसन्न हो । कबीर कहते हैं कि मैंने प्रभु-भक्ति का रहस्य गा दिया । जो भक्त इस पद द्वारा निर्देशित भक्ति-भाव से आराधन करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं ।

रांम राइ भई बिगूचनि भारी,
भले इन ग्यांनियन थैं संसारी ॥टेक॥
इक तप तीरथ औगाहैं, एक मांनि महातम चाहैं ।
इक मैं मेरी मैं बीझैं, इक अहंमेव मैं रीझैं ॥
इक कथि कथि भरम लगांवै, संमिता सी वस्त न पांवैं ।
कहै कबीर का कीजै, हरि सूझै सो अंजन दीजै ॥२७६॥

शब्दार्थ—विगूचति=विडम्बना। अहंमेव=अहंकार। रीझैं=प्रसन्न होना। अंजन=काजल, सद्‌बुद्धि से तात्पर्य है।

हे प्रभु! कैसी विडम्बना है कि इन ज्ञानियों से संसारी गृहस्थ ही श्रेष्ठ हैं। गृहस्थ तो तपस्या और तीर्थादि के ही विश्वासी होते हैं किन्तु ज्ञानी तो आत्म-पूजा के भूखे हैं। गृहस्थ ममत्व-परमत्व की भावना से मुक्त नहीं हो पाता तो ये सर्वथा अहं दंभ में चूर रहते हैं। संसारी इधर-उधर प्रेम की बातें सुनता है, ये ज्ञानी अपनी व्यर्थ की चकित करने वाली बातों से ही दूसरों को रिझाते हैं। कबीर कहते हैं कि ज्ञानियों का क्या उपकार किया जा सकता है, जिससे इन्हें सद्‌बुद्धि प्राप्त हो। हे प्रभु! आप इन्हें वही भक्ति का अंजन दीजिए।

काया मंजसि कौंन गुनां, घट भीतरि है मलनां ॥टेक॥
जौ तूं हिरदै सुध मन ग्यांनीं, तौ कहा बिरोलै पांनीं।
तूंबी अठसठि तीरत न्हाई, कड़वापण तऊ न जाई॥
कहै कबीर बिचारी, भवसागर तारि मुरारी ॥२७७॥

शब्दार्थ—मंजसि=शुद्ध करना। बिरोलै=बिखेरना।

कबीर कहते हैं कि शरीर-शुद्धि के साथ-साथ हृदय की शुद्धि वांछनीय है। इसीलिए शरीर को मलने से क्या लाभ? भीतर मन—हृदय—भी तो स्वच्छ करना चाहिए। हे ज्ञानी! यदि तुम्हारा हृदय शुद्ध है तो यह पानी बखेरने से कोई लाभ नहीं। इस शरीर रूपी तूंबी को अड़सठ तीर्थों का स्नान कराने से, जब तक मन की शुद्धता नहीं कोई लाभ नहीं। कबीर विचार कर कहते हैं कि हे प्रभु! आप अब इस संसार सिन्धु से पार उतार दो, आपके अतिरिक्त कोई आश्रय नहीं।

विशेष—उदाहरण अलंकार।

कैसैं तूं हरि कौ दास कहायौं,
करि बहु भेषर जनम गंवायौं ॥टेक॥
सुध बुध होइ भज्यौ नहि सांईं, काछ्‌यौ ड्यंभ उदर कै तांईं।
हिरदै कपट हरि सूं नहीं साचौ, कहा भयौ जै अनहद नाच्यौ॥
झूठे फोकट कलू मंझारा, रांम कहैं ते दास नियारा।
भगति नारदी मगन समीरा, इह बिधि भव तिरि कहै कबीरा ॥२७८॥

शब्दार्थ—सांईं=स्वामी, प्रभु।

हे मनुष्य! तू क्यों व्यर्थ प्रभु का भक्त कहाता है, अन्य प्रलोभनों में पड़े हुए तूने अपना जीवन व्यर्थ व्यतीत कर दिया। बुद्धि होते हुए भी तूने प्रभु का भजन नहीं किया और उदरपूर्ति तथा कामना पूर्ति में लगा रहा। यदि हृदय शुद्ध नहीं तो व्यर्थ में मुँह से 'अलख निरंजन' का नारा लगाने से क्या लाभ? मिथ्या-सांसारिक प्रपंचों में प्रभु-भक्त का मन नहीं उलझता। भक्ति तो नारद के समान तल्लीन होकर करनी चाहिए। इस संसार से तरने का एकमात्र उपाय यही है।

रांम राइ इहि सेवा भल मांनैं,
जै कोई रांम नांम तम जांनैं ।।टेक।।
रे नर कहा पषालै काया, को तन चीन्हि जहां थैं आया ।
कहा बिभूति जटा पट बांधे, का जल पैसि हुतासन साधें ।।
र रांम मां दोई अखिर सारा, कहै कबीर तिहुं लोक पियारा ।।२७९।।

शब्दार्थ—पषालै=शुद्ध करना । चीन्हि=पहचानना । पैसि=प्रवेश करना । हुतासन=जग ।

प्रभु भक्ति-भाव से ही प्रसन्न रहते हैं अतः जो भी राम नाम का रहस्य जान प्रेमपूर्वक प्रभु-सेवा करता है उसे प्रभु प्रेम करते हैं । हे मानव ! इस शरीर को बारम्बार धोने स क्या ? इस शरीर की आसक्ति को त्याग अपने वास्तविक लोक—प्रभु में चित्तवृत्तियाँ लगा । जटा धारण कर, कन्था पहन, विभूति लगा कर अग्नि में तपने से कोई लाभ नहीं । 'राम' नाम के दो अक्षरों में ही समस्त संसार का ज्ञान समाहित है, यह राम नाम समस्त संसार को प्रिय है ।

इहि बिधि रांम सूं ल्यौ लाइ ।
चरन पावें निरत करि, जिभ्या बिनां गुंण गाइ ।।टेक।।
जहाँ स्वांति बूंद न सीप साइर, सहजि मोती होइ ।
उन मोतियन मैं नीत पायौ, पवत अंबर धोइ ।।
जहां धरनि बरषै गगन भीजै, चंद सूरज मेल ।
दोइ मिलि तहां जुड़न लागे, करत हंसा केलि ।।
एक बिरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ ।
पंच सुवटा आइ बैठे, उदै भई बनराइ ।।
जहां बिछट्यो तहां लाग्यौ, गगन बैठौ जाइ ।
जन कबीर बटाऊवा, जिनि मारग लियो गाइ ।।२८०।।

शब्दार्थ—साइर=सागर । पोयौ=पिरोना । हंसा=मन रूपी हँस । पंच सुवटा=पाँचों इन्द्रियाँ । चाइ=खोजना ।

हे साधक ! सहज-समाधि द्वारा प्रभु में इस प्रकार अनुरक्त हो कि तू वहाँ—प्रभु के पास बिना चरणों की गति के ही पहुँच जाय और जिह्वा के उच्चारण बिना ही अनहद ध्वनि द्वारा प्रभु गुण-गान करता रहे । जहाँ स्वाति नक्षत्र के जाल और सीप के संयोग के बिना ही शून्य तट पर मोती बिखरे हुए हों । उन मोतियों को शून्यलोक में प्राणायाम साधना द्वारा आत्मा को पहुँचा दिया जाए । वहाँ इड़ा-पिंगला के संयोग से ब्रह्मरन्ध्र पर कुण्डलिनी के विस्फोट करने से अमृत-वर्षा होती है । जहाँ सुरति निरति का समन्वय हो जाता है वहाँ मुक्तात्मा आनन्द लाभ करने लगती है । इस साधना तरु पर अमृत-वर्षा से एक नदी बह चली, जिसमें समस्त स्वर्ण, धन आदि के सांसारिक प्रलोभन डूब गये । पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की वृत्ति वहीं केन्द्रित हो गई, जिससे अमित आनन्द का जन्म हुआ । वहाँ सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है और जिधर

मन की रुचि हो, वहीं शून्य स्थल पर आत्मा मुक्त-विहार करती है। कबीर जैसे भक्त ने प्रभु दर्शन का यह मार्ग खोज निकाला है।

विशेष—विभावना, विरोधाभास, अनुप्रास, रूपकातिशयोक्ति, रूपक आदि अलंकार स्वाभाविक रूप से आ गये हैं।

तार्थं मोहि नाचिबौ न आवै, मेरौ मन मंदलान बजावै ॥टेक॥
ऊभर था ते सूभर भरिया, तिष्णां गागरि फूटी।
हरि चिंतन मेरौ मंदला भीनौं, भरम भोयन गयौ छूटी ॥
ब्रह्म अगनि मैं जरी जु ममिता, पाषंड अरु अभिमानां ॥
काम चोलनां भया पुराना मोपैं होइ न आना ॥
जे बहु रूप किये ते कीये, अब बहु रूप न होई।
थाकी सौंज संग के बिछुरे, रांम नांम मसि धोई ॥
जे थे सचल अचल ह्वै थाके, करते बाद बिबादं।
कहै कबीर मैं पूरा पाया, भया रांम परसादं ॥२८१॥

शब्दार्थ—मंदलान=ढपरी। भरम भोयन=संसार से प्राप्त भ्रम। मसि=स्याही, कलंक। हरसादं=प्रसन्नता, कृपा।

कबीर कहते हैं कि मेरा मन प्रभु भक्ति की ढपली पर ही अपना राग अलापता है, इसीलिए मुझसे संसार के प्रपंचों में नहीं पड़ा जाता। मैं प्रभु-भक्ति करने से पूर्व पतित था, किन्तु अब शुद्ध हो गया हूँ और मेरी संसार-तृष्णा की गगरी फूट गई है। प्रभु का स्मरण करते हुए मेरी ढपली भी भक्ति के सुन्दर स्वर निसृत करने लगी है जिससे मेरा संसार-संशय विदूरित हो गया है। ज्योतिस्वरूप परमात्मा के दर्शन से ममता, पाखण्ड और अभिमान जलकर विनष्ट हो गये। अब यह शरीर विषय-वासना से जर्जर हो गया है, अतः अब मैं पुनः जन्म धारण करने की व्यथा सहन नहीं कर सकता। जो कुछ जन्म ग्रहण करने थे कर चुका। अब तो तत्व-विश्लेषण द्वारा जो चंचल-बुद्धि थे वे भी स्थिर मति हो गये, संगी साथी बिछुड़ चुके हैं और समस्त साज भी थक गये हैं, राम नाम ने कलंक कालिमा को धो डाला है। कबीर कहते हैं कि मैं पूर्ण परमात्मा को पाकर राम भक्त बन गया हूँ।

अब क्या कीजै ग्यांन बिचारा, निज निरखत गत ब्यौहारा ॥टेक॥
जाचित दाता इक पाया, धन दिया जाइ न खाया।
कोई ले भरि सकै न मूका, औरनि पैं जानां चूका ॥
तिस बाझ न जीव्या जाई, वो मिलै त घालै खाई।
वो जीवन भला कहाई, बिन मूवां जीवन नांहीं ॥
घसि चंदन बनखंडि बारा, बिन नैंननि रूप निहारा।
तिहि पुत बाप इक जाया, बिन ठाहर नगर बसाया ॥

को जीवत ही मर जांनैं, तौ पंच सयल सुख मांनैं।
कहै कबीर सौ पाया, प्रभु भेटत आप गंवाया ॥२८२॥

शब्दार्थ—जाचिग=याचक। बाझ=बन्ध्या। बारा=जला देना।

कबीर कहते हैं कि आत्म चरित्र को विचार कर देख लो, ज्ञान प्राप्ति की बात करने से अब क्या प्रयोजन ? मुझ जैसे याचक ने प्रभु रूप दाता को प्राप्त कर लिया है जिसने भक्ति का ऐसा भरपूर धन दिया है जो किसी से समाप्त नहीं हो सकता। अन्य कोई इस सामान्य धन की नाइं चुराना चाहे तो वह भी सम्भव नहीं है। इसे माया रूपी बन्ध्या भी समाप्त नहीं कर सकती। उल्टे यदि वह सामने पड़ गई तो भक्ति माया को समाप्त कर देगी। प्रभु-भक्ति का जीवन श्रेष्ठ है, जब तक जीते जी मरा नहीं जाता अर्थात् जीवन्मुक्त नहीं हुआ जाता तब तक जीवन की सार्थकता कहाँ ? भक्ति के शीतल चन्दन को घिस कर विषय-वासना बन को समाप्त कर दिया एवं बिना नेत्रों की सहायता के समाधि में प्रभु-दर्शन प्राप्त कर लिए। ईश्वर ने अपने अनुरूप भक्त का सृजन कर इस संसार में बसा दिया है। कबीर कहते हैं कि उस ब्रह्म की प्राप्ति पर आत्म-विस्मृति हो जाती है।

विशेष—विरोधाभास, विभावना, अनुप्रास आदि अलंकार इस पद में प्रयुक्त हुए हैं।

अब मैं पायो राजा रांम सनेही, जा बिन दुख पावै मेरी देही ॥टेक॥
वेद पुरान कहत जाकी साखी, तीरथि ब्रति न छूटै जंम की पासी ॥
जाथैं जनम लहत नर आगैं, पाप पुंनि दोऊ भ्रम लागैं।
कहै कबीर सोई तत जागा, मन भया मगन प्रेम सर लागा ॥२८३॥

शब्दार्थ—साखी=साथी।

अब मैंने परम प्रेमी परमात्मा को प्राप्त कर लिया है जिनके बिना मन व्यथा-पूर्ण था। वेद-पुराए आदि शास्त्र ग्रंथ जिस परम पुरुष की साक्षी देते हैं वह प्राप्त हो गया है। उसकी भक्ति से ही सब कुछ सम्भव है। तीर्थ, व्रत आदि बाह्याडम्बरों से तो मृत्यु बंधन से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। जिस पाप-पुण्य के पचड़े में पड़ा मनुष्य आवागमन में पड़ता है ईश्वर-दर्शन से वह समाप्त हो गया। कबीर कहते हैं कि वही अनुपम ब्रह्म मुझे प्राप्त हो गया है। प्रभु प्रेम बाण लगते ही मन ईश्वर भक्ति में रम गया।

बिरहिनी फिरै है नाथ अधीरा।
उपजि बिनां कछू समझि न परई, बांझ न जांनैं पीरा ॥टेक॥
या बड़ बिथा सोई भल जांनैं, राम बिरह सर मारी।
कैसो जांनैं जिनि यहु लाई, कै जिनि चोट सहारी ॥
संग की बिछुरी मिलन न पावै, सोच करै अरु काहै।
जतन करै अरु जुगति बिचारै, रटै रांम कूं चाहै ॥

दोन भईं बूझै सखियन कीं, कोई मोहि राम मिलावै ।
दास कबीर मीन ज्यूं तलपै, मिलैं भलैं सचुपावै ॥२८४॥

शब्दार्थ—उपजि विनां=विरह-व्यथा के बिना।

विशेष—उपमा अलंकार।

प्रभु-प्रेम-व्यथा का अनुभव किसे न हो वह भला उनके प्रेम का रहस्य कैसे जान सकता है ? विरहिणी आत्मा तो उस प्रिय के विरह में व्याकुल घूम रही है किन्तु जिसके यह वेदना उत्पन्न नहीं होती वह इस तत्व को नहीं समझता, भला बन्ध्या को प्रसव वेदना का क्या भान होगा ? राम प्रेम बाण से आहत की पीड़ा को कोई सम-दुखभोगी ही जान सकता है। आत्मा परमात्मा में नहीं मिल पा रही है, इस वेदना का ज्ञान तो प्रभु-विरही को ही हो सकता है। ये विरही जन अपनी व्यथा-शमन का कुछ ध्यान न करते हुए केवल प्रभु नाम का स्मरण करते हैं एवं साथियों से अत्यन्त दीन भावयुक्त वचनों से राम के मिलने की प्रार्थना करते हैं। कबीरदास जी कहते हैं कि ऐसे भक्त जन अहर्निशि प्रभु-वियोग में मछली के समान तड़पते है और ईश्वर के पाने पर ही शान्ति लाभ कर सकते हैं।

जातनि बेद न जांनंगा जन सोई,
सारा भरम न जांनैं रांम कोई ॥टेक॥
चषि बिन दिवस जिसी है संझा, ब्यावन पीर न जांनैं बंझा ।
सूझै करक न लागै कारी, बैद बिधाता करि मोहि सारी ॥
कहै कबीर यहु दुख कासनि कहिये,
अपनैं तन की आप ही सहिये ॥२८५॥

शब्दार्थ—चषि=नेत्र। संझा=संध्या, अन्धकारपूर्ण।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-विरोधी की वेदना को समझने वाला तो कोई सम-दुखभोगी ही हो सकता है। इस संसार-भ्रम में और किसी की सामर्थ्य नहीं कि उसकी वेदना का अनुमान कर सके। बिना नेत्रों के तो रात्रि भी दिवस के समान प्रकाशपूर्ण है, उसी प्रकार बाँझ को प्रसव-वेदना का अनुभव नहीं होता। क्योंकि उसे कोई पीड़ा नहीं होती इसलिए वह दूसरों की पीड़ा से अनभिज्ञ है। राम वियोगी का उपचार तो वैद्य सांवलिया द्वारा ही हो सकता है। कबीर कहते हैं कि मैं अपनी व्यथा का किससे कथन करूँ, स्वयं ही इस वेदना को सहन करना होगा।

विशेष—निदर्शना अलंकार।

जन की पीर हो राजा रांम भल जांनैं,
कहूं काहि को मांनैं ॥टेक॥
नैनका दुख बैन जांनैं, बैंन का दुख श्रवनां ।
प्यंड का दुख प्रांन जांनैं, प्यास का दुख मरनां ॥

प्यास का दुख प्यासा जांनैं, प्यास का दुख नीर ।

भगति का दुख रांम जानें, कहै दास कबीर ।।२८६।।

शब्दार्थ—सरल है।

कबीरदास जी यह प्रतिपादित करते हैं कि भगवान् भक्त की वेदना से भली-भाँति परिचित होते हैं, वे उसका किसी से अन्यथा वर्णन सुनकर कैसे विश्वास करेंगे। जिस भाँति नेत्रों के दुख का आत्मा को, मृत्यु-दुख का प्राणों, आशान्वित के दुख को तृषित और तृषित के दुख को जल जानता है, उसी भांति भक्त के दुख का केवल स्वामी को ही अनुभव होता है—ऐसा कबीरदास का मत है।

विशेष—असंगति अलंकार।

तुम्ह बिन रांम कवन सौं कहिये,
लागी चोट बहुत दुख सहिये ।।टेक।।
बेध्यौ जीव बिरह कै भालै, राति दिवस मेरे उर सालै।
को जानैं मेरे तन की पीरा, सतगुर सबद बहि गयौं सरीरा ।।
तुम्ह से वैद न हमसे रोगी, उपजी बिथा कैसें जीवै बियोगी।
निस वासुर मोहि चितवत जाई, अजहूं न आइ मिले रांस राई ।।
कहत कबीर हमकौं दुख भारी, बिन दरसन क्यूं जीवहि मुरारी ।।२८७।।

शब्दार्थ—निस वासुरि = रात दिन।

हे राम! आपके अतिरिक्त अपनी व्यथा कथा किससे कहें, हृदय में आपके प्रेम का घाव हो रहा है—इस वेदना को किस भाँति सहन करें? मेरी आत्मा को आपके विरह के भाले ने वेध रखा है जो अहर्निशि मुझे पीड़ा देती है। मेरे रोम प्रति रोम में गुरु-उपदेश बह रहा है, मेरी पीड़ा का अनुमान कौन कर सकता है? हे प्रभु! कोई आप सरीखा चिकित्सक और हम जैसा इस रोग का रोगी भी नहीं मिलेगा, अतः मेरी वेदना का निदान करो। मैं रात-दिन व्याकुलतापूर्वक प्रभु का मार्ग तकता हूँ किन्तु अब तक स्वामी की प्राप्ति नहीं हुई। कबीर कहते हैं कि दीनदयाल! मुझे बड़ी वेदना हो रही है, आपके दर्शन के अभाव में जीवन भार हो गया है।

तेरा हरि नांमैं जुलाहा, मेरै रांम रमण का लाहा ।।टेक।।
दस सै सूत्र की पुरिया पूरी, चंद सूर दोइ साखी।
अनत नांव गिनि लई मंजूरी, हिरदा कवल मैं राखी ।।
सुरति मुमृति दोइ खूंटी कीन्हीं, आरंभ कीया बनेकी।
ग्यांन तत की नली भराई, बुनित आतमां पेखी।
अबिनासी घंन लई मंजूरी, पूरी थापनि पाई।
रन बन सोधि सोधि सब आये, निकटैं दिया बताई।
मन सुधा को कूच कियो है, ग्यांन बिरथनीं पाई।
जोज की गांठि गुढी सब भागी जहां की तहां ल्यो लाई ।।
बैठि बेगारि बुराई थाकी, अनभै पद परकासा।
दास कबीर बुनत सचु पाया, दुख संसार सब नासा ।।२८८।।

शब्दार्थ—चन्द सूर=इड़ा पिंगला से तात्पर्य है। विपरनीं=वैतरणी। अनभै=निर्भीक होना। सचु=सुख। नासा=नष्ट हो गया।

कबीर कहते हैं कि प्रभु! मैं जुलाहा हूँ, आपके नाम के सूत का वस्त्र बुनता हूँ। मैंने आपका भक्ति वस्त्र बुनने के लिए दस सहस्त्र 'पुरिया' को पूर कर इड़ा-पिंगला नामक सखी को सहायक रूप से साथ लिया है। आपके अनन्त नामों का उच्चारण कर मैंने अपनी मजदूरी प्राप्त कर ली जिसे मैंने हृदय में सँजोकर रख रखा है। सुरति, निरति की खूंटी बनाकर आपके नाम का जप प्रारम्भ कर दिया एवं ज्ञान तत्व से कली भरकर आत्मा ने बुनने का कार्य सम्पूर्ण किया। थान को पूरा कर मैंने अविनाशी प्रभु को ही अपनी बुनाई के रूप में प्राप्त कर लिया। सब लोग उस परमात्मा को दूर-दूर वन-प्रान्तर में खोज चुके थे, किन्तु हमने तो उसे अत्यन्त निकट—हृदय में ही—प्राप्त कर लिया। ज्ञान वैतरणी प्राप्त कर मन ने सीधा उस लक्ष्य प्रभु की ओर ही प्रस्थान कर दिया है। जीव की विषय-वासना, समाप्त हो गई और उसकी वृत्तियाँ प्रभु में केन्द्रीभूत हो गई। समाधि में बैठकर उस परमपद के दर्शन प्राप्त किये। कबीर कहते हैं कि इस भक्ति वस्त्र को बुनने में हमें अमित आनन्द प्राप्त होता है और संसार का समस्त दुख समाप्त हो जाता है।

विशेष—सांगरूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार।

भाई रे सकहु त तनि बुनि लेहु रे,
पीछें रांमहि दोस न देहु रे ॥टेक॥
करगहि एक बिकांनी, ता भींतरि पंच परांनीं।
तामैं एक उदासी, तिहि तणि बुणि सबै बिनासी ॥
जे तूं चौसठि बरियां धावा, नहीं होइ पंच सूं मिलावा।
जे तैं पांसै छसै तांणीं, तूं सुख सूं रहै परांणीं ॥
पहली तणियां ताणां, तौ पीछें बुणियां बांणां।
तणि बुणि मुरतब कीन्हां तब रांम राइ पूरा दीन्हां ॥
राछ भरत भइ संझा, तारणीं त्रिया मन बंझा।
कहै कबीर बिचारी, अब छोछी नली हंमारी ॥२८९॥

शब्दार्थ – करगहि=करघे में। पंच परांनी=काम, क्रोध आदि पाँच विकार, मुरतब=भक्ति से तात्पर्य है।

कबीर कहते हैं कि यदि सत्कर्मों अथवा भक्ति का थान अब बुनना चाहते हो तो बुन लो, फिर प्रभु को दोष मत देना कि हमें यह अवसर प्रदान न किया। एक शरीर रूपी करघे के भीतर क्रोध, मद, लोभ, मोह रूपी पाँच प्राणियों का निवास है। उसमें आत्मा भी स्थित है जो संसार से असम्पृक्त है। उस आत्मा, मन में यदि तुम चौंसठ बार प्राणायाम द्वारा अपनी वृत्ति रमा दो तो फिर पांचों से मिलन नहीं होगा, आत्मा शुद्ध पवित्र रहेगी। यदि तू अपनी वृत्तियों पर अंकुश रखेगा तो सुख का

अनुभव करेगा। पहले इन्द्रियों को वश में कर उनका ताना बनाकर ही प्रभु भक्ति रूपी थान का निर्माण हो सकता है। जब साधक तन मन पर नियन्त्रण कर भक्ति में लग जाता है तो राजा राम—प्रभु—उसे दर्शन देते हैं। कबीर कहते हैं कि यदि मन सुन्दरी—काम वासना—में पड़ जाय तो अज्ञानांधकार छा जाता है। इसीलिए अब मेरी गति तो सुषुम्णा (छोटी नली) में ही केन्द्रीभूत हो गई है।

विशेष—रूपक अलंकार।

तैं क्यूं कासी तजैं मुरारी, तेरी सेवा चोर भये बनवारी ।।टेक।।
जोगी जती तपी संन्यासी, मठ देवल बसि परसैं कासी।
तीन बार जे नित प्रति न्हांवैं, काया भींतरि खबरि न पांवैं ।।
देवल देवल फेरी देहीं, नांव निरंजन कबहुं न लेहीं।
चरन बिरद कासी कौं न दैहूं, कहै कबीर भल नरकहि जैहूं ।।२६०।।

शब्दार्थ—देवल=मन्दिर। बिरद=यश।

हे प्रभु जो साधक काशी में साधना के लिये आते हैं वे उसका परित्याग क्यों करें, क्योंकि आपकी भक्ति से चोर भी भक्त हो तद्रूप हो गये हैं। योगी, यति, तपस्वी एवं संन्यासी मन्दिर और मठों में ही आपको देखने का प्रयास करते हैं वे भला जो साधक तीन-तीन बार स्नान कर केवल बाह्य-शुद्धि में ही लगे रहते हैं। वे हृदयस्थित ब्रह्म से कैसे परिचित हो सकते हैं। मूर्ख साधक ! तुमने व्यर्थ शरीर को मन्दिर प्रति मन्दिर के द्वार पर घुमाया और ज्योतिरूप अलख निरञ्जन ब्रह्म को कभी नहीं भजा।

कबीर कहते हैं कि केवल प्रभु-मूर्ति के चरणों से वरदान पाने की आशा में काशी में रहने की अपेक्षा नरक में जाना अधिक श्रेयस्कर है।

विशेष—वीप्सा अलंकार।

तब काहे भूलौ बनजारे, अब आयौ चाहै संग हमारे ।।टेक।।
जब हम बनजी लौंग सुपारी, तब तुम्ह काहे बनजी खारी।
जब हम बनजी परंमल कसतूरी, तब तुम्ह काहे बनजी कूरी ।।
अंमृत छाड़ि हलाहल खाया, लाभ लाभ करि मूल गंवाया।
कहै कबीर हम बनज्या सोई, जाथैं आवागमन न होई ।।२६१।।

शब्दार्थ—परमल=सुगंध। हलाहल=विष। जाथैं=जिससे।

कबीर कहते हैं कि हे साधक ! यदि तुम भक्ति मार्ग में हमारे साथी बनना चाहते हो तो क्यों इस संसार की विषय-वासना में पड़े हुए हो ; जब हम प्रभु-भक्ति द्वारा लौंग, सुपारी तुल्य मीठे बन गये हैं तो तुम माया-मोह में पड़े खारे क्यों बने रहे ? जब हम प्रभु-भक्ति द्वारा कस्तूरी सुगन्ध की भाँति सुवासित हो गये तो तुम कूड़े सदृश अपने पाप कर्मों से बने रहे। तुमने विषय-वासना सेवन से भक्ति-अमृत को छोड़ वासना विष का सेवन किया और इस प्रकार लाभ की आशा में मूलधन—पूर्व संचित

सत्कर्म—को भी गँवा दिया। कबीर कहते हैं कि यदि तुम मुझ जैसे ईश्वर-भक्त और संसार से असम्पृक्त हो जाओ तो जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाओगे।

परम गुर देखो रिदै बिचारी, कछू करौ सहाइ हंमारी ॥टेक॥
लवानालि तति एक संमि करि, जंत्र एक भल साजा।
सति असति कछू नहीं जानूं, जैसं बजाया तैसं बाजा ॥
चोर तुम्हारा तुम्हारी आग्या, मुसियत नगर तुम्हारा।
इनके गुनह हमह का पकरौ, का अपराध हमारा ॥
सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत, जब आपा पर नहीं जांनां।
ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै, कहै कबीर मन मांनां ॥२६२॥

शब्दार्थ—रिदै=हृदय में। मुसियत=चोरी करता है।

कबीर यहाँ सद्गुरु को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे गुरुवर! तनिक हमारी दीन-दशा को चित्त में विचार कर तो देखो और कुछ तो हमारी सहायता कीजिए। लावा और तन्तु की सहायता से भक्ति रूपी एक यन्त्र का निर्माण किया है, किन्तु मैं इसके बजाने की विधि पाप-पुण्य (सदसद्) से अवगत नहीं हूँ जैसे मन में आता है वैसे ही इसे बजा लेता हूँ।

भाव यह है कि गुरुवर आप साधना में मेरा पथ-निर्देश कीजिए। वास्तव में यह अज्ञान रूपी चोर आपसे बचकर आपके भक्त की भक्ति-विषयक भावनाओं को नष्ट कर रहा है। मैं भला आपके बिना अज्ञान से कैसे मुक्ति पा सकूंगा, अतः हे प्रभु! मेरा कौन-सा अपराध है जो आप मुझे इससे मुक्त नहीं करते? कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! अब तो मन में यह विश्वास हो गया है कि हम और आप एक हैं, द्वैत भ्रम है। वस्तुतः प्रभु! आपके रहस्य में पड़कर कोई उसी प्रकार नहीं निकल पाता जिस भाँति जल में डूबा हुआ नहीं निकल पाता।

विशेष—१. रूपक एवं उपमा अलंकार।

२. अद्वैतवाद का सुन्दर एवं प्रभावोत्पादक प्रतिपादन है।

मन रे आइर कहां गयौ तायें मोहि बैराग भयौ ॥टेक॥
पंच तत ले काया कीन्हीं, तत कहा ले कीन्हां।
करमौं के बसि जीव कहत हैं, जीव करम किनि दीन्हां ॥
आकास गगन पाताल गगन, दसौं दिसा गगन रहाई ले।
आंनंद मूल सदा परसोतम, घट बिनसे गगन न जाई ले ॥
हरि मैं तन है तन मैं हरि है, है पुंनि नांहीं सोई।
कहै कबीर हरि नांम न छांडूं, सहजैं होइ सु होई ॥२६३॥

शब्दार्थ—परसोतम=पुरषोत्तम।

हे मन! अब तू इस संसार को छोड़ अन्यत्र कहाँ रम गया (प्रभु-लोक-शून्य में) जो मुझे इस संसार से विरक्तता हो गई है। उस ईश्वर ने पाँच तत्वों से इसका निर्माण किया है, किन्तु मृत्यु के पश्चात् न जाने पाँच तत्वों को वह कहां ले जाता

है ? यदि जीवात्मा कर्मफल को भोगने के लिए ही इस संसार में आता है तो आप जीवन को कुकर्मों में लिप्त ही क्यों करते हो ? आकाश, पाताल एवं दसों दिशाओं में वह ब्रह्म समान रूप से उसी प्रकार रमा हुआ है, जिस भांति शून्य—ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है। वस्तुतः शून्य कमल में ही आनन्दरूप पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म का निवास है। शरीर के नष्ट होने पर चाहे हृदय—मन—की सन्तान रहे, किन्तु प्रभु फिर भी शून्य में उसी भाव से बसे रहते हैं। वह ब्रह्म वस्तुतः इस शरीर में भी वर्तमान है और शरीर भी ब्रह्म में है, यह शरीर शून्य मात्र नहीं, प्रभु-परिपूर्ण है। कबीर कहते हैं कि मैं ईश्वर नाम का सन्बल नहीं छोड़ सकता, उसे सहज-साधना से प्राप्त किया जा सकता है।

हमारै कौंन सहै सिर भारा,
सिर की सोभा सिरजनहारा ।।टेक।।
टेढी पाग बड जूरा, जरि भए भसम कौं कूरा ।
अनहद कीं गुरी बाजी, तब काल द्रिष्टि भै भागी ।।
कहै कबीर रांम राया हरि कै रंगैं मूंड मुडाया ।।२६४।।

शब्दार्थ—सिरि भारा=पाप बोझ। सिरजनहारा=स्रष्टा, ब्रह्म। टेढ़ी पाग =तिरछा साफा बाँधने से तात्पर्य। बड जूरा=बड़ा जूड़ा, केश-विन्यास की पद्धति विशेष। गुरी=तंत्री। कालद्रिष्टि=मृत्यु। भै=भय। मूंड मुड़ाया=विरक्त होना।

कबीर कहते कि इस सांसारिक विषय-वासना बोझ को सहना हमारे लिए सम्भव नहीं, हमने पाप-मोट व्यर्थ सिर पर रख रखी है, वस्तुतः शीश की वास्तविक शोभा स्रष्टा की भक्ति है। अदा से रखे गये साफे, वड़े-वड़े जूड़े अर्थात् समस्त शृंगार-प्रसाधन जलकर क्षार रूप में परिणत हो जाते हैं; मिट्टी में मिल जाते हैं। अनहद नाद होने पर ही साधक का मृत्यु भय विदूरत होता है। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मैंने आपके भक्ति-रंग में रंगकर ही संसार से विरक्तता ली है।

कारनि कौंन संवारै देहा, यहु तनि जरि बरि ह्वै है षेहा ।।टेक।।
चोवा चंदन चरचत अंगा, सो तन जरत काठ कै संगा ।
बहुत जतन करि देह मुट्याई अगनि दहै कै जंबक खाई ।।
जा सिर रचि रचि बांधत पागा, ता सिर चांच संवारत कागा ।
कहै कबीर तब झूठा भाई, केवल रांम रह्यौ ल्यौ लाई ।।२६५।।

शब्दार्थ—षेहा=धूल। देह मुट्याई=शरीर बनाया। जंबुक=लोमड़ी। रचि रचि=बना बनाकर। चंच=चंचु, चोंच।

हे मनुष्य ! तू क्यों व्यर्थ इस शरीर के सौन्दर्य-प्रसाधन में लगा हुआ है, यह तो जल कर भस्म होने पर धूलि में मिल जायगा। जिस शरीर को आज चोबा मौर चन्दन निर्मित अंगरागों से सजा रहे हो वह मृत्यूपरान्त चिता पर लकड़ी के साथ जलता है ! अनेक भाँति के प्रयत्न करने पर जिस शरीर को परितुष्ट किया है वह या तो अग्नि से जलता है अथवा लोमड़ी (आदि जंगली जानवर) ही खाती है, जिस

शीश पर बड़े गौरव से साफे की पाग बनाकर धारण करते हो उसे कौए अपनी चोंच से कुरेदते हैं। अतः इस शरीर का शृंगार-प्रसाधन वृथा और जीवन की आयु-पर्यन्त ही सीमित है। अतः यह कृत्य मिथ्या है, केवल ब्रह्म में अपनी वृत्तियाँ लगानी चाहिए—ऐसा कबीर का विचार है।

विशेष—अनुप्रास अलंकार।

धंन धंधा ब्यौहार सब, माया मिथ्यावाद।
पांणीं नीर हलूर ज्यूं, हरि नांव बिना अवपाद ॥टेक॥
इक रांम नांम निज साचा, चित चेति चतुर घट काचा।
इस भरमि न भूलसि भोली, बिधनां की गति है औली ॥
जीवते कूं मारन धावै, मरते कौं बेगि जिलावै।
जाकै हुँहि जम से बैरी, सो क्यूं सोवै नींद घनेरी ॥
जिहि जागत नींद उपावै, तिहि सोवत क्यूं न जगावै।
जलजंत न देखिसि प्रांनीं, सब दीसै झूठ निदांनीं ॥
तन देवल ज्यूं धज आछै, पड़ियां पछितावै पाछै।
जीवत ही कछू कीजै, हरि रांम रसांइन पीजै ॥
रांम नांम निज सार है, माया लागि न खोई।
अंत कालि सिर पोटली, ले जात न देख्या कोई ॥
कोई ले जात न देख्या, बलि बिक्रम भोज ग्रस्टा।
काहू कै संग न राखी, दीसै बीसल की साखी ॥
जब हंस पवन ल्यौ खेलै, पसरयौ हाटिक जब मेलै।
मानिख जनम अवतारा, नां ह्वै है बारंबारा ॥
कबहूँ है किसा बिहांना, तर पंखी जेम उडांनां।
सब आप आप कूं जांई, को काहू मिलै न भाई ॥
मूरिख मनिका जनम गंवाया, वर कोडी ज्यूं डहकाया।
जिहि तन धन जगत भुलाया, जग राख्यौ परिहरि माया ॥
जल अंजुरी जीवन जैसा, ताका है किसा भरोसा।
कहै कबीर जग धंधा, काहे न चेतहु अंधा ॥२९६॥

शब्दार्थ—ब्यौहार सब=समस्त क्रिया कलाप। मिथ्यावाद=मृण्मय, अनित्य नाशवान्। घट=इसका अर्थ यहाँ मन। औली=विचित्र अनुपम। घनेरी=गहरी अचेत। जलजन्त=जलजन्तु, जल के जीव। देवल=मन्दिर। धज—ध्वज। हाटिक=स्वर्ण। मानिख=मनुष्य। बिहांना=बहाना। डहकाया=खो दिया। अँजुरी=अंजलि।

कबीर कहते हैं कि इस जगत् का समस्त कार्य-कलाप और प्रत्येक गतिविधि मिथ्या है। इनकी सत्ता माया के कारण लगती है। प्रभु-नाम के बिना यह संसार व्यर्थ

है अथवा प्रभु-नाम, अर्थात् भक्ति का ही कर्म इस संसार में मिथ्या नहीं है, अन्यथा सब कुछ नाशवान है।

हे मनुष्य ! तू हृदय में सावधान हो जा क्योंकि मन बड़ा अस्थिर है। संसार में प्रभु नाम ही एक मात्र सत्य है। तुम इस संसार के माया-मोह—भ्रम—में मत पड़ना। ईश्वर की गति बड़ी विचित्र है। यह उसी की सामर्थ्य है कि वह जीवित का अस्तित्व क्षण भर में समाप्त कर दे और मृतक को पुनः जीवन दान दे दे। जिस जीव की—मनुष्य की मृत्यु शत्रु है, उसे गहरी नीद में अचेत ही नहीं सोना चाहिए अज्ञान में नहीं पड़ना चाहिए। हे प्रभु ! यदि आप जीवात्मा को ऐसी कुमति प्रदान करते हो कि अज्ञानग्रस्त ही संसार में पड़ जाता है तो आप उसे ऐसी चेतना क्यों नहीं देते कि वह ज्ञान से अगान की ओर, संसार से भक्ति की ओर प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर चले। मनुष्य जल में पड़े हुए कीटाणुओं को नहीं देख सकता, इसी भाँति विषयानन्द स्थित नाश की वह कल्पना नहीं करता। ये क्षणिक आनन्द प्रत्यक्ष में ही आनन्द दृष्टिगत होते हैं, वैसे ये विनाशसाधन हैं। इस शरीर में ही ब्रह्म का निवास—मन्दिर—है जो अपनी ध्वजा सहित गौरव से स्थित है। इसलिए अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर लो, कभी जीवन-संध्या निकट होने पर व्यर्थ पछताओ प्रभु-नाम ही इस संसार में सत्य है, माया के फेर में पड़कर तुम इसे विनष्ट मत करो। धन का मोह वृथा है क्योंकि मृत्यु के समय इसे कोई यहां से नहीं ले जाता। बलि, विक्रम और भोज जैसे भी अपना समस्त धन-वैभव यहीं छोड़ गये, फिर तुम्हारी तो बात ही क्या ? यह सम्पत्ति कभी किसी के साथ नहीं गई, इनकी साक्षी बीसल देव ने भी दी है। जब आत्मा प्राणायाम साधना द्वारा शून्य में लय होती है, तभी उसे शून्य-सागर में मोती—स्वर्ण—(आनन्द की अतुलित राशि) प्राप्त होते हैं। यह मनुष्य जन्म बारम्बार नहीं होता, अतः इसे व्यर्थ मत खोओ। तब तुम किसे दोष दोगे जब प्राण किसी तरुवर वासी पक्षी के समान उड़ जायेंगे सब मनुष्य अपनी स्वार्थ-साधना में अनुरक्त हैं, प्रभु-मिलन की चिंता किसी को भी नहीं। हे मूर्ख, अज्ञानी ! तुमने यह अमूल्य मनुष्य जन्म कौड़ी तुल्य मूल्य पर दे दिया, खो दिया। शरीर और सम्पत्ति मोह में पड़ संसार अपने वास्तविक कर्त्तव्य—प्रभु भक्ति—को विस्मृत कर रहा है। संसार में माया का परित्याग कर ही रहना चाहिए। जीवन अंजलि में भरे जल, जो जब चाहे तब समाप्त हो सकता है और प्रति क्षण कम होता रहता है, की भाँति है। कबीर कहते हैं कि यह संसार केवल पाप मय ही है अतः हे अज्ञानी जीवात्मा तू सावधान हो प्रभु-भक्ति क्यों नहीं करता ?

विशेष—१. रूपक, उपमा आदि अलंकार।

२. पंजावी भाषा के अनुसार शब्द रूपों का प्रयोग यथा—'भूलसि"।

३. टेक की दूसरी पंक्ति में 'पाणीं नीर' में पुनरुक्त।

४. जल अंजुरी जीवन जैसा" उपमा बड़ी सार्थक एवं सौन्दर्यमयी है। इस

उपमा को रख कबीर ने जीवन की क्षणिकता और प्रतिपल होते नाश को बड़ी कुशलता से व्यक्त कर दिया है।

रे चित चेति च्यंति लै ताही,
जा च्यंतत आपा पर नाहीं ॥टेक॥
हरि हिरदै एक ध्यांन उपाया, तायैं छूटि गई सब माया।
जहाँ नाद न ब्यंद दिवस नहीं राती, नहीं नरनारी नहीं कुल जाती ॥
कहै कबीर सरब सुख दाता, अविगत अलख अभेद विधाता ॥२६७॥

शब्दार्थ—च्यंति = चिन्तन करलें। अविगत = जिसकी गति को न जाना जा सके।

हे मन ! तू सावधान होकर उस ईश्वर का ध्यान कर जिसके चिन्तन से अहं-परं का भेद विदूरित हो जाता है। प्रभु का हृदय में ध्यान आते ही समस्त माया-बन्धन छूट जाता है। प्रभु का ध्यान करने से जिस अनहद नाद की प्राप्ति होती है, जिस शून्य-जगत् की उपलब्धि होती है, वहाँ न तो रात्रि है और न दिन, न कोई नर है न नारी, न जाति कुल का भेद है।

कहने का तात्पर्य यह है कि वहाँ सम अवस्था है। कबीर कहते हैं कि वह अलख निरंजन ज्योति स्वरूप परमात्मा समस्त सुख-प्रदाता है।

सरवर तटि हंसणीं तिसाई,
जुगति बिनाँ हरि जल पिया न जाई ॥टेक॥
पीया चाहै तौ लै खग सारी, उड़ि न सकै दोऊ पर भारी।
कुंभ लीयै ठाढी पनिहारी, गुंण बिन नीर कैसें नारी ॥
कहै कबीर गुर एक बुधि बताई, सहज सुभाइ मिले रांम राई ॥२६८॥

शब्दार्थ—हंसणीं = आत्मा। तिसाई = प्यासी, तृषित। जुगति = युक्ति, साधना, भक्ति। पीया—पीना। कुम्भ = घड़ा। गुण = प्रभु-गुण, नामस्मरण से तात्पर्य।

प्रभु के हृदयस्थिति होते हुए भी आत्मा उसके दर्शन के लिए व्याकुल है, यह उसी भाँति है जैसे सरोवर के तट पर भी हंसनी प्यासी हो। वस्तुतः साधना के अभाव में प्रभु-भक्ति का जल नहीं पिया जा सकता। हे जीवात्मा ! यदि तू इस जल का पान करना चाहती है तो अपने पैरों में पड़ी माया-श्रृंखला को तोड़ दे। मनरूपी सागर में प्रभु का वास है उसे पनिहारिन—शरीर धारण किये हुए है, किन्तु आत्मा प्रभु-नाम स्मरण बिना उसका पान नहीं कर सकती। कबीरदास जी कहते हैं कि सद्गुरु ने ब्रह्म प्राप्ति का जल उत्तम उपाय बता दिया है, वह है सहज साधना।

विशेष—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

भरथरी भूप भया बैरागी।
बिरह बियोगि बनि बनि ढूंढै, वाकी सुरति साहिब सौं लागी ॥टेक॥

हसती घोड़ा गांव गढ गूडर, कनड़ा पा इक आगी।
जोगी हूवा जांणि जग जाता, सहर उजीणीं त्यागी ।।
छत्र सिंघासण चवर ढुलंता, राग रंग बहु आगी।
सेज रमैंणीं रंभा होती, तासौ प्रीति न लागी ।।
सूर बीर गाढा पग रोप्या, ईह बिधि माया त्यागी।
सब सुख छाडि भज्या इक साहिब, गुरु गौरख ल्यौ लागी ।।
मनसा वाचा हरि हरि भाखै, गंध्रप सुत वड भागी।
कहै कबीर कुदर भजि करता, अमर भये अणरागी ।।२६६।।

शब्दार्थ—भूप = राजा, नृप। सुरति = लय, लगन। साहिब = स्वामी, ब्रह्म। हसती = हाथी। गूडर = गढ़ी, किले का छोटा रूप। उजीणीं = उजाड़। गाढ़ा = दृढ़। रोप्या = लगाया।

कबीर कहते हैं कि राजा भर्तहरि के प्रभु-भक्ति मार्ग अपनाने पर वह वन-वन प्रभु की खोज में भटकते रहे वास्तव में जो योगी हो जाता है उसे समस्त संसाह जान जाता है। उस विरक्त के लिए हाथी, घोड़ा, ग्राम, किला, गाढ़ी, स्वर्ण. अग्नि आदि ऐश्वर्य उपकरणों में कोई आकर्षण शेप नहीं रह जाता। उस मायात्यागी के लिए तो नगर भी उजाड़ ही होता है। उस साधक को छत्र, सिंहासन, चंवर धारण करने अथवा अन्य ऐश्वर्य साधनों में तथा कामोपभोग के साधन—सुन्दरी, शय्या एवं मधुर संगीत में उसके लिए कोई रस नहीं रह जाता है। साधक-शूर माया त्याग के लिए बड़ा साहसपूर्ण पग उठता है। वह समस्त सुखों का परित्याग कर सद्गुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग का ही अवलम्बन करता है। जिन लोगों ने मन, वाणी और कर्म से प्रभु का भजन किया है वे बड़े भाग्यशाली हैं। कबीर कहते हैं कि उस ब्रह्म का ध्यान करने से साधक अमर हो जाता है।

विशेष—अनुप्रास अलंकार।

राग केदारौ

सार सुख पाईये रे, रंगि रमहु आत्मांरांम ।।टेक।।
बनह बसे का कीजिये, जे मन नहीं बजै बिकार।
घर बन तत समि जिनि किया, ते बिरला संसार ।।
का जटा भसम लेपन कियें कहा गुफा मैं बास।
मन जीत्यां जग जीतिये, जौ बिषया रहै उदास ।।
सहज भाइ जे ऊपजै, ताका किसा मांन अभिमांन।
आपा पर समि चीनियें, तब मिलै आतमांरांम ।।
कहै कबीर कृपा भई, गुर ग्यांन कह्या समझाइ।
हिरदै श्री हरि भेटियें, जे मन मनसै नहीं जाइ ।।३००।।

शब्दार्थ — सार = सारतत्व। रंगी = प्रभु-भक्ति का रंग। बनह = वन में।

विकार=पाप, पंच विकार—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह। उदास=विरक्त। भाइ =भाव। आतमांरांम=ब्रह्म। अनतैं=अन्यत्र।

कबीर कहते हैं कि हे मन! प्रभु-भक्ति में अपनी वृत्तियाँ केन्द्रित कर देने से समस्त सुखों की प्राप्ति होती है। वन में तपस्या करने से तब तक क्या लाभ जब तक मन विषय-विकारों का परित्याग नहीं करता। जो साधक घर और वन, सुख-दुख को समान समझते हैं वे संसार में विरले ही हैं। विरक्त होकर जटा धारण करने और भस्म लपेटने में कोई लाभ नहीं—जो साधक मन की वृत्तियों को नियन्त्रित कर विषय-वासना से दूर रहता है वही सच्चा साधक है। सहज साधना से जिस ब्रह्म की प्राप्ति होती है वह मानापमान से परे है। अहं पर की भावना का परित्याग करने से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। कबीर कहते हैं कि मुझ पर सद्‌गुरु की कृपा हो गई है अतः उन्होंने परम ज्ञान का उपदेश मुझे प्रदान किया जिससे हृदयस्थित ब्रह्म का दर्शन प्राप्त हो गया और अब मन अन्यत्र न भटक कर प्रभु में ही लीन रहता है।

है हरि भजन कौ प्रवांन।
नींच पांवै ऊँच पदवी, बाजते नींसान ॥टेक॥
भजन कौ प्रताप ऐसो, तिरे जल पाषान।
अधम भील अजाति गनिका, चढ़े जात बिवांन॥
नव लख तारा चलै मंडल, चलै ससिहर भांन।
दास धूकौं अटल पदवी, रांम को दीवांन॥
निगम जाकी साखि बोलैं, कहै संत सुजांन।
जन कबीर तेरी सरनि आयौ, राखि लेहु भगवांन ॥३०१॥

शब्दार्थ—प्रवांन=प्रमाण। नींसान=नगाड़े। पाषान=पत्थर। चढ़े जात बिवांन=स्वर्ग को चले गये। ससिहर=चन्द्रमा।

प्रभु भजन महिमा का प्रमाण ऐसा है कि नीच व्यक्ति भी उच्चतम पद प्राप्त कर लेता है और उसके वहाँ ऐश्वर्यसूचक नगाड़े बजने लगते हैं। ईश्वर भजन का प्रताप है कि जल पर पत्थर भी तैरने लगते हैं। नीच भिलनी शबरी एवं वेश्या तक को प्रभु-भक्ति के द्वारा स्वर्गारोहण के लिए विमान प्राप्त हुए। राम-भक्त के सम्मानार्थ नौ लाख नक्षत्रगण एवं चन्द्र और सूर्य चले। ब्रह्म वास्तव में ऐसा ही अनुपम है। साधुगण कहते हैं कि वेदादि धर्मग्रन्थ भी उसकी अनुपमता की साक्षी देते हैं। हे प्रभु! दास कबीर आपकी शरण में आया है उसे आप शरण देकर रख लें।

विशेष—इस पद में कबीर का ध्यान बहुत से पौराणिक आख्यानों की ओर गया है—'तिरे जल पाषाण' में राम के सागर पर पुल बाँधने, 'अधम भील' में शबरी की कथा की ओर संकेत है!

चलौ सखी जाइये तहां, जहां गयें पांइये परमांनंद ॥टेक॥
यहु मन आमन धूमनां, मेरौ तन छीजत नित जाइ।
ग्यंतामणि चित चोरियो, ताथैं कछू न सुहाइ॥

सुंनि सखी सुपिनें की गति ऐसी, हरि आये हम पास ।
सोवत ही जगाइया, जागत भये उदास ।।
चलु सखी बिलम न कीजिये, जब लग सांस सरीर ।
मिलि रहिये जगनाथ सूं, यूं कहै दास कबीर ।।३०२।।

शब्दार्थ—बिलम=विलम्ब, देर । जगनाथ=ब्रह्म ।

कबीर आत्मा को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे सखी उस शून्य स्थल को चल जहाँ पूर्णानन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस मन की गति धूएँ के समान चंचल और अस्थिर है, शरीर वासनारत रहने के कारण दिन प्रति दिन क्षीण होता जा रहा है। सर्वकामना पूर्ण करने वाली चिन्तामणि के तुल्य प्रभु में वृत्तियाँ लगने से मुझे संसार में और कुछ अच्छा नहीं लग रहा है। अब कवि अपने प्रिय के साक्षात्कार महामिलन का वर्णन करता कहता है कि हे सखी ! स्वप्न में मुझे प्रभु के दर्शन प्राप्त हुए किन्तु शीघ्र ही मेरी निद्रा खुल गई और पुनः वही वियोग-वेदना शेष रह गयी। अतः हे सखी ! अब तू उस प्रियतम की खोज के लिए देर मत कर। जब तक शरीर में प्राण है, जीवन है, तब तक उस प्रभु से मिलने का प्रयत्न कर—भक्त कबीर का यही उपदेश है।

मेरे तन मन लागी चोट सठौरी ।
बिसरे ग्यांन बुधि सब नाठी, भई बिकल मति बौरी ।।टेक।।
देह बदेह गलित गुन तीनूं, चलत अचल भई ठौरी ।
इत उत जित कित द्वादस चितवत, यहु भई गुपत ठगौरी ।।
सौई पैं जानें पीर हमारी, जिहि सरीर यहु ब्यौरी ।
जन कबीर ठग ठग्यो है बापुरो, सुंनि संमानी त्यौरी ।।३०३।।

शब्दार्थ—नाठी=नष्ट हो गई है। बौरी=पागल होना। द्वादस=द्वादश आदित्यों के प्रकाश से परिपूर्ण।

मेरा अन्तर-बाह्य सब प्रभु की प्रेम-पीर से बिंधा हुआ है जिससे समस्त ज्ञान-विज्ञान एवं विवेक नष्ट हो गया है और मैं प्रभु के लिए आकुल-व्याकुल हूँ। मुझे अब अपने शरीर की भी सुधि नहीं रही है तथा मेरे लिए सत, रज, तम,—त्रिगुणात्मक संसार की समाप्ति हो चुकी है। मैं जिधर भी देखता हूँ उधर द्वादश आदित्यों के प्रकाश में परिपूर्ण ईश्वर का दर्शन होता है—यह एक प्रकार से गुप्त रूप से जादू सा हो गया। मेरी व्यथा का अनुमान वही कर सकता है जो स्वयं इस प्रेम-पीर से विद्ध हो। प्रभु-प्रेम पीर से पागल भक्त कबीर की लगन, समस्त चित्त-वृत्तियाँ अब शून्य में ही केन्द्रित हो गईं, जहाँ प्रभु का वास है।

मेरी अंखियाँ जान सुजांन भई ।
देवर भरम सुसर संगि तजि करि, हरि पीव तहां गई ।।टेक।।
बालपनें के करम हमारे, काटे जांनि लई ।
बांह पकरि करि कृपा कीन्हीं, आप समींप लई ।।

पानीं की बूंद थैं जिनि प्यंड साज्या, ता संगि अधिक करई।
दास कबीर पल प्रेम न घटई, दिन दिन प्रीति नई ॥२०४॥

मेरे नेत्र प्रभु दर्शन द्वारा एक नवीन प्रकाश से परिपूर्ण हो गये हैं। सांसारिक सम्बन्धों का परित्याग कर अब वे वहीं चले गये हैं जहाँ परमात्मा का निवास है। भाव यह है कि अब मैंने प्रभु-भक्ति मार्ग को ग्रहण कर लिया है। अज्ञानावस्था में जो पाप कर्म मैंने किये थे प्रभु ने उन्हें विस्मृत कर मुझे अपना लिया। जिस प्रभु ने वीर्य की एक बूँद से इस सुन्दर शरीर का निर्माण किया उससे प्रेम करना, उसका भजन करना हमारा परम कर्त्तव्य है। कबीर कहते हैं कि उस प्रभु से मेरा प्रेम दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही है घटता नहीं है।

हो बलियां कब देखोंगो तोहि।
अह निस आतुर दरसन कारनि, ऐसी ब्यापै मोहि ॥टेक॥
नैन हमारे तुम्ह कूं चांहै, रती न मानैं हारि।
बिरह अगिन तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु बिचारि ॥
सुनहुं हमारी दादि गुसांई, अब जिन करहु बधीर।
तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वामीं, काचै भांडै नीर ॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहीं बांधै धीर।
देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर ॥२०५॥

शब्दार्थ – बलियाँ=स्वामी। रती=रत्ती, तनिक भी। दादि=पुकार। बधीर=देरी। आरतिवंत=आर्त, दुखी, विपतिग्रस्त।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! मुझे कब आपका दर्शन प्राप्त होगा? आप के दर्शनाभाव में मैं नित्य-प्रति प्रति प्रहर व्याकुल रहता हूँ। मेरे नेत्र व्याकुलतापूर्वक आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, वे तनिक भी अपने प्रतीक्षा पथ से नहीं हटे हैं। आप मन में हमारी दर्शनीय अवस्था को विचार कर देखिए कि किस प्रकार विरहाग्नि में अहर्निश दग्ध होता हूँ। हे करुणानिधान! आप मेरी पुकार सुनकर दया कीजिए, अब कृपा करने में तनिक भी विलम्ब मत कीजिए। हे प्रभु! आप धैर्य के साक्षात् स्वरूप हैं और मैं आतुरता का पुतला। वस्तुतः मेरा अस्तित्व तो कच्चे पात्र में भरे हुए जल के समान है जो चाहे तब विनष्ट हो सकता है। हे माधव प्रभु! मेरा और आपका वियोग बहुत समय से है, अतः मन आपके मिलनार्थ अधीर हो रहा है। अब शरीर क्षीण होता जा रहा है अतः दुःखी कबीर को आप शीघ्र दर्शन दीजिए।

विशेष—१. रूपक, दृष्टान्त आदि अलंकार।
२. यहाँ कबीर में सगुण भक्त के समान आतुरता दृष्टिगत होती है।
३. "बहुत दिनन……धीर" में 'अशांशी' की पुष्टि हुई है।

वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ ॥टेक॥

हौं जांनूं जे हिल मिलि खेलूं तन मन प्रांन समाइ।
या कांमनां करौ परपूरन, समरथ हौ रांम राइ ।।
मांहि उदासी माधौ चाहै, चितवत रैंनि बिहाइ।
सेज हसारी स्यंघ भई है, जब सोऊं तब खाइ ।।
यहु अरदास दास की सुंनिये, तन की तपनि बुझाइ।
कहै कबीर मिलै जे सांई, मिलि करि मंगल गाइ ।।३०६।।

शब्दार्थ—स्यंघ=सिंह के समान भयंकर। अरदास=प्रार्थना। तपनि=दु:ख।

कबीर यहाँ अपने प्रियतम से मिलन की व्याकुलता को प्रदर्शित करते कहते हैं कि हे सखि! वह दिवस कब आयेगा जब इस जन्म का प्रयोजन सफलीभूत हो प्रिय से साक्षात्कार होगा? मैं तब अपने प्रियतम से एकमेक हो अनेक प्रेम-क्रीड़ाएँ करूंगी। हे स्वामी! आप मेरी इस कामना को शीघ्र ही पूर्ण कर दो क्योंकि आप तो सब भाँति समर्थ हो। मैं इस संसार से विरक्त हो नित्य-प्रति अर्हनिश आपको ही देखना चाहता हूँ। आपके वियोग में मुझे शय्या सिंह के समान भयानक लगती है और जब उस पर सोने का उपक्रम करता हूँ तो वह काटने को दौड़ती है। हे प्रभु! आप भक्त कबीर की यह विनती सुन लीजिए कि मेरे शरीर का विरह ताप समाप्त कर दो। कबीर कहते हैं कि सब मनुष्य मिलकर प्रभु का गुणगान करो जिससे शीघ्र उनका दर्शन लाभ हो।

विशेष—१. नामस्मरण का महत्त्व अन्तिम चरण में अभिव्यक्त हुआ है।

२. इस पद में कबीर की विरहिणी आत्मा 'वासकसज्जा' नायिका के समान प्रियतम की प्रतीक्षा करती है।

३. रूपक अलंकार।

बाल्हा आव हमारे ग्रह रे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे ।।टेक।।
सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अंदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे ।।
आन न भावै नींद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीरे रे।
ज्यूं कांमीं कौं कांम पियारा, ज्यूं प्यासे कूं नीर रे ।।
है कोई ऐसा पर-उपगारी, हरि सूं कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखे जीव जाइ रे ।।३०७।।

शब्दार्थ—अंदेह=दुख। पर-उपगारी=परोपकारी।

हे प्रभु! आप आकर शीघ्र दर्शन दीजिए। आपके बिना यह शरीर विरह-विदग्ध हो रहा है। सब मुझे आपकी पत्नी कहते हैं—यही तो मेरे लिए असह्य है कि आपकी अर्धांगिनी होते हुए भी आपसे अलग हूँ। जब तक पूर्ण तादात्म्य न हो, तन-मन दोनों एक होकर हम शय्या-लाभ न करें तब तक प्रेम कैसा? वियोगी आत्मा को तो प्रिय के अतिरिक्त और कुछ अच्छा ही नहीं लगता। मेरी निद्रा भी भाग गई है।

तथा घर वन कहीं भी मेरी वृत्ति नहीं रमती। मुझे आप उतने ही प्रिय हैं जितना कामी पुरुष को काम-पूर्ति के साधन—स्त्री और संगीत आदि एवं प्यासे को जल। कोई ऐसा परोपकारी व्यक्ति भी है जो प्रभु से मेरी व्यथा का कथन कर सके। कबीर कहते हैं कि मेरी स्थिति अब ऐसी हो गई है कि आपके दर्शनों के बिना मैं जीवित नहीं रह सकता।

विशेष—१. वियोग की दशम अवस्था की सूचना इस पद में प्राप्त होती है।

२. उपमा अलंकार।

माधौ कब करिहौ दया।
कांम क्रोध अहंकार व्यापै, नां छूटै माया ॥टेक॥
उतपति व्यंद भयो जा दिन थैं कबहूं सच नहीं पायौ।
पंच चोर संगि लाइ दिए हैं, इन संगि जनम गंवायौ ॥
तन मन डस्यौ भुजंग भामिनीं, लहरी वार न पारा।
सो गारडू मिल्यौ नहीं कबहूं पसर्‌यौ विष बिकराला ॥
कहै कबीर यहु कासूं कहिये, यह दुख कोइ न जानैं।
देहु दीदार विकार दूरि करि, तब मेरा मन मांनैं ॥३०८॥

शब्दार्थ—सच=शांति, सुख। पंच चोर=काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह। गरडू=गरुड़। दीदार=दर्शन।

हे प्रभु! अब आप दयाकर दर्शन दीजिए क्योंकि मुझे काम, क्रोध एवं अहंकार ग्रस्त कर रहे हैं तथा माया-बन्धन नहीं छूटता। जब से मैंने जीवन धारण किया है तभी से कभी सुख और शान्ति नहीं मिली। मैंने समस्त जीवन काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह पंच चोरों के साथ रहकर व्यर्थ नष्ट कर दिया। स्त्री रूपी सर्पिणी ने तन मन को अपने विषय-वासना-विष से डस लिया है। उसके विष की कोई सीमा नहीं क्योंकि मेरा अंग-प्रत्यंग जल रहा है। वह गरुड़—सद्‌गुरु—मुझे अब तक प्राप्त न हो सका जो इस विष को उतार देता। कबीर कहते हैं कि मैं अपनी व्यथा का वर्णन किससे करूं मेरी वेदना से कोई भी परिचित नहीं। हे प्रभु! इन विषय-विकारों को विदूरित कर आप दर्शन दीजिए तभी मेरा मन शान्ति लाभ करेगा।

विशेष—रूपक अलंकार।

मैं जन भूला तूं समझाइ।
चित चंचल रहै न अटक्यौ, विषै बन कूं जाइ ॥टेक॥
संसार सागर मांहि भूल्यौ, थक्यौं करत उपाइ।
मोहनी माया बाघनीं थैं, राखि लै रांम राइ।
गोपाल सुनि एक बीनती, सुमति तन ठहराइ।
कहै कबीर यहु कांम रिप है, मारै सबकूं ढाइ ॥३०९॥

शब्दार्थ—रिप=रिपु, शत्रु।

कबीर कहते हैं कि प्रभु ! मैं संसार-भ्रम में पड़ा हुआ हूँ, इससे आप ही मुक्त कर सकते हैं। मेरा चंचल मन स्थिर नहीं रहता, रोके रहने पर भी विषय-वासना-वन में भटकने के लिए पहुँच जाता है। मुझे भवसागर में पथ-विभ्रम हो गया है और इससे पार पाने के उपक्रम करते-करते मैं परिश्रान्त हो गया हूँ। हे राम ! मुझे आप इस मोहिनी जैसी सुन्दर बाघिनी माया से बचा लो। हे नाथ ! मेरा निवेदन सुन इस शरीर—मन—को स्थिर कर दीजिए। भाव यह है कि ऐसी सद्बुद्धि प्रदान कीजिए कि मेरा मन विषय-वासना के आकर्षणों में न भटके। कबीर कहते हैं कि काम सबका शत्रु है जो सबको नष्ट कर रहा है।

विशेष—१. रूपक, अनुप्रास आदि अलंकार।

२. कबीर ने यहाँ अपने निर्गुण ब्रह्म के लिए अवतारी नामों का प्रयोग किया है।

भगति बिन भौजलि डूबत है रे।
बोहिथ छाँड़ि बैसि करि डूंडै,
बहुतक दुख सहै रे ।।टेक।।
बार बार जम पैं डहकावैं, हरि को ह्वै न रहै रे।
चेरी के बालक की नाईं, कासूं बात कहै रे ।।
नलिनीं के सुवटा की नांईं, जग सूं राचि रहै रे।
बंसा अगनि बंस कुल निकसै, आपहि आप दहै रे ।।
यहु संसार धार मैं डूबै, अघकर थाकि रहै रे।
खेवट बिनां कवन भौ तारै, कैसैं पार गहै रे ।।
दास कबीर कहै समझावै, हरि की कथा जीवै रे।
रांम को नांव अधिक रस मीठौ, बारंबार पीवै रे ।।३१०।।

शब्दार्थ—भौजलि=भव-जल। बोहिथ=बोहित, पुराने समय का पालों से चलने वाला जहाज। चेरि=दासी। राचि=अनुरक्त। बंसा=बाँस। भौ=भव, भवसागर।

भक्ति के सम्बल बिना जीवात्मा इस संसार सागर में डूब जायेगी जिस प्रकार जहाज का पक्षी जहाज का आश्रय छोड़कर अनेक दुख सहता है और अन्त में पुनः जहाज पर ही आता है, वही अवस्था मेरी है कि मैं आपसे वियुक्त हूँ संसार तापों से झुलस रहा हूँ। यह बारम्बार आवागमन के चक्र में डाल व्यथित करता है। प्रभु बिना इस दुख से त्राण नहीं। जिस भांति दासी पुत्र अपनी व्यथा को (माँ के अतिरिक्त) किसी से नहीं कह सकता क्योंकि कोई भी उसकी व्यथा-कथा को सुनने वाला नहीं है उसी भांति मैं अपना दुख आपके अतिरिक्त और किससे कहूँ ? जिस प्रकार नलिनी का तोता यह जानते हुए भी कि इस लकड़ी को पकड़ने से मुझे दुख होगा, मेरा अस्तित्व इससे गिरने से समाप्त हो सकता है उसे पकड़े रहता है, उसी भांति यह जानते हुए कि विषय वासना मेरे नष्ट होने का कारण है, मैं उन्हीं में अनु-

रक्त रहता हूँ एवं इस प्रकार मैं वैसे ही नष्ट हो जाता हूँ जैसे बांस समूह अपनी ही अग्नि से विनष्ट हो जाता है। इस संसार-सागर की धारा के मध्य में डूब कर मैं बिल्कुल थक गया हूँ अब किधर को भी नहीं जा सकता। अब बिना खिवैया के मेरी नौका संसार-सागर के पार नहीं उतर सकती। कबीरदास जी संसार को समझा रहे हैं कि इस संसार में प्रभु-भक्ति ही एक मात्र जीवनाधार है। राम-नाम के मीठे रस को बारम्बार पीना ही श्रेयस्कर है।

विशेष—१. टेक के भाव की तुलना कीजिए—

२. 'नलिनी के सुवटा' का उपमान सब ही भक्त कवियों का बड़ा प्रिय हार रहा है, सूर, तुलसी एवं कबीर आदि ने अनेक स्थलों पर इसका प्रयोग किया है।

चलत कत टेढौ टेढौ रे।
नऊं दुवार नरक धरि मूंदें, तू दुरगंधि कौ वेढौ रे ॥टेक॥
जे जारैं तो होइ भसम तन, रहित किरम जल खाई।
सूकर स्वांन काग कौ भखिन, तामैं कहा भलाई॥
फूटे नैंन हिरदै नाहीं सूझै, मति एकै नहीं जांनीं।
माया मोह ममिता सूं बांध्यौ, बूडि मूवौ बिन पानीं॥
बारू के घरवा मैं बैठो, चेतत नहीं अयांनां।
कहै कबीर एक रांम भगती बिन, बूडे बहुत सयांनां॥३११॥

शब्दार्थ—बारू के घरवा मैं = बालू के घर में, नश्वर स्थान पर।

कबीर मन को प्रताड़ना देते हुए कहते हैं कि तू कुचाल क्यों चलता है? नौ इन्द्रियाँ रूपी द्वार तुझे नरक में ढकेल रहे हैं और तू अपने पाप कर्मों से केवल मात्र दुर्गन्ध की, घृणा की ढेरी बन गया है। यदि मैं अपने इस शरीर को जलाता हूँ तो जीवन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है और यदि इसे धारण करता हूँ तो कर्म-विपाक से यह प्रतिदिन नष्ट हो रहा है। सुअर, कुत्ते एवं काग के समान ही यदि मनुष्य भी अभक्ष्य को ग्रहण करने लगे तो मानव-जीवन की श्रेष्ठता और सार्थकता भी क्या? अतः मनुष्य को सुअर, स्वान एवं काग जैसे निकृष्ट व्यवहार नहीं करने चाहिएं। अब मैं ऐसा अज्ञानांध हो गया हूँ कि मुझे कुछ नहीं सूझता तथा मति, विवेक जैसी किसी भी चीज से मेरा परिचय नहीं रह गया है, अब मैं माया, मोह, ममता आदि में बंधकर अधःपतन के गर्त में डूब रहा हूँ—इस प्रकार बिना पानी के ही मैं डूब रहा हूँ। मैं आज भी सावधान हो प्रभु-भजन नहीं करता क्योंकि इस संसार में अस्तित्व बालू के घर के समान क्षणिक है। कबीर कहते हैं कि राम-भक्ति के आश्रय बिना इस संसार में बहुत से चतुर व्यक्ति भी डूब गये।

विशेष—विभावना अलंकार।

अरे परदेसी पीव पिछांनि।

कहा भयौ तोकौं समझि न परई, लागी कैसी बांनि ॥टेक॥

भोमि बिडाणी मैं कहा रातौ, कहा कियो कहि मोहि।
लाहे कारनि मूल गमावै, समझावत हूँ तोहि॥
निस दिन तोहि क्यूं नींद परत है, चितवत नांहीं ताहि।
जंम से बैरी सिर परि ठाढे, पर हाथ कहा बिकाइ॥
झूठे परपच मैं कहा लागो, ऊठै नांहीं चालि।
कहै कबीर कछू बिलम न कीजै, कौनैं देखी काल्हि॥३१२॥

शब्दार्थ—परदेसी=विदेशी आत्मा। बाँनि=आदत। भोमि=भूमि। बिडानी=इधर उधर करना, तितर-बितर करना, नष्ट करना। लाहे=लाभ।

कबीर अपनी आत्मा को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे परदेशी! तू अपने प्रियतम (ब्रह्म) को पहचान। तुझे कैसी कुटेव पड़ गई है कि सर्वदा विषय-वासना रत रहती है। नष्ट-भ्रष्ट भूमि पर कुछ नहीं उगाया जा सकता, उसी प्रकार तूने अपने पाप-कर्मों से अपना संसार नष्ट कर लिया है। तू इस मिथ्या लाभ के कारण, जो वास्तव में विषय-वासना के अतिरिक्त कुछ नहीं है, अपने पूर्व संचित पुण्यों को भी नष्ट कर रहा है। इस विषय-वासना में तुझे रात-दिन चैन नहीं पड़ता और प्रभु की ओर देखता तक नहीं। मृत्यु जैसे भयंकर शत्रु तेरे ऊपर तने खड़े हैं, किन्तु तू दूसरों के हाथ बिक कर असावधान हो रहा है। इस मिथ्या साँसारिक प्रपंच में मत पड़, बल्कि प्रभु-भक्ति में लग। कबीर कहते हैं कि ईश्वर भक्ति के इस पुण्य कार्य के प्रारम्भ में विलम्ब मत कर, पता नहीं कल, अगले क्षण, हमारा अस्तित्व शेष रहेगा या नहीं।

भयौ रे मन पांहुनड़ौ दिन चारि।
आजिक काल्हिक मांहि चलैगौ, ले किन हाथ संवारि॥टेक॥
सौंज पराई जिनि अपणावै, ऐसी सुणि किन लेह।
यहु संसार इसौ रे प्रांणी, जैसौ धूंवरि मेह॥
तन धन जोबन अंजुरी को पांनी, जात न लागै बार।
सेंबल के फूलन परि फूल्यौ, गरब्यौ कहा गँवार॥
खोटी खाटै खरा न लीया, कछू न जांनीं साटि।
कहै कबीर कछू बनिज न कीयो, आयौ थौ इहि हाटि॥३१३॥

शब्दार्थ—पांहुनड़ौ=अतिथि। धूंवर मेह=धुएँ के बादल। बार=देर। हाटि=संसार रूपी बाजार।

हे मन! संसार में तू चार दिन का अतिथि है। क्योंकि इस शरीर का अस्तित्व क्षणिक है, शीघ्र ही यह दूसरों के हाथों पर चलकर श्मशान पहुँचेगा। तू दूसरों की सम्पत्ति को रख क्यों पाप-बोझ बढ़ाता है। यह संसार तो धुएं के बादल और मेघ से समान क्षणिक है। जिस शरीर, धन एवं यौवन का मनुष्य गर्व करता है वह तो अंजलि के जल सदृश क्षणिक अस्तित्व के हैं जिसके नष्ट होने में पल भर भी नहीं लगता। यह संसार सेमल के सुमन सदृश निस्सार, थोथा है—इसके ऊपर गर्व करता

मूर्खता है। मनुष्य इस संसार में पाप-कर्मों में ही फँसा रहता है, प्रभु-भक्ति नहीं करता। कबीर कहते हैं कि मैंने इस संसार रूपी बाजार में आकर सत्कर्मों का व्यापार नहीं किया, और जीवन व्यर्थ ही चला गया।

विशेष—१. तुलसी ने भी संसार की उपमा कबीर के समान "धुआँ के से धौरहर, देखत ही ढहि जांय" कहकर दी है।

२. उपमा, अनुप्रास अलंकार।

मेंन रे रांम नांमहि जांनि।
थरहरी थूंनी मंरि, सूतौ खूंटी तांनि ॥टेक॥
सैन तेरी कोई न समझै, जीभ पकरी आंनि।
पांच गज दोवटी मांगी, चूंन लीयौ सांनि॥
बैसंदर षोषरी हांडी, चल्यौ लादि पलांनि।
भाई बंध बोलाइ बहु रे, काज कीनौं आंनि॥
कहै कबीर या मैं झूठ नांहीं, छाँड़ि जीय की बांनि।
रांम नांम निसक भजि रे, न करि कुल की कांनि ॥३१४॥

शब्दार्थ—सैन = इंगित। जीय को बांनि = मन की आदत। कांनि = मर्यादा।

हे मन! तू सर्वदा राम-नाम का स्मरण कर। धैर्य की थूनी एवं सत की खूटियों के आधार पर राम-नाम का एक मन्दिर बना लो। हे प्रभु! जिह्वा तो अन्य रसों के आस्वादन में लगी हुई है और भक्ति के लिए तेरे इंगित को कोई ग्रहण नहीं कर पाता। पंच-विषयों के प्रसार में इन्द्रियाँ लगी रहती है और इस भांति प्रेम-वस्त्र को कलंकित कर लेती हैं। यह शरीर रूपी हांडी थोथी है, इसके लिए इतने उपक्रम करना व्यर्थ है। सांसारिक पाप-कर्म करने में अन्य सम्बन्धियों का भी सहयोग तूने लेकर उन्हें भी पाप-कर्मों में लिप्त कर लिया। कबीर कहते हैं कि यह असत्य का मार्ग जीवात्मा को छोड़ देना चाहिए एवं निस्संकोच भाव से राम-नाम स्मरण करना चाहिए, इस पुण्य कर्म में बाधक कुलकानि का भी भक्त को परित्याग कर देना चाहिए।

विशेष—जिस भांति आगे चलकर बल्लभाचार्य ने भक्ति मार्ग में 'कुल कानि' परित्याग की बात की, उसे हम कबीर में भी पाते हैं। प्रस्तुत पद के अन्त में इसी भाव की पुष्टि होती है।

प्राणीं लाल औसर चल्यौ रे बजाइ।
मुठी एक मठिया मुठि एक कठिया, संगि काहू कै न जाइ ॥टेक॥
देहली लग तेरी मिहरी सगी रे, फलसा लग सगी माइ।
मड़हट लूं सब लोग कुटंबी, हंस अकेलो जाइ॥
कहां वै लोग कहां पुर पटण, बहुरि न मिलबो आइ।
कहै कबीर जगनाथ भजहु रे जन्म अकारथ जाइ ॥३१५॥

शब्दार्थ—लाल=अमूल्य। देहली=घर के बाहर का द्वार, देहरी। मिहरी=पत्नी। मरहट=मरघट, श्मशान। अकारथ=व्यर्थ।

हे मनुष्य! अमूल्य अवसर हाथ से निकला जा रहा है, अतः प्रभु-भक्ति करो। इस शरीर के पोषण-कर्मों में लगे रहने से ही जीवन के कर्तव्यों की इतिश्री नहीं हो जाती, यह मुट्ठी भर शरीर तो अति अल्प पदार्थों से निर्मित है। हे मनुष्य! सर्वदा तेरे साथ रहने वाली पत्नी, अमित प्यार करने वाली मां और अन्य प्रियजन कोई भी मृत्यु के पश्चात् साथ नहीं जाता, आत्मा अकेले ही चली जाती है। यह संसार के वैभव से पूर्ण नगर-नगरी और ऐश्वर्यशाली लोग पुनः नहीं मिलते, अतः इनमें प्रेम करना वृथा है। कबीर कहते हैं कि हे मानव! तुम प्रभु का भजन करो– अन्यथा यह अमूल्य मानव जीवन व्यर्थ नष्ट हुआ जा रहा है।

विशेष—संसार के झूठे सम्बन्धों का प्रभावोत्पादक वर्णन है।

रांम गति पार न पावै कोई।
च्यंतामणि प्रभु निकट छाडि करि,
भ्रंमि भ्रंमि मति बुध खोई ॥टेक॥
तीरथ बरत जपै तप करि करि, बहुत भांति हरि सोधै।
सकति सुहाग कहौ क्यूं पावै, अछता कंत बिरोधै॥
नारी पुरिष बसैं इक संगा, दिन दिन जाइ अबोधै।
तजि अभिमान मिलै नहीं पीव कूं, ढूंढत बन बन डोलै॥
कहै कबीर हरि अकथ कथा है, बिरला कोई जांनै।
प्रेम प्रीति बेधी अंतर गति, कहूं काहि को मांनै ॥५१६॥

शब्दार्थ—गति=महिमा, रहस्य। सकति=शक्ति। सुहाग=स्वामी। अछता=विद्यमान, अहं। कंत=स्वामी, ब्रह्म। नारी=आत्मा। पुरिष=परमात्मा। बेधी=विद्ध कर दिया।

कबीर कहते हैं कि ईश्वर की महिमा का पार कोई नहीं पा सकता। तूने व्यर्थ सांसारिकों के माया-भ्रम में पड़ अपना विवेक खो दिया और इस प्रकार सर्वकामना पूर्ण करने वाले चिंतामणिस्वरूप हृदयस्थित ब्रह्म को विस्मृत कर दिया। तीर्थ, व्रत, जप-तप आदि विधि-विधानों से प्रभु को खोजने का बहुत प्रयत्न किया समस्त उपक्रम व्यर्थ गये। भला शाक्त ब्रह्म को किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि वे मूर्तिपूजक हैं और ब्रह्म का इस विधि-विधान से विरोध है। आत्मा और परमात्मा एक ही स्थान पर स्थित हैं, किन्तु दोनों के मिलन बिना समय व्यर्थ निकला जा रहा है। हे मूर्ख जीव! तू अहं का परित्याग कर मन में तो प्रभु को खोजता नहीं और व्यर्थ वन-वन भटकता फिरता है—

"कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूंढै बन मांहि।
ऐसे घट घट राम हैं, दुनिया देखै नांहि॥"

कबीर कहते हैं कि उस प्रभु की कथा अवर्णनीय है, कोई बिरला ही उसके रहस्य को हृदयंगम कर सकता है। मेरे तो अन्तर बाह्य को प्रभु के प्रेम की प्रेम पीर ने बिद्ध कर दिया है किन्तु मेरी इस विचित्र बात का विश्वास कौन करेगा ?

राम बिनां संसार धंधा कुहेरा,
सिरि प्रगट्या जम का पेरा ।।टेक।।
देव पूजि पूजि हिंदू मूये, तुरक मूये हज जाई ।
जटा बांधि बांधि योगी मूये, इनमें किनहूं न पाई ।।
कवि कवीनें कविता मूये, कापड़ी के दारौं जाई ।
केस लूंचि लूंचि मूये, बरतिया, इनमें किनहूं न पाई ।।
धन संचते राजा मूये, अरु ले कंचन भारी ।
वेद पढ़ें पढ़ि पंडित मूये, रूप भूले मूई नारी ।।
जे नर जोग जुगति करि जानैं, खोजैं आप सरीरा ।
तिनकूं मुकति का संसा नाहीं, कहत जुलाह कबीरा ।।३१७।।

शब्दार्थ—धंध = धुधंला । कुहेरा=कुहरा । संसा = संशय ।

मनुष्य के शीश पर मृत्यु पग जमाये खड़ी हुई है, अतः राम-नाम के बिना, प्रभु-भक्ति के बिना यह संसार धुएं के कोट के समान नष्ट होने वाला है। हिन्दू तो देवताओं की पूजा करते-करते मर गये और मुस्लिम हज करते करते मर गये एवं योगी लोग जटा बाँध-बांध कर मर गये, किन्तु इन कर्मों से किसी ने भी ईश्वर को प्राप्त नहीं किया। कविगण कविता करते-करते, ढोंगी संन्यासी रंगे वस्त्र पहनते हुए तथा जैन साधु लुञ्चन संस्कार करते-करते मर गये। किन्तु इन विधि-विधानों से कोई भी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सका। राजा लोगों ने अपना जीवन स्वर्ण-संचय में व्यर्थ कर डाला। पंडित लोग वेदादि धर्म ग्रन्थों को पढ़ते-पढ़ते मर गये और सुन्दरी अपने रूपाभिमान में नष्ट हो गईं, किन्तु कोई उस परमात्मा को प्राप्त न कर सका। जो व्यक्ति योगसाधना द्वारा उसे अपने शरीर में खोजने का प्रयत्न करते हैं, यह कबीर का मत है कि उसकी मुक्ति में कोई शंका नहीं।

विशेष—कबीर ने यहां हिन्दु-मुस्लिम समाज के बाह्याचारों पर करारी चोट की है।

कहु रे जे कहिबे की होइ ।
नां को जानैं नां को मानैं, तायैं अचिरज मोहि ।।टेक।।
अपने अपने रंग के राजा, मांगत नांहीं कोइ ।
अति अभिमान लोभ के घाले, चले अपन पौ खाइ ।।
मैं मेरी करि यहु तन खोयो, समझत नहीं गंवार ।
भौजलि अधफर थाकि रहे हैं, बूढ़े बहुत अपार ।।
मोहि आग्या दई दयाल दया करि, काहू कूं समझाई ।
कहै कबीर मैं कहि कहि हार्यो, अब मोहि दोस न लाई ।।३१८।।

शब्दार्थ—मैं मेरी कर=परिवार में पखर। अधवर=बीच में।

कबीर यहाँ उन लोगों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं जो प्रभु के स्वरूप को जाने बिना उसके विषय में व्यर्थ की बातें कहते हैं वे कहते हैं कि जो व्यक्ति बिना जाने मुझे ईश्वर के स्वरूप के विषय में अपने विचार प्रस्तुत करते हैं उन पर मुझे आश्चर्य होता है। सब अपनी-अपनी हांकते हैं, किसी की सत्य बात को कोई मानने के लिए प्रस्तुत नहीं। सब लोग अभिमान में पड़े हुए लाभ के वशीभूत हैं और इस प्रकार स्वयं ही अपना पतन कर रहे हैं। ये मूर्ख अहं के अथवा ममत्व-परत्व के फेर में पड़ जीवन को व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं। इस संसार सागर के जल में बहुत से जीव थक कर डूब गये हैं। ईश्वर ने मुझे दया कर परम तत्व का रहस्य बताने का आदेश दिया है किन्तु यहाँ तो कोई किसी की सुनता ही नहीं। अतः कबीर कहते हैं कि मैं सत्य तत्व को कहते-कहते हार गया, कोई मेरी बात नहीं मान रहा है, अब फिर मुझे दोष मत देना।

एक कोस बन मिलांन न मेला।
बहुतक भांति करैं फुरमाइस, है असवार अकेला ॥टेक॥
जोरत कटक जु घेरत सब गढ़, करतब झेली झेला।
जोरि कटक गढ़ तोरि पातिसाह, खेलि चल्यौ एक खेला ॥
कूंच मुकाम जोग के घर मैं, कछू एक दिवस खटांनां।
आसन राखि बिभूति साखि दे, फुनि ले मटी उड़ांना ॥
या जोगी की जुगति जु जांनैं, सो सतगुर का चेला।
कहै कबीर उन गुर की कृपा थैं, तिनि सब भरम पछेला ॥३१६॥

शब्दार्थ—फुरमाइस=फरमाइश, कामनाएँ। कटक=सेना। गढ़=किला। पछेला=दूर कर दिया।

मन विषय-वासना जंजाल में उलझा हुआ है और यह बहुत सी कामनाएँ पल्लवित करता रहता है। मन ही समस्त कर्मों का एकमात्र संचालक है। यही मन संसार में समस्त सम्बन्ध स्थापित कर सम्बन्धियों की एक सेना बना विविध पाप कर्म करता है। इस सेना से वह अनेक शत्रुओं को पद-दलित करता हुआ संसार से चल देता है—यह कैसा क्षणिक खेल है? योग-साधना करने वाले साधक को चंचलता शोभा नहीं देती और चंचलता से वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। आसन बिछाकर चुटकी भर भस्म रमा लेने से कोई योगी नहीं हो जाता। कबीर कहते हैं कि जो योग का उचित विधान जानता है, वही वास्तव में अपने गुरु का शिष्य है। गुरु की कृपा ने समस्त भ्रम दूर कर दिया।

राग मारु

मन रे रांम सुमिरि, रांम सुमिरि भाई।
रांम नांम सुमिरन बिनां बूड़त है अधिकाई ॥टेक॥

दारा सुत ग्रेह नेह, संपति अधिकाई।
यामैं कछु नांहि तेरो, काल अवधि आई ॥
अजामेल गज गनिका, पतित करम कीन्हां।
तेऊ उतरि पारि गये रांम नांम लीन्हां ॥
स्वांग सूकर काग कीन्हौं, तऊ लाज न आई।
रांम नांम अमृत छांड़ि, काहे विष खाई ॥
तजि भरम करम विधि नखेद रांम नांम लेही।
जन कबीर गुर प्रसादि, रांम करि सनेही ॥३२०॥

शब्दार्थ—ग्रेह=गृह, घर। स्वान=कुत्ता। सूकर=वराह। प्रसादि=कृपा।

कबीर कहते हैं कि हे मन ! तू राम-नाम का स्मरण कर, राम-नाम स्मरण से ही कल्याण होगा। बिना प्रभु-नाम के मनुष्य भय-जल में डूब जाता है। स्त्री, पुत्र, गृह सांसारिक प्रेम तथा अतुलित धन—इन सब में तेरा कुछ भी भाग नहीं है क्योंकि तेरा अन्तिम समय, मृत्यु खड़ी हुई है अजामिल, गजेन्द्र, गणिका जिन्होंने न जाने कितने पाप कर्म किये थे वे भी राम नाम के द्वारा संसार-सागर के पार उतर गये। श्वान, सूअर एवं काग जैसे व्यवहार करके भी मनुष्य तुझे लज्जा नहीं आई, राम नाम के अमृत को छोड़ तूने विषय-वासना विष को अपनाया ? माया भ्रम का परित्याग कर जीव तू ईश्वर नाम भज। कबीर ने तो गुरु-उपदेश के द्वारा राम से प्रेम सम्बन्ध स्थापित कर लिया।

रांम नांम हिरदै धरि, निरमोलिक हीरा।
सोभा तिहूं लोक, तिमर जाय त्रिवधि पीरा ॥टेक॥
त्रिसनां नैं लाभ लहरि, काम क्रोध नीरा।
मद मछर कछ मछ हरिख सोक तीरा ॥
कांमनी अरू कनक भवर, बोये बहु बीरा।
जन कबीर नवका हरि, खेटक गुर कीरा ॥३२१॥

शब्दार्थ—निरमोलिक=अमूल्य। तिमर=तिमिर, अज्ञानांधकार। त्रिवधि पीरा=दैहिक, दैविक, भौतिक ताप।

हे साधक ! राम नाम के अमूल्य हीरे को हृदय में धारण कर। वह प्रभु नाम ही समस्त संसार की शोभा है जिससे मानव के दैहिक, दैविक, भौतिक ताप विनष्ट हो जाते हैं। इस संसार समुद्र में तृष्णा और लाभाकांक्षा की लहरें उठती हैं तथा काम एवं क्रोध रूपी जल से यह समुद्र परिपूर्ण है। मद, अभिमान इस सागर में रहने वाले मच्छ और घातक जीव हैं। यह सागर सुख-दुख के पुलिनों की सीमाओं में बंधा हुआ है। इस सागर में सुन्दरी और स्वर्ण (धन) भँवर हैं जिनमें पड़कर बहुत से व्यक्ति नष्ट हो गये। इस संसार से पार पाने के लिये भक्त कबीर

के पास प्रभु नाम की नौका है जिसे गुरु रूपी खेवट के सहारे चलाकर मैं पार उतर जाऊँगा।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

चलि मेरी सखी हो, वो लगन रांम राया।
जब तब काल बिनासै काया ॥टेक॥
जब लग लोभ मोह की दासी,
तीरथ ब्रत न छूटै जंम की पासी ॥
आवैंगे जम के घालैंगे बांटी,
यहु तन जरि बरि होइगा माटी ॥
कहै कबीर जे जन हरि रंगि राता,
पायौ राजा रांम परम पद दाता ॥३२२॥

कबीर अपनी आत्मा को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे सखी! राजा राम में तू अपनी चित्तवृत्तियों को केन्द्रित कर, अन्यथा शीघ्र ही मृत्यु इस कलेवर को विनष्ट कर देगी। जब तक आत्मा लोभ एवं माया मोह की दासी है तथा वह तीर्थ, व्रत आदि विधि-विधानों का परित्याग नहीं करती तब मृत्यु से मुक्त नहीं हो सकती। जब यमदूत आकर मृत्यु का फन्दा डाल देंगे तो यह शरीर जलकर क्षार हो जायेगा। कबीर कहते हैं कि जो भक्त प्रभु के प्रेम रंग में रंग जाता है वह प्रभु के परम पद की प्राप्ति कर लेता है।

राग टोडी

तूं पाक परमांनंदे।
पीर पैकंबर पनह तुम्हारी, मैं गरीब क्या गंदे ॥टेक॥
तुम्ह दरिया सबही दिल भीतरि, परमानंद पियारे।
नैंक नजरि हम ऊपरि नांहीं, क्या कमिबखत हंमारे ॥
हिकमति करैं हलाल बिचारैं, आप कहांवैं मोटे।
चाकरि चोर निवालै हाजिर, सांई सेती खोटे ॥
दांइम दूवा करद बजावैं, मैं क्या करूं भिखारी।
कहै कबीर मैं बंदा तेरा, खालिक पनह तुम्हारी ॥३२३॥

शब्दार्थ—पैकंबर=पैगम्बर। पनह=शरण। नेंक=तनिक। दांइम=कुमार्गी। करद बजावै=आनन्द मानते हैं।

हे परमात्मा। आप परमानन्द स्वरूप है, पैगम्बर सब आपकी शरण में हैं, मुझ गरीब का ही क्या दोष है जो आप शरण में नहीं लेते। हे प्रियतम! आप सबके हृदय में सरिता रूप में प्रवाहित हैं, किन्तु फिर भी मेरे ऊपर तनिक भी अनुकम्पा नहीं करते—ऐसा मेरा अभाग्य क्यों हैं? ये बड़े कहलाने वाले लोग चिकित्सा करते हैं (चिकित्सा द्वारा दूसरों की जान बचाने का उपक्रम है), किन्तु स्वयं ही

जीव हत्या भी करते हैं (हलाल)। चोरी आदि करने वाले जितने भी कुचरित्री हैं, प्रभु की दृष्टि में वे सब पापी हैं। यह दूसरी बात है कि कुमार्गी यहाँ आनन्द मनाते हैं और आप का भक्त मैं भिखारी तुल्य कंगाली का जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु आपका दास हूँ, मुझे अपनी शरण में लीजिए।

विशेष—अनुप्रास अलंकार।

अब हम जगत गौंहन तैं भागे,
जग की देखि जुगति रांमहि ढूंरि लागे ॥टेक॥
अयांन पनैं थैं बहु बौरांनें, संमजि परी तब फिरि पछितांनें।
लोग कहौ जाकै जो मनि भावै, लहैं भुवंगम कौन डसावै॥
कबीर विचारि इहै डर डरिये, कहै का हो इहां नैं मरिये ॥३२४॥

शब्दार्थ—जुगति = क्षणभंगुरता से तात्पर्य है। अयांनपनैं थैं = अज्ञानावस्था के कारण। भुवंगम = सांप।

कबीर संसार की निस्सारता, क्षणभंगुरता देखकर कहते हैं कि अब हम जग के माया-बन्धन से भयभीत हुए। इस विश्व की ऐसी अनित्यता देखकर प्रभु की खोज में जाने का निश्चय किया। अज्ञानावस्था में बहुत से व्यक्ति संसार-बन्धन, विषय-वासना चक्र में पड़ जाते हैं, किन्तु विवेक होने पर वे पश्चात्ताप करते हैं। इस संसार चक्र में पड़ने पर माया-सर्पिणी डसती है जिससे अपरिमित व्यथा होती है, सांसारिक लोग इस पर विभिन्न प्रकार के अनुमानाश्रित वक्तव्य देते हैं। कबीर विचारपूर्वक यह निश्चय करते हैं कि संसार में माया नाश का कारण है। किसी को भी इस माया-बन्धन में नहीं बँधना चाहिए।

विशेष—रूपक अलंकार।

राग भैरूं

ऐसा ध्यान धरौ नरहरी, सबद अनाहद च्यंतन करी ॥टेक॥
पहली खोजौं पंचे बाइ, बाइ ब्यंद ले लगन समाइ॥
गगन जोति तहां त्रिकुटी संधि, रवि ससि पवनां मेलौ बंधि॥
मन थिर होइत कवल प्रकासै, कवला मांहि निरंजन बास॥
सतगुर संपट खोलि दिखावै, निगुरा होइ तौ कहां बतावै॥
सहज लछिन ले तजो उपाधि, आसण दिढ निद्रा पुनि साधि॥
पुहप पत्र जहां हीरा मणीं, कहै कबीर तहां त्रिभवन धणीं ॥३२५॥

शब्दार्थ—नरहरी = नर-हरी, मनुष्य प्रभु पर (ऐसा ध्यान धरो)। अनहद = अनहद नाद। च्यंतन = चिंतन, विचार। पंचे बाइ = पाँच सखी, पाँच ज्ञानेन्द्रियां। गगन = शून्य, ब्रह्मरन्ध्र। त्रिकुटी = आँख, नाक एवं मस्तक का सन्धि स्थल, दोनों भौंहों के बीच का स्थान। रविससि = इड़ा-पिंगला। पवनां = पवन से, प्राणायाम से। कवल = सहस्रदल कमल। निरंजन = अलख निरंजन ज्योतिस्वरूप परमात्मा।

संपट=सम्पुट । निगुरा=गुरु विहीन । सहज लछिन=सहज-समाधि । दढ़ि=दृढ़। साधि=समाधि साधकर । पुहप=पुष्प । त्रिभवन धणीं=त्रिलोकीनाथ परमात्मा।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! अनहद नाद स्थिति की प्राप्ति के लिए प्रभु का ध्यान करो । इसके लिए सर्वप्रथम पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में कर कुण्डलिनी द्वारा शून्य शिखर प्राप्ति का उपक्रम करो । त्रिकुटी परमज्योति का वास है, इड़ा-पिंगला को प्राणायाम द्वारा एकमेक कर वहाँ पहुँचना चाहिए । जब उपरोक्त विधि से मन पूर्ण स्थिर हो जाता है तो सहस्रदल कमल का दर्शन होता है, इसी कमल में ब्रह्म का वास है । सद्गुरु ज्ञान = ज्योति द्वारा कमल के बन्द संपुटों को खोलकर ब्रह्म दर्शन कराते हैं । जो गुरुविहीन हैं उन्हें कौन ब्रह्म को बतायेगा ? सहज समाधि में अहं का परित्याग कर दृढ़मना हो समाधिस्थ होने पर आत्मा वहाँ पहुँच जाती है जहाँ शून्य सरोवर के तट पर हीरा मणियों का ढेर एवं त्रिलोकीनाथ का वास है— ऐसा कबीर का मत है ।

विशेष—नाथ-सम्प्रदायानुकूल हठयोगी साधन का वर्णन कबीर ने उपरोक्त पद में किया है ।

इहि विधि सेविये स्री नरहरी, मन की दुविध्या मन परहरी ।।टेक।।
जहाँ नहीं जहाँ नहीं तहाँ कछू जांणि, जहाँ नहीं तहाँ लेहु पछांणि ।
नांहीं देखि न जइये भागि, जहां नहीं तहां रहिये लागि ।।
मन मंजन करि दसवें द्वारि, गंगा जमुनां संधि बिचारि ।
नादहि ब्यंद कि ब्यंदहि नाद, नादहि ब्यंद मिलै गोब्यंद ।।
देवी न देवा पूजा नहीं जाप, भाइ न बंध माइ नहीं बाप ।
गुणातीत जस निरगुण आप, भ्रम जेवड़ी जग कीयो साप ।।
तन नांहीं कब जब मन नांहि, मन परतीति ब्रह्म मन मांहि ।
परहरि बकुला ग्रहि गुर डार, निरखि देखि निधि वार न पार ।।
कहै कबीर गुर परम गियांन, सुंनि मंडल मैं धरौ धियांन ।
प्यंड परें जीव जैहै जहां, जीवन ही ले राखौ तहां ।।३२६।।

शब्दार्थ—दुबिध्या=द्विविधा । मंजन करि=शुद्ध करके । गंगा=इड़ा । जमुना=पिंगला । नाद=अनहदनाद । जेवड़ी=रस्सी । परतीति=प्रतीति, विश्वास।

कबीर कहते हैं कि मन के संशय का परित्याग कर प्रभु की सेवा भक्ति इस प्रकार करनी चाहिए—

जहाँ-जहाँ यह माना जाता है कि वहाँ ज्ञान की कुछ भी प्राप्ति नहीं हो सकती वहाँ भी ज्ञान-प्राप्ति का न्यूनाधिक प्रयत्न होना चाहिए और जहाँ प्रभु का अस्तित्व नहीं माना जाता, वहीं इस सर्वत्र व्यापक ब्रह्म को खोजना चाहिए । उसको प्राप्त न कर सकने के कारण भक्ति तक का मार्ग परित्याग नहीं कर देना चाहिए, अपितु प्रभु दर्शन तक उस मार्ग पर दृढ़ रहना चाहिए । इड़ा-पिंगला सम्मिलत कर मन को ब्रह्मरन्ध्र से सवित अमृत लाभ के लिए पहुँचा देना चाहिए । तभी अनहद

नाद की उत्पत्ति होती है और अनहद से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस साधना विधान में देवी देवता, पूजा—अर्चना किसी का भी विधान नहीं है और न ही भाई, बन्धु, माँ, बाप आदि सम्बन्धी इसमें कुछ सहायक हो सकते हैं। यह संसार माया भ्रम और सर्परज्जु भ्रम है, वह ब्रह्म स्वयं तो गुणातीत और निर्गुण है। मन को अन्तर्मुखी कर ब्रह्म प्राप्ति में शरीर की सुधि विस्मृति को जाती है। माया-भ्रम को विदूरित कर प्रभु-ध्यान से परम सुख की उपलब्धि होती है। कबीर कहते हैं कि सद्गुरु ने साधक को वह परम ज्ञान प्रदान किया कि शून्य मण्डल में ही उसकी वृत्तियाँ रम गई हैं। यह शरीर ही अब पड़ा रह गया है, आत्मा तो उस शून्य लोक—प्रभु निवास—में रम गई है।

विशेष—"गुणातीत···साप" के वेदान्तियों के समान जगत् को 'सर्परज्जु भ्रम' द्वारा मिथ्या बताकर "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या" की पुष्टि की गई है।

अलह अलख निरंजन देव, किहि बिधि करौं तुम्हारी सेव ॥सेव॥
बिश्न सोई जाको बिस्तार, सोई कृस्न जिनि कीयो संसार।
गोब्यंद ते ब्रह्मंडहि गहै, सोई रांम जे जुगि जुगि रहै।
अलह सोई जिनि उमति उपाई, दस दर खोलै सोई खुदाई।
लख चौरासी रब परबरै, सोई करीम जे एती करै॥
गोरख सोई ग्यांन गमि गहै, महादेव सोई मन की लहै॥
सिध सोई जो साधै इती, नाथ सोई त्रिभुवन जती।
सिध साधू पैकंबर हूवा, जपै सु एक भेषो है जूवा।
अपरंपार का नांउ अनंत, कहै कबीर सोई भगवंत ॥३२७॥

शब्दार्थ—अलह = अल्लाह। करीम=दयालु भगवान्। सिध=सिद्ध। पैकंबर=पैगम्बर।

कबीर यहाँ ब्रह्म की एकता प्रतिपादित कर नामों की विभिन्नता बताते कहते हैं कि हे अलख निरंजन ज्योतिरूप परमात्मा! मैं किस भाँति आपकी भक्ति करूँ? विष्णु वही है जिसका सम्पूर्ण संसार में विस्तार है, कृष्ण वही है जिसने सृष्टि का सृजन किया है। गोविन्द वही है जो समस्त ब्रह्माण्ड में परिपूर्ण है, राम वही है जो युग-युग तक रहता है। अल्लाह वही है जिसने समस्त संसार में कर्म-विधान रचा है, चौरासी लाख योनियों में जीव का जन्म-मरण रचने वाला करीम है। गोरखनाथ वही है जिसने समस्त ज्ञान-विज्ञान जान लिया है। महादेव वही है जो दूसरे के मन की बात जान ले। इन सबको एक मानकर भजने वाला ही सिद्ध साधु और पैगम्बर हो जाता है। कबीर कहते हैं कि उस रहस्यमय परम परमात्मा के नाम भी उसी के समान अनन्त हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार ब्रह्म का पार नहीं पाया जा सकता उसी प्रकार उसके नामों का।

विशेष—इस पद में कबीर ने भगवान के विविध नामों का उल्लेख करते हुए बताया है कि वस्तुतः भगवान् एक ही के विविध नाम धारी हैं।

तहां जो रांम नांम ल्यौ लागे, तौ जुरा मरण भ्रम भागै ।।
अगम निगम गढ़ रचि ले अवास, तहुवां जोति करै परकास ।
चमकै बिजुरी तार अनंत, तहाँ प्रभू बैठें कवलाकंत ।।
अखंड मंडिल मंडित मंड, त्रि-स्नांन करै श्रीखंड ।
अगम अगोचर अभि-अंतरा, ताको पार न पावै धरणींधरा ।।
अरध उरध बिचि लाइ ले अकास, तहुवां जोति करै परकास ।
टार्‌यो टरै न आवै जाइ, सहज सुंनि मैं रह्यो समाइ ।।
अबरन वरन स्यांम नहीं पीत, हाहू जाइ न गावै गीत ।
अनहद सबद उठै झणकार, तहां प्रभू बैठे समरथ सार ।।
कवली पुहुप दीप परकास, रिदा पंकज में लिया निवास ।।
द्वादस दल अभि-अंतरि म्यंत, तहां प्रभू पाइसि करलि च्यंत ।।
अमिलन मलिन घांम नहीं छांहां, दिवस न राति नहीं है तहाँ ।
तहां न ऊगै सूर न चंद, आदि निरंजन कर अनंद ।।
ब्रह्मंडे सो प्यंडे जांनि, मांनसरोवर करि असनांन ।
सोहं हंसा ताको जाप, ताहि न लिंप पुन्य न पाप ।।
काया मांहैं जांनैं सोई, जो बोलै सो आपै होई ।
जोति मांहि जै मन थिर करै, कहै कबीर सौ प्रांणीं तिरै ।।३२८।।

शब्दार्थ—जुरा=जरावस्था, बुढ़ापा। कवलाकांत=कमलापति। धरणींधरा=शेषनाग। अबरन=वर्ण-रहित। च्यंत=चिंतन करना। लिंप=लगना।

यदि शून्य शिखर पर राम नाद में व्यक्ति की वृत्तियाँ केन्द्रित हो जायें तो जन्म और मृत्यु का बंधन छूट मुक्ति हो जाती है। जो स्थान समस्त धर्म ग्रन्थों की पहुँच से परे है, उसी शून्य पर परम ज्योति का अद्वितीय प्रकाश प्रकाशित हो रहा है। वहाँ विद्युत-सदृश अनन्त प्रकाश हो रहा है और ब्रह्म का वास वहीं है। वह ईश्वर अन्तरबाह्य से अगम्य एवं अदृश्य है, शेषनाग भी उसका पार नहीं पा सकते। त्रिकुटी पर उस परमात्मा का निवास है। वह वहाँ दृढ़ रूप से स्थित है और शून्य में रमा रहता है। वह रूप रेखा विहीन और सर्वथा अवर्णनीय है। न उसे सुख है और न कोई दुःख। जहाँ निरन्तर अनहद नाद की संगीत लहरी गुंजित होती है वही सर्व प्रकार के समर्थ प्रभु का वास है। जिस शून्य शिखर पर कदली, सुमन और अनन्त दीपमालिका का प्रकाश है उसी 'अनाहत चक्र' में प्रभु का वास है। वहाँ सुख-दुख, धूप-छाँह, दिवस-रात्रि आदि की स्थिति नहीं है। वहाँ न सूर्य और चन्द्र उदित होते हैं—सम अवस्था है और आनन्द स्वरूप ब्रह्म का निवास है। जो समस्त संसार में है, वही इस शरीर में स्थित है ऐसा मानकर मन को अन्तर्मुखी कर शून्य स्थित मानसरोवर में स्नान करना चाहिए। वही मुक्तात्मा है जो पाप-पुण्य से निर्लेप इस ब्रह्म का सर्वदा ध्यान करते हैं। शरीर के मध्य में बोलने वाला हंस ही उस ब्रह्म का रूप

है। कबीर कहते हैं कि जो ज्योति रूप परमात्मा में अपनी वृत्तियाँ केन्द्रित कर लेता है वह मुक्त हो जाता है।

विशेष—इस पद में कबीर ने ब्रह्मलोक का निर्गुण साधना के अनुसार वर्णन किया है।

एक अचंभा ऐसा भया, करणीं थैं कारण मिटि गया ॥टेक॥
करणी किया करम का नास, पावक मांहि पुहुप प्रकास।
पुहुप मांहि पावक प्रजरै, पाप पुंन दोऊ भ्रम टरै॥
प्रगटी वास बासना धोइ, कुल प्रगट्यौ कुल घाल्यौ खोइ।
उपजी च्यंत च्यंत मिटि गई, सौ भ्रम भागा ऐसी भई॥
उलटी गंग मेर कूं चली, धरती उलटि अकासहि मिली।
दास कबीर तत ऐसा कहै, ससिहर उलटि राहु कौं गहै ॥३२९॥

शब्दार्थ—पावक=अग्नि। पुहुप=पुष्प। गंग=गंगा। इड़ा पेर=पर्वत सुषुम्ना। ससिहर=चन्द्रमा।

कबीर कहते हैं कि ऐसी विचित्र घटना हो गई कि साधना द्वारा जिसकी प्राप्ति की इच्छा थी वह प्राप्त हो गया। साधना ने कर्म-जाल नष्ट कर डाला और परमज्योति पर सहस्रदल कमल का विकास दृष्टिगोचर हुआ। इस कमल में ही अनन्त प्रकाशवान् परमात्मा है जिसके दर्शन से पाप-पुण्य का भ्रम मिट जाता है। उस कमल की सुगन्ध से वासना विदूरित हो गई एवं कुल-परिवार का मोह त्याग देने से पूर्ण ब्रह्म के दर्शन हुए। चिंतामणि स्वरूप ब्रह्म के दर्शन से सांसारिक चिंता का नाश हो गई एवं संसार-संशय समाप्त हो गया। उल्टी गंगा सुमेरु पर्वत (हिमालय से तात्पर्य) को चली अर्थात् कुण्डलिनी ऊर्ध्वगामी हो गई। जिससे उसने शून्य में विस्फोट किया। कबीरदास जी उस परमात्मा की वर्णन करते कहते हैं कि परम-ज्ञान मे माया को नष्ट कर डाला।

विशेष—(१) यमक, रूपक, विरोधाभास, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार।
(२) उलटबांसी शैली की प्रतीकात्मकता दर्शनीय है।

है हजूरि क्या दूरि बतावै, दुंदर बांधे सुंदर पावै ॥टेक॥
सो मुलनां जो मन सूं लरै, अहं निसि काल चक्र सूं भिरै।
काल चक्र का मरदै मांन, तो मुलनां कूं सदा सलांम॥
काजी सो जो काया बिचारै, अहं निसि ब्रह्म अगनि प्रजारै।
सुप्पनैं बिंद न देई झरनां, ता काजी कूं जुरा न मरणां॥
सो सुलितांन जु द्वै सुर तांनैं, बाहरि जाता भीतरि आनैं।
गगन मंडल मैं लसकर करै, सो सुलितांन छत्र सिरि धरै॥
जोगी गोरख गोरख करै, हिंदू रांम नाम उच्चरै।
मुसलमांन कहै एक खुदाइ,
कबीरा को स्वांमीं घटि घटि रह्यौ समाइ ॥३३०॥

शब्दार्थ—दुंदर=दादुर । मुलनां=मौलाना । ग्रहं नसि=ग्रहंकार का नाश करके ।

कबीर कहते हैं कि ब्रह्म तो सर्वत्र परिव्याप्त है, फिर उसे दूर क्या बताना, विषय-विकारों के दादुर को वश में कर उस सुन्दर परमात्मा के दर्शन होते हैं। मौलाना तो वही है जो रात-दिन चालचक्र से लड़ता हुआ मन को नियन्त्रित रखे। जो मृत्यु-चक्र—ग्रावागमन—को जीत ले उस मौलाना को सर्वदा मेरा नमस्कार है। काजी वही है जो ग्रहंकार का नाश करके ब्रह्म की प्रेम-वेदना से विदग्ध होता हुआ शरीर शुद्धि का प्रयत्न करे। जो स्वप्न में भी माया-मोह में ग्रसित नहीं होता उस काजी को जरा-मरण का भय नहीं रहता वह जीव-मुक्त हो जाता है। राजा तो वही है जो ग्रन्तर बाह्य की शुद्धि कर विषय-वासना से युद्ध करता है। वास्तव में जो शून्य मण्डल में ग्रपनी समस्त वृत्तियों को केन्द्रित कर देता है वही छत्रधारी राजा है प्रत्येक योग का साधक गोरखनाथ बन सकता है। हिन्दू उसी ब्रह्म को राम के नाम से जानते हैं ग्रौर मुसलमान खुदा नाम से—किन्तु वास्तव में वह घट-घट वासी ब्रह्म एक ही है, केवल उसके नाम बहुत से हैं।

विशेष—ब्रह्म के एकरूपत्व का वर्णन है।

ग्राऊंगा न जाऊंगा, मरूंगा न जीऊंगा।
गुर के सबद मैं रमि रमि रहूँगा ॥टेक॥
ग्राप कटोरा, ग्रापैं थारी, ग्रापैं पुरिखा ग्रापैं नारी।
ग्राप सदाफल ग्रापैं नींबू, ग्रापैं मुसलमान ग्रापैं हिंदू ॥
ग्राप मछ कछ ग्रापैं जाल, ग्रापैं झींवर ग्रापैं काल।
कहै कबीर हम नांहीं रे नांहीं, नां हम जीवत न मुवले मांहीं ॥३३१॥

शब्दार्थ—पुरिखा=पुरुष। मछ=मछली। कछ=कछुवा। झींवर=मछली पकड़ने वाला, मछेरा।

कबीर कहते हैं कि मैं गुरु के उपदेश के द्वारा राम-नाम में रम जाऊँगा ग्रौर फिर ग्रावागमन के चक्र में पड़ जन्म-मृत्यु की वेदना नहीं भोगूँगा। वह ब्रह्म ग्राप ही थाली है ग्राप ही कटोरी, ग्राप ही पुरुष ग्रौर ग्राप ही नारी है। ग्राप ही सदाफल है ग्रौर ग्राप ही नींबू। ग्राप ही मुसलमान ग्रौर हिन्दू दोनों है। प्रभु ग्राप स्वयं ही मछली कछुग्रा है ग्रौर स्वयं ही उनको पकड़ने वाला ग्रौर फिर स्वयं ही उनको मारने वाला। कबीर कहते हैं कि हम कुछ नहीं हैं, ब्रह्म ही सब कुछ है। जीवित रहते हुए भी हमारा ग्रस्तित्व मिथ्या है।

विशेष—ब्रह्म की सर्वशक्तिमता का वर्णन है।

हंम सब मांहि सकल हम मांहीं, हम थें ग्रौर दूसरा नांहीं ॥टेक॥
तीनि लोक मैं हमारा पसारा, ग्रावागमन सब खेल हमारा।
खट दरसन कहियत हम भेखा, हमहीं ग्रतीत रूप नहीं रेखा ॥
हमहीं ग्राप कबीर कहावा, हमहीं ग्रपनां ग्राप लखावा ॥३३२॥

शब्दार्थ—पसारा=प्रसार। खट=षट, छः। कबीर=परमात्मा से तात्पर्य है।

यहाँ कबीर उस अवस्था में प्रभु कथन कर रहे हैं जहाँ अंश-अंशी, भक्त-भगवान्, आत्मा-परमात्मा में कोई अन्तर शेष नहीं रह जाता—'साधक अहं ब्रह्मास्मि' का घोष कर उठता है। वे कहते हैं कि मेरा प्रसार समस्त जगत में है और समस्त संसार मेरे कलेवर में ही समाया हुआ है। तीनों लोकों में हमारा ही प्रसार है और भगवान् द्वारा सृष्टि क्रम जो चल रहा है, उसका नियन्ता भी मैं ही हूँ। षटदर्शन मेरे स्वरूप की व्याख्या का प्रयत्न करते हैं, किन्तु मैं निगुण उनकी पहुँच से परे हूँ। मुझ में और कबीर में कोई अन्तर नहीं रह गया। मुझे (परमात्मा को) किसी के पथ प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं।

विशेष—१. तीन लोक—आकाश, पृथ्वी, पाताल।

२. षटदर्शन—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त।

सों धन मेरे हरि का नांउ, गांठि न बांधौं बेचि न खांउ ॥टेक॥
नांउ मेरे खेती नांउं मेरे बारी, भगति करौं मैं सरनि तुम्हारी।
नांउ मेरे सेवा नांउ मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जांनौं दूजा ॥
नांउ मेरे बंधव नांव मेरे भाई, अंत की बिरियां नांव सहाई।
नांउ मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई, कहै कबीर जैसें रंक मिठाई ॥३३३॥

शब्दार्थ—बंधव=बाँधव। बिरिया=समय में। रंक=गरीब।

कबीर प्रभु-नाम महिमा का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि मुझे ईश्वर नाम का वह अनुपम अमूल्य धन प्राप्त हो गया है कि न तो इसे गाँठ में बाँधकर रखने की आवश्यकता है और न इसका अपव्यय कर समाप्त करने की। हे परमात्मा! मैं आपकी शरण में पड़ा हुआ हूँ, मेरी खेती-बारी जीविका का साधन एकमात्र राम-नाम ही है। नाम स्मरण को ही मैं आपकी भक्ति पूजा-अर्चना, सब कुछ समझता हूँ एवं आपके अतिरिक्त मुझे कोई आश्रय नहीं है। आपका नाम ही मेरा बन्धु-बान्धव और अन्य सम्बन्धी है, मृत्यु के समय भी नाम-स्मरण से ही मोक्ष होगा। कबीर कहते हैं कि नाम मेरे लिए ऐसा ही है जैसे निर्धन को अमूल्य सम्पत्ति प्राप्त हो गई हो, जैसे भिखारी को भिक्षा में मिठाई मिल गई हो।

विशेष—उपमा अलंकार।

अब हरि हूं अपनौं करि लीनौं,
प्रेम भगति मेरौ मन भीनौं ॥टेक॥
जरै सरीर अंग नहीं मोरौं, प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं।
च्यंतामणि क्यूं पाइए ठोली, मन दे रांम लियौ निरमोली ॥
ब्रह्म खोजत जनम गवायौ, सोई राम घट भीतरि पायौ।
कहै कबीर छूटी सब आसा, मिल्यौ राम उपज्यौ बिसवासा ॥३३४॥

शब्दार्थ—भीनो=भीगा हुआ। ठोली=यूँ ही, बिना परिश्रम के।
अब प्रभु ने मुझे अपना लिया, इसीलिए उनके प्रेम रंग से मैं स्नात हूँ। मैं

भक्ति मार्ग को शरीर के जल जाने तथा प्राणों के निकल जाने पर भी नहीं छोड़ सकता। चिंतामणि स्वरूप अमूल्य ब्रह्म को यूँ ही प्राप्त नहीं किया जा सकता उसके लिए साधना द्वारा मन का पूर्ण समर्पण करना होगा। जिस ईश्वर को खोजते-खोजते जन्म व्यर्थ कर डाला उसी को हृदय में ही पा लिया। कबीर कहते हैं कि प्रभु के मिलने पर समस्त सांसारिक कामनाएँ विनष्ट हो गई और ईश्वर में और भी अधिक विश्वास बढ़ गया है।

विशेष—रूपक अलंकार।

लोग कहैं गोबरधनधारी, ताको मोहिं अचंभौ भारी ।।टेक।।
अष्ट कुली परबत जाके मग की रैंनां, सातौ सायर अंजन नैंनां।
ऐ उपमां हरि किती एक ओपैं, अनेक मेर नख ऊपरि रोपैं ।।
धरनि अकास अधर जिनि राखी, ताकी मुगधा कहै न साखी।
सिव बिरंचि नारद जस गावैं, कहै कबीर वाकों पार न पावैं ।।३३५।।

शब्दार्थ—रैंना=रेणु, धूलि। सायर=सागर। ओपै=शोभित। मेर=सुमेरु। रोपै=गाड़ना, यहाँ उठाने के अर्थ में प्रयुक्त। अधर=बिना किसी आधार के। मुगधा=महिमा।

कबीर कहते हैं कि इस ब्रह्म को लोग 'गोवर्द्धनधारी' कहकर केवल एक पर्वत को उठाने वाला कहते हैं इसका मुझे बड़ा आश्चर्य है। वह तो इतना समर्थ है कि ईश्वर में आठों परिवारों के जो पर्वत हैं वे सब उसकी चरण-धूलि के तुल्य हैं एवं सात सागर उसके नेत्रों के अंजन के ही बराबर हैं। एक यह उपमा तो कुछ ठीक लगती है कि वह अनेक सुमेरु जैसे पर्वतों को अपने नाखून पर उठा सकता है जिस ईश्वर ने पृथ्वी और आकाश को बिना किसी आधार पर स्थिर कर रखा है उसकी महिमा का वर्णन साखी (कविता) द्वारा नहीं किया जा सकता। कबीर कहते हैं कि शिव, ब्रह्मा तथा नारद जैसे महर्षि जिसके यश का गुणगान करते नहीं अघाते, उसका रहस्य नहीं पाया जा सकता।

विशेष—परिकरांकुर अलंकार।

रांम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे ।।टेक।।
अंजन उतपति वो ऊंकार, अंजन मांड्या सब बिस्तार।
अंजन ब्रह्मा संकर इंद, अंजन गोपि संगि गोब्यंद ।।
अंजत बांणीं अंजन बेद, अंजन कीया नांनां भेद।
अंजन बिद्या पाठ पुरांन, अंजन फोकट कथहि गियांन ।।
अंजन पाती अंजन देव, अंजन की करै अंजन सेव।
अंजन नाचै अंजन गावै, अंजन भेष अनंत दिखावै ।।
अंजन कहौं कहां लग केतां, दांन पुंनि तप तीरथ जेता।
कहै कबीर कोई बिरला जागै, अंजन छाडि निरंजन लागै ।।३३६।।

शब्दार्थ—इंद=इन्द्र। केता=कितने। जेता=जितने।

वह ज्योतिस्वरूप परमात्मा अत्यन्त अद्भुत है, उसी का समस्त ब्रह्माण्ड में प्रसार है। वह निरंजन ही जगत् की उत्पत्ति का कारण 'ओंकार' है—वह सर्वत्र व्यापक है। वही ब्रह्मा, शंकर तथा इन्द्र और गोपियों के प्रेमी श्रीकृष्ण हैं। यह परमात्मा ही सरस्वती एवं वेद है—उसके ये अनेक भेद हैं। सकल विद्या एवं धर्म-शास्त्र भी वही है और वह स्वयं ही शास्त्रग्रंथों में वर्णित ज्ञान का व्याख्याता है। वही स्वयं पत्र-पूजा—नैवेद्य है, स्वयं प्रतिमा है और स्वयं ही पुजारी। वही प्रभु-प्रतिमा के सम्मुख नाचने और गाने वाला है—इस प्रकार वह नाना रूपों में स्वयं सृष्टि का संचालन करता है। दान-पुण्य, जप-तप, तीर्थ व्रतादि में भी वही है, उसका वर्णन कहाँ तक किया जाय। कबीर कहते हैं कि कोई बिरला व्यक्ति ही उस परम प्रभु के लिए साधना करता है और उसे प्राप्त कर पाता है।

अंजन अलप निरंजन सार, यहै चीन्हि नर करहु बिचार ॥टेक॥
अंजन उतपति बरतनि लोई, बिना निरंजन मुक्ति न होई।
अंजन आवै अंजन जाइ, निरंजन सब घटि रह्यौ समाइ ॥
जोग ध्यांन तप सबै बिकार, कहै कबीर मेरे रांम अधार ॥३३७॥

शब्दार्थ—अलप=अनित्य। घटि=हृदय में।

कबीर कहते हैं कि जो संसार दिखाई देता है वह अनित्य है, मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही सत्य है ऐसा विचार कर मनुष्यों उस ब्रह्म को पहचानने का प्रयत्न करो। दृश्य संसार की उत्पत्ति, व्यवहार कर्म बिना ज्योतिस्वरूप परमात्मा के नहीं हो सकता। दृश्यमान संसार तो उत्पत्ति और नाश के चक्र में बंधा हुआ है। परमात्मा सब के हृदय में रम रहा है। योग, ध्यान, जप, तप आदि समस्त विधि-विधान विकार मात्र है कबीर को तो केवल राम नाम का ही आश्रय है।

एक निरंजन अलह मेरा, हिंदू तुरक दहूँ नहीं मेरा ॥टेक॥
राखूं व्रत न मरहम जांनां, तिसही सुमिरूं जो रहे निदांनां।
पूजा करूं न निमाज गुजारूं, एक निराकार हिरदै नमसकारूं ॥
नां हज जांऊं न तीरथ पूजा, एक पिछांण्यां तौ क्या दूजा।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सूं मन लागा ॥३३८॥

शब्दार्थ—महरम=मर्म, रहस्य। नमसकारूं=नमस्कार करता हूँ।

कबीर कहते हैं कि मेरा तो एकमात्र सम्बन्ध राम से ही है, हिन्दू-मुसलमान इन दोनों में से कोई भी मेरा नहीं है। मैं न तो व्रत धारण करता हूँ और न मौहर्रम में तत्सम्बन्धी आचरण करता हूँ, मैं तो ईश्वर का स्मरण कर पूर्ण निश्चिन्त हो जाता हूँ। चाहे पूजा और नमाज न करूं, किंतु उस एक पूर्ण परमेश्वर को हृदय में नमस्कार कर लेता हूँ, मैं हज और तीर्थ यात्रा का विश्वासी नहीं हूँ भला जब ब्रह्म को पहचान लिया तो इन व्यर्थ के कृत्यों से क्या प्रयोजन ? कबीर कहते हैं कि उस परमात्मा से मन की लगन लग जाने से संसार-भ्रम दूर हो गया।

विशेष—कबीर की एक ब्रह्म की भावना का वर्णन है।

तहां मुझ गरीब की को गुदरावै,
मजलसि दूरि महल को पावै ॥टेक॥
सतरि सहस सलार हैं जाकै, असी लाख पैकंबर ताकै ।
सेखु जु कहिय सहस अठ्यासी, छपन कोडि खेलिबे खामी ॥
कोड़ि तेतीसू अरू खिलखांनां, चौरासी लख फिरै दिवांनां ।
बाबा आदम पैं नजरि दिलाई, नबी भिस्त घनेरी पाई ॥
तुम्ह साहिब हम कहा भिखारी, देत जबाब होत बजगारी ।
जन कबीर तेरी पनह समांनां, भिस्त नजीक राखि रहिमांनां ॥३३१॥

शब्दार्थ—गुदरावै = पहुँच होना । सलार = सैनिक । कोडि = करोड बजगारि = धृष्टता । पनह = शरण ।

कबीर कहते हैं कि प्रभु का महत्व बहुत दूर और अगम्य है, मन्जिल दूर है, मैं गरीब किस भाँति वहां तक पहुँच सकता हूँ । उस ब्रह्म की महिमा अपरम्पार है । सत्तर सहस्र तो उसके सैनिक और अस्सी लाख पैगम्बर हैं । अट्ठासी हजार शेख और छप्पन करोड़ खेलने वाले (सयाने) हैं । तैंतीस करोड़ व्यक्ति चौरासी लाख योनियों में उसी के कारण भटक रहे हैं । भ्रम में पड़े हुए लोग बाबा, नबी, फकीर आदि से झाड़, फूंक करवा नजर उतरवाते हैं—यह सब व्यर्थ है । हे प्रभु ! आप स्वामी हैं और मैं भिखारी; आपके सम्मुख अधिक कहना भी धृष्टता होगी । दास कबीर तो अब आपकी शरण में आ गया है, उसे बहिश्त अथवा अन्य किसी सुख की कामना नहीं, केवल आपकी कृपा ही सब कुछ है ।

जौ जाचौं तो केवल रांम, आंन देव सूं नांहीं काम ॥टेक॥
जाकै सूरिज कोटि करैं परकास, कोटि महादेव गिरि कविलास ।
ब्रह्मा कोटि वेद ऊचरैं, दुर्गा कोटि जाकैं मरदन करैं ॥
कोटि चंद्रमां गहै चिराक, सुर तेतीसूं जीमैं पाक ।
नौग्रह कोटि ठाढे दरबार, धरमराइ पौली प्रतिहार ॥
कोटि कुबेर जाकै भरे भंडार, लछमी कोटि करैं सिंगार ।
कोटि पाप पुनि ब्यौहरैं, इंद्र कोटि जाकी सेवा करैं ॥
जगि कोटि जाकै दरबार, गंध्रप कोटि करैं जैकार ।
बिद्या कोटि सबै गुंण कहैं, पारब्रह्म कौ पार न लहैं ॥
बासिग कोटि सेज बिसतरैं, पवन कोटि चौबारै फिरैं ।
कोटि समुद्र जाकै पणिहारा, रोमावली अठारह भारा ॥
असंखि कोटि जाकै जमावली, रांवण सैन्यां जाथैं चली ।
सहसबांह के हरे परांण, जरजोधन घाल्यौ खैं मांन ॥
बावन कोटि जाकै कुटवाल, नगरी नगरी खेत्रपाल ।
लट छूटी खेलैं बिकराल, अनंत कला नटवर गोपाल ॥

कंद्रप कोटि जाकैं लांवन करे, घट घट भीतरि मनसा हरैं ।
दास कबीर भजि सारंगपान, देहु अभै पद मांगौं दांन ॥३४०॥

शब्दार्थ—जाचौं=याचना करना, भक्ति करना। चिराक=प्रकाश करना। पाक=भोजन। प्रतिहार=द्वारपाल। ग्रंधप=गंधर्व। बासिग=शेप नाग। पणिहारा =पानी भरने वाला। जरजोधन=दुर्योधन। कंद्रप=कंदर्प, कामदेव।

कबीर कहते हैं कि यदि भक्ति करनी है तो केवल एक राम की ही करनी चाहिए, अन्य विविध देवी-देवताओं से कोई प्रयोजन नहीं । वह प्रभु ऐसा है कि जिसका प्रकाश कोटि-कोटि सूर्य-समूह के समान है और वहाँ करोड़ों महादेव कैलाश सहित विराजमान हैं। करोड़ों ब्रह्मा वेद-ऋचाओं का उच्चारण करते हैं और करोड़ों दुर्गा वहाँ असुरों का नाश करती हैं। करोड़ों नवग्रह प्रभु के दरबार में अनुचर नाईं उपस्थित हैं और स्वयं धर्मराज चौकीदार और प्रतिहारी का कार्य करते हैं। असंख्य कुबेर उस ब्रह्म के भंडार को पूर्ण करने में संलग्न हैं और करोड़ों लक्ष्मियाँ उसका शृंगार करती हैं। अगणित इन्द्र उसकी सेवा में उपस्थित रहते हैं तथा करोड़ों पाप-पुण्य वहाँ खड़े रहते हैं। जिसके दरबार में करोड़ों सृष्टियों के मनुष्य और सुन्दर स्वर वाले गंधर्व जय-जयकार करते हैं, उस परमेश्वर के गुणों का असंख्य विद्याएं भी वर्णन नहीं कर पातीं। कोटि-कोटि वासुकि उसकी शय्या प्रस्तुत करते हैं और असंख्य पवन उसके प्रांगण को सुरक्षित करते हैं। कोटि कोटि समुद्र उसकी पनिहारिनें हैं, अट्ठारह सहस्र रोमावली भार उठाने के लिए वहाँ सन्नद्ध हैं। असंख्य कोटि उसके यमदूत हैं जिनके द्वारा सृष्टि में प्रलय होती है। रावण की सेना का संहार उन्होंने ही किया था। सहस्रबाहु का वध और दुर्योधन का मान खण्डित कर नाश उन्होंने ही किया है। बावन करोड़ उसके गुप्तचर और प्रत्येक में क्षेत्रपाल नियुक्ति हैं। जब वे नटवर नागर नृत्य-रत होते हैं तो उनकी केशराशि भयंकर बनकर छितराती है। करोड़ों कंदर्प जिसकी स्तुति करते हैं, ऐसा महिमावान् ब्रह्म घट-घट वासी है। कबीर कहते हैं कि कमल के समान हाथों वाले प्रभु की भक्ति कर अभय-पद, परमपद का वरदान मांगना चाहिए।

विशेष—कबीर के निर्गुण ब्रह्म में यहाँ पर्याप्त मात्रा में सगुण के तत्व विद्यमान हैं।

मन न डिगै तार्थं तन न डराई,
केवल राम रहे ल्यौ लाई ॥टेक॥
अति अथाह जल गहर गंभीर, बाँधि जंजीर जलि बोरे हैं कबीर।
जल की तरंग उठि कटिहैं जंजीर, हरि सुमिरन तट बैठे हैं कबीर॥
कहै कबीर मेरे संग न साथ, जल थल मैं राखै जगनाथ ॥३४२॥

शब्दार्थ—बोरे=डूबना। जगन्नाथ=प्रभु।

कबीर कहते हैं कि मेरा मन चंचल नहीं है इसलिए शरीर को कोई भय नहीं, मैंने अपनी समस्त चित्तवृत्तियाँ राम में केन्द्रित कर दी हैं। संसार सागर का जल

अत्यन्त गम्भीर है, उसने माया बन्धन में बांधकर कबीर को डाल दिया है। प्रभु-प्रेम की तरंग उठने से माया की शृंखला टूट गई और ईश्वर का नाम जपने से कबीर संसार के पास हो गया अथवा संसार से तटस्थ हो गया। कबीर कहते हैं कि मेरे साथ कोई सहायक नहीं है, किन्तु जल-थल में सर्वत्र त्रिलोकीनाथ मेरी रक्षा करते हैं।

भलैं नीदौ भलैं नीदौ भलैं नीदौ लोग,
तब मन रांम पियारे जोग ।।टेक।।
मैं बौरी मेरे रांम भरतार, ता कारंनि रचि करौं स्यंगार।
जैसे धुबिया रज मल धोवै, हर-तप-रत सब निंदक खोवै ।।
न्यंदक मेरे माई बाप, जन्म जन्म के काटे पाप।
न्यंदक मेरे प्रांन अधार, बिन बेगारि चलावै भार ।।
कहै कबीर न्यंदक बलिहारी, आप रहै जन पार उतारी ।।३४२।।

शब्दार्थ—नीदौ=निंदा करने वाले। बौरी=पागल होना। न्यंदक=निंदक वेगारि=लेना, मजदूरी आदि।

निंदा करने वाले मनुष्य बहुत श्रेष्ठ हैं, उनसे घृणा नहीं करनी चाहिए—वे तन-मन से प्रिय प्रभु के भजन में प्रवृत्त कराते हैं। मैं राम-प्रेम में दीवानी हूँ, वही मेरे प्रियतम हैं, मैं उन्हीं के लिए रूप सज्जा करती हूँ। जैसे धोबी मल-मल कर वस्त्र की कलुषता दूर करता है, उसी भाँति प्रभु की भक्ति में लगे हुए भक्त के समस्त विकार निंदक द्वारा दूर हो जाते हैं—वह बुराई करता है और अपने दोषों का इंगित पा भक्त उन्हें दूर कर लेता है। कबीर कहते हैं कि निंदक मेरे माता पिता तुल्य है जो जन्म जन्मांतर के पाप दूर करने में सहायता देता है। वस्तुतः निंदक ही मेरे जीवन का आधार है जो विना कुछ लिए हमारा कलुष दूर करवाता है। कबीर कहते हैं मैं निंदक की वलिहारी जाता हूँ, जो दूसरों का उपकार कर स्वयं गर्त में गिरता है।

विशेष—१. उपमा अलंकार :

२. "निंदक नियरै राखियै, आँगन कुटी छवाय।"

जौ मैं बौरा तौ रांम तोरा, लोग मरम का जान मोरा ।।टेक।।
माला तिलक पहरि मनमांनां, लोगनि रांम खिलौनां जांनां।
थोरी भगति बहुत अहंकारा, ऐसे भगतां मिलैं अपारा ।।
लोग कहैं कबीर बौराना, कबीरा कौ मरम रांम भल जांनां ।।३४३।।

कबीर कहते हैं कि मैं प्रभु-प्रेम में दीवाना हूँ और लोग मुझे पागल समझते हैं किंतु ये पागल कहने वाले मेरा रहस्य नहीं समझ पाते हैं। लोग माला-तिलक धारण कर अपने को भक्त मानते हैं, उन्होंने राम को खिलौना मात्र समझ लिया है। इस संसार में ऐसे अनेक भक्त मिल जायेंगे जो थोड़ी भक्ति करने पर दम्भ में मरे जाते हैं। संसार कहता है कि कबीर पागल हो गया है, किंतु कबीर की मनःस्थिति को केवल राम ही जानते हैं।

हरिजन हंस दसा लीये डोलै,
निर्मल नांव चवै जस बोलै ।।टेक।।
मानसरोवर तट के बासी, राम चरन चित आंन उदासी ।
मुकताहल बिन चंच न लावै, मौंनि गहैं कै हरि गुन गावैं ।।
कऊवा कुबधि निकटि नहीं आवै, सो हंसा निज दरसन पावैं ।
कहै कबीर सोई जन तेरा, खीन नीर का करै नबेरा ।।३४४।।

शब्दार्थ—चवै=स्रवित होना । मुकताहल=मोती । चंच=चोंच । कऊवा=कौवा । खीर=क्षीर । करै नबेरा=विवेक रखता है ।

प्रभु भक्त की दशा हंस के समान है, वह केवल ईश्वर के निर्मल नाम को ही ग्रहण करता है । वह भक्त शून्य-स्थित मानसरोवर के तट का वासी हो जाता है, राम चरणों के अतिरिक्त अन्य किसी ओर उसकी वृत्ति नहीं रमती । जिस प्रकार हंस मोती के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करता, उसी भाँति हरि भक्त या तो प्रभु गुणगान करता है अन्यथा अपनी वाणी को मौन का आवरण दे देता है । भक्त के निकट कुबुद्धिरूप कौए नहीं आते और वह हंसात्मा प्रभु का दर्शन पा जाते हैं । कबीर कहते हैं कि वह ईश्वर भक्त है जो क्षीर नीर विवेक रखता है ।

विशेष—१. हंस के विषय में यह कवि-प्रसिद्धि है कि वह मिले हुए दूध और जल में से दूध दूध को ग्रहण कर लेता है और पानी को छोड़ देता है । इस सम्बन्ध में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'हंस का नीर-क्षीर विवेक' निबंध दर्शनीय है ।

२. रूपक अनुप्रास अलंकार ।

सति रांम सतगुर की सेवा, पूजहु रांम निरंजन देवा ।।टेक।।
जल कै मंजन्य जो गति होई, मींनां नित ही न्हावैं ।
जैसा मींनां तैसा नरा, फिरि फिरि जोनी आवैं ।।
मन मैं मैला तीर्थ न्हांवै, तिनि बैकुंठ न जांनां ।
पाखंड करि करि जगत भुलांनां, नांहिन रांम अयांनां ।।
हिरदै कठोर मरै बानरसि, नरक न बंच्या जाई ।
हरि कौ दास मरै जे मगहरि, सेन्यां सकल तिराई ।।
पाठ पुरांन बेद नहीं सुमृत, बसै निरंकारा ।
कहै कबीर एक ही ध्यावो, बावलिया संसारा ।।३४५।।

शब्दार्थ—मंजन्य=स्नान करने से । बानारसि=बनारस, काशी । सुमृत=स्मृति । बावलिया=पागल ।

कबीर कहते हैं कि संसार में राम सेवा और गुरु सेवा ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या, इसलिए निराकार परमात्मा की आराधना ही श्रेयस्कर है । भला यदि जल में स्नान मात्र से मुक्ति की प्राप्ति हो जाय तो मछली नित्य ही पानी में स्नान के कारण मुक्त हो गई होती किंतु मीन और जीव दोनों ही स्नान से मुक्त नहीं हुए हैं इसलिए बारम्बर आवागमन चक्र में पड़ विभिन्न योनियों में भ्रमित होते हैं । जो

मन में कलुष रहते हुए तीर्थ, स्नान करता है, वह स्वर्ग लाभ नहीं करता । समस्त संसार पाखंड और ढोंग कर भ्रमित हो रहा है किंतु प्रभु अज्ञानी नहीं है, वह सब कुछ देखता है। जो हृदय को कठोर कर काशी करवट लेते हैं, वे नरक से नहीं बच पाते। प्रभु भक्त तो मगहर में जाकर ही मरता है, वहाँ मर कर सब के सब मुक्ति लाभ कर गये हैं। जहां पुराण, वेद, स्मृति आदि धर्मग्रंथों का तर्क जाल समाप्त हो जाता है, वहाँ निराकर ब्रह्म का निवास स्थान है। कबीर कहते हैं कि हे मूर्ख संसार! एक परमेश्वर का ही ध्यान कर, अन्य समस्त क्रिया-कलाप मिथ्या हैं।

क्या ह्वै तेरे न्हांई धोई, आतम-रांम न चीन्हाँ सोई ।।टेक।।
क्या घट ऊपरि मंजन कीयें, भीतरि मैल अपारा ।
रांम नांम बिन नरक न छूटै, जे धोव सौ बारा ।।
का नट भेष भगवां बस्तर, भसम लगावै लोई ।
ज्यूं दादुर सुरसुरी जल भीतति हरि बिन मुकति न होई ।।
परहरि कांम रांम कहि बौरे, सुनि सिख बंधू मोरी ।
हरि कौ नांव अभै-पद-दाता, कहै कबीरा कोरी ।।३४६।।

शब्दार्थ—न्हांई धोई=नहाने-धोने से । सुरसुरी=गंगा । परहरि=त्यागना ।

कबीर कहते हैं कि इस नहाने-धोने से क्या लाभ, यदि हृदयस्थित परमात्मा को न पहचाना। बाहर के स्नान से क्या लाभ, मन में तो अपार कलुष भरा हुआ है। राम नाम के आश्रय विना नरक से मुक्त नहीं हुआ जा सकता, जो व्यक्ति इसे जपता है, वह मुक्त हो जाता है। नट के समान भगवा वस्त्र से विभिन्न भेष धारण करने और शरीर से भस्म लगाने का कोई प्रयोजन नहीं। जिस भाँति मेंढक की गंगा जल के सेवन बिना मुक्ति नहीं होती है, उसी प्रकार प्रभु नाम के बिना मनुष्य का मुक्ति सम्भव नहीं। हे वन्धु! तू अज्ञानता और कामना अथवा विषय-वासना की परित्याग कर राम-नाम भज, क्योंकि ईश्वर का नाम अभय पद, परम पद, मोक्ष, प्रदाता है—यह कबीर जुलाहे की शिक्षा है।

विशेष—उपमा अलंकार ।

पांणीं थै प्रगट भई चतुराई, गुर प्रसादि परम निधि पाई ।।टेक।।
इक पांणीं पांणीं कूं धोवै, इक पांणीं पांणीं कूं मोहै ।
पांणीं ऊँचा पांणीं नींचा, ता पांणीं का लीजै सींचा ।।
इक पांणीं थैं ब्यंड उपाया, दास कबीरा रांम गुण गाया ।।३४७।।

शब्दार्थ—प्रसादि=कृपा से ।

कबीर कहते है कि प्रभु रूप जल से संसार का समस्त ज्ञान उत्पन्न हुआ। गुरु-कृपा से मैंने आज उसी परम-तत्व को जान लिया है। ज्ञान-जल माया रूपी जल को नष्ट कर रहा है, दूसरा माया स्वरूप जल प्राणी को विमोहित कर रहा है। यह ज्ञान-जल ही व्यक्ति को उच्च स्थान प्रदान करता है एवं यही निम्न। इस ज्ञान-

जल से अन्तर-वाह्य असिंचत करना श्रेयस्कर है। वीर्य भी पानी का ही रूप है जिससे मनुष्य शरीर की रचना हुई। जल—ब्रह्म—ही जगत् का कारण है, इस प्रकार कबीर प्रभु-महिमा वर्णन करते हैं।

विशेष—यमक अलंकार।

भंजि गोब्यंद भूलि जिनि जाहु,
मनिसा जनम कौ ऐही लाहु ।।टेक।।

गुर सेवा करि भगति कमाई, जौ तैं मनिषा देही पाई।
या देही कूं लोचैं देवा, सो देही करि हरि की सेवा ।।
जब लग जुरा रोग नहीं आया, तब लग काल ग्रसै नहिं काया।
जब लग हींण पड़ै नहीं बांणी, तब लग भजि मन सारंगपांणीं ।।
अब नहीं भजसि भजसि कब भाई, आवैगा अंत भज्यौ नहीं जाई।
जे कछू करौ सोई तत सार, फिरि पछितावोगे वार न पार ।।
सेवग सो जो लागै सेवा, तिनहीं पाया निरंजन देवा।
गुर मिलि जिनि के खुले कपाट, बहुरि न आवै जोनीं बाट ।।
यहु तेरा औसर यहु तेरी बार, घंट भींतरि सोचि बिचारि।
कहै कबीर जीति भावै हारि, बहु बिधि कह्यौ पुकारि पुकारि ।।३४८।।

शब्दार्थ—मनिसा = मनुष्य, मानव। लोचै = ललकते हैं। जुरा = जरा, वृद्धावस्था। हींण = हीन। सारंगपाणि = कमल जैसे हाथ वाले। सेवक = सेवक, भक्त। जोनीं = योनि।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! प्रभु का नाम भज, यह भूलने योग्य नहीं। मानव जन्म की सार्थकता ईश्वर-नाम-स्मरण में ही है। यदि तूने मानव—देह पाई है तो गुरु सेवा कर भक्ति लाभ कर। इस मनुष्य-शरीर के लिए देवगण भी ललकते हैं, इसलिए इसकी अमूल्यता को सोचते हुए परमेश्वर की भक्ति कर। जब तक वाक्शक्ति क्षीण नहीं होती। हे मन! तब तक परमात्मा का भजन कर। जब तक वृद्धावस्था और उसके रोग शरीर को नहीं व्यापते तब तक मृत्यु नहीं आती। अतः यदि तूने अब परमात्मा का भजन न किया तो फिर तो अन्तिम समय निकट आ जायगा। जो कुछ भी प्रभु-भक्ति के लिए अब कर लोगे वही रह जायगा, अन्यथा काल के निकट आने पर तो घोर पश्चात्ताप ही शेष रह जायगा। भक्त वही है जो प्रभु की सेवा करे और वही ज्योतिस्वरूप निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। गुरु-उपदेश से जिनके ज्ञान-कपाट खुल गये वे पुनः इस संसार में जन्म लेने नहीं आते। हे मनुष्य! यह तेरे लिये स्वर्ण अवसर है कि मन को अन्तर्मुखी कर प्रभु-प्राप्ति का प्रयत्न कर। कबीर बारम्बार पुकार-पुकार कर कहते हैं कि प्रभु-नाम-सम्बल से ही संसार में कल्याण सम्भव है।

केसव ध्यांन विचारि रे मना,
हरि किन सुमिरै दुख भंजनां ।।टेक।।

जब लग मैं मैं मेरी करै, तव लग काज एक नहीं सरैं।
जब यहु मैं मेरी मिटि जाइ, तव हरि काज संवारै आइ ॥
जब लग स्यंघ रहै बन मांहि, तब लग यहु वन फूलै नांहिं।
उलटि स्याल स्यंघ कूं खाइ, तब यहु फूलै सब बनराइ ॥
जीत्या डूबै हाऱ्या तिरै, गुर प्रसाद जीवत ही मरै।
दास कबीर कहै समझाइ, केवल रांम रहो ल्यौ लाइ ॥३४६॥

शब्दार्थ—मैं = अहंकार। स्यंघ = सिंह। स्याल = शृगाल, गीदड़।

हे मन! तू दुःख विनाशक प्रभु का स्मरण नहीं करता है? जब तक तू अहं पर की सीमा को समाप्त नहीं कर देता, तब तक तेरा कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता। जब ममत्व-परत्व की भावना समाप्त हो जाती है तब प्रभु स्वयं आकर कार्य सफल करते हैं। जब तक इस संसार रूपी वन में माया का सिंह रहता है तव तक यह फलता फूलता नहीं। जीव रूपी शृंगाल माया-सिंह को नष्ट कर देता है तब यह संसार पल्लवित होता है, भक्ति के फल देता है। जो माया से जीता हुआ होता है वह संसार-समुद्र में डूब जाता है और जो उसे हरा देता है वह भवसागर से तर जाता है। गुरु कृपा से ही साधक जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ स्थिति को प्राप्त कर सकता है। भक्त कबीर समझाकर कहते हैं कि केवल परमात्मा में ही लगन लगानी चाहिए।

विशेष—विरोधाभास अलंकार।

जागि रे जीव जागि रे।
चोरन कौ डर बहुत कहत हैं, उठि उठि पहरै लागि रे ॥टेक॥
ररा करि टोप ममां करि बखतर, ग्यांन रतन करि षाग रे।
ऐसैं जौ अजराइल मारै, मस्तकि आवै भाग रे ॥
ऐसी जागणीं जे को जागै, ता हरि देइ सुहाग रे।
कहै कबीर जाग्या ही चहिये, क्या गृह क्या बैराग रे ॥३५०॥

शब्दार्थ—षाग = तलवार। अजराइल = अजगर।

हे अज्ञानी जीव! सावधान हो जा! इस संसार में बहुत से विकारों के चोर हैं, जागृत हो सावधानी से अपनी पवित्रता की रक्षा कर। अब कबीर रूपक देते हुए कहते हैं कि 'रा'कार का टोप धारण कर 'म'कार का वक्षस्त्राण पहन एवं ज्ञान-रत्न का विजय-चिन्ह लगा यदि तू माया के अजगर को मारेगा तो इस सर्प के मरण से तुझे भक्ति की सुन्दर मणि प्राप्त होगी। यदि कोई उपरोक्त विधि से जागृत होता है तो स्वयं ईश्वर उस भक्त को अभय पद प्रदान करते हैं। कबीर कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह गृहस्थ अथवा विरक्त हो, सर्वदा सचेत रहना चाहिए।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

जागहु रे नर सोवहु कहा, जम बटपारैं रूंधै पहा ॥टेक॥
जागि चेति कछू करौ उपाइ, मोटा बैरी है जंमराइ।

सेत काग आये बन मांहि, अजहूं रे नर चेतै नांहि ॥
कहै कबीर तबै नर जागै, जंम का डंड मूंड मैं लागैं ॥३५१॥

शब्दार्थ—वटपारैं=बटमार। पहा=पथ। मोटा=वहुत बड़ा। सेत=श्वेत। डंड=डंडा।

हे मनुष्य ! सावधान हो जा, अज्ञाननिद्रा में पड़े रहना ठीक नहीं, क्योंकि यम—मृत्यु-रूपी बटमार, लुटेरा तेरा पथ बन्द कर रहा है। सावधान होकर काल-मुक्त होने का कुछ उपाय कर, क्योंकि मृत्यु जैसा भयंकर शत्रु तेरे सम्मुख अड़ा हुआ है। संसार रूपी वन में विनाशकारी श्वेत कौए आ गये हैं किन्तु तू फिर भी सावधान नहीं होता। कबीर कहते हैं कि मनुष्य ! तभी ज्ञान प्राप्त कर सावधान होगा जब उसकी मृत्यु आ धमकती है।

जाग्या रे नर नींद नसाई, चित चेत्यौ च्यंतामणि पाई ॥टेक॥
सोवत सोवत बहुत दिन बीते, जन जाग्यां तसकर गये रीते ॥
जन जागे का ऐसहि नांण, बिष से लागैं बेद पुरांण।
कहै कबीर अब सोवौं नांहि, रांम रतन पाया घट मांहि ॥३५२॥

शब्दार्थ—तसकर=चोर। घट मांहि=हृदय में।

अज्ञान निद्रा नष्ट हो जीवात्मा के जाग जाने पर मन सावधान हो गया और चिंतामणि स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति हो गई। अब मुझे सोते सोते, अज्ञान में पड़े हुए बहुत समय चला गया था किन्तु जाग जाने पर ज्ञान लाभ करने से समस्त चोर—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह—खाली हाथ, कुछ बिगाड़े विना, लौट गये। अब ज्ञान-चक्षु प्राप्त हो जाने पह वेद-पुराण आदि शास्त्रग्रंथों का ज्ञान तो मुझे वृथा दिखाई देता है। कवीर कहते हैं कि अब मैं अज्ञान में नहीं पड़ूंगा क्योंकि मैंने हृदय के भीतर ब्रह्म की प्राप्ति कर ली है।

विशेष—रूपक अलंकार।

संतनि एक अहेरा लाधा,
मिर्गनि खेत सबनि का खाधा ॥टेक॥
या जंगल मैं पांचौं मृगा, एई खेत सबनि का चरिगा ॥
पारधीपनौं जे साधै कोई, अध खाधा सा राखै सोई।
कहै कबीर जो पंचौं मारै, आप तिरै और कूं तारै ॥३५३॥

शब्दार्थ—लाधा=लादना, स्वीकार करना। पाँचों मृगा=पाँच मृग रूपी इन्द्रियाँ। पारधीपनौं=शिकारीपना।

साधुगण एक ब्रह्म अथवा भक्ति के आखेटक को रखते हैं, माया ने समस्त मनुष्यों की सम्पत्ति समाप्त कर दी। इस संसार रूपी वन में पाँच विकारों के मृग रहते हैं जो सब की खेती को चर गये। किन्तु जो लोग भक्ति-साधना करते हैं उनकी सुकृत्य सम्पत्ति चाहे आधी समाप्त भी हो गई हो फिर भी रक्षित हो जाती है क्योंकि भक्ति का आखेटक इन विकारों—मृगों—काम, क्रोध मद लोभ, मोह—को समाप्त

कर देता है। कबीर कहते हैं कि जो इन पंच विकारों के मृग को समाप्त कर देता है वह स्वयं तो मुक्त हो ही जाता है, दूसरों को भी मुक्ति की प्रेरणा देता है।

विशेष—'पाँचों मृगा' से पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का भी अर्थ लगाया जा सकता है।

हरि कौ बिलोवनौं बिलोइ मेरी माई,
ऐसैं बिलोइ जैसें तत न जाई ॥टेक॥
तन करि मटकी मनहि बिलोइ, ता मटकी मैं पवन समोइ ॥
इला प्यंगुला सुषमन नारी, वेगि बिलोइ ठाढी छछिहारी।
कहै कबीर गुजरी बौरांनीं, मटकी फूटीं जोति समांनीं ॥३५४॥

शब्दार्थ—तत=सार। नारी=नाड़ी।

कबीर अपनी आत्मा को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे सखि! प्रभु-भक्ति के दूध को ऐसा बिलो जिससे विश्व का नवनीत—सारतत्व-प्राप्त हो जाय। शरीर की मटकी बनाकर मन को बिलो और इस शरीर की मटकी में प्राणायाम साधना कर। इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा का सम्मिलन कर शीघ्र मनःसाधना कर। कुण्डलिनी इस अवसर की प्रतीक्षा में है कि वह शीघ्र विस्फोट कर अमृत का पान करे। कबीर कहते हैं कि आत्मारूपी 'गूजरी' प्रभु-भक्ति में मदमस्त हो रही है और शरीर की मटकी फूट जाने पर अंश अंशी में विलीन हो गया। आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य हो गया।

विशेष—१. सांगरूपक अलंकार।

२. कबीर ने यहाँ आत्मा को 'गूजरी' इसलिये कहा कि अहीर और गूजर जाति का मुख्य व्यवसाय गौ-भैंस पालकर दूध का व्यापार करना था।

आसण पवन कियें दिढ रहु रे, मन का मैल छाडि दे बौरे ॥टेक॥
क्या सींगी मुद्रा चमकायें, क्या बिभूति सब अंगि लगायें ॥
सो हिंदू सो मुसलमांन, जिसका दुरस रहै ईमांन ॥
सो ब्रह्मा जो कथै ब्रह्म गियांन, काजी सो जांनैं रहिमांन।
कहै कबीर कछू आंन न कीजै, रांम नांम जपि लाहा लीजै ॥३५५॥

शब्दार्थ—आसण=आसन, समाधि से तात्पर्य; योग में अष्टांग साधनों में से एक। पवन=प्राणायाम। दिढ=दृढ़। बौरे=बावले, पागल। सींगी=शृंगी, योगियों के धारण करने का उपकरण विशेष। मुद्रा=मुद्रा, योगियों का एक आभूषण। बिभूति=भस्म। दुरस=दुरुस्त, ठीक, दृढ़। लाहा=लाभ।

हे जीवात्मा! तू समाधिस्थ होकर प्राणायाम की दृढ़ साधना द्वारा मन का कलुष दूर कर ले। योग केवल मात्र शृंगी, मुद्रा धारण करने से ही नहीं बन सकता और न भस्म रमाने से कोई साधु ही हो सकता है। चाहे कोई हिन्दू है अथवा मुसलमान, श्रेष्ठ वही है जिसका धर्म पक्का रहे, मन चंचल न रहें। ब्राह्मण अथवा ब्रह्म वही हैं जो ब्रह्म का कथन करता है एवं काजी वही है जो खुदा को जानता

है। कबीर प्रभु-प्राप्ति का सरलतम उपाय बताते कहते हैं कि राम-नाम-स्मरण द्वारा परम-प्रभु की प्राप्ति कर लो, अन्य कुछ विधि-विधान अथवा आडम्बर करने की किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है।

ताथैं कहिये लोकाचार, वेद कतेब कथैं ब्योहार ।।टेक।।
जारि बारि करि आवै देहा, मूंवां पीछै प्रीति सनेहा ।।
जीवत पित्रहि मारहि डंगा, मूंवां पित्र ले घालैं गंगा।
जीवत पित्र कूं अन न ख्वांमैं, मूंवां पाछैं प्यंड भरावैं।
जीवत पित्र कूं बोलैं अपराध, मूंवां पीछैं देहि सराध ।।
कहि कबीर मोहि अचिरज आवै, कऊवा खाइ पित्र क्यूं पावै ।।४५६।।

शब्दार्थ—मारहि डंगा=दुत्कारते हैं। ख्वांमैं=खिलाना। सराध=श्राद्ध। क्यूं=किस प्रकार।

कबीर यहां बाह्याचारों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि लोकाचार के विषय में उसको क्या समझाया जाय जो धर्मग्रंथों पर आश्रित रहता है। मृतक की देह को जलाकर उसका चिह्न तक समाप्त कर सम्बन्धी बाद में रो पीट कर मिथ्या प्रेम-प्रदर्शन करते हैं। जीवितावस्था में तो पिता को लोग दुत्कारते हैं, अन्य प्रकार से अपमान करते हैं और मृत्यु को प्राप्त हो जाने पर उसे गंगा में ले जाकर विविध विधि-विधान रचते हैं। जीते जी तो लोग पिता को भोजन तक नहीं देते और मर जाने पर उसका पिंडदान करते हैं। जीते जी तो पिता को कुवचन कहते हैं और मर जाने पर उसका श्राद्ध करते हैं—कैसी विडम्बना है। कबीर कहते हैं कि मुझे तो यह आश्चर्य है कि श्राद्ध में कौए जिमाने से वह भोजन पितृगण कैसे प्राप्त कर लेते हैं ?

बाप रांम सुनि बीनती मोरी,
तुम्ह सूं प्रगट लोगनि सूं चोरी ।।टेक।।
पहलैं कांम मुगध मति कीया, ता भै कंपै मेरा जीया ।।
रांम राइ मेरा कह्या सुनीजै, पहले बकसि अब लेखा लीजै।
कहै कबीर बाप रांम राया, अबहूं सरनि तुम्हारी आया ।।३५७।।

शब्दार्थ—बकसि=क्षमा करना।

हे पिता परमेश्वर! आप मेरा निवेदन कृपा कर सुन लीजिए क्योंकि मैं संसार के सम्मुख तो अपनी वास्तविक दशा बताते लजाता हूं और आपसे सब कुछ प्रकट कर देता हूं। पहले तो मुझे विषय-वासना ने अपने आकर्षणों में लिप्त कर लिया किन्तु अब उसका परिणाम सोच-सोचकर मेरा मन भयभीत हो रहा है। हे राजा राम! आप मेरा निवेदन कृपा कर सुन लीजिए फिर चाहे आप उस पर अपना कोई भी अभिमत दें। कबीर कहते हैं कि हे परमपिता परमेश्वर, अब तो मैं आपकी शरण में आ गया हूं अब आप मेरी रक्षा कीजिए।

अबहूं बीन कैसे दरसन तोरा,
बिन दरसन मन मानैं क्यूं मोरा ।।टेक।।

हमहि कुसेवग क्या तुम्हहि अजांनां, दुह मैं दोस कहौ किन रांमां।
तुम्ह कहियत त्रिभवन पति राजा, मन बंछित सब पुरवन काजा॥
कहै कबीर हरि दरस दिखावौ,
हमहि बुलावौ कै तुम्ह चलि आवौ॥३५८॥

शब्दार्थ—कुसेवग=कुसेवक। पुरवन=पूर्ण करना।

हे प्रभु! मैं आज कैसे आपका दर्शन पाऊँ और बिना आपके दर्शन के मेरे मन को शान्ति नहीं। मैं तो आपका कुसेवक ही सिद्ध हुआ किन्तु आपने मुझे क्यों बिसरा दिया, आप में ऐसी अज्ञानता कैसे आ गई? क्या मैं और आप दोनों ही दोषी हैं? आप तो त्रिलोकीनाथ और समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले कहलाते हो मेरी भी कामना पूर्ण कीजिए। कबीर कहते हैं कि हे ईश्वर! अब आप मुझे अपना सुदर्शन प्रदान कीजिए, या तो आप मुझे अपने पास बुला लो अथवा फिर स्वयं ही यहाँ आ जाओ।

विशेष—यहाँ कबीर में सूर के समान भावों की सहज, स्वतन्त्र, अभिव्यक्ति प्राप्त होती है जिसमें इष्ट और उपासक का सामीप्य प्रत्यक्ष हो जाता है। वस्तुत: यह भक्ति की ऐसी अवस्था है जहाँ भक्त के पावन हृदय की प्रेमधारा मर्यादा के कंगार तोड़ अपने प्रियतम से मिलने के लिए उमड़ चलती है।

क्यूं लीजै गढ़ बंका भाई, दोवर कोट अरु तेवड़ खाई॥टेक॥
कांम किबाड़ दुख सुख दरबांनीं, पाप पुंनि दरवाजा।
क्रोध प्रधांन लोभ बड़ दूंदर, मन मैं बासी राजा॥
स्वाद सनाह टोप ममिता का, कुबधि कमांण चढ़ाई।
त्रिसना तीर रहै तन भींतरि, सुबधि हाथि नहीं आई॥
प्रेम पलीता सुरति नालि करि, गोला ग्यांन चलाया।
ब्रह्म अग्नि ले दिया पलीता, एकै चोट ढहाया॥
सत संतोष ले लरनैं लागे, रोरे दस दरवाजा।
साध संगति अरु गुर की कृपा थैं पकर्‌यौ गढ़ कौ राजा॥
भगवंत भीर सकति सुमिरण की, काटि काल की पासी।
दास कबीर चढ़े गढ़ ऊपरि, राज दियौ अबिनासी॥३५९॥

शब्दार्थ—बंका=दुर्लभ, अगम्य। तेकड़=तीन। सकति=शक्ति। पासी=फाँसी, बंधन। अविनासी=प्रभु।

कबीर यहाँ हठयोगी साधना का वर्णन कर कहते हैं कि उस दुर्लभ शून्यगढ़ पर किस भाँति पहुँचा जाय? क्योंकि मार्ग में उसकी तीन खाई (त्रिगुण) तथा दुहरी (द्वैत) सुरक्षा हो रही है। वहाँ पर काम के फाटक लगे हुए हैं तथा सुख और दुःख प्रहरी हैं जो पाप और पुण्य के दरवाजों पर बैठे हुए हैं। क्रोध वहां प्रधान है और लोभ को ही उच्च स्थान प्राप्त है। फिर मन में उस राजा की स्थिति है। रसना के विविध स्वाद एवं प्रेम तथा ममता का टोप मनुष्य ने लगाकर कुमति का धनुष, जिस

पर तृष्णा के बाण जो शरीर को वींध रहे हैं—लगे हुए हैं और ज्ञान, विवेक, तो इसे प्राप्त हो ही नहीं रहा है। किन्तु साधक को उस राजा तथा उसके किले की प्राप्ति तभी हुई जब प्रभु-प्रेम का पलीता सुरति के गोले में लगाकर उसका चालक ज्ञान को बनाया एवं ब्रह्माग्नि से इसका विस्फोट कर मायाडम्बर को नष्ट कर दिया। सत्य और सन्तोष कुविचारों को समाप्त करने लगे, इस पर ब्रह्मरन्ध्र खुल गया। साधु-संगति और गुरु कृपा के द्वारा ही इस शून्य गढ़ मे स्थित ब्रह्म रूपी राजा को प्राप्त कर लिया। ईश्वर-भक्ति और नाम-स्मरण के द्वारा मृत्यु और आवागमन के चक्र को नष्ट कर दिया। भक्त कबीर इस प्रकार उस शून्य गढ़ के ऊपर चढ़ गये और ब्रह्म ने उन्हें वहाँ परमपद का राज्य प्रदान किया।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

रैंनि गउ मति दिन भी जाई, भवर उड़े बग बैठे आइ ॥टेक॥
कांचै करवै रहै न पांनीं, हंस उड़या काया कुमिलांनीं।
थरहर थरहर कंपै जीव, नां जांनू का करिहै पीव॥
कऊवा उड़ावत मेरीं बहियां पिरांनीं,
कहै कबीर मेरी कथा सिरांनीं ॥३६०॥

शब्दार्थ—सरल है।

रहस्यवादी कवि कबीर ने यहाँ प्रिय-मिलन से पूर्व की मनःस्थिति को नवोढ़ा के समान अभिव्यक्त किया है जो प्रथम समागम-भय से प्रिय-मिलन में संकोच करती है। वे कहते हैं कि रात बीत गई थी और अब दिवस भी व्यतीत हुआ जा रहा है रात्रि-आगम सूचक चिह्न प्रकट होने लगे हैं, भ्रमर पुष्प-पराग से उठ २ कर उड़ चले और बगुले पंक्ति वद्ध हो होकर अपने २ स्थान को लौट चले। मिट्टी के कच्चे घट में जिस प्रकार जल नहीं रुक सकता उसी भाँति आत्मा के उड़ जाने पर पार्थिव शरीर की भी समाप्ति कच्चे मिट्टी के भाजन के समान हो जाती है। अब मेरी आत्मा थर-थर काँप रही है क्योंकि पता नहीं प्रियतम—ब्रह्म—प्रथम मिलन में किस भाँति व्यवहार करेगा? प्रियागम सूचक शुभ-शकुन कौए को उड़ाते हुए मेरी भुजा शिथिल हो गई, कवीर कहते हैं कि यह मेरी मिलन-पूर्व अवस्था है।

काहे कूं भीति बनाऊं टाटी, का जांनू कहां परिहै माटी ॥टेक॥
काहे कूं मंदिर महल चिणाऊं, मूंवां पीछैं घड़ी एक रहण न पाऊं॥
काहे कूं छाऊं ऊंच उंचेरा, साढ़े तीनि हाथ घर मेरा।
कहै कबीर नर गरब न कीजै, जेता तन तेती भुंइ लीजै ॥३६१॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तुझे पता नहीं कि मृत्यु के पश्चात् किस स्थान पर तेरे शरीर की मिट्टी जाकर पड़ेगी, फिर भला क्यों ऊँचे-ऊँचे मकान आदि बनाने की वाग सोचता है? मृत्यु के पश्चात् तू इस संसार में एक क्षण के लिए भी नहीं रुक पायेगा फिर भला क्यों महल आदि बनाता है? ऊँची-ऊंची अट्टालिकाओं का क्या लाभ, तेरा वास्तविक घर तो साढ़े तीन हाथ का शरीर ही है। कबीर कहते हैं कि

है मनुष्य व्यर्थ घमंड करने की आवश्यकता नहीं, जितना भर शरीर की गुजर के लिए स्थान पर्याप्त हो उतना ही लेना चाहिए।

राग बिलावल

बार बार हरि का गुण गावै, गुर गमि भेद सहर का पावै ।।टेक।।
आदित करै भगति आरंभ, काया मंदिर मनसा थंभ।
अखंड अहनिसि सुरष्या जाइ, अनहद बेन सहज मैं पाइ ।।
सोमवार ससि अमृत झरै, चाखत बेगि तपै निसतरै।
बांणीं रोक्यां रहै दुवार, मन मतिवाला पीवनहार ।।
मंगलवार ल्यौ मांहींत, पंच लोक की छाड़ौ रीत।
घर छाड़ै जिनि बाहिर जाइ, नहीं तर खरौ रिसावै राइ ।।
बुधवार करै बुधि प्रकास, हिरदा कवल मैं हरि का बास।
गुर गमि दोऊ एक समि करै, ऊरध पंकज थैं सूधा धरै ।।
ब्रिसपत बिषिया देइ बहाइ, तीनि देव एक संगि जाइ।
तीनि नदी तहां त्रिकुटी मांहि, कुसमल धोवै अहनिसि न्हांहि ।।
सुक्र सुधा ले इति ब्रत चढ़ै, अह निसि आप आप सूं लड़ै।
सुरषी पंच राखिये सबै, तौ दूजी द्रिष्टि न पैसे कबै ।।
थावर थिर करि घट मैं सोइ, जोति दीवटी मेल्है जोइ।
बाहरि भीतरि भया प्रकास, तहां भया सफल करम का नास ।।
जब लग घट मैं दूजी आंण, तब लग महलि न पावै जांण।
रमिता रांम सूं लागै रंग, कहै कबीर ते निर्मल अंग ।।३६२।।

सद् गुरु ही इस अगम्य शरीर रूपी गढ़ का पार पा सकते हैं क्योंकि वह प्रति क्षण प्रभु-भक्ति में दत्त चित्त रहते हैं। अब आगे कबीर भक्ति—योगसाधना—विधि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि साधक भक्ति का प्रारम्भ करता है, उसके लिए शरीर ही मन्दिर है एवं मन ही वह स्तम्भ है जिस पर भक्ति—शरीर के मन्दिर का भार है। इस मन:साधना से भक्त रात-दिन प्रभु में चित्त लगाता हुआ अनहद नाद की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। अब सप्ताह के प्रत्येक दिवस का महत्व बताते हुए कबीर कहते हैं कि सोमवार को ब्रह्मरन्ध्र से अमृत स्रवित होता है, जिसके पान से समस्त पाप विदूरित हो जाते हैं। इस महारस का पान करने वाला मन है और जिह्वा इसके सम्मुख अन्य सांसारिक वस्तुओं के रस को बन्द रखती है! मंगलवार को साधक पंचविषयों की परिधि का परित्याग कर प्रभु में लय लगाता है। वह संसार को, जिसे घर समझता है, छोड़ कर ईश्वर लोक में प्रवेश करता है, इसके विपरीत करने पर प्रभु अप्रसन्न होते हैं। बुधवार को बुद्धि अपना निर्मल प्रकाश करती हुई गुरु अनुकम्पा से द्वैत का भ्रम, ऊर्ध्व समाधि द्वारा कमल भेदन कर मिटा देती है, इस भांति हृदयस्थ ब्रह्मदर्शन होता है। साधक बृहस्पति को त्रिदेव का ध्यान कर समस्त

विषय-वासना नष्ट कर देता है। जहाँ तीनों —आँख, नाक एवं मस्तिष्क का सन्धि बिन्दु है, वहीं त्रिकुटी है इसी में अहर्निश अपनी वृत्ति केन्द्रित रखते हुए योगी को अपना समस्त पाप कलुष धो देना चाहिए। शुक्रवार को महारस का पान कर भक्ति साधना करते स्वयं अपने दोषों पर दृष्टिपात करे और पंच ज्ञानेन्द्रियों को अपने वश में रखे तो कभी भी द्वैत-भावना, अंकुरित न हो शनिवार को उस समय ब्रह्म को चित्त में पूर्ण स्थिर कर लिया जाय तो वह अलख निरंजन ज्योति निश्चय ही प्राप्त हो जाती है। उसकी प्राप्ति से समस्त अन्तर-बाह्य प्रकाशमान हो कर्म-जंजाल कट जाता है। यदि साधक के हृदय में द्वैत भावना है तो इस शरीर स्थित मन्दिर, जिसमें प्रभु का वास है, का रहस्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। कबीर कहते हैं कि जो अपनी वृत्तियों को राम में रमा देता है उसका अंग-प्रत्यंग निर्मल हो जाता है।

रांम भजै सो जांनिये, जाकै आतुर नांहीं,
सत संतोष लीयें रहै, धीरज मन मांहीं ॥टेक॥
जन कौं कांम क्रोध व्यापै नहीं, त्रिष्णा न जरावै।
प्रफुलित आनंद मैं, गोब्यंद गुंण गावै॥
जन कौं पर निंद्या भावै नहीं, अरु असति न भावै।
काल कलपनां मेटि करि, चरनूं चित राखै॥
जन सम द्रिष्टि सीतल सदा, दुबिधा नहीं आनै।
कहै कबीर ता दास सूं, मेरा मन मांनैं ॥३६३॥

शब्दार्थ—निंद्या=निंदा। असति=असत्य।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-भक्त उसी को समझना चाहिए जिसमें लेशमात्र भी आतुरता न हो। वह सत्य, सन्तोष एवं धैर्य के आश्रय पर रहता है। भक्त को विषय-वासना, क्रोध जैसे विकार कभी नहीं व्यापते और न उसे तृष्णा व्यथित करती है। उस भक्त को न तो दूसरों की निंदा रुचिकर लगती है और न वह असत्य-भाषण करता है। वह मृत्यु-भय से दूर रह निश्चितमना प्रभु-चरणों में हृदय लगाये रखता है। वास्तव में वह समत्व स्थिति को प्राप्त कर लेता है और संसार भ्रम में नहीं पड़ता। कबीर वर्णन करते हैं कि ऐसे ही भक्त से मुझे प्रेम है।

माधौ से न मिलै जासौं मिलि रहिये,
ता कार बरनि बहु दुख सहिये ॥टेक॥
छत्रधार देखत ढहि जाइ, अधिक गरब थैं खाक मिलाइ।
अगम अगोचर लखी न जाइ, जहां का सहज फिरि तहां समाइ॥
कहै कबीर झूठे अभिमान, सो हम सो तुम्ह एक समान ॥३६४॥

हे परम प्रभु! आपके दर्शन नहीं होते, यदि आपसे मिलन हो जाय तो मैं सर्वदा आपके ही साथ रहूँ। आपके न मिलने के ही कारण मैं बहुत से सांसारिक तापों से जल रहा हूँ। जो छत्रधारी राजा हैं वे तथा उनका समस्त वैभव पल भर में नष्ट हो जाता है, अतः सम्पत्ति का गर्व उचित नहीं। वह अगम्य अदृष्य परमात्मा

देखा नहीं जाता वह सर्वत्र होते हुए भी अगोचर है। कबीर कहते हैं कि अभिमान करना मिथ्या है। प्रभु और हम, आत्मा तथा परमात्मा अंश-अंशी हैं।

अहो मेरे गोब्यंद तुम्हारा जोर, काजी बकिवा हस्ती तोर ॥टेक॥
बांधि भुजा भलैं करि डार्‌यौ, हस्ती कोपि मूंड मैं मार्‌यौ।
भाग्यौ हस्ती चीसां मारी, वा मूरति की मैं बलिहारी ॥
महावत तोकूं मारौं साटी, इसहि मराऊं घालौं काटी।
हस्ती न तौरे धरै धियांन, वाके हिरदै बसै भगवांन ॥
कहा अपराध संत हौं कीन्हां, बांधि पोट कुंजर कूं दीन्हां।
कुंजर पोट बहु बंदन करै, अजहूं न सूझै काजी अधरै ॥
तीनि बेर पतियारा लीन्हां, मन कठोर अजहूं न पतीनां।
कहै कबीर हमारे गोब्यंद, चौथे पद में जन का ज्यंद ॥३६५॥

शब्दार्थ—मूरति=पुरुष। साटी=डंडा। कुंजर=हाथी।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! आपकी महिमा अपरम्पार है। काजी आपके अस्तित्व का बखान करते अघाते नहीं। जिसके हाथ पैर बंधे हुए हैं चाहे जो भी उसके सिर में मार सकता है, किन्तु जो भागते हुए हाथी को मारे उसी पुरुष की कबीर बलिहारी ज़ाता है। भाव यह है कि जो व्यक्ति विषय-आकर्षणों को युवाकाल में ही त्याग देता है वह वृद्धावस्था आने पर उनसे मुक्त होने वाले से कहीं श्रेष्ठ है। हे मन रूपी महावत! मैं तुझे डण्डी से मारूँगा जिससे समस्त पाप समाप्त हो जायं। जो मायारूपी हाथी के पैर में न पड़ प्रभु का निरत्तर ध्यान करते हैं उनके हृदय में ब्रह्म का वास है। हे साधुगण! मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया है जिसके दण्ड-स्वरूप पाप गठरी बंधवा कर मुझे माया-हाथी के साथ कर दिया है? यह हाथी बहुत दुंद मचाता है, किन्तु विषयाशक्त अज्ञानांध काजी को अब भी वास्तविकता का ज्ञान नहीं हुआ। मैंने मन को नियन्त्रण में रखने का उपक्रम कई बार किया, किन्तु यह अब भी नियन्त्रण में नहीं है। कबीर कहते हैं कि दयालु प्रभु निश्चय ही अन्त में भक्त का कल्याण करते हैं।

कुसल खेम अरु सही सलांमति, ए दोइ काकौं दीन्हां रे।
आवत जांत दुहूंधां लूटे, सर्व तत हरि लीन्हां रे ॥टेक॥
माया मोह मद मैं पीया, मुगध कहैं यह मेरी रे।
दिवस चारि भलैं मन रंजै, यहु नांहीं किस केरि रे ॥
सुर नर मुनि जन पीर अवलिया, मीरां पैदा कीन्हां रे।
कोटिक भये कहां लूं बरनूं, सबनि पयांनां दीन्हां रे ॥
धरती पवन अकास जाइगा, चंद जाइगा सूरा रे।
हम नांहीं तुम्ह नांहीं रे भाई, रहे राम भरपूरा रे ॥
कुसलहि कुसल करत जग खींनां, पड़े काल भौ पासी।
कहै कबीर सबै जग बिनस्या, रहे रांम अबिनासी रे ॥३६६॥

शब्दार्थ — खेम=क्षेम। दुहूँघां=दोनों ओर से। मुगध=मूर्ख। सूरा=सूर्य। खीना=क्षीण होना, नष्ट होना।

कबीर कहते हैं कि कुशल-क्षेम और पूर्ण सुख-सुविधा किसी को प्राप्त नहीं होती। आवागमन में पड़े जीव को लुटना पड़ता है और उसका समस्त विवेक नष्ट हो जाता है। माया-मोह से मदग्रस्त हो जीव अहं अथवा ममत्व के फेर में पड़ता है। वास्तव में यह माया जन्य आकर्षण किसी के भी नहीं, दो चार दिन भले ही यह मनोरञ्जन कर दें, किन्तु अन्ततः ये दुख में ही परिवर्तित हो जाते हैं। देव, मनुज, ऋषि, पीर-पैगम्बर, औलिया, मीर आदि करोड़ों प्रकार की जीवात्माएं ईश्वर ने उत्पन्न कीं किन्तु अन्ततः सबको यहाँ से जाना पड़ा। पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्र, वायु, हम और तुम सब काल-क्रम में नष्ट हो जायेंगे, यदि शेष रहेगा तो केवल वह ब्रह्म ही शेष रहेगा। कुशलता और सुख के उपक्रम करता ही करता यह संसार नष्ट हो मृत्यु के बन्धन में पड़ गया। कबीर कहते हैं कि समस्त संसार विनष्ट हो जाता है, केवल अविनाशी प्रभु ही शेष रहता है।

मन बनजारा जागि न सोई, लाहे कारनि मूल न खोई ॥टेक॥
लाहा देखि कहा गरबांनां, गरब न कीजै मूरिखि अयांनां ॥
जिनि धन संच्या सो पछितांनां, साथा चलि गये हम भी जांनां।
निस अंधियारी जागहु बंदे, छिटकन लागे सबही संधे ॥
किसका बंधू किसकी जोई, चल्या अकेला संगि न कोई।
ढरि गये मंदिर टूटे बंसा, सूके सरवर उड़ि गये हंसा ॥
पंच पदारथ भरि है खेहा, जरि बरि जायगी कंचन देहा।
कहत कबीर सुनहु रे लोई, रांम नांम बिन और न कोई ॥३६७॥

शब्दार्थ—लाहे कारनि=लाभ के लिए। संच्या=इकट्ठा करना। खेहा=धूल।

हे मन रूपी बनजारे! तू सावधान हो, सचेत हो जा, अज्ञान निन्द्रा में मत पड़, मिथ्या सांसारिक लाभ के कारण अपने पूर्वसंचित पुण्य के मूलधन को भी मत खो देना। लाभ की सम्पत्ति को देख कर व्यर्थ क्यों गर्व कर रहा है, हे अज्ञानी गर्व नहीं करना चाहिए। जिन्होंने धन का संचय किया है वे अन्त समय में पछताते ही हैं। हमारे अन्य साथी तो इस संसार से चले गये और हमें भी शीघ्र ही जाना है, हे मूर्ख ऐसा सोचकर कार्य कर। इस संसार में अज्ञान की अन्ध-रात्रि व्याप्त है जिसमें विकारों के चोर भी सेंध लगाने की ताक में लगे हुए हैं। यहाँ कोई किसी का बन्धु-बांधव अथवा सम्बन्धी नहीं है, अन्त में मनुष्य अकेला ही जाता है इस शरीर के जीर्ण हो नष्ट हो जाने पर प्राणवायु निकलने पर आत्मा चली जाती है। शरीर के नष्ट होने पर पंच तत्व निर्मित यह सोने सी सुन्दर काया अग्नि में जल कर धूल में मिल जाती है। कबीर दास जी कहते हैं कि हे लोई! (शिष्या का नाम) ध्यानपूर्वक सुनो, राम-नाम के अतिरिक्त यहाँ और कुछ भी सत्य नहीं है।

मन पतंग चेते नहीं, जल अंजुरि समाँन।
बिषिया लागि बिगूचिये, दाझिये निदाँन ॥टेक॥
काहे नैंन अनंदियें, सूझत नहिं आगि।
जनम अमोलिक खोइयें, साँपनि संगि लागि ॥
कहै कबीर चित चंचला, गुर ग्याँन कह्यो समझाइ।
भगति हींन न जरई जरें, भावें तहाँ जाइ ॥३६८॥

शब्दार्थ—अनंदियें = नींद से भरे रहना ।

कबीर कहते हैं कि मन मायादीप पर शलभ के समान मरता है, किन्तु वह नहीं देखता कि जीवन अंजलि-बद्ध जल के तुल्य क्षणिक अस्तित्व वाला है। विषयासक्त हो वह व्यर्थ ही इसे नष्ट कर शरीर को सांसारिक तापों से तप्त कर रहा है। तेरे नेत्र क्यों निद्रालु रहते हैं, उन्हें वासनाग्नि दृष्टिगत क्यों नहीं होती ? माया-साँपिन के साथ बन्धन में पड़ अमूल्य मानव-जीवन को जीवात्मा खो देती है। कबीर कहते हैं कि मन तो चंचल है, गुरु ने इसे ज्ञानामृत समझा कर कहा है। भक्तिहीन तो निश्चय ही संसार की विषयाग्नि में जलता है, क्योंकि वह गम्य-अगम्य प्रत्येक स्थल पर जाता है।

विशेष—रूपक, उपमा अलंकार ।

स्वादि पतंग जरें जरि जाइ,
अनहद जौं मेरी चित न रहाइ ॥टेक॥
माया कै मदि चेत न देख्या, दुबिध्या मांहि एक नहीं पेख्या ।
भेष अनेक किया बहु कीन्हाँ, अकल पुरिष एक नहीं चीन्हाँ ॥
केते एक मूये मरहिंगे केते, केतेक मुगध अजहु नहीं चेते ।
तंत मंत सब ओषद माया, केवल रांम कबीर दिढाया ॥३६९॥

शब्दार्थ—सरल है ।

जिस प्रकार शलभ अपने हित अनहित का विचार किये बिना नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मैं विनाशक सांसारिक आकर्षणों में तो लगा हुआ हूँ किन्तु 'अनहद' में मेरी वृत्ति नहीं रमती। मायामद में मैंने सावधान हो अपना हित-अनहित नहीं देखा और संसार भ्रम में ही पड़ा रहा। विविध वेश-धारण कर मैंने बहुत से आडम्बर ठाठ खड़े किए किन्तु उस परम-परमात्मा को मैंने नहीं पहचाना। इसी संसार-चक्र में पड़े हुए न जाने कितने मर गये। किन्तु आज भी अधिकांश मायालिप्त व्यक्ति सावधान नहीं हुए हैं। तन्त्र, मन्त्र, औषधि आदि के उपकरण मायामात्र हैं। कबीर को तो केवल प्रभु का दर्शन चाहिए।

एक सुहागिन जगत पियारी, सकल जीव जंत की नारी ॥टेक॥
खसम मरें वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै ।
रखवाले का होइ बिनास, उतहि नरक इत भोग बिलास ॥
सुहागनि गलि सोहै हार, संतनि बिख बिलसै संसार ॥

पीछैं लागि फिरै पचिहारी, संत की ठठकी फिरै बिचारी ।।
संत भजै वा पाछी पड़ै, गुर के सबदूं मार्‌यौ डरै ।
साषत कै यहु प्यंड परांइनि, हंमारी द्रिष्टि परै जैसें डांइनि ।।
अब हम इसका पाया भेद, होइ कृपाल मिले गुरदेव ।
कहै कबीर इब बाहरि परी, संसारा कै अचल टिरी ।।३७०।।

शब्दार्थ—जीव जंत=प्राणी मात्र । खसम=पति । साषत=शाक्त । प्यंड परांइनि=प्राण प्यारी ।

माया रूपी सुहागिन नारी समस्त संसार को प्रिय है । वह समस्त प्राणिमात्र को प्रिय लगती है । इस माया सुन्दरी का पति मनुष्य नष्ट होता है किन्तु इसे फिर भी दुःख नहीं होता । उसका स्वामी तो कोई और ही होता है, वह प्रभु की दासी है । इस माया के रक्षक, पति, मानव का तो दोनों ओर विनाश है, यहाँ संसार में तो वह भोग विलास में अपनी शक्ति का अपव्यय करता है और मृत्यूपरान्त उसे नरक भोगना पड़ता है । इस माया नारी के कण्ठ में आकर्षक हार है किन्तु साधुगण तो इसे और इसके संसार को विष तुल्य मानते हैं । अब यह दासी के समान भक्त के पीछे-पीछे दीनता से लगी फिरती है । जो भक्त प्रभु का भजन करता है उसके तो यह पीछे ही दासी के समान लगी रहती है एवं गुरु के उपदेश से तो इसकी रूह काँपती है । दुराचारी शाक्त को यह प्राणतुल्य प्रिय है तो हमें तो साक्षात् डायन, राक्षसी सी लगती है । कबीर कहते हैं कि अब मैं इसका रहस्य समझ गया हूँ, यह रहस्य गुरु के ज्ञान-दान देने से ही समझ में आ सका है । अब तो यह माया मेरे सम्मुख तक नहीं आती और संसारी व्यक्ति के पास से टाले नहीं टलती ।

विशेष—समासोक्ति अलंकार ।

पारोसनि मांगै कंत हमारा,
पीव क्यूं बौरि मिलहि उधारा ।।टेक।।
मासा मांगै रती न देऊं, घटै मेरा प्रेम तौ कासनि लेऊं ।
राखि परोसनि लरिका मोरा, जे कछु पाऊं सु आधा तोरा ।।
बन बन ढूंढौं नैन भरि जोऊं, पीव न मिलै तौ बिलखि करि रोऊं ।
कहै कबीर यहु सहज हमारा, बिरली सुहागनि कंत पियारा ।।३७१।।

शब्दार्थ—पारौसनि=पड़ौसिन, अन्य सांसारिक आत्मा । बौरी=पागल ।

अन्य आत्मा हमारे पति—परमेश्वर—को मुझसे मांगती हैं; किन्तु उन मूर्खाओं को यह ज्ञान नहीं कि प्रियतम उधार नहीं मिलते, उसकी प्राप्ति के लिए तो अपना सर्वस्व बलिदान करने की आवश्यकता है । यदि वह माशे भर भी उन्हें मांगने के लिए आती है तो मैं रत्ती भर भी देने के लिए प्रस्तुत नहीं हूँ । हे सखि आत्मा ! तू मुझ में व्याप्त माया को रख ले तो मैं तुझे अपनी भक्ति में आधा भाग दूँगी । मैं प्रिय को वन-वन—सर्वत्र—खोज रही हूँ और उनके लिए आकुल-व्याकुल हूँ । यदि वे मिल जायें तो प्रेमातिरेक से मेरे प्राण निकल पड़ेंगे । कबीर कहते हैं कि यह हमारा

सामान्य विश्वास है कि एकाध आत्मा में ही प्रिय-दर्शन की उत्कट लगन होती है।

विशेष—यहाँ कबीर भक्ति-क्षेत्र से प्रेम-क्षेत्र में जिसे दूसरे शब्दों में हम रहस्यवाद कह सकते हैं, चले जाते हैं। भक्त की यह इच्छा होती है कि जिसे मैं प्रेम करूँ, जो मेरा आराध्य है वह सबका पूज्य हो, किन्तु प्रेमी प्रिय पर एकाधिकार चाहता है। कबीर की मन:स्थिति भी यहाँ प्रिय पर पूर्ण स्वत्व स्थापित करने की है।

राम चरन जाकै रिद बसत है, ता जन कौ मन क्यूं डोलै।
मानौं अठ सिध्य नव निधि ताकै हरषि हरषि जस बोलै ॥टेक॥
जहाँ जहां जाइ तहाँ सच पावै, माया ताहि न झोलै।
बार बार बरजि विषिया तैं लै नर जौ मन तोलै ॥
ऐसी जे उपजै या जीय कै, कुटिल गांठि सब खोलै।
कहै कबीर जन मन परचौ भयो, रहै रांम कै बोलै ॥३७२॥

शब्दार्थ—रिदै=हृदय। डोले=चंचल हो। जस=यश। बरजि=निषेध। परचौ=परिचय।

कबीर कहते हैं कि जिसकी प्रभु के चरणों में वृत्ति रमी हुई होगी, उसका मन चंचल नहीं होता। उसे तो मानो अष्ट-सिद्धि एवं नवनिधि की सहज प्राप्ति हो जाती है एवं वह हर्षित हो-होकर प्रभु गुणगान करता है। वह जहाँ कहीं भी जाता है अमित शान्ति-लाभ करता है एवं माया उसे नहीं सताती। हे सांसारिक व्यक्ति! यह तेरा मन विषय-वासना में भटकता है तो बारम्बार उसे वर्जित कर सुपंथ—भक्ति—पर चलाओ। यदि मन इस प्रकार आचरण करे तो हृदय की समस्त कलुषता और पाप नष्ट हो जायें। कबीर कहते हैं कि जब मन का परम-तत्व से साक्षात्कार हो जाता है तो वह प्रभु का बना रहता है।

विशेष—अष्ट सिद्धि एवं नवनिधि का उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

जंगल मैं का सोवनां, औघट है घाटा।
स्यंघ बाघ गज प्रजलै, अरु लंबी बाटा ॥टेक॥
निस बासुरि पेड़ा पड़ै, जमदांनीं लूटै।
सूर धीर साचै मतै, सोई जन छूटै ॥
चालि चालि मन माहरा, पर पटण गहियै।
मिलिये त्रिभुवननाथ सूं, निरभै होइ रहियै ॥
अमर नहीं संसार मैं, बिनसै नर-देही।
कहै कबीर वेसास सूं, भजि रांम सनेही ॥३७३॥

शब्दार्थ—औघट=अत्यन्त कठिन। निस बासुरि=रात-दिन। पटण=नगर। वेसास सूँ=विश्वास के साथ।

कबीर कहते हैं कि साधना-वन में सोना अत्यन्त कठिन कार्य है। मार्ग तो लम्बा है ही, साथ में सिंह, बाघ, हाथी आदि के रूप में साधक को विषय-विकार सताते हैं। रात दिन विपत्ति में ही पड़े रहना पड़ता है, साथ ही काल भी सर्वदा नष्ट

करने के लिये तत्पर रहता है। धैर्यवान् शूरवीर ही इस मार्ग का अवलम्बन करता है, और वही संसार से मुक्त होता है। हे मेरे मन! तू उस मार्ग पर चल और शून्य लोक के सुन्दर नगर को प्राप्त कर। वहाँ तुझे त्रिभुवनपति के दर्शन होंगे और उनके दर्शन से परमपद—अभय पद की प्राप्ति हो जायेगी। संसार में अमर कुछ भी नहीं है, यह मानव देह निश्चय ही नष्ट हो जायेगी। इसीलिए विश्वासपूर्वक प्रियतम राम का भजन करो।

राग ललित

राम ऐसो ही जांनि जपौ नरहरी,
माधव मदसूदन बनवारी ॥टेक॥
अनदिन ग्यांन कथैं घरियार, धूंवां धौलह रहै संसार।
जैसैं नदी नाव करि संग, ऐसैं हीं मात पिता सुत अंग ॥
सबहि नल दुल मलफ लकीर, जल बुदबुदा ऐसी आहि सरीर ॥
जिभ्या रांम नांम अभ्यास, कहै कबीर तजि गरभ बास ॥३७४॥

शब्दार्थ—अनदिन—प्रतिदिन। धूंवां धौलह=धूएँ के समान क्षणिक रहने वाले महल।

हे मनुष्यो! प्रभु को अत्यन्त प्रतापवान् जानकर स्मरण करो, उनके माधव, मधुसूदन एवं बनवारी अनेक नाम हैं। सांसारिक लोग प्रतिदिन घर बैठे ज्ञान तो बघारते हैं, किन्तु वे रहते धुएँ के महल सदृश क्षणिक स्थिति वाले इस संसार में ही हैं। जैसे नदी-नाव का संयोग क्षणिक होता है, उसी भाँति माता-पिता, पुत्र आदि के सम्बन्ध अल्पकालिक हैं। समस्त प्राणी पाप-पुंज से बने हुए हैं। जल के बुलबुले के समान इस शरीर का अस्तित्व क्षणिक है। कबीर कहते हैं कि गर्व को त्याग कर, इस जिह्वा से राम-नाम स्मरण का अभ्यास करो।

रमनां रांम गुन रमि रस पीजै,
गुन अतीत निरमोलिक लीजै ॥टेक॥
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई, जा सुमिरत सुधि बुधि मति पाई ॥
विष तजि रांम न जपसि अभागे, का बूडे बालक के लागे।
ते सब तिरे राम रस स्वादी, कहै कबीर बूड़े बकवादी ॥३७५॥

शब्दार्थ—निरमोलिक =अमूल्य। बूड़े=डूबना। बकवादी=व्यर्थ में बकवास करने वाले, ज्ञानाडम्बरी।

कबीर कहते हैं कि जिह्वा! तू केवल राम-नाम के अमर रस का पान कर, क्योंकि उसमें अमूल्य गुण विद्यमान हैं। हे भाइयो! निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करो जिसके स्मरण द्वारा ज्ञान, बुद्धि और विवेक की प्राप्ति होती है। विषय का परित्याग कर हे अभाग्यवान्! राम का जप कर, क्यों व्यर्थ लाभ के वशीभूत हो पतनोन्मुख बनता है। कबीर कहते हैं कि जो भी मुक्त हुए हैं वे राम रस का पान करने वाले थे और व्यर्थ ज्ञान बघारने वाले तो इस भवसिन्धु में डूबे ही हैं।

निबरक सुत ल्यौ कोरा, रांम मोहि मारि कलि बिष बोरा ।।टेक।।
उन देश जाइबो रे बाबू, देखिबो रे लोग किन किन खेबू लो ।
उड़ि कागा रे उन देस जाइबा, जासूं मेरा मन चित लागा लो ।।
हाट ढूंढि ले, पटनपुर ढूंढि ले, नहीं गांव कै गोरा लो ।
जल बिन हंस निसह बिन रबू,
कबीरा कौ स्वांमी पाइ परिकैं मनैंबू लो ।।३७६।।

शब्दार्थ—कलि=कलियुग । बोरा=डूबा हुआ । खैंबू=मुक्तात्मा । निसह=रात्रि । रबू=रवि सूर्य ।

कबीर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि आप या तो अपने अंश, पुत्र को (मुझको) पूर्ण निर्मल ही कर दें और या मुझे तो मार डालें क्योंकि मैं तो कलियुग की विषय-वासना रस में सना हुआ हूँ । हे मित्र ! तुम प्रभु के उस लोक में जाकर तनिक देखना तो सही कि वहाँ मुक्तात्माएँ किस भाँति रहती हैं । हे कौए ! तू उड़ करके उस प्रिय के देश जा, मैं जिसके प्रेम में अनुरक्त हूँ । उस प्रभु के पास जाने वाले बाजार, नगर आदि समस्त परिवेशों से परिचित हो लो, किन्तु इस मोहिनी माया से नहीं । जल के अभाव में हंस और सूर्य के अभाव में रात्रि जिस भाँति विकल रहती है उसी प्रकार मैं भी प्रभु-प्रेम में विकल हूँ । कबीर कहते हैं कि प्रियतम को मन का उत्सर्ग करके ही प्राप्त किया जा सकता है ।

राग बसंत

सो जोगी जाकैं सहज भाइ, अकल प्रीति की भीख खाइ ।।टेक।।
सबद अनाहद सींगी नाद, काम क्रोध बिषिया न बाद ।।
मन मुद्रा जाकैं गुर कौ ग्यांन, त्रिकुट कोट मैं धरत ध्यान ।।
मनहीं करन कौं करै सनांन, गुर कौ सबद ले ले धरै धियांन ।
काया कासी खोजै बास, तहां जोति सरूप भयौ परकास ।।
ग्यांन मेषली सहज भाइ, बंक नालि कौ रस खाइ ।
जोग मूल कौ देइ बंद, कहि कबीर थिर होइ कंद ।।७७।।

शब्दार्थ—सींगी=शृंगी । बाद=व्यर्थ ज्ञान का आडम्बर । त्रिकुट कोट=त्रिकुटी रूपी दुर्ग । धियांन=ध्यान । बंक नालि=सुषुम्ना नाड़ी । थिर=स्थिर ।

वही योगी है जो सहज साधना करता है एवं ज्ञान तथा प्रेम का आधार लेकर जीवन धारण करता है । वह शृंगी धारण कर अनहद नाद में तल्लीन रहता है तथा काम-क्रोध आदि विकारों के पास भी नहीं फटकता । मन को जो योग की मुद्रा नामक स्थिति में लगाये हुए गुरु का उपदेश चित्त में रखता है और त्रिकुटी स्थल में वृत्तियों को केन्द्रित रखता है, गुरु उपदेश के द्वारा वह ध्यानावस्थित होकर मन को शून्य तट पर स्नान कराता है । इस शरीर में ही जो काशी के समान पवित्र तीर्थ को खोज लेता है, उसे वहाँ ज्योतिस्वरूप परम-तत्व के प्रकाश का दर्शन होता है । ज्ञान-मेखला को सहज समाधि में धारण करने से सुषुम्णा ब्रह्मरन्ध्र में विस्फोट कर अमृत

का पान करती है। मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी को उठा देने पर कबीर कहते हैं कि प्रियतम ब्रह्म का दर्शन होता है।

मेरौ हार हिरांनौं मैं लजाऊँ सास दुरासनि पीव डराऊं ॥टेक॥
हार गुह्यौ मेरो रांम ताग, बिचि बिचि मान्यक एक लाग।
रतन प्रबालै परम जोति, ता अंतरि लागे मोति ॥
पंछ सखी मिलिहैं सुजांन, चलहु तजई ये त्रिवेणी न्हान।
न्हाइ धोइ कैं तिलक दीन्ह, मेरो आहि परोसनि हार लीन्ह ॥
तीनि लोक की जांने पीर, सब देव सिरोमनि कहै कबीर ॥३७८॥

शब्दार्थ—दुरासनि=छिपना। मान्यक=माणिक्य। प्रबालै=मूंगे। अंतरि अंतरि=बीच-बीच में।

मेरा भक्ति-रूपी हार खो गया है जिससे मैं लज्जित हूँ, सास से भयभीत होकर छिपती हूँ। प्रियतम से भी डरती हूँ। मेरा हार राम रूपी तागे से गुँथा हुआ था जिसमें बीच-बीच में माणिक्य लगे हुए थे। मूँगे की ज्योति का परम सुन्दर हार था जिसमें अन्य मोती भी थोड़ी थोड़ी दूर पर टँके हुए थे। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ रूपी सखी मिलीं और वे मुझे स्नानार्थ ले गईं। नहा-धोकर तिलकबिन्दु आदि लगाने के पश्चात् देखा तो पता नहीं हार किसने ले लिया था। वह सुन्दर हार खो गया, मेरी उसी सखी (इन्द्रियों से तात्पर्य) ने ही हार चुरा लिया। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! आप तो सर्वोच्च शक्ति हैं, तीनों लोकों के दुःखों से परिचित हैं, मेरा यह दुःख दूर कीजिए।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

नहीं छाड़ौं बाबा रांम नांम,
मोहि और पढ़न सूं कौन कांम ॥टेक॥
प्रह्लाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीयें बहुत बाल।
मोहि कहा पढ़ावै आल जांल, मेरी पाटी मैं लिखि दे श्रीगोपाल ॥
तब सनां मुरकां कह्यौ जाइ, प्रहिलाद बंधायौ बेगि आइ।
तूं राम कहन की छाड़ि बांनि, बेगि छुड़ाऊं मेरौ कह्यो मांनि ॥
मोहि कहा डरावै बार बार, जिनि जल थल गिर कौ कियौ प्रहार।
बांधि मारि भावै देह जारी, जे हूँ रांम छाडौं तौ मेरे गुरहि गारि ॥
तब कोढ़ि खड़ग कोप्यौ रिसाइ, तोहि रांखनहारौ मोहि बताइ।
खंभा मैं प्रगट्यौ गिलारि, हरनाकस मार्‌यौ नख बिदारि ॥
महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंघ प्रकट कियौ भगति भेव।
कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद ऊबारियौ अनेक वार ॥३७९॥

शब्दार्थ—आल जाल=व्यर्थ की बातें। रिसाइ=क्रोध करके। नरस्यंघ=नृसिंह का अवतार। भेद=रहस्य, भेद।

हे गुरुवर ! अब मैं राम नाम का आश्रय नहीं छोड़ सकता, मुझे राम नाम

पठन के अतिरिक्त अन्य किसी साहित्य के पढ़ने की क्या आवश्यकता है ? प्रह्लाद बहुत से सखाओं को लेकर पाठशाला में पढ़ने गये और उन्होंने अपने शिक्षक से कहा कि तुम मुझे संसार की अन्य बातें क्यों पढ़ा रहे हो, मेरी तख्ती पर तो केवल श्री गोपाल—प्रभु नाम—ही अंकित कर दो। तब गुरु ने उसके विष्णु विरोधी पिता से आकर कहा और उस शीघ्र आकर प्रह्लाद को बाँध दिया और कहने लगे कि तू राम-नाम उच्चारण छोड़ दे तो मैं तुझे शीघ्र बंधन-मुक्त कर दूँगा। प्रह्लाद ने पिता को उत्तर दिया, तू मुझे क्यों वारम्वार डराता है। जिस प्रभु ने जल, थल एवं पर्वत को कुछ न गिना, मैं उसका नाम स्मरण नहीं छोड़ सकता। तुम्हारी इच्छा हो तो चाहे मुझे बाँध कर अथवा जला कर मार दो, किन्तु मैं रामाश्रय नहीं छोड़ सकता। तब उसने तलवार निकाल ली और क्रोधित होकर कहा, बता तेरा रक्षक प्रभु कहाँ है ? तब प्रभु स्तम्भ से नृसिंह रूप में प्रकट हुए और हिरण्यकश्यप को नाखूनों से चीर डाला। उस महान् ब्रह्म ने नरसिंह रूप में प्रकट होकर भक्तों के भाव की रक्षा की। कबीर कहते हैं कि कोई उस प्रभु के रहस्य का पार नहीं पा सकता, उसने अनेक बार प्रह्लाद जैसे भक्तों की रक्षा की है।

विशेष—'क्या कबीर का ब्रह्म सगुण और अवतारवादी था ?—यह विचार ऐसे स्थलों पर कबीर की ब्रह्म विषयक निर्गुण धारणा के सम्मुख प्रश्नसूचक चिह्न के साथ प्रस्तुत हो जाता है।

हरि कौ नांउ तत त्रिलोक सार, लैलीन भये जे उतरे पार ॥टेक॥
इक जंगम इक जटाधार, इक अंगि बिभूति करैं अपार।
इक मुनिपर इक मनहूं लीन, ऐसैं होत होत जग जात खीन ॥
इक आराधैं सकति सीव, इक पड़दा दे दे बधैं जीव।
इक कुलदेव्यां कौ जपहि जाप, त्रिभवनपति भूले त्रिबिध ताप ॥
अंनहि छाड़ि इक पीवहि दूध, हरि न मिलै बिन हिरदैं सूध।
कहै कबीर ऐसैं बिचार, राम बिना को उतरे पार ॥३८०॥

शब्दार्थ—सकति=शक्ति। सीव=शिव। बधैं=बध करना, मारना। ताप=दुख। अंनहि—अन्न को।

एकमात्र प्रभु-नाम ही सत्य और तीनों लोकों का सार है, इसमें वृत्ति रमाने से मनुष्य भवसागर से तर जाता है। कोई तो यति और जटाधारी साधु बन जाता है और कोई अपने अंग-प्रत्यंग में विभूति रमा कर अपने को बहुत बड़ा तपस्वी मानता है। कोई शिव अथवा शक्ति की आराधना करता है और एक पशु को ही बलि के लिए बाँधे रहता है। कोई त्रिलोकीनाथ ब्रह्म को विस्मृत कर कुलदेवता को ही पूजने में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर लेता है। एक वह भी अपने को साधक मानता है जो अन्न का परित्याग कर दुग्धाहारी बन जाता है, किन्तु उन्हें ज्ञात नहीं कि हृदय में विचार कर देखो, राम-भक्ति के आश्रय बिना कोई भी संसार-सागर को नहीं तर सकता।

हरि बोलि सूवा बार बार, तेरी ढिग मींनां कछू करि पुकार ।।टेक।।
अंजन मंजन तजि बिकार, सतगुरु समझायौ तत-सार ।
साध संगति मिलि करि बसंत, भौ बंद न छूटै जुग जुगत ।।
कहै कबीर मन भया अनंद,अनंत कला भेटै गोव्यंद ।।३८१।।

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते हैं कि हे मन रूपी शुक ! तू बारम्बार प्रभु नाम का उच्चारण कर, वह प्रभु तेरे पास ही अवस्थित है, तनिक उसे पुकार कर तो देख—अंजन-मंजन आदि बाह्य शुद्धि उपकरणों को अब छोड़ दे, क्योंकि सद्गुरु ने तुझे परमतत्व का सार बता दिया है । साधु संगति करता हुआ ही आयु व्यतीत कर, क्योंकि संसार का मांया बन्धन युग-युग तक नहीं छूटता । कबीर कहते हैं कि मन में तब अपरिमित आनन्द हुआ जब अनन्त कलावान् प्रभु से भेंट हुई ।

बनमाली जांनैं बन की आदि, रांम नांम बिन जनम बादि ।।टेक।।
फूल जु फूले रुति बसंत, जामैं मोहि रहे सब जीव जंत ।
फूलनि मैं जैसे रहे तबास, यूं घटि घटि गोबिन्द है निवास ।।
कहै कबीर मनि भया अनंद, जगजीवन मिलियौ परमांनद ।।३८२।।

शब्दार्थ—आदि=गति । बादि=व्यर्थ, निस्सार । रुति=ऋतु । तवास=सौन्दर्य ।

कबीर कहते हैं कि वह वनमाली प्रभु ही संसार की गति (आदि) को जानते हैं । वस्तुत: राम-नाम के अभाव में तो जीवन वृथा है । ऋतु वसन्त में फूलने वाले कुसुमों के क्षणिक सौन्दर्य में समस्त संसार के जीव-जन्तु पड़े हुए हैं । जिस भाँति पुष्पों के मध्य सुगन्ध का निवास है, उसी प्रकार प्रत्येक के हृदय में ईश्वर का निवास है । कबीर कहते हैं कि संसार में ही ब्रह्म की प्राप्ति हो जाने पर अतुलित आनन्द की प्राप्ति हुई ।

विशेष—उपमा अलंकार ।

मेरे जैसे बनिज सौं कवन काज, मूल घटै सिरि बधै ब्याज ।।टेक ।।
नाइक एक बनिजारे पांच, बैल पचीस कौ संग साथ ।
नव बहियां दस गौनि आहि, कसनि बहतरि लागे ताहि ।।
सात सूत मिलि बनिज कीन्ह, कर्म पयादो संग लीन्ह ।
तीन जगाती करत रारि, चल्यो है बनिज वा बजन झारि ।।
बनिज खुटानौं पूंजि टूटि, षाडू दह दिसि गयो फूटि ।
कहै कबीर यहु जन्म बाद, सहजि समांनू रही लादि।।३८३।।

शब्दार्थ—बनिज=वणिक । बधै=बढ़ना । बनजारे=इन्द्रियों से तात्पर्य है । सात सूत=सात धातुओं से तात्पर्य है । बैल=प्रकृतियों से तात्पर्य है । बहियाँ=हाथ । तीन जगाती=त्रिगुणात्मक प्रकृति ।

कबीर कहते हैं कि मेरे जैसे वणिक् से प्रभु का क्या कार्य हो सकता है क्योंकि

मेरे से तो सुकृत्यों का मूलधन दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा है और व्याज बढ़ता जा रहा है। नायक आत्मा तो एक ही है, किन्तु पांच इन्द्रियों के बनजारे २५ प्रकृतियों के बैल का साथ है। नौ बाहु तो वस्त्र है, और दस स्त्रियाँ उसके साथ हैं तो भला किस भांति उसका कल्याण सम्भव है। शरीर की सप्त धातुओं ने कर्म सैनिक को साथ लेकर यह व्यापार किया है। त्रिगुणात्मक प्रकृति झंझट खड़े कर रही है और व्यापार उसी वन के मध्य घुसता जा रहा है। मनुष्य रूपी या आत्मा रूपी वणिक का अस्तित्व (मृत्यु से) समाप्त हो जाने पर सम्पत्ति नष्ट होकर तत्व समस्त वातावरण में लीन हो जाते हैं। कबीर कहते हैं कि यह जन्म व्यर्थ जा रहा है, अतः सहज समाधि में अपनी लय लगा लो।

विशेष—१. साँगरूपक अलंकार।

२. बनजारे पांच—पाँच इन्द्रियाँ।

३. बैल पच्चीस—पच्चीस प्रकृतियां।

४. नव बहिया—नौ हाथ (जिससे नापते हैं)।

चार अन्तःकरण—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार।

पंच प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान।

५. सातसूत – सप्त धातु—रस, रक्त, मांस, वसा, मज्जा अस्थि, शुक्र।

६. तीन जगाती - त्रिगुणात्मक प्रकृति—सत, रज, तम।

माधो दारन दुख सह्यौ न जाइ
मेरी चपल बुधि तातैं कहा बसाइ ॥टेक॥
तन मन भींतरि बसैं मदन चोर जिनि ग्यान रतन हरि लीन्ह मोर।
मैं अनाथ प्रभू कहूं काहि, अनेक बिगूचे मैं को आहि॥
सनक सनंदसिव सुकादि, आपण कवलापति भये ब्रह्मादि।
जोगी जंगम जती जटाधार, अपने औसर सब गये हैं हारि॥
कहै कबीर रहु संग साथ, अभिअंतरि हरि सू कहो बात।
मन ग्यान जानि कै करि बिचार, रांम रमत भौ तिरिवो पार ॥३८४॥

शब्दार्थ दारन=दारुण। मदन=कामदेव। औसर=अवसर, समय।

हे प्रभु! मेरी अल्प-मति की सामर्थ्य भी क्या है, मुझसे विषय-वासना द्वारा दत्त दारुण दुख सहा नहीं जाता। अन्तर-बाह्य में कामरूपी चोर का आवास है जिसने मेरा ज्ञान का अमूल्य मणि चुरा लिया। हे ईश्वर! मैं अनाथ हूँ, अनेक व्यक्तियों ने मुझे त्रास दिया, मैं आपके अतिरिक्त और किससे अपनी व्यथा-कथा कहूँ सनक सनन्दन, शिव एवं शुकदेव और ब्रह्मा आदि परमतत्व का साक्षात्कार कर गये हैं। योगी, साधु, तपस्वी, जटाधारी आदि सब कोई उसे पाने का प्रयत्न कर झकमार कर बैठ गये हैं। कबीर कहते हैं कि हृदयस्थ ब्रह्म से भेंट करनी चाहिए। वे आगे मन में विचारपूर्वक कहते हैं कि राम में वृत्तियाँ रमाने से ही संसार सागर से पार उतरा जा सकता है।

विशेष—रूपक अलंकार।

तू करी डर क्यूं न करैं गुहारि,
तूं बिन पंचाननि श्री मुरारि ॥टेक॥
तन भींतरि बसै मदन चोर, तिनि सरबस लीनौ छोरि मोर।
मांगैं देइ न बिनैं मांन, तकि मारै रिदा मैं कांम बांन॥
मैं किहिं गुहरांऊं आप लागि, तू करी डर बड़े बड़े गये हैं भागि।
ब्रह्मा बिष्णु अरु सुर मयंक, किहि किहि नहीं लावा कलंक॥
जप तप संजम सुंचि ध्यांन, बंदि परे सब सहित ग्यांन।
कहि कबीर उबरे द्वै तीनि, जा परि गोबिंद कृपा कीन्ह ॥३८५॥

शब्दार्थ—गुहारि=पुकारना, प्रार्थना करना। रिदा=हृदय। मयंक=चन्द्रमा।

कबीर मनुष्य को सम्बोधित कर कहते हैं कि तू संसार तापों से भयभीत होकर प्रभु को क्यों नहीं पुकारता, भजता। इस शरीर के भीतर कामदेव रूपी चोर का वास है जिसने मेरा सर्वस्व अपहृत कर लिया है। वह मेरे चुराये हुए धन को माँगने से भी लौटता और हृदय में काम-बाण मार देता है। मैं किस भाँति प्रभु का स्मरण करूँ, इस काम से डर कर बड़े-बड़े लोग भाग गये हैं। ब्रह्मा, विष्णु एवं देवता तथा चन्द्रमा सब काम ग्रस्त होने के कारण कलंकित हैं। जब ज्ञान सहित जप, तप, संयम, पवित्रता एवं ध्यान का आचरण किया जायगा, तभी यह काम रूपी चोर बन्दी हो सकता है। कबीर कहते हैं कि वे कुछ लोग ही काम-विमुक्त हैं जिन पर प्रभु कृपा करते हैं।

ऐसौ देखि चरित मन मोह्या मोर,
तातैं निस बासुरि गुन रमौं तोर ॥टेक॥
इक पढ़हिं पाठ इक भ्रमैं उदास, इक नगन निरंतर रहैं निवास।
इक जोग जुगति तन हूंहि खींन, ऐसैं रांम नांम संगि रहैं न लीन॥
इक हूंहि दीन एक देहि दांन, इक करैं कलापी सुरा पांन।
इक तत मंत ओषध बांन, इक सकल सिध राखैं अपांन॥
इक तीरथ ब्रत करि माया जीति, ऐसैं रांम नाम सूं करैं न प्रीति।
इक धोम घोटि तन हूंहि स्यांम, यूं मुकति नहीं बिन रांम नाम॥
सत गुर तत कह्यौ बिचार, मूल गह्यौ अनभै बिसतार।
जुरा मरण थैं भये धीर, रांम कृपा भई कहि कबीर॥३८६॥

शब्दार्थ—मोर=मेरा। नगन=नग्न, दिगम्बर। खींन=क्षीण, दुर्बल। धोय=धुँआँ।

संसार की दुर्दशा देखकर ही प्रभु ! मेरा मन अहर्निश आपकी भक्ति में संलग्न हुआ है। संसार के लोग विविध प्रकार से आपकी प्राप्ति का उपक्रम करते हैं, उनमें से कुछ तो शास्त्रों का पठन करते हैं, कोई विरक्त होकर इधर उधर घूमता है और एक

दिगम्बर हो जीवन-यापन करता है, एक व्यक्ति योग-साधना से अपने शरीर को क्षीण बनाता है किन्तु इनमें से कोई भी प्रभु नाम का आश्रय ग्रहण नहीं करता। एक भिखारी बना भिक्षा मांगता है तो दूसरा अपरमित दान देता है और एक वह भी अपने को साधक मानता है जो वाममार्गी बन मदिरापान करता है। एक वह भी साधक हैं जो तन्त्र-मन्त्र एवं औषध का सेवन करता है, तो कोई समस्त नीति वाक्यों को कण्ठ में रखे रहता है। एक वही साधक है जो तीर्थ-व्रतादि से शरीर की वृत्तियों पर अंकुश रखता है, किन्तु इनमें से कोई भी राम-नाम स्मरण नहीं करता। चाहे कोई कितना ही पंचाग्नि से तप करके धुएं से काला हो जाय, किन्तु राम के बिना उसे मोक्ष-प्राप्त नहीं हो सकती। सद्गुरु ने विचारपूर्वक कहा है कि राम-नाम स्मरण के मूल साधना मंत्र को ग्रहण करने से निर्भय पद की प्राप्ति होती है कबीर कहते हैं कि राम कृपा से व्यक्ति जरा मरण के भय से विमुक्त हो जाता है।

सब मदिमाते कोई न जाग,
ताथैं संग ही चोर घर मुसन लाग ॥टेक॥
पंडित माते पढि पुरांन, जोगी माते धरि धियांन।
संन्यासी माते अहंमेव तपा जु माते तप कै भेव ॥
जागे सुक उधव अक्रूर, हणवंत जागै लैं लंगूर।
संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नांमां जैदेव ॥
ए अभिमांन सब मन के कांम, ए अभिमांन नहीं रहौ ठांम।
आतमां राम कौ मन बिश्रांम, कहि कबीर भजि रांम नांम ॥३८७॥

शब्दार्थ—मुसन लाग=चुराने लगे, नष्ट करने लगे।

समस्त सागर मदान्ध हो अज्ञानावस्था में पड़ा है, कोई भी ज्ञान लाभ कर सचेत नहीं होता, इसलिए काम, क्रोध आदि विकार इस जगत् में प्राप्त दुर्लभ मनुष्य जीवन को नष्ट कर रहे हैं। पंडित मदमस्त हुआ धर्मग्रन्थों के पढ़ने में संलग्न है तो योगी ध्यानावस्थित होने में ही मस्त हो रहा है। संन्यासी अपने अहं दर्पण में चूर है तो तपस्वी तपस्या के कारण अपने को अद्वितीय मानता है। जो लोग ज्ञान प्राप्त कर सचेत हो गये वे थे शुकदेव, उद्धव एवं अक्रूर तथा हनुमान् और अन्य और थे। शिव भी सावधान हो प्रभु-चरणों की सेवा करने लगे एवं कलियुग में नामदेव और जयदेव नामक संत जागे थे। अहं आदि विकार सब मन के ही कारण हैं, इस अहंदर्प से सुरक्षित नहीं रहा जा सकता। जिसकी आत्मा में राम रमे हुए होते हैं उसका मन निश्चित और शान्त रहता है। इसलिए कबीर कहते हैं कि राम नाम का स्मरण करो।

चलि चलि रे भवरा कवल पास, भवरी बोलै अति उदास ॥टेक॥
तैं अनेक पुहप कौ लियौ भोग, सुख न भयौ तब बढ़्यौ है रोग।
हौं ज कहत तोसूं बार बार, मैं सब बन सोध्यौ डार डार ॥
दिनां चारि के सुरंग फूल, तिनहि देखि कहा रह्यो है भूल।
या बनासपती मैं लागैगी आगि, तब तू जैहौ कहां भागि ॥

पहुप पुरांने भये सूक, तब भवरहि लागी अधिक भूख।
उड़्यौ न जाइ बल गयौ है छूटि, तब भवरी रूंनी सीस कूटि ॥
दह दिसि जोवै मधुप राइ, तव भवरी ले चली सिर चढ़ाइ।
कहै कबीर मन कौ सुभाव, रांम भगति बिन जम कौ डाव ॥३८८॥

शब्दार्थ—सूक=सूखना। रूंनी=पश्चात्ताप करना। डाव=भय।

हे मन रूपी भ्रमर! तू प्रभु रूप कमल के पास चल, तेरे इस चांचल्य से आत्मा बड़ी उदास हो गई है। तूने अनेक सुमनों का रसपान किया है किन्तु जब उन से तुझे आनन्द प्राप्ति न हुई तो तुझे अपना भ्रम ज्ञात हुआ और दुःख की अनुभूति हुई। मैं (कबीर) तुझसे वारम्वार कहता हूँ कि मैंने समस्त वन प्रान्तर खोज खोज कर देख लिया कि यहाँ के सुमनों कासौन्दर्य क्षणिक है, इस अस्थिर सौन्दर्य में ग्रसित मत हो। जब इस संसार वन की माया, विषय वासनापूर्ण सम्पत्ति में आग लगेगी तो मन तू कहां भाग कर शरण लेगा? समय वात से सूख कर जब आकर्षण रूपी पुष्प सूख गये हैं, तव मन रूपी भ्रमर की भूख और भी अधिक बढ़ गई, किन्तु अब तो उसका शरीर इतना क्षीण और जराक्रान्त हो गया है कि उससे उड़ा तक नहीं जाता ऐसी विषमावस्था में आत्मारूपी भ्रमरी पश्चात्ताप ही करके रह जाती है। वह समस्त दिशाओं में प्रभु को खोजती है और मन रूपी भ्रमर को भी उस परमतत्व के समीप ले जाती है। कबीर अपनी मनोदशा का वर्णन करते कहते हैं कि राम भक्ति के अभाव में काल का भय वना हुआ है।

विशेष—सांग रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार।

आवध रांम सबै करम करिहूं,
सहज समाधि न जम थैं डरिहूं ॥टेक॥
कुभरा ह्वै करि वासन घरिहूं, धोबी ह्वै मल धोऊं।
चमरा ह्वै करि रंगौं अघौरी, जाति पांति कुल खोऊं ॥
तेली ह्वै तन कोल्हू करिहौं, पाप पुंनि दोऊ पीरौं।
पंच बैल जब सूध चलाऊं, राम जेवरिया जोरूं ॥
छत्री ह्वै करि खड़ग संभालूं, जोग जुगति दोउ साधूं।
नऊवा ह्वै करि मन कूं मूंडूं, बाढ़ी ह्वै कर्म बाढ़ूं ॥
अवधू ह्वै करि यहु तन धूतो, बधिक ह्वै मन मारूं।
बनिजारा ह्वै तत कूं बनिजूं, जुवारी ह्वै जम हारूं ॥
तत करि नवका मन करि खेवट, रसना करऊं बाडाऊं।
कहि कबीर भौसागर तिरिहूं, आप तिरूं बप तारू ॥३८९॥

शब्दार्थ—कुभरा=कुम्हार। पंच बैल=पांचों इन्द्रियां। बप तारूं=और लोगों को भी पार कर दूंगा।

हे प्रभु मैं कर्म करता हुआ सहज समाधि लगाऊंगा और काल से भी भय-भीत नहीं होऊंगा। मैं कुम्हार बन कर कर्म रूपी भाजनों में सुघड़ता लाऊंगा एवं धोवी बनकर धोवी के समान पाप-मल धोऊंगा। जाति-पांति का विचार किये बिना

मैं चमार बनकर कर्म के चमड़े को रंग सुन्दर रूप दूंगा। तेली बनकर कोल्हू में पाप-पुण्य को पेल दूंगा और समभाव उत्पन्न करूँगा। भक्ति की रज्जु का आश्रय लेकर में इन्द्रियों के पांच बैलों को नियंत्रण में रख सन्मार्ग पर चलाऊंगा। राजपूत होकर मैं तलवार पकड़ूंगा और योग-युक्ति की साधन करूँगा। नाई बनकर कर्मों की काट-छांट करूँगा। अवधूत बनकर योग साधना द्वारा इस शरीर को कष्ट-साधन योग्य बना दूँगा और वधिक बनकर मन को मार दूँगा। बनजारा बनकर मैं परम तत्व का व्यापार करूँगा और जुवारी बनकर यम के भय को दाव पर हार जाऊंगा। कबीर कहते हैं कि इस भाँति मैं संसार समुद्र से पार उतर कर स्वयं भी मुक्त होऊंगा और अन्यों को भी मोक्ष प्राप्त करा दूंगा।

विशेष—१. यहां कबीर की विचारधारा से प्रकट होता है कि उनकी मान्यता थी कि चाहे कोई किसी भी सामाजिक स्थित में हो उसे ईश्वर-साधना एवं भक्ति का पूर्ण अवसर और अधिकार है। इसीलिए इन्होंने यहां सामाजिक दृष्टि से निम्न से निम्नतम व्यक्तियों के कार्यों का सम्बन्ध भक्ति से जोड़ा है।

२. इस दृष्टि से हम कबीर को 'श्रम का समर्थक' प्रथम कवि भी कह सकते हैं।

राग माली गौड़ी

पंडिता मन रंजिता, भगति हेत ल्यौ लाइ रे।
प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर, और कारण जाइ रे ॥टेक॥
दांम छै पणि कांम नांहीं, ग्यांनं छै पणि धंध रे।
श्रवण छै पणि सुरति नांहीं, नैन छै पणि अंध रे ॥
जाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गंग तरंग रे।
कहै कबीर हरि भगति बांछूं, जगत गुर गोव्यंद रे ॥३९०॥

शब्दार्थ—रंजित=अनुरक्त। दांम=धन, सांसारिक सम्पत्ति।

पण्डित जनों का मन प्रभु-प्रेम में अनुरक्त है, इसलिए हे मनुष्य! तुम भी अन्य कार्य-कलापों को त्याग कर ईश्वर भक्ति करो। धन के होते हुए कोई काम नहीं रुकता और ज्ञान के होते हुए कोई संसार प्रपंच में आबद्ध नहीं रहता। ज्ञान के श्रवण मात्र से किसी को ईश्वर अनुरक्ति नहीं हो जाती। इसलिए नेत्रों के होते हुए अन्धे नहीं बनना चाहिए। इसलिए उसका ध्यान श्रेयस्कर है जिसकी नाभि से कमल पर ब्रह्म की उत्पत्ति और चरण नख से गंगा की उत्पत्ति हुई है। कबीर कहते हैं कि प्रभु भक्ति ही श्रेयस्कर है, गोविन्द संसार के गुरु है।

बिष्णु ध्यांन सनान करि रे, बाहरि अंग न धोइ रे।
साँच बिन सीझसि नहीं, कांईं ग्यांन दृष्टैं जोइ रे ॥टेक॥
जंजाल माहैं जीव राखै, सुधि नहीं सरीर रे।
अभिअंतरि भेदै नहीं, कांईं बाहरि न्हावै नीर रे ॥

निहकर्म नदी ग्यांन जल, सुंनि मंडल मांहि रे।
औधूत जोगी आतमां, कोई सेपं संजमि न्हाई रे॥
इला प्यंगुला सुषमनां, पछिम गंगा बालि रे।
कहै कबीर कुसमल झड़ें, कोई मांहि लौ अंग पखालि रे॥३९१॥

शब्दार्थ—सीझसि=दिखाई देना। निहकर्म=निष्काम। कुसुमल=अमृत। पषालि=धोना, शुद्ध करना।

कबीर कहते है कि विष्णु—ब्रह्म का ध्यान करने वाले केवल अंगों के बाह्य को ही धोने वाला स्नान नहीं करते अपितु वे तो अन्तर बाह्य की शुद्धि करने वाला स्नान करते हैं। यह परम ब्रह्म सत्याश्रय के बिना दृष्टिगत नहीं हो सकता उसके दर्शनार्थ तो ज्ञान दृष्टि वांछित है। इस जीवात्मा को प्रपंच में डाले रखा जिससे यह अपने तन की सुधि भी विस्मृत कर बैठा। अन्तरतम के कलुष को तो दूर नहीं करते और व्यर्थ बाहर शरीर पर पानी गिरा कर स्नान का नाम कर रहे हैं। निष्काम ज्ञान-सरिता तो शून्य-प्रदेश में ही प्रवाहित होती है, कोई साधक, संन्यासी, तपस्वी उसमें संयम द्वारा स्नान कर सकता है। इड़ा पिंगला और सुषुम्णा के समन्वय से कुण्डलिनी के विस्फोट द्वारा अमृत का स्रवण होता है, कोई चाहे तो उसमें अपने अंगों को धोकर निष्कलुष बना सकता है।

भजि नारदादि सुकादि वंदित, चरन पंकज भांमिनीं।
भजि भजिसि भूषन पियो मनोहर, देव देव सिरोवनीं॥टेक॥
बुधि नाभि चन्दन चरचिता, तन रिदा मंदिर भीतरा।
रमि राजसि नैंन बांनीं, सुजांन सुंदर सुंदरा॥
बहु पाप परवत छेदनां, भौ ताप दुरिति निवारणां।
कहै कबीर गोब्यंद भजि, परमांनंद बंदित कारणां॥३९२॥

शब्दार्थ—सिरोवनीं=शिरोमणि। चरचिता=चर्चिता। रिदा=हृदय। दुरति=शीघ्र।

कबीर कहते हैं कि प्रभु के उन चरण कमलों की वन्दना नारद, शुकदेव जैसे ऋषिगण करते हैं। उन देवाधिदेव के चरणों की जो समस्त सृष्टि के आभूषण हैं वन्दना करो। हृदय मन्दिर के भीतर चन्दन-चर्चित बुद्धि कमल पर अत्यन्त सुन्दर नेत्र एवं वाणी वाले प्रभु राम उपस्थित हैं। वे उनके पाप-पर्वतों के विदारण करने वाले तथा सांसारिक-तापों का शीघ्र परिशमन करने वाले हैं। कबीर कहते हैं कि उस परम ब्रह्म की वन्दना करो।

विशेष—अनुप्रास रूपक अलंकार।

राग कल्याण

ऐसैं मन लाइ लै रांम रसनां,
कपट भगति कीजैं कौंन गुनां॥टेक॥

ज्यूं मृग नादै बेध्यौ जाइ, प्यंड परै वाकौ ध्यान न जाइ ॥
ज्यूं जल मींन हेत करि जांनि, प्रान तजै बिसरै नहीं बांनि ।
भ्रिंगी कीट रहै ल्यौ लाइ, ह्वै लै लीन भ्रिंग ह्वै जाइ ॥
रांम नांम निज अमृत सार, सुमरि सुमरि जन उतरे पार ॥
कहै कबीर दासनि कौ दास,
अब नही छाडौं हरि के चरन निवास ॥३९३॥

शब्दार्थ—नादैं = संगीत के कारण । हेत = प्रेम । भ्रिंगी = भृंगी, एक प्रकार का कीड़ा ।

हे मन ! राम रस में अपनी वृत्ति रमा, कपट-व्यवहार करने से क्या लाभ ? जिस भाँति मृग स्वर लहरी पर अनुरक्त हुआ ही मारा जाता है और शरीर पर उसका ध्यान नहीं रहता तथा जिस प्रकार जल से प्रेम करती हुई मछली सरोवर का जल सूख जाने पर भी प्राणों का मोह त्याग कर जल का साथ नहीं छोड़तीं, इसी प्रकार मनुष्य विषय-वासना में लगा हुआ है । यदि वह भृंगी कीट के समान ईश्वर से अनन्य प्रेम सम्बन्ध स्थापित कर ले तो वह तदरूप हो जाएगा । राम-नाम तो साक्षात् अमृतस्वरूप है जिसका स्मरण करने से भक्त-जन संसार से मुक्त हो गये । प्रभु दासानुदास कबीर कहते हैं कि अब मैं ईश्वर के चरणों से अपना मन नहीं हटाऊँगा ।

विशेष—उपमा अलंकार ।

राग सारंग

यहु ठग ठगत सकल जग डोलै,
गवन करै तब मुषह न बोलै ॥टेक॥
तूं मेरौ पुरिषा हौं तेरी नारी, तुम्ह चलतैं पाथर थैं भारी ॥
बालपनां के मींत हमारे, हमहि लाडि कत चले हो निनारे ।
हम सूं प्रीति न करि री बौरी, तुम्हसे केते लागे ढौरी ॥
हम काहू संगि गये न आये, तुम्ह से गढ हम बहुत बसाये ।
माटी की देही पवन सरीरा, ता ठग सूं जन डरै कबीरा ॥३९४॥

शब्दार्थ—मुपह = मुख से । पुरिषा = पुरुष, पति । निवारे = पृथक, अकेला ।

यह माया रूपी ठग समस्त संसार को ठगता फिर रहा है, इसकी गति सर्वत्र है किन्तु यह मुख से कोई भी शब्द नहीं बोलता अर्थात् चुपचाप ही व्यक्ति के नाश में संलग्न रहता है । किन्तु हे प्रभु ! मैं आपकी प्रियतमा और आप मेरे प्रिय हैं, आपकी चाल पत्थर से भी अधिक भारी है, गम्भीर है । आप हमारे बाल्यावस्था से ही मित्र हो (आत्मा और परमात्मा प्रारम्भ में एक थे) अब हमें अकेला छोड़कर कहां जा रहे हो ? हे पागल माया ! तू मुझसे प्रेम करने का प्रयास मत करना, क्योंकि मैंने न जाने तुम जैसों (अनेक आकर्षणों) कितनों को दुत्कार दिया है । न तो किसी के साथ

गये हैं और न किसी के साथ आये हैं, तुम जैसे कितनों को ही हमने उनके घर पहुंचा दिया है। मेरा शरीर मिट्टी का (पंचतत्व का) है जिसमें प्राणवायु, आत्मा का निवास है, इसीलिए मायारूपी ठग से मैं भयभीत हूँ।

घनि सो घरी महूरत्य दिनां,
जब ग्रिह आये हरि के जनां ॥टेक॥
दरसन देखत यहु फल भया, नैंनां पटल दूरि ह्वै गया।
सब्द सुनत संसा सब छूटा, श्रवन कपाट बजर था तूटा॥
परसत घाट फेरि करि घड़्या, काया कर्म सकल झड़ि पड़्या।
कहै कबीर संत भल भाया, सकल सिरोमनि घट मैं पाया ॥३९५॥

शब्दार्थ—महूरत्य=मुहुर्त। संसा=संशय। बजर वज्र, दृढ़।

वह मुहूर्त, घड़ी तथा दिवस धन्य है जिस दिन मेरे द्वार पर हरि भक्त आये थे। उनके दर्शन का यह परिणाम, पुष्प-फल है कि मेरा अज्ञान दूर हो गया। उनके उपदेश-वचन सुनते ही समस्त संशय विदूरित हो गये एवं श्रवणों का सद्वचनों के न सुनने का नियम भी टूट गया। उनके चरणों का स्पर्श कर शरीर पाप-कर्मों से मुक्त हो भक्ति में लग गया। कबीर कहते हैं कि मुझे सज्जनों, साधुओं, के दर्शत का पुण्य लाभ यह हुआ कि जो समस्त सृष्टि का शिरोभूषण ब्रह्म था उसे मैंने हृदय में ही पा लिया।

राग मलार

जतन बिन मृगनि खेत उजारे।
टारे टरत नहीं निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे ॥टेक॥
अपनें अपनें रस के लोभी, करतब न्यारे न्यारे।
अभि अभिमांन बदत नहीं काहू, बहुत लोग पचि हारे॥
बुधि मेरी किरषी, गुर मेरौ बिझुका, आखिर दोइ रखवारे।
कहै कबीर अब खान न दैहूं, बरियां भली संभारे ॥३९६॥

शब्दार्थ—विडरत=भागने पर। बदत=मानना। पचि=कोशिश करके। बिझुका=डराने वाली वस्तु।

साधना के बिना विकारों के मृग इस जीवन रूपी खेत को उजाड़ रहे हैं। अहनिश प्रयत्न करने से भी वे टाले नहीं टलते, भगाने का प्रयत्न करने पर भी नहीं भागते। वे अपनी-अपनी रुचि के रसों में संलिप्त हैं और उसी के लिए विविध भाँति के कर्मों का तानाबाना बुनते हैं। वे मनुष्य को अत्यभिमानी बना देते हैं, बहुत से लोग समझाकर हार गये, किंतु फिर भी ये इस कुपन्थ का परित्याग नहीं करते। इस जीवन अथवा भक्त रूपी क्षेत्र के दो ही रखवाले हैं मेरी बुद्धि जो खेत में खड़े किये गए पुतलों का काम करती है और मेरा गुरु जिससे निकलने वाले 'राम' नाम के दो अक्षर ही मेरे सम्बल हैं। कबीर कहते हैं कि विकारों के मृग को अब इस खेती को नहीं दूंगा, अब की बार मैंने अपनी [illegible] का पूर्ण सम्भार कर लिया है।

विशेष—सांगरूपक अलंकार ।

हरि गुन सुमरि रे नर प्रांणी ।
जतन करत पतन ह्वै जैहै, भावैं जांणम जांणीं ।।टेक।।
छीलर नीर रहै धूं कैसें, को सुपिनै सच पावै ।
सूकति पांन परत तरवर थैं, उलटि न तरवरि आवै ।।
जल थल जीव डहके इन माया, कोई जन उबर न पावै ।
रांम अधार कहत हैं जुगि जुगि, दास कबीर गावै ।।३९७।।

शब्दार्थ—जांणम जांणी=आवागमन । सच=सुख । डहके=बहकाना ।

हे मनुष्य ! प्रभु का गुणों का स्मरण कर, क्योंकि प्रयत्न करते हुए भी मनुष्य का विनाश हो जाता है और वह आवागमन से विमुक्त नहीं होता । जल के बिना वृक्ष कैसे हरा भरा रह सकता है और स्वप्न में प्राप्त ऐश्वर्य के द्वारा कोई सुख लाभ कैसे कर सकता हैं ? पानी के सूखते ही पेड़ के पत्र गिरने प्रारम्भ हो जाते हैं, वह सूख जाता है, पुनः पल्लवित हो हरीतिमा का सुख लाभ नहीं कर पाता । जल थल—प्रत्येक स्थान पर माया ने जीवों को बहकाया है, इससे कोई भी बच नहीं पाया है । कबीर कहते हैं कि इससे बचने का एकमात्र आधार राम-नाम ही है जो युग-युग तक को इससे मुक्ति दिला देता है ।

राग धनाश्री

जपि जपि रे जीयरा गोब्यंदो, हित चित परमांनंदो रे ।
बिरही जन कौ बाल हौ, सब सुख आंनदकंदो रे ।।टेक।।
धन धन झीखत धन गयौ, सो धन मिल्यौ न आये रे ।
ज्यूं बन फूली मालती, जन्म अबिरथा जाये रे ।।
प्रांणीं प्रीति न कीजिए, इहि झूठे संसारी रे ।
धूंवां केरा धौलहर, जात न लागै बारो रे ।।
माटी केरा पूतला, काहे गरब कराये रे ।
दिवस चारि कौ पेखनं, फिरि माटी मिलि जाये रे ।।
कामीं रांम न भावई, भावैं विषै बिकारो रे ।
लोह नाव पाहन भरी, बूडत नाँहीं बारो रे ।।
नां मन मूवा न मरि सक्या, नां हरि भजि उतर्‌या पारो रे ।
कबीरा कंचन गहि रह्यौ, काच गहै संसारो रे ।।३९९।।

शब्दार्थ—अबिरथा=व्यर्थ, वृथा । धौलहर=महल । बारो=देरी । दिवस चारि कौ=थोड़े समय का । पाहन=पत्थर । कंचन=सोना । कांच=शीशा, तुच्छ पदार्थ ।

हे मन ! तू हृदय को अमित आनंद प्रदान करने वाले प्रभु नाम का स्मरण कर । समस्त सुखों की खान वे प्रभु अपने भक्तों के एकमात्र आधार है । सांसारिक धन

के संचय में ही परमात्मा रूपी अमूल्य धन खो दिया जो पुनः कभी भी नहीं मिल सकता। जिस भाँति वन में फूली मालती का जन्म वृथा ही वीत जाता है, वहां कोई रसपान करने वाला भौंरा नहीं होता, उसी भाँति संसार से प्रीति-सम्बन्ध बनाना अच्छा नहीं, क्योंकि जगत् मिथ्या है। यह संसार तो धुएँ के महल सदृश है जिसके नष्ट होते देर नहीं लगती। इस मिट्टी के पुतले शरीर के लिए गर्व करना व्यर्थ है। कामी पुरुष को प्रभु नाम प्रिय न होकर विषयानन्द प्रिय होते हैं। एक तो गर्व दूसरे काम-पिपासा रूपी लोहे की पत्थर भरी नाव को डूबने में समय भी नहीं लगता। न तो मन की चंचलता समाप्त हो सकी और न मृत्यु ही आई और न प्रभु-भजन कर संसार से मुक्ति का कार्य किया। कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम प्रभु स्वरूप कंचन को पकड़े रहो संसार तो विषयानन्दों के कांच को पकड़ने में ही मस्त है।

विशेष—यमक, उपमा, आदि अलंकार।

न कछु रे न कछु रांम बिनां।
सरीर धरे की रहै परंमगति, साध संगति रहनां।।टेक।।
मंदिर रचत मास दस लागे बिनसत एक छिनां।
झूठे सुख कै कारनि प्रांनीं, परपंच करत घनां।।
तात मात सुत लोग कुटंब मैं, फूल्यो फिरत बनां।
कहै कबीर रांम भजि बौरे, छाडि सकल भ्रमनां।।३९९।।

शब्दार्थ—मंदिर=शरीर। बिनसत=नष्ट होना।

कबीर कहते हैं कि हे मन! प्रभु-स्मरण के बिना इस संसार में कुछ भी नहीं है। यह शरीर यहाँ रखे का रखा ही रह जाता है, इसलिए साधु संगति का लाभ करना चाहिए। इस शरीर रूपी मन्दिर को बनाने में तो मातृगर्भ में पड़े हुए दस मास लगे किंतु नष्ट होते तो एक क्षण भी नहीं लगेगी। मिथ्या सांसारिक सुख के लिए व्यक्ति अनेक पाप कार्य करता है। एवं इसी कारण माता पिता, पुत्र परिवार आदि में प्रसन्न हुआ फिरता है। कबीर कहते हैं कि समस्त भ्रमों का परित्याग कर मन! तू प्रभु का स्मरण कर।

कहा नर गरबसि थोरी बात।
मन दस नाज, टका दस गठिया, टेढौ टेढौ जात।।टेक।।
कहा लै आयौ यहु धन कोऊ, कहा कोऊ लै जात।
दिवस चारि की है पतिसाही ज्यूं हरियल पांत।।
राजा भयौ गांव सौ पाये, टका लाख दस व्रात।
रावन हात लंक कौ छत्रपति, पल मैं गई बिहात।।
माता पिता लोक सत बनिता, अंत न चले संगात।
कहै कबीर रांम भजि बौरे, जनम अकारथ जात।।४००।।

शब्दार्थ—गरबसि=गर्व करता है। पतिसाही=बादशाहत। हरियल=हरी। अकारथ=वृथा।
बिसात=छुटना, नष्ट होना। संगात=साथ।

कबीर का कथन है कि हे मनुष्य ! तू व्यर्थ क्यों गर्व करता है ? दस छिद्रों से परिपूर्ण टके भर की इस मिट्टी की गठिया के शरीर पर दम्भ भर तुम इतरा कर चलते हो। कौन इस धन को लेकर आया है और कौन इसे अपने साथ ले जायगा ? यह तो क्षणिक, अत्यन्त अल्प समय की साहूकारी है, जिस प्रकार हरियाली कुछ ही दिन रहती है। यदि कोई राजा हो गया और अतुल धन तथा विशाल भूमि भी प्राप्त हो, गई तो उसका क्या लाभ ? क्योंकि लंकाधीश छत्रपति रावण क्षण भर में मारा गया। माता-पिता, पत्नी, पुत्र अंत समय आने पर कोई भी साथ नहीं जाता। इसीलिए कबीर कहते हैं कि हे पागल तू राम-नाम का स्मरण कर।

विशेष—उपमा, दृष्टांत आदि अलंकार।

नर पछिताहुगे अंधा।
चेति देखि नर जमपुरि जैहै, क्यूं बिसरौ गोवाव्यं ॥टेक॥
गरभ कुंडिनल जब तू बसता, उरध ध्यान ल्यौ लाया।
उरध ध्यांन मृत मंडलि आया, नरहरि नांव भुलाया ॥
बाल बिनाद छहूँ रस भीनाँ, छिन छिन मोह बियापै।
बिष अमंत पहिचांनन लागौ, पांच भांति रस चाखै ॥
तरन तेज पर त्रिय मेख जोवै, सर अपतर नहीं जांनै।
अति उदमादि महामद मातौ, पाप पुंनि न पिछाँनैं ॥
प्यंडर नस कुसुम भये धौला, सेत पलटि गई बांनीं।
गया क्रोध मन भया जु पावस, कांम पियास मंदाँनीं ॥
तूटी गाँठि दया धरम उपज्या, काया कवल कुमिलांनां।
मरती बेर बिसूरन लागौ, फिरि पीछें पछितांनां ॥
कहै कबीर सुन रे संतौ, धन माया कछू संगि न गया।
आई तलब गोपाल राइ की, धरती सैंन भया ॥४०१॥

शब्दार्थ—बियापै=व्याप्त होना। अमंत=अमृत। त्रिय=स्त्री। अपसर=कुअवसर। उदमादि=उत्पाद। प्यंडर=सफेद। पावस=वर्षाऋतु। तलब=उत्कृष्ट प्रेम।

हे अज्ञानांध मनुष्य ! सावधान हो जा, अन्यथा यमपुर जाते समय पछतायेगा, इसलिए प्रभु को विस्मृत मत कर। जब तू गर्भवास में उलटा लटका हुआ दारुण दुख भोगता था, तब प्रभु का भजन करता था, किंतु अब बाहर आने पर तू ईश्वर को विस्मृत कर बैठा। अब तो छहों रस से पूर्ण बाल-क्रीड़ाओं में आनन्दित हो कर प्रतिपल मोह बंधन में पड़ता जाता है। स्वाद की दृष्टि से अब कटु और मधुर को पहचानने लगा है, पाँच प्रकार के भोजनों का रस प्राप्त करता है। सुखशय्या पर अवसर-कुअवसर प्रत्येक समय पत्नी के साथ रति-क्रीड़ा में संलग्न रहता है। इस प्रकार मद में अन्धा पाप-पुण्य का विभेद भी भुला बैठा है, किंतु अब वृद्धावस्था आने पर वे सुन्दर केश श्वेत हो गये और वाणी भी लड़खड़ाने लगी। अब क्रोध भी चला गया है और मन

वर्षा के समान आर्द्र हो उठा है। काम-पिपासा अब मिट चुकी है। गर्व गांठ के टूट जाने पर अब दया-धर्म जैसे गुण की उद्भावना हुई है, क्योंकि शरीर रूपी कोमल पुष्प मुरझा गया है। मृत्यु समय के दुखों को स्मरण कर ले क्योंकि फिर तो पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ ही नहीं लगेगा। कबीर कहते हैं कि हे संतगण ! मनुष्य के साथ मृत्यूपरान्त धन-सम्पत्ति, माया आदि कुछ भी नहीं जाता। जब प्रभु की इच्छा होती है तो वह धरणी को ही शय्या में परिवर्तित कर देता है, मृत्यु बुला देता है।

विशेष—"गरभा·······भुलांय" से तुलना कीजिए—

"दुख में सुमरन सब करें, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमरन करै, तो दुख काहे को होय॥"

लोका मति के भोरा रे।
जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रांमहि कहा निहोरा रे॥टेक॥
तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा।
ज्यूं जल में जल पैसि न निकसै, यूं ढुरि मिल्या जुलाहा।
रांम भगति परि जाकौ हित चित, ताकौ अचिरच काहा।
गुर प्रसाद साध की संगति, जग जीतें जाइ जुलाहा॥
कहै कबीर सुनहुं रे संतौ, भ्रंमि परै जिनि कोई।
जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदै रांम सति होई॥४०२॥

शब्दार्थ—निहोरा=दया। लाहा=लाभ। ऊसर=व्यर्थ।

हे साधु ! हम तो साधारण बुद्धिधारी हैं, यह जानते हैं कि यदि यहाँ काशी करवट लेकर प्राण गंवा बैठे तो फिर प्रभु राम को किस भाँति मुँह-दिखा सकते हैं ? यदि अब पापी हैं तो तब काशी-करवट से तो हम वैसे ही पाप भागी बन जायेंगे ? इस जन्म का लाभ प्राप्त कर प्रभु-भक्ति द्वारा पाप-प्रक्षालन का प्रयत्न तो कर लेंगे। जिस प्रकार जल में जल मिल जाने पर उसी जल को पुनः अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मुझ कबीर जुलाहे के धूलि में मिल जाने पर पुनः शरीर रचना नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति को ईश्वर भक्ति में कुशलता दृष्टिगत होती हो, भला उसका अहित कैसे हो सकता है ? गुरु-उपदेश पर एवं साधु-संगति से कबीर जुलाहा समस्त संसार पर आध्यात्मिक विजय प्राप्त कर लेगा। कबीर कहते हैं कि हे सन्तो ! माया भ्रम का परित्याग कोई बिरला ही कर पाता है। यदि हृदय में राम-नाम का दृढ़ सम्बल हो तो काशी और मगहर में शरीर-त्याग समान है।

विशेष—१. "गुरु प्रसाद ·····जुलाहा" में कबीर की आत्मश्लाघा अथवा आत्माभिमान नहीं अपितु दृढ़ आत्मविश्वास ही प्रकट होता है।

२. अन्तिम चरण के द्वारा 'मगहर' के प्रति फैले साधारण विश्वास कि 'मगहर' में मृत्यु से दुर्गति होती है का खण्डन किया गया है।

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै, तेज पुंज तहाँ प्रांन उतारै ।।टेक।।
पाता पंच पहुप करि पूजा, देव निरंजन और न दूजा ।।
तनमन सीस समरपन कीन्हां, प्रगट जोति तहां आतम लींनां ।
दीपक ग्यांन सबद धुनि घंटा, परंम पुरिख तहाँ देव अनंता ।।
परम प्रकास सकल ऊजियारा, कहै कबीर मैं दास तुम्हारा ।।४०३।।

शब्दार्थ—पहुप = पुष्प । पुरिख = पुरुष, प्रभु ।

कबीर कहते हैं कि निम्नस्थ प्रकार से कथित आरती यदि समस्त संसार उतारे तो ज्योतिस्वरूप परमात्मा अवश्य दर्शन दें । पाँचों इन्द्रियों रूपी पत्तियों पर मन सुमन को रख देवाधिदेव ज्योतिस्वरूप अलख निरंजन ब्रह्म की पूजा हो । उस परम ज्योति पर तन-मन, शीश अर्पण कर आत्मा को पूर्ण लय कर दे । ज्ञानदीप एवं अनहद की घंटा ध्वनि से उस परम पुरुष सर्वोच्च देव परब्रह्म के दर्शन हों । कबीर कहते हैं कि वह ब्रह्म, परमात्मा, समस्त सृष्टि का प्रकाशक है और मैं उसका दास हूँ ।

विशेष—सांगरूपक अलंकार ।

———

रमैंणी-भाग

'रमैंणी' कबीर के ईश्वर सम्बन्धी विचारों, शरीर-रचना सम्बन्धी विचारों तथा मानवीय आत्मा का उद्धार सम्बन्धी विचारों का संकलन है।

'रमैंणी' भाग के प्रारम्भ में ही कवीर ने उस सर्वव्यापक परमात्मा के रूप को जानने का आभास दिया है। 'रमैंणी' में लिखा है कि परमात्मा की त्रिगुणात्मक सृष्टि के भेद को देवगण, गन्धर्व, ब्रह्मा और शिव भी नहीं जान सके। संन्यासीजन ऊँच-नीच का तो ध्यान करते हैं, किन्तु अविनाशी प्रभु का नहीं। 'रमैंणी' के एक पद में लिखा है कि संन्यासी तो वही है जो उन्मनावस्था की साधना करता हुआ ईश्वर का ध्यान करता है। कंबीर ने 'रमैंणी' प्रसंग में बताने की चेष्टा की है कि जिस ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है और पृथ्वी को नौ खण्डों में विभाजित किया उस परम पुरुष की माया का पार नहीं पाया जा सकता। किन्तु यहाँ उसी अलख ब्रह्म पर चित्तवृत्तियों को केन्द्रित किया गया है।

इसके अतिरिक्त 'रमैंणी' में तत्कालीन समाजगत रूढ़ियों एव धार्मिक-प्रपंचों का भी अच्छा चित्रण किया गया है। इसमें काजी, मुल्ला, संन्यासी आदि की चर्चा करते हुए लिखा है कि उस समय ढोंगी साधु, काजी, पीर आदि अधिक संख्या में मिलते थे। इसलिए कबीर को आवश्यकता पड़ी कि वे इनके वास्तविक स्वरूप का स्पष्टीकरण करें।

'रमैंणी' में समाज के तथा धर्म के ऐसी भ्रष्टाचारी पुजारियों से बचने का बड़ा ही सुन्दर मार्ग प्रदर्शित किया गया है। उसमें कबीर ने बताया है कि अपनी चितवृत्तियों को प्रभु में केन्द्रित कर इस मिथ्या संसार में भ्रम में नहीं रहना चाहिए। अतः 'रमैंणी' के इस भाव से यह ध्वनित होता है कि मनुष्य को 'ब्रह्मरूपी राम' में अपनी श्रद्धा रखकर जो अन्य किसी से प्रयोजन नहीं रखते, वे ही भक्त ईश्वर के स्वरूप को जान सकते हैं।

'रमैंणी' में जीव को कर्मजाल में फँसा रहने के कारण दोषी भी ठहराया गया है। मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण कर्मजाल में फँसकर ईश्वर को भूल जाता है और आवागमन के चक्र में पड़ जाता है। इसलिए इन प्रसंगों में मानव को संकेत दिया है कि सब जंजालों को छोड़कर ईश्वर की ही शरण में जाना चाहिए, तभी उसका कल्याण हो सकता है।

इसके अतिरिक्त 'रमैणी' में साधनात्मक बातों पर भी गम्भीर रूप से विचार किया गया है। षट्-दर्शन, विषयरस, चारों वेद, तप-तीर्थ, व्रत-पूजा, स्नानादि, यम-नियम आदि जितने भी उपक्रम हैं, उन सबको अपनाकर भी परमात्मा को खोजा नहीं जा सकता। अतः उस परमात्मा को जानने के लिए हठयोग सम्बन्धी बातों का सहारा नहीं अपितु उसी परमात्मा के चरण-कमलों को जानने का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। 'रमैणी' की परमात्मा और जीवात्मा सम्बन्धी यह व्याख्या बड़ी ही उच्चकोटि की है।

इसके अतिरिक्त 'रमैणी' में सुख-निरत, अजपा, धोती-नेति' उन्मनी आदि पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। इन पारिभाषिक शब्दों को बहुत ही सुष्ठु रूप में स्पष्ट किया गया है।

परमात्मा के रहस्यपूर्ण रूप को भी 'रमैणी' के विभिन्न उपांगों में निहित पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है। यहाँ अद्वैतवादियों की भाँति ब्रह्मस्वरूप को 'काष्ठ वह्नि-न्याय' द्वारा स्पष्ट किया गया है। जब जीवात्मा रूपी सखी अपने प्रियतम परमात्मा से मिलने चल देती है तो उनकी आत्मा आनन्द से नाचने लगती है। '.मैंणी में लिखा है कि भक्तजन आनन्दमग्न हो, उसी भाँति प्रभु का गुणगान करते हैं, जिस प्रकार कोकिल आम्र वृक्ष की शाखा पर बैठी मधुर गायन करती है।

इसके अतिरिक्त इस 'रमैणी' प्रसंगों में विभिन्न धर्मों के लोगों को भी अन्ध-विश्वासों तथा भ्रष्टाचार की बातों से दूर रहने की भी चेतावनी दी गई है मुसलमान, क्षत्रिय, भक्त हिन्दू लोग आदि सभी को उसी अव्यवत सत्ता का प्रकाश बताया गया है। वह परमात्मा कुम्भकार के सदृश है और उसने ही इस नाना रूपात्मक जगत की सृष्टि की है। संसार में जीवात्मा दो रूपों में अवतरित होती है—एक तो शिव (पुरुप) और दूसरे शक्ति (माया रूपी नारी)। ये ही दोनों रूप परमात्मा के दो चक्षु हैं। पुरुष माया रूपी नारी की घाटी को ही पार करके उस दिव्य पुरुप (पुरमात्मा) से मिल सकता है, अन्यथा नहीं। 'रमैणी' का यह विवेचन बड़ा ही सारगर्भित है।

'रमैणी' में राग सूहै, सतपदी, बड़ी अष्टपरी, दुपदी, अष्टपदी, चौपदी आदि 'रमैणी' का प्रयोग हुआ है। छंदशास्त्र के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'रमैणी' छंद का प्रयोग बहुत ही सुनियोजित तथा सुष्ठु रूप में हुआ है।

इसके अतिरिक्त 'रमैणी' में अर्थालंकारों के प्रयोग में भी एक प्रकार का वैचित्र्य निहित है। इसमें रूपक, सांगरूपक, रूपकातिशयोक्ति, निदर्शना, उपमा आदि अलंकारों का बड़ा ही मनोहारी प्रयोग हुआ है। रूपक का तो ऐसा सुन्दर प्रयोग हुआ है कि वह बरबस ही पाठक की चित्तवृत्ति को आकर्षित कर लेता है। अंतः हम कह सकते हैं कि कबीर की 'रमैणी' में भी काव्यत्व की गहराई तक पहुँचने की चेष्टा की गई है। 'रमैणी' छंद तथा अर्थालंकार का ऐसा प्रयोग अन्यत्र दुर्लभ है।

'रमैणी' में प्रयुक्त भाषा क्लिष्ट होते हुए भी मधुर तथा प्रवाहपूर्ण है। इसी से उसकी साहित्यिकता प्रमाणित होती है। इसीलिए कबीर को साहित्य के क्षेत्र में युग-सृष्टा कहा गया है।

राग सूहौ

तूं सकल गहगरा, सफ सफा दिलदार दीदार।
तेरी कुदरति किनहूँ न जानीं, पीर मुरीद काजी मुसलमांनीं ॥
देवी देव सुर नर गण गंध्रप, ब्रह्मा देव महेसर ॥१॥

शब्दार्थ—गहगरा=शक्तिमान। गंध्रप=गंधर्व। महेसर=महादेव।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! आप सर्वशक्तिमान एवं सर्वत्र परिव्याप्त हैं। तेरी इस त्रिगुणात्मक सृष्टि का भेद, तथाकथित ज्ञानियों—पीर, शिष्य, काजी और मुल्ला आदि—देवगण, गन्धर्वगण तथा अन्य जाति के मनुष्यों तथा ब्रह्मा एवं शिव को भी प्राप्त न हो सका।

विशेष—अन्तिम चरण में पुनरुक्ति दोष है।

तेरी कुदरति तिनहूँ न जांनीं ॥टेक॥
काजी सो जो काया विचारै, तेल दीप मैं बाती जारै।
तेल दीप मैं बाती रहै, जोति चीन्हि जे काजी कहै॥
मुलनां बंग देइ सुर जांनीं, आप मुसला बैठा तांनीं।
आपुन मैं जे करै नियाजा, सो मुलनां सरबत्तरि गाजा॥
सेष सहज मैं महल उठावा, चंद सूर बिचि तारी लावा।
अर्ध उर्ध विचि आंनी उतारा, सोई सेष तिहूं लोक पियारा॥
जंगम जोग बिचार जहूँवां, जीव सीव करि एकै ठऊंवा।
चित चेतनि करि पूजा लावा, तेतौ जंगम नांउं कहावा॥
जोगी भसम करै भौ मारी, सहज गहै विचार बिचारी।
अनभै घट परचा सूं बोलै, सो जोगी निहचल कदे न डोलै॥
जैन जीव का करहु उबारा, कौंण जीव का करहु उधारा।
कहां बसै चौरासी का देव, लहौ मुकति जे जांनौं भेव॥
भगता तिरण मतै संसारी, तिरण तत ते लेहु बिचारी।
प्रीति जांनि रांम जे कहै, दास नांउ सो भगता लहै॥
पंडित चारि बेद गुंण गावा, आदि अंति करि पूत कहावा।
उतपति परलै कहौ बिचारी, संसा घालौ सबै निवारी॥
अरधक उरधक ये संन्यासी, ते सब लागि रहैं अविनासी।
अजरावर कौं डिढ करि गहै, सो संन्यासी उन्मन रहै॥
जिहि घर चाल रची ब्रह्मंडा, पृथमीं मारि करी नव खंडा।
अबिगत पुरिस की गति लखी न जाइ, दास कबीर अगह रहे ल्यौ लाइ॥२॥

शब्दार्थ—चीन्हि=पहचानना। बंग=बांग। तारी=दृष्टि। भौ=सांसारिक आकर्षक। कदे=कभी भी। अगह=अगम्य प्रभु।

हे प्रभु! पीर, काली देवी, देव नर आदि लोग तेरा रहस्य न जान सके। वस्तुतः ये काजी, पीर, मुल्ला आदि भूले हैं। वास्तव में काजी तो वही है जो योग

साधनानुसार शरीर रूपी दीपक में ईश्वर की स्नेह-वर्तिका रख अलख ज्योति को पहचानने में ज्योतिस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मौलाना ईश्वर को (बहरा जानकर) बाँग देता है और स्वयं कुरान शरीफ खोलकर बैठ जाता है, चाहे उसका तत्व हृदयंगम करे अथवा नहीं और वह इसमें ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है। किन्तु वास्तव में मौलाना कहलाने का अधिकारी वही है जो स्वयं में अनहद नाद उत्पन्न कर ले जिससे उसका रोम-प्रति रोम नाम से स्पन्दित हो उठे। शेख वही है जो इड़ा-पिंगला में सुषुम्णा का समन्वय कर शून्य महल के इस स्थल को प्राप्त करता है जहाँ ज्योतिबिन्दु है, ऐसा ही शेख समस्त संसार को प्रिय लगता है। जंगम उसी को कहा जा सकता है जो लोग साधना करते हुए आत्मा और परमात्मा को एक मिलन बिन्दु पर मन साधना कर मन से अज्ञान को दूर कर उसे नियंत्रित करते हुए, मिला देता है।

अटल और दृढ़ योगी वही है जो भव-भय को नष्ट कर निर्भय हुआ समत्व स्थिति को प्राप्त करता है तथा हृदय-स्थित प्रियतम से साक्षात्कार करता है। जैन साधु हम उसी को कह सकते हैं जो जीवों का उद्धार करते हैं, आज के जैन साधु किस जीव का उपकार कर रहे हैं ? उन्हें चाहिए कि यह जानने का प्रयत्न करें कि चौरासी लाख योनियों का निर्माता ब्रह्म कहाँ रहता है, उसे जानकर ये मुक्त हो जायेंगे। 'भक्त' उसी को कहा जायेगा जो संसार के मोक्ष की चिन्ता करता हुआ मुक्ति-उपाय को बतायेगा। जो भी प्रेम-पूर्वक प्रभु का भजन करेगा उसी को सब भक्त कहेंगे। पण्डित, ज्ञानी, उसी को कह सकते हैं जो चारों वेदों में निष्णात विद्वान् हो। आधुनिक पण्डित तो उत्पत्ति और प्रलय, हानि-लाभ का ही हिसाब लगाते रहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे माया-भ्रम का नाश कर समस्त पापों, विकारों से दूर रहें।

ये संन्यासी लोग ऊँच नीच का तो विचार करते हैं किन्तु अविनाशी प्रभु का ध्यान नहीं करते। संन्यासी तो वही है जो उन्मनावस्था की साधना करता हुआ ईश्वर का दृढ़मना हो ध्यान करता है।

जिस ईश्वर ने इस सृष्टि की रचना की और पृथ्वी को नौ-खण्डों में विभाजित किया उस परम-पुरुष की गति का पार नहीं पाया जा सकता, किन्तु कबीर ने उसी अलख ब्रह्म में अपनी सम्पूर्ण चित्तवृत्तियाँ केन्द्रित कर दी हैं।

विशेष—१. कबीर यहाँ योगसाधना पर बल देते हैं।

२. कबीर ने यहाँ काजी, मुल्ला, पीर, पैगम्बर, संन्यासी, पंडित आदि का स्वरूप बताते हुए परिभाषा सी दी है जिससे स्पष्ट है कि उनके समय में ढोंगी साधु, पीर काजी आदि बहुत हो गये थे, तभी उन्हें आवश्यकता पड़ी कि वे इनके वास्तविक स्वरूप का कथन करें।

सतपदी रमैंणी

कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हा, जग भुलांन सो किनहूँ न चीन्हां।
सत रज तम थैं कीन्हीं माया, आपण मांझै आप छिपाया॥

ते तौ आहि अनंद सरूपा, गुन पल्लव बिस्तार अनूपा।
साखा तत थैं कुसम गियांनां, फल सो आछा रांम का नांमां॥
सदा अचेत चेत जीव पंखी, हरि तरवर करि बास।
झूठे जगि जिनि भूलसि जियरे, कहन सुनन की आस॥३॥

शब्दार्थ—सरल है।

जितने नाना रूपात्मक चित्र-विचित्र इस संसार की सृष्टि की, संसार के लोग उसे न पहचानते हुए माया-भ्रम में पड़े हुए हैं। उस ब्रह्म ने सत, रज, तम—त्रिगुणात्मक रूप प्रकृति से सृष्टि रचना की है और स्वयं को अपनी ही सृष्टि में इस भाँति छिपा लिया कि कोई भेद नहीं पा सकता। जिस भाँति वृक्ष में अगणित-पत्र होते हैं उसी प्रकार उस ब्रह्म के अनन्त गुण हैं और वह आनन्दस्वरूप है। उसका पूर्ण ज्ञान ही वृक्ष पर विकसित सुमन है और राम-नाम स्मरण का फल अनुपम वरदान है, ब्रह्म की प्राप्ति का सरलतम उपाय है।

कबीर कहते हैं कि हे सर्वदा अज्ञानांधकार में पड़े रहने वाले जीवात्मा प्रभु रूप अनुपम वृक्ष पर वास कर। भाव यह है कि प्रभु में अपनी चित्तवृत्तियां केन्द्रित कर तथा इस मिथ्या संसार में भ्रमरत मत रह।

विशेष—१. सांगरूपक अलंकार।

२. संसार को 'कहन सुनत की आस' कहकर जहाँ उसके क्षणभंगुर स्वरूप का कथन किया गया है, इस प्रयोग में बड़ी लाक्षणिकता आ गई है।

सूक बिरख बहु जगत उपाया, समझि न परै बिषम तेरी माया।
साखा तीनि पत्र जुग चारी, फल दोइ पाप पुंनि अधिकारी॥
स्वाद अनेक कथ्या नहीं जांहीं, किया चरित सौ इन मैं नाहीं।
तेतौ आहि निनार निरंजनां, आदि अनादि न आंन।
कहन सुनन कौं कीन्ह जग, आपै आप भुलांन॥४॥

शब्दार्थ—साखा तीनि=सत, रज और तम से मुक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति।

हे ईश्वर! तेरी अनुपम माया का भेद नहीं पाया जाता, वृक्ष रूप में आपने इस संसार की सृष्टि की है। सत, रज, तम त्रिगुणात्मक प्रकृति ही इस संसार वृक्ष की तीन शाखाएँ हैं जिन पर द्विधा के पत्र पल्लवित हैं तथा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ही इसके चार फल हैं जिसका उपयोग करने वाले पाप और पुण्य स्वरूप दो अधिकारी हैं। इन फलों के स्वाद अवर्णनीय हैं और ईश्वर ने जो लीला रची है वह सब इन स्वादों में नहीं समा सकती। इसीलिए उस अनुपम ईश्वर को खोजने का प्रयत्न करो, क्योंकि यह संसार तो भ्रम है, जिसमें पड़कर जीवात्मा स्व... विभ्रमित है।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

जिनि नटवै नटसारी साजी, जो खेलै सो दीसै बाजी।
मो बपरा थैं जोगति ढीठी, सिव बिरंचि नारद नहीं दीठी॥

आदि अंति जो लीन भये हैं, सहजैं जांनि संतोखि रहे हैं।
सहजै रांम नांम ल्यौ लाई, रांम नाम कहि भगति दिढाई ॥
रांम-नाम जाका मन मांना, तिन तौ निज सरूप पहिचांना ॥५॥

शब्दार्थ—नटवैं=नट, सृजक, ब्रह्म। नटसारी=खेल का सम्भार, सृष्टि से तात्पर्य। दीसै=दृष्टिगत होता है। बाजी=किसी किसी को ही। दिढ़ाई=दृढ़ करना।

जिस सृजक ब्रह्म ने इस सृष्टि की रचना की है वह किसी ही किसी को दृष्टिगत होता है। मैं विचारा तो किनमें हूँ, मेरी गणना कहाँ, जब शंकर और नारद जैसे ही उसका भेद न पा सके। कबीर कहते हैं कि जो सहज साधना द्वारा परमात्मा में ही रम गये हैं, जो आद्यन्त प्रभु का ध्यान करते रहते हैं और इस प्रकार राम में वे अपनी दृढ़ भक्ति रखते हैं जिनका राम के अतिरिक्त अन्य किसी से प्रयोजन ही नहीं रह जाता वे ही भक्त उस ब्रह्म के स्वरूप को पहचानते हैं।

विशेष—१. रूपकातिशयोक्ति अलंकार।
२. प्रेमाभक्ति की पुष्टि।

निज सरूप निरंजना, निराकार अपरंपार अपार।
रांम नाम ल्यौ लाइस जियरे, जिनि भूलै बिस्तार ॥
करि बिसतार जग धंधै लाया, अब काया थैं पुरिष उपाया।
जिहि जैसी मनसा तिहि तैसा भावा, ताकूं तैसा कीन्ह उपावा ॥
ते तौ माया मोह भुलांनां, खसम रांम सो किनहूँ न जांनां ॥
जिनि जांन्यां ते निरमल अंगा, नहीं जांन्यां ते भये भुजंगा ॥
ता मुखि विष आवै विष जाई, ते विष ही विष मैं रहै समाई।
मागा जगत भूत सुधि नांहीं, भ्रंमि भूले नर आवैं जाहीं ॥
जानि बूझि चेतै नहीं अंधा, करम जठर करम के फंधा ॥६॥

शब्दार्थ—खसम=स्वामी, प्रभु। भुजांग=सर्प। जठर=विकट।

उस ईश्वर का स्वरूप निराकार, अलख एवं अगम्य है, वह इन्द्रियातीत है। हे मन! तू राम-नाम में ही रमा रह, क्यों व्यर्थ माया-प्रपंच में फँसता है। अपने पापों का बोझ बढ़ा कर तू इस संसार में आ फँसा और अब इस अज्ञानमय शरीर से ब्रह्म प्राप्ति करना चाहता है, जो पूर्णरूपेण असम्भव है। जिसकी जैसी मनोभावना होती है, उसे उसी रूप में ईश्वर की परिकल्पना रुचिकर लगती है और वह अपने मनोनुकूल प्रभु प्राप्ति का उपाय करता है। किन्तु वे सब मनुष्य माया मोह में पड़े हुए हैं और प्रियतम राम को कोई भी नहीं जान सका। जिन्होंने ब्रह्म के स्वरूप को जान लिया वे तद्रूप हो गये और शेष व्यक्ति तो विषय-वासना विष से परिपूर्ण सर्प ही रहे। इन विषाक्त मनुष्यों के तो आचार-व्यवहार, कथन आदि प्रत्येक क्रिया-कलाप में विष ही विष होता है। यह संसार विषय-वासना के आनन्द में मदमस्त है और इसीलिए आवागमन के चक्र में पड़ा हुआ है। हे अज्ञानांध मनुष्य! सावधान

क्यों नहीं होता ? इस कर्म जंजाल में क्यों फँसा हुआ है ?

विशेष—रूपक अलंकार।

करंम का बाध्या जीयरा, अह निसि आवै जाइ।
मनसा देही पाइ करि, हरि बिसरै तौ फिर पीछैं पछिताइ ।।
तौ करि त्राहि चेति जा अंधा, तजि परकीरति भजि चरन गोब्यंदा।
उदर कूप तजौ ग्रभ वासा, रे जीव रांम नांम अभ्यासा ।।
जगि जीवन जैसैं लहरि तरंगा, खिन सुख कूं भूलसि वहु संगा।
भगति कौ हींन जीवन कछू नांहीं, उतपति परलै बहुरि समांहीं ।।७।।

शब्दार्थ—मनसा = मनुष्य की। ग्रभ = गर्भ।

कबीर करते हैं कि कर्म जंजाल में फँसा वह जीव अहर्निश ऐसे कुकर्मों में संलग्न रहता है कि आवागमन चक्र में ही बँधा रहता है। यदि मानव योनि पाकर भी जीवात्मा तूने प्रभु का रमरण न किया तो फिर पछताना पड़ेगा। तू प्रभु की वन्दना करता हुआ उनकी शरण में चला जा और ईश्वर के चरणों का भजन कर। तू मातृ गर्भ में पड़ा (उल्टा लटका हुआ) वहां से छूटने की प्रार्थना करता था, राम नाम के ही प्रभाव से तू उस नरक से मुक्त हो सका है। यह संसारिक जीवन जल-वीचि तुल्य क्षणिक है। क्षणिक विषयजनित आनन्द के लिए तूने साधु आत्माओं का साथ छोड़ दिया। ईश्वर भक्त का जीवन किसी भी प्रकार से हेय नहीं है। वह ब्रह्म से वियुक्त हुआ पुनः उन्हीं के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

भगति हीन अस जीवनां, जन्म मरन बहु काल।
आश्रम अनेक करसि रे जियरा, रांम बिना कोई न करै प्रतिपाल ।।
सोई उपाव करि यहु देख जाई, ए सब परहरि बिसै सगाई।
माया मोह जरै जग आगी, ता संगि जरसि कवन रस लागी ।।
त्राहि त्राहि करि हरी पुकारा, साध संगति मिलि करहु बिचारा।
रे रे जीवन नहीं बिश्रांमां, सब दुख खंडन रांम को नांमां।
रांम नांम संसार मैं सारा, रांम नांम भौ तारनहारा ।।८।।

शब्दार्थ—भौ तारनहारा = सांसारिक बंधनों से छुड़ाने वाला।

कबीर कहते हैं कि भक्ति विहीन हमारा जीवन जन्म मरण के आवागमन चक्र में बँधा रहता है। चाहे तू कितने ही आश्रमों का पालन कर ले किन्तु ईश्वर के बिना, प्रभु पर दृढ़ विश्वास के बिना तेरा कोई सहायक नहीं हो सकता। हे प्रभु ! आप ऐसी अनुकम्पा कीजिए। मेरे समस्त सांसारिक तापों का शमन हो आपसे प्रेम हो जाय। माया मोह का नाश होकर सांसारिक तृष्णा जल जाये, इस विषय वासना के साथ लगे रहने से क्या लाभ ? तू साधु संगति कर प्रभु के चरणों का गान कर उनकी शरण में जा। इस जीवन में विश्राम कहाँ, समस्त दुःखों के दूर करने वाले श्री राम ही हैं। प्रभु नाम ही संसार में एकमात्र सत्य है और वही भव समुद्र से पार उतारने वाला है।

सुम्रित वेद सबै सुनैं, नहीं आवै कृत काज।
नहीं जैसें कुंडिल बनित मुख, मुख सोभित बिन राज ।।
अब गहि रांम नांम अबिनासी, हरि तजि जिनि कतहूँ कै जासी।
जहां जाइ तहां तहां पतंगा, अब जिनि जरसि समझि बिष संगा ।।
चोखा रांम नांम मनि लीन्हां, भ्रिंगी कीट भ्यंन नहीं कीन्हां।
भौसागर अति वार न पारा, ता तिरबे का करहु बिचारा ।।
मनि भावै अति लहरि विकारा, नहीं गमि सूझै वार न पारा।
भौसागर अथाह जल, तामैं बोहिथ रांम अधार।
कहै कबीर हम हरि सरन, तब गोपद खुर बिस्तार ।।६।।

शब्दार्थ—सुम्रित = स्मृति। वनित = बनिता, स्त्री। बोहिथ = नौका।

स्मृति, वेद, पुराण आदि धर्म ग्रन्थों को पढ़ सुनकर भी जो उन पर आचरण नहीं करता वह उसी प्रकार है जिस प्रकार किसी स्त्री का मुख कुण्डल पहने हुए भी शोभा नहीं पाता और किसी स्त्री का मुख बिना कुण्डल के भी शोभित होता है। हे मन! अविनाशी प्रभु, राम नाम का, आश्रय ले क्योंकि उनकी शरण छोड़ फिर कहाँ शरण प्राप्त करेगा? जहाँ जहाँ भी तू जाता है वहीं माया रूपी पतंग तेरा पीछा नहीं छोड़ता, अब तो विषय वासनाओं की भयंकरता का अनुमान कर इस मायाजन्य आकर्षण का साथ छोड़ दे। यदि तू राम नाम मार्ग को अपनाले तो उसका आश्रय भृंगी नामक कीट के सदृश प्रभुरूप ही हो जायगा।

इस संसार-समुद्र का ओर-छोर नहीं है, अतः इसको पार करने की चिन्ता करो। मन को विषय-वासनाजनित आनन्द ही रुचिकर है, इसीलिए संसार-तापों से मुझे कुछ दृष्टिगत नहीं होता। इस भवसागर के अगम्य जल में पार उतरने के लिए राम-नाम ही एक नौका है। कबीर कहते हैं कि मैं तो ईश्वर की शरण में आ गया हूँ और मुझे तो संसार-सागर गौ-चरण के समान छोटा लगने लगा है।

विशेष—१. रूपक, उपमा, सांगरूपक अलंकार।

२. "भ्रिंगी कीट भ्यंन नहीं कीन्हां" में वेदान्तियों के 'भृंगी कीट न्याय' की झलक है। इस भृंगी-कीट के विषय में प्रसिद्ध है कि यह जिस सामान्य कीट को अपना शिष्य बनाता है, उसकी परिक्रमा करता हुआ, एक समय ऐसा आता है कि उसे भी तद्‌रूप कर देता है, भृंगी ही बना देता है।

बड़ी अष्टपदी रमैंणी

एक बिनांनीं रच्या बिनांन, सब अयांन जो आपै जांन।
सत रज तम थैं कीन्हीं माया, चारि खांनि बिस्तार उपाया ।।
पंच तत ले कीन्ह बंधानं, पाप पुंनि मांन अभिमांन।
अहंकार कीन्हें माया मोहू, संपति बिपति दीन्हीं सब काहू ।।
भले रे पोच अकुल कुलवंतां, गुणी निरगुणी धनं नीधनवंता।
भूख पियास अनहित हित कीन्हां, हेत मोर तोर करि लीन्हां ।।

पंच स्वाद ले कीन्हां बंधू, बंधे करम जो आहि अबंधू।
अवर जीव जंत जे आहीं, संकुट सोच बियापै ताहीं ॥१०॥

शब्दार्थ—अयांन=अज्ञान। खांनि=दिशाओं में। नीधनवंता=निर्धन।

स्रष्टा परमात्मा ने इस सृष्टि का निर्माण किया जिसके भेद के विषय में सब अज्ञानी हैं, केवल वह स्वयं ही इसका रहस्य जानता है। सत, रज, तम त्रिगुणात्मक माया की रचना कर चारों दिशाओं अर्थात् सर्वत्र, उसका प्रसार कर दिया। क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर, इन पांच तत्वों से ही पाप-पुण्य एवं मानाभिमानयुक्त शरीर की रचना की है। साथ ही अहंकार, माया, मोह आदि दुर्गुणों की सृष्टि की और प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दुख प्रदान किये। धनियों से तो निर्धन ही अच्छे जो सद्व्यवहार रखते हैं, सच्चरित्र हैं। धनिक तो भूखे प्यासे के साथ भी पैसे का लाभ प्राप्त करने की सोचता है, अतः वह स्वार्थ के लिए अपने-पराये किसी का भेद नहीं रखता। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के स्वाद से जीवात्मा को संसार बँधन में बँधना पड़ा और जो भी जीव-जन्तु हैं, उनको भी अपने निस्तार की चिन्ता समान रूप से व्यथित करती है।

निंद्या अस्तुति मांन अभिमांनां, इनि झूठे जीव हत्या गियांनां।
बहु बिधि करि संसार भुलावा, झूठे तोजगीं साच लुकावा॥

शब्दार्थ—लुकावा=छिपाना।

व्यर्थ की निन्दा, मिथ्या, प्रशंसा, मानाभिमान वृथा ही जीवात्मा के ज्ञान को नष्ट करते हैं। इनके प्रपंच में फँस जगत् भ्रम में पड़ नरकगामी होता है एवं सत्य तत्व को खो देता है।

माया मोह धन जोबनां, इनि बंधे सब लोइ।
झूठै झूठ बियापिया कबीर, अलख न लखई कोइ॥

झूठनि झूठ साच करि जांनां, झूठनि मैं सब साच लुकांनां।
धंध बंध कीन्ह बहुतेरा, क्रम बिवर्जित रहै न नेरा॥
शट दरसंन आश्रम षट कीन्हा, षट रस खाटि कांम रस लीन्हां।
चारि बेद छह सास्त्र बखानैं, बिद्या अनंत कथैं को जांनैं॥
तप तीरथ कीन्ह ब्रत पूजा, धरम नेम दांन पुंन्य दूजा।
और अगम कीन्हैं ब्यौहारा, नहीं गमि सूझै वार न पारा॥
लीला करि करि भेख फिरावा, ओट बहुत कछू कहत न आवा।
गहन ब्यंद कछू नहीं सूझै, आपन गोप भयो आगम बूझै॥
भूलि पर्यो जीव अधिक डराई, रजनीं अंध कूप ह्वै आई।
माया मोह उनवैं भरपूरी, दादुर दामिनि पवनां पूरी॥
तरपै बरिखै अखंड धारा, रैंनि भांमनीं भया अँधियारा।
तिहि बियोग तजि भये अनाथा, हरे निकुंज न पांव पंथा॥
बेद न आहि कहूं को मानैं, जानि बूझि मैं भया अयानैं।

नट बहु रूप खेलै सब जांनैं, कला केर गुन ठाकुर मांनैं ।।
ओ खेलै सब ही घट मांही, दूसर कै लेखै कछु नाहीं ।
जाके गुन सोई पैं जांनैं, और को जांनैं पार अमानैं ।।
भले रे पोच औसर जब आवा, करि सनमांन पूरि जम पावा ।
दांन पुन्य हम दिहूँ निरासा, कब तक रहूँ नटरंभ काछा ।।
फिरत फिरत सब चरन तुरांनैं, हरि चरित अगम कथै को जांनैं ।
गण गंध्रप मुनि अंत न पावा, रह्यो अलख जग धंधै लावा ।।
इहि बाजी सिव बिरंचि भुलांनां, और बपुरा को क्यंचित जांनां ।
त्राहि त्राहि हम कीन्ह पुकारा, राखि राखि साइं इहि बारा ।
कोटि ब्रह्मंड गहि दीन्ह फिराई, फल कर कीट जनम बहुताई ।।
इस्वर जोग खरा जब लीन्हां, टर्‌यो ध्यांन तप खंड न कीन्हां ।
सिध साधिक उनथैं कहु कोई, मन चित अस्थिर कहु कैसें होई ।।
लीला अगम कथै को पारा, बसहु समींप कि रहौ निनारा ।
खग खोज पीछैं नहीं, तूं तत अपरंपार ।
बिन परचै का जांनियैं, सब झूठैं अहंकार ।।११।।

शब्दार्थ—लोइ=लोगं । वियापिया=व्याप्त होना । क्रम=कर्म । नेरा=समीप । बिवोग=वियोग । नुरावैं=तुड़ाना, पूरी तरह थक जाना । बिरंहि=ब्रह्मा ।

माया, मोह, धन, यौवनादि के दर्प में समस्त जगत् पड़ा हुआ है । ये नश्वर, क्षणिक शरीरधारी मिथ्या सुखों में पड़ गये हैं किन्तु अलख-निरंजन परमात्मा को कोई नहीं पहचानता । चाहे कितने ही उपक्रम कर उस ईश्वर को प्राप्त करने का उपाय किया जाय, किन्तु वह तो कर्म-गति से परे है । षट दर्शन, छः आश्रम (जबकि आश्रम चार होते हैं), षट रस, विषय रस, चारों वेद, छहों शास्त्र तथा अनन्त विद्याओं, जिनका कथन असम्भव है, तप-तीर्थ, व्रत, पूजा, स्नानादि तथा अन्य धार्मिक नियम, पूजा, दानादि के जितने भी उपक्रम हैं, ये सब उस अगम्य परमात्मा को खोजने में असमर्थ हैं इनके द्वारा उसका कुछ भी रहस्य प्राप्त नहीं किया जा सकता । वह ईश्वर छिपकर अनेक लीलाएँ कर मनुष्य को नाना-योनियों में भ्रमित रखता है । उस अगम्य ईश्वर की गति का पार पाना असम्भव है, स्वयं अदृश्य बन धर्म-ग्रंथों से अपना स्वरूप स्पष्ट कराते हैं । जीवात्मा इस संसार रूप अज्ञान रात्रि में पड़ा हुआ भयभीत रहता है—संसार वास की रात्रि भी बड़ी भयानक है,माया-मोहके जन्तुओं तथा विकारों के दादुर-शेर एवं आकर्षणों की चपला सम-चमक और बीहड़ वायु के झंझावातों ने इसे और अधिक भयानक बना दिया है । तापों और विपत्तियों की अगणित और मूसला-धार वर्षा हो रही है, जिससे रात्रि की भयानकता बढ़ रही है हम—जीवात्मा—उस परम परमात्मा के वियोग में अनाथ हैं, खोज के लिए चलने पर वर्षामय अन्य बाधाओं को लिए हुए अंधियारी रात्रि में बीहड़ वन के मार्ग पर भटक गये हैं । वेद वर्णित ज्ञानानुसार आचरण कोई नहीं करता, इसलिए जानते हुए भी अज्ञानी ही रहते हैं । वह

ब्रह्म इस सृष्टि में नट के समान नाना लीलाएँ, क्रीड़ाएँ करता रहता है किन्तु वह इन खेलों अथवा लीलाओं को करता दृष्टिगत नहीं होता अपितु वह हृदयस्थ रहता हुआ ही यह सब कर लेता है। वस्तुतः जिसका कार्य होता है, वही तो उसके सम्पूर्ण भेदों से अवगत रहता है, अतः ईश्वर की महिमा भी ईश्वर स्वयं ही जान सकता है। अब तो हम उस अवसर की प्रतीक्षा में हैं जब यमराज पंचभूत की इस रचना, शरीर को लेने आयेगा। दान-पुण्य आदि में भी हमें निराशा ही निराशा दृष्टिगत होती है। इन झूठे विधि-विधानों में घूमने से, पैर तुड़ाने से क्या लाभ, प्रभु की अनन्त लीलाओं का कथन शास्त्र ग्रन्थ भी नहीं कर पाये। गण, गन्धर्व, ऋषि आदि कोई भी उस ईश्वर का भेद नहीं पा सका। जब उस ब्रह्म का स्वरूप चिंतन करते हुए स्वयं ब्रह्मा भ्रम में पड़ गया तो फिर भला मुझ मूर्ख की तो गणना ही क्या? अब मैं 'त्राहि माम् त्राहि माम्' कर रक्षा की दुहाई दे रहा हूँ। हे प्रभु अब की बार मुझे शरण में रख लो। करोड़ों ब्रह्माण्ड में मैं चौरासी लक्ष योनियों में भटक घूम आया हूँ, अतः अब मेरी रक्षा करो। प्रभु जब जिस भक्त को श्रेष्ठ समझ अंगीकार करते हैं तब उसके लिए समाधि, तपस्या आदि की आवश्यकता नहीं होती। संसार-ग्रस्त जीवों से यह कौन कहे कि चित्त की स्थिरता से भी उनकी प्राप्ति होती है। उस ईश्वर की अगम्य, अपार लीलाओं का कथन कहां तक किया ज़ा सकता है, उसके बिल्कुल सन्निकट ही रहना चाहिए दूर रहने से क्या लाभ?

कबीर कहते हैं कि हे मन! प्रभु की खोज में तू पीछे मत रह, बिना उससे साक्षात्कार के कुछ भी नहीं जाना जाता और तथाकथित ज्ञान तो अहं दर्प मात्र होता है।

अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई।
सुंनि असथूल रूप नहीं रेखा, द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा॥
बरन अबरन कथ्यौ नहीं जाई, सकल अतीत घट रह्यौ समाई।
आदि अंत ताहि नहीं मधे, कथ्यौ न जाई आहि अकथे॥
अपरंपार उपज नहीं बिनसै, जुगति न जांनियें कथिये कैसें।
जस कथिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोइ।
कहत सुनत सुख उपजै, अरु परमारथ होइ॥१२॥

शब्दार्थ—असथूल = सूक्ष्म, निराकार। पेखा = देखा। अतीत = अगम्य से तात्पर्य है। मधे = मध्य।

वह ब्रह्म निराकार, निर्भय एवं इन्द्रियातीत हैं। वह शून्य स्वरूप, सूक्ष्म, रूप रेखा विहीन है, तथा उसका रूप नेत्रगोचर नहीं हो सकता। उसके वर्ण एवं स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। किन्तु फिर भी प्रत्येक के हृदय घट में उसका वास है। उस अवर्णनीय ब्रह्म के आदि, मध्य और अवसान किसी का भी कथन असम्भव है। उसकी महिमा वर्णनातीत है, जब उसकी प्राप्ति का उपाय ही ज्ञात नहीं तो फिर भला उसका स्वरूप कैसे स्पष्ट किया जाय। कबीर ब्रह्म के स्वरूप वर्णन में अपनी असमर्थता

प्रकट करते हुए कहते हैं कि मैं जैसा वर्णन करता हूँ, वह वैसा है ही नहीं, वह तो जिस रूप में है वैसा ही रहेगा। किंतु उसका स्वरूप अज्ञात होते हुए भी प्रभु चर्चा में आनंद प्राप्त होता है और दूसरों का भी लाभ होता है।

जांनसि नहीं कथसि अयांनां, हम निरगुन तुम्ह सरगुन जांनां।
मति करि हीं कवन गुन आंही, लालचि लागि आसिरैं रहाई ॥
गुन अरु ग्यांन दोऊ हम हींनां, जैसी कुछ बुधि विचार तस कीन्हां।
हम मसकीन कछू जुगति न आवैं, जे तुम्ह दरवौ तौ पूरि जन पावैं ॥
तुम्हारे चरन कवल मन राता, गुन निरगुन के तुम्ह निज दाता।
जहुवां प्रगटि बजावहु जैसा, जस अनभै कथिया तिनि तैसा ॥
बाजै तंत्र नाद धुनि होई, जे बजावै सो औरै कोई।
बाजी नाचै कौतिग देखा, जो नचावै सो किनहूँ न पेखा ॥
आप आप थैं जानियैं है पर नाहीं सोइ।
कबीर सुपिनै केर धन ज्यूं, जागत हाथि न होइ ॥१३॥

शब्दार्थ—मसकीन—अल्पज्ञ। राता=अनुरक्त। कौतिग=कौतुक।

उस ईश्वर को न जानते हुए भी अज्ञानी उसका स्वरूप विश्लेषण करते हैं एवं वह वस्तुतः है तो निर्गुण किन्तु उसे वताते सगुण ही हैं। हे प्रभु मैं तो बुद्धिहीन हूं, मुझमें कोई भी गुण नहीं है। सांसारिक लाभ-लालसा में पड़ा हुआ परमुखापेक्षी बना रहता हूँ। गुणों और ज्ञान से तो मैं शून्य हूं। इस भांति जो कुछ भी मेरा ज्ञान है उसके आधार पर मैं आपका स्वरूप कथन करता हूँ। मेरा मन तुम्हारे चरण कमलों में ही रम गया है एवं सगुण तथा निर्गुण रूपधारी भी आप ही हैं। मुझ अल्पज्ञ को आपकी भक्ति का अन्य कुछ उपाय नहीं दृष्टिगत होता, यदि आप दयार्द्र हों तो मेरा कल्याण सम्भव है। आप जहां जिस रूप में चाहते हो उसी रूप में प्रकट हो जाते हो एवं निस्संकोच भाव से सर्वत्र गमन करते हो। इस शरीर रूपी तन्त्री में प्राण-वायु की स्वरलहरी बज रही है जिसका वादक कोई और ही है। उसी अदृश्य से परिचालित हो यह शरीर नाना कर्मों में निरत रहता है, किंतु उस परिचालक के दर्शन किसी को नहीं होते।

सब उस ब्रह्म को अपनी-अपनी विचारधारा के अनुकूल मानते हैं, किंतु वास्तव में वह वैसा है नहीं। उसका स्वरूप कुछ-कुछ समझ में आकर भी पुनः समझ से परे उसी प्रकार हो जाता है, जिस भांति स्वप्न की वस्तु पाकर भी प्राप्त नहीं होती।

विशेष—उपमा अलंकार।

जिनि यहु सुपिनां फुर करि जांनां, और सबै दुखयादि न आंनां।
ग्यांन हीन चेतै नही सूता, मैं जाग्या विष हर भै भूता ॥
पारधी बांन रहै सर सांधें, बिषम बान मारै बिष बांधें।
काल अहेड़ी संझ सकारा, सावज ससा सकल संसारा ॥

दावानल अति जरैं बिकारा, माया मोह रोकि ले जारा ।
पवन सहाइ लोभ अति भइया, जम चरचा चहुं दिसि फिर गइया ।।
जम के चर चहुं दिसि फिर लागे, हंस पंखेरुवा अब कहां जाइबे ।
केस गहैं कर निस दिन रहई, जब धरि ऐंचे तब धरि चहई ।।
कठिन पासि कछू चलै न उपाई, जंम दुवारि सीझे सब जाई ।
सोई त्रास सुनि रांम न गावै, मृग त्रिष्णां झूठी दिन धावै ।।
मृत काल किनहूं नहीं देखा, दुख कौं सुख करि सबपो लेखा ।
सुख करि मूल न चीन्हसि अभागी, चीन्हैं बिनां रहै दुख लागी ।।
नींब काट रस नींब पियारा, यूं विष कूं अंमृत कहै संसारा ।
विष अंमृत एकै करि सांनां, जिन चीन्ह्यां तिनहीं सुख मांनां ।।
अछित राज दिन दिनहि सिराई, अंमृत परिहरि करि विष खाई ।
जांनि अजांनि जिन्है विष खावा, परे लहरि पुकारैं धावा ।
बिष के खांयें का गुनं होई, जा बेद न जांने परि सोई ।।
सुरछि मुरछि जीव जरि है आसा, कांजी अलप बहु खीर बिनासा ।
तिल सुख कारनि दुख अस मेरू, चौरासी लख लिया फेरू ।।
अलप सुख दुख आहि अमंता, मन मैंगल भूल्यौ मैमता ।
दीपक जोति रहै इक संगा, नैंन नेह मांनूं परै पतंगा ।।
सुख बिश्रांम किनहूं नहीं पावा, परहरि सांच जूठ दिन धावा ।
लालच लागे जनम सिरावा, अति काल दिन आइ तुरावा ।।
जब लग हैं यहु निज तन सोई, तब लग चेति न देखै कोई ।
जब निज चलि करि किया पयांनां, भयौं अकाज तब फिरि पछितांनां ।।

मृगत्रिष्णां दिन दिन ऐसी, अब मोहिकछू न सुहाइ ।
अनेक जतन करि टारिये, करम पासि नही जाइ ।।१४।।

शब्दार्थ—सूता=सोता हुआ, अज्ञान अवस्था में पड़ा हुआ । अहेड़ी=शिकारी । चीन्हसि=पहचानता है । परिहरि=छोड़कर । पैयंता=मस्त । सिराका=नष्ट करना । पयांनां=प्रयाण ।

किंतु जो प्रभु की इस क्षणिक प्राप्ति को ही सत्य और अपना अवलम्बन बना लेते हैं उन्हें सांसारिक ताप क्लान्त नहीं करते । ज्ञानविहीन मनुष्य सावधान नहीं होता वह तो अज्ञान अचेत पड़ा रहता है किंतु ज्ञान लाभ कर जागने पर विषय-वासना विदूरित हो सांसारिक भय नष्ट हो गया । माया-मोह का व्याध सर्वदा विषय-वासना के बाण मारता है । मृत्युरूपी आखेटक प्रति-पल (साँझ-संकारे) मनुष्य-रूपी खरगोशों का वध कर रही है । विषय-विकारों की अग्नि अहर्निश विदग्ध करती है एवं मनुष्य के माया-मोह इस विषयाग्नि को और भी प्रज्ज्वलित अग्नि को वायु और भी धधका देती है उसी प्रकार लोभ की वायु इस विषयाग्नि को प्रदीप्त कर रही है । इस विषमावस्था में जीवात्मा पड़ी हुई थी तभी उसे समस्त दिशाओं से यम-त्रास का भान

हुआ। जब चारों ओर यमदूत इस विषयाग्नि में पड़ जीवात्मा को घेर रहे हैं तो फिर भला वह किधर से विमुक्त होकर चले। वस्तुतः इस काल ने तो हमारे केश पकड़ रखे हैं, पता नहीं वह कब, कहाँ, हमें उठाकर पटक दे—

"कबीरा गर्व न कीजिए, काल गहे कर केस।
ना जानै कित मारिहै, क्या घर क्या परदेस॥"

यह भवबन्धन अत्यन्त विषम है, जहां किसी भी प्रयत्न से विमुक्त होना असम्भव हैं, क्योंकि सब एक न एक दिन अवश्य ही काल गाल में चले जाते हैं। भव-भयों से भयभीत हो प्रभु का स्मरण भी नहीं किया और सांसारिक सुख मृग-मरीचिका सदृश मिथ्या, भ्रम है। हे अभागे मनुष्य। तूने सुखस्वरूप ईश्वर को जानने का प्रयत्न नहीं किया, उसके दर्शनाभाव में ही ये सांसारिक-ताप सहन करने पड़ रहे हैं। जिस प्रकार नीम के कटु स्वाद को जानते हुए भी कोई नीम का सेवन करे, उसी प्रकार विषय-वासना जन्य आनन्द को मिथ्या, पापगर्त्त में ले जाने वाला जान-कर भी सब उसी में संलिप्त रहते हैं, इस प्रकार विष को विष जानते हुए भी अमृत कहते हैं।

वस्तुतः संसार में विष और अमृत मिले हुए हैं, किंतु जो उसमें से अमृत को ही ग्रहण करता है वही शांति-लाभ करता है। किंतु कुछ लोग समय होते हुए भी दिवस-प्रति-दिवस व्यर्थ व्यतीत करते हैं. प्रभु-भक्ति नहीं करते। इस प्रकार वे अमृत को त्याग विष को ही ग्रहण करते हैं। जो जान बूझकर विषय-वासना-विष को अपनाते हैं वे भवसागर में डूबते हैं और सहायता के लिए याचना करते हैं। चाहे विषय-वासना विष का थोड़ा ही सेवन किया जाय किंतु वह घातक ही है, वैद्य भी उसका उपचार नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो संसार-चक्र में ही पड़ा मृत्यु मुख में चला जाता है और उसके पुण्यों को अल्प पापांश उसी भाँति नष्ट कर देता है जिस भांति खटाई का अल्पांश बहुत से दूध को फाड़ने के लिए पर्याप्त है। क्षणिक विषय वासना के आनन्द के लिए मनुष्य दुख के पर्वत का भार ढोता है क्योंकि इसी पाप में उसे आवागमन चक्र में पड़ चौरासी लक्ष योनियों की यातनाएं भोगनी पड़ती हैं। इस अल्प सुख के कारण यह मदमस्त हाथी सा मन अगणित दुख उठाता है। दीप के साथ ज्योति प्रज्ज्वलित होने पर जिस भाँति शलभ प्रेम के कारण उस पर मर जाता है उसी भाँति ईश्वर-भक्ति करनी चाहिए अथवा उसी प्रकार मनुष्य विषय-वासना पर मिट जाते हैं। इस भाँति कोई भी सुख-शांति प्राप्ति नहीं करता और सत्य-तत्व परमात्मा को छोड़ सब विषय-वासना में लगे रहते हैं। लोभ-लालच के ही कारण अमूल्य मानव जीवन समाप्त हो जाता है और अन्त समय शीघ्र आ पहुँचता है। जब तक इस शरीर की कामना पूर्ति में लगे रहोगे तब तक ज्ञान-लाभ कर सावधान नहीं हुआ जा सकता। किंतु जब शरीर छूटने लगा तब प्रभु-भक्ति के लिए पश्चात्ताप करने से क्या लाभ? कोई कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, किंतु कर्मों का जंजाल समाप्त नहीं होता और मनुष्य मिथ्या मृग-मरीचिका में भटकता है।

विशेष—उदाहरण, उपमा अलंकार।

रे रे मन बुधिवंत भंडारा, आप आप ही करहु बिचारा।
कवन सयांन कौन बौंराई, किहि दुख पइये किहि दुख जाई॥
कवन हरिख कौ विष मैं जांनां, को अनहित को हित करि मांनां।
कवन सार को आहि असारां, को अनहित को आहि पियारा॥
कवन साच कवन है झूठा, कवन करू को लागे मीठा।
किहि जरियै किहि करिये अनंदा, कवन मुकति को मल के पंदा॥
रे रे मन मोहि ब्यौरि कहि, हौं तत पूछौं तोहि।
संसैं सूल सबै भई, समझाई कहि मोहि॥१५॥

शब्दार्थ—बौराई=पागल, मूर्ख। करू=कड़वा। ब्यौरि=पागल।

हे बुद्धिमान मनुष्य! तुम स्वयं ही आत्मस्थित आत्मतत्व, परम तत्व का विचार करो। तभी तुम विचार कर सकते हो कि कौन ज्ञानी है और कौन मूर्ख, किसे सुख प्राप्त है और कौन दुखी है। किसने प्रभु को गृहणीय माना और किसने इस प्रकार स्वयं अपने पैर में कुल्हाड़ी मारी है इस सब का ज्ञान परम तत्व का साक्षात्कार करने पर ही हो सकता है। कौन-सा तत्व सत्य और कौन सा भ्रम मात्र, मिथ्या है यह तभी ज्ञात हो सकता है। कौन सच्चा, कौन झूठा, कौन कडुवा और कौन मीठा, क्या घातक है एवं क्या आनन्दायक है? कौन इस भवबन्धन से मुक्ति दिला सकता है—यह समस्त विवेक परमात्मा-प्राप्ति पर ही आ सकता है। हे मन! तू मुझे व्यर्थ पागल मत बना। मैं समस्त सांसारिक भ्रमादि का परित्याग कर तुझसे परम-तत्व की चर्चा करता हूँ, तू मुझे समझाकर यह सब बता।

सुनि हंसा मैं कहूं बिचारी, त्रिजुग जोनि सबै अंधियारी।
मनिषा जन्म उतिम जो पाया, जानूं रांम तौ सयांन कहावा॥
नहीं चेतै तौ जनम गंमावा, पर्‌यौं बिहांन तब फिरि पछतावा।
सुख करि मूल भगति जौ जांनैं, और सबै दुख या बिन आंनैं॥
अमृत केवल रांम पियारा, और सबैं बिष के भण्डारा।
हरिख आंहि जो रमियैं रांमां, और सबै बिषमां के कामा॥
सार आहि संगति निरबांनां, और सबै असार करि जांनां।
अनहित आहि सकल संसारा, नित करि जांनियै राम पियारां॥
साच सोई जे थिरह रहाई, उपजै बिनसैं झूठ ह्वै जाई।
मींठा सो जो सहजैं पावा, अति कलेस थैं करू कहावा॥
नां जरिये नां कीजै मैं मेरा, तहां अनंद जहां राम निहोरा।
मुकति सोज आपा पर जांनैं, सो पद कहा जु भरमि भुलांनैं॥

प्रांननाथ जग जीवनां, दुरलभ रांन पियार ।
सुत सरीर धन प्रग्रह कबीर, जीये रे तर्वर पंख बसियार ॥१६॥

शब्दार्थ—त्रिजुग =तीनों काल । सयांन—विद्वान् । मैं मेरा=अहंकार ।

हे मुक्तात्मा, सुन इस संसार में सर्वत्र अंधकार ही अंधकार है । उत्तम मानव जीवन प्राप्त कर । यदि राम-नाम स्मरण किया तो ही चतुरता है । यदि इस जन्म में भी सावधान न हुआ गया तो फिर जीवन की संध्या में पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता । जो प्रभु-भक्ति को समस्त सुखों की प्रदाता मानते हैं उन्हें कोई भी दुःख नहीं व्यापते केवल राम-नाम ही अमृत तुल्य है अन्यसब तो विष ही विष है । जो प्रफुल्लित हो राम-नाम जपते हैं उन्हें, अन्य समस्त कार्य-कलाप वृथा ज्ञात होता है । साधु-संगति ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है—अन्य समस्त विधि विधान तो व्यर्थ हैं । संसार के अन्य सब कामों में तो अहित हैं, केवल प्रभु भक्ति में ही कल्याण है । सत्य वस्तु तो वही है जो स्थिर रहे अन्यथा अन्य सब पदार्थ तो उत्पत्ति और प्रलय के अवान्तर चक्र में पड़े हुए हैं । वही भक्ति साधना मधुर है जिसमें सुगम और स्वाभाविक गति से प्रभु-प्राप्ति हो जाय, शेष उपाय—साधनाएँ तो अग्राह्य हैं जहाँ राम नाम का ही एक मात्र आश्रय है, वहाँ न तो सांसारिक ताप है, न अहं पर निज की द्वैत भावना । आत्म तत्व को पहचानने पर मुक्ति सरल हो जाती है किंतु वह परमपद किसी को ही प्राप्त होता है, जहां समस्त भ्रम भाग जाते हैं ।

कबीर कहते हैं कि इस संसार में पुत्र, शरीर, घन आदि का मोह त्याग करके अगम्य प्रभु, जो सबका जीवनाधार है, भक्ति करनी चाहिए । जिससे इस संसार वृक्ष पर मुक्तात्मा पक्षी अपने पंख फैलाकर सुखपूर्वक रह सकें ।

विशेष—'तर्वर पंख बसिवार' यह उपमा वेदों में भी पाई जाती है ।

रे रे जीय अपना दुख न संभारा, जिंहि दुख व्याप्या सब संसारा ।
माया मोह भूले सब लोई, क्यंचित लाभ मानिक वीयौं खोई ॥
मैं मेरी करि बहुत विगुता, जननीं उदर जन्म का सूता ।
बहुतें रूप भेष बहु कीन्हां, जुरा मरन क्रोध तन खीनां ॥
ऊपजै बिनसैं जोनि फिराई, सुख कर मूल न पावैं चाही ।
दुख संताप कलेस बहु पावैं, सोन मिले जे जरत बुझावै ॥
जिहि हित जीव राखिहै भाई, सो अनहित ह्वै जाई बिलाई ।
मोर तोर करि जरै अपारा, मृग त्रिष्णां झूठी संसारा ॥
माया मोह झूठ रह्यौ लागी, का भयौ इहां का ह्वै है आगी ।
कछु कछु चेति देखि जीव अबही, मनिषा जनम न पावे कहवी ॥
सार आहि जे संग पियारा, जब चेतें तब ही उजियारा ।
त्रिजुग जानि जे आहि अचेता, मनिषा जनम भयौ चित चेता ॥
आंतमा मुरछि मुरछि जरि जाई, पिछले दुख कहतां न सिराई ।
सोई त्रास जे जांने हंसा, तो अजहूं न जींव करें संतोषा ॥

मौसार अति बार न पारा, ता तिरबे का करहूं बिचारा।
जा जल कौ आति अंति नहीं जांनियें, ताकौ डर काहे न मानियें॥
को बोहिथ को खेवट आही, जिहि तिरिये सो लीजै चाही।
समझि विचारि जीव जब देखा, यहु संसार सुपन करि लेखा॥
भई बुधि कछू ग्यान निहारा, आप आप ही किया विचारा।
आपण मैं जै रह्यौ समाई, नेडे दूरि कथ्यौ नहीं जाई॥
ताके चीन्है परचौ पांवा, भई समझि तासूं मन लावा।
भाव भगति हिर बोहिथा, सतगुरु खेवनहार।
अलप उदिक सब जांणिये, जब गोपदखुर बिस्तार॥१७॥

शब्दार्थ—लोई=लोग। जोनि=योनि। त्रास=दुख। हंसा=मन। बार=वारि, जल। बोहिथ=नौका। खेवट=मल्लाह। नेड़े=समीप।

हे जीव! तू अपने दुःख का शमन नहीं करता, तुझे ज्ञात नहीं कि इस वेदना से समस्त संसार व्यथित है। सब सांसारिक माया मोह में भूले हुए हैं और उन्होंने विषय वासना के अल्प मिथ्या लाभार्थ प्रभु रूप अमूल्य माणिक्य को खो दिया। 'अहं' और 'अयं परं, 'निजं वा' की भावना ने सगे भाइयों तक में बहुत दरार डाल दी है। अनेक योनियों में बहुत से जन्म धारण किये और फिर क्रोधादि से यह शरीर क्षीण हो गया—इस प्रकार यही जरा-मरण का चक्र चलता रहा। जन्म-मरण के इस चक्र में पड़कर भी सुख-दुख परम-पिता परमात्मा को पहचानने का प्रयत्न नहीं किया। उसकी प्राप्ति के अभाव में जीव नाना दुख-व्यथाओं से उत्पीड़ित होता रहता है। जिस उद्देश्य—मोक्ष—के लिये अनेक जन्म धारण करने पड़ते हैं वही समाप्त हो जाता है। 'मैं-तू' के इस द्वैत से मिथ्या मृगमरीचिका में संसार भटक रहा है। मोह ममता के माया-जाल में संसार पड़ा हुआ और तापों की अग्नि में विदग्ध होता रहता है। हे जीव! कुछ तो सावधान होकर संसार और अपनी दारुण दशा का विचार कर क्योंकि इससे मुक्ति का एकमात्र उपाय मानव-जीवन ही है जो पुनः प्राप्त नहीं होता है। इस बात को मानकर जो सावधान हो जाते हैं, उन्हें ज्ञान का दिव्य प्रकाश उपलब्ध होता है। जो संसार में मानव जीवन पाकर भी अचेत रहते हैं उनकी आत्मा परमात्मा से साक्षात्कार नहीं करती और न उनके विगत तथा आगत दुःखों की समाप्ति होती है। उस दुःख का ही ध्यान करके मुक्तात्मा प्रभु-भक्ति में दत्तचित्त रहते हैं और वे चाहे कितनी ही प्रभु-भक्ति करें, उनका प्रभु से प्रेम बढ़ता ही जाता है, उनकी भक्ति दृढ़ से दृढ़तर होती जाती है। इस संसार सागर के अथाह जल का कोई पार नहीं पाया जा सकता, अतः इस अगम्य सागर को पार करने का उपाय, प्रभु-भक्ति-साधना करो। जिस जल का कोई वार-पार नहीं, उससे निस्तार का प्रयत्न आवश्यक है। इस सागर से पार जाने के लिये न कोई जलयान है, न कोई नौका-हार। जो इससे तरना चाहता है उसे स्वयं ही प्रयत्न करना होगा।

जब जीवात्मा ने विचार कर विवेक बुद्धि से सोचा तो उसे यह संसार

स्वप्नवत् मिथ्या दृष्टिगत हुआ एवं इस प्रकार ज्ञान प्राप्त होने उससे अन्तर्मुखी हो आत्म-तत्व का विचार किया। वह प्रभु हृदय में ही स्थित था, उसके लिए कहीं अन्यथा भटकना नहीं पड़ा। उसके साक्षात्कार से मन उसी में रम गया।

कबीर कहते हैं कि संसार सागर से पार जाने के लिए प्रभु-भक्ति ही जलयान है तथा सद्गुरु उस पोत के खिवैया हैं। इसके द्वारा यह विशाल भवसागर थोड़े से जल का हो जाता है, वह इतना छोटा हो जाता है, जितना गौ के पद के चिन्ह जिसे बड़ी सुगमता से (बच्चा भी) पार कर सकता है।

विशेष—रूपक, उपमा, सांगरूपक आदि अलंकार।

दुपदी रमैंणी

भया दयाल बिषहर जरि जागा, गहगहान प्रेम बहु लागा।
भया अनंद जीव भये उल्हासा, मिले रांम मनि पूगी आसा ॥
मास असाढ़ रवि धरनि जरावै, जरत जरत जल आइ बुझावै।
रुति सुभाइ जिमीं सब जागी, अंमृत धार होइ झर लागी ॥
जिमीं मांहि उठी हरियाई, बिरहनि पीव मिले जन जाई।
मनिकां मनि कै भये उछाहा, कारनि कौंन बिसारी नाहा ॥
खेल तुम्हारा मरन भया मोरा, चौरासी लख कीन्हां फेरा।
सेवग सुत जे होइ अनिआई, गुन औगुन सब तुम्हि समाई ॥
अपने औगुन कहूं न पारा, इहै अभाग जे तुम्ह न संभारा।
दरबो नहीं कांइ तुम्ह नाहा, तुम्ह बिछूरै मैं बहु दुख चाहा ॥
मेघ न वरिखै जांहि धवासा, तऊ न सारंग सागर आसा।
जलहर भर्यो ताहि नहीं भावै, कै मरि जाइ कै उहै पियावै ॥
मिलहु रांम मनि पुरवहु आसा, तुम्ह बिछुर्यां मैं सकल निरासा।
मैं रनिरासो जब निध्य पाई, रांम नांम जीव जाग्या जाई ॥
नलनीं कैं ज्यूं नीर अधारा, खिन बिछुर्यां थैं रवि प्रजारा।
रांम बिनां जीव बहुत दुख पावै, मन पतंग जगि अधिक जरावै ॥
माघ मास रुति कवलि तुसारा, भयौ बसंत तब लाग संभारा।
अपनैं रंगि सब कोई राता, मधुकर बास लेहि मैंमंता ॥
बन कोकिला नाद गहगहांनां, रुति बसंत सब कै मनि मांनां।
बिरहन्य रजनीं जुग प्रति भइया, बिन पीव मिलें शलप टलि गइया ॥
आतमां चेति समझि जीव जाई, बाजी झूठ रांम निधि पाई।
भया दयाल निति बाजहिं बाजा, सहजैं रांम नांम मन राजा ॥
जरत जरत जल पाइया, सुख सागर कर मूल।
गुर प्रसादि कबीर कहि, भागी संसै सूल ॥१८॥

शब्दार्थ—पूगी=पूर्ण हुई। नाहा=नाथ स्वामी। सारंग=चातक। जलहर=सागर। पुरवहु—पूर्ण करो। तुषारा=तुषार, हिमपात सागर।

राम के दर्शन हो जाने पर मनः तुष्टि हो जीवात्मा आनन्दित हुई, ईश्वर के दयालु हो जाने पर मन में उनके प्रति गम्भीर प्रेम उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार आषाढ़ की दग्ध धारा को प्रथम मेघ आकर शीतलता प्रदान कर चतुर्दिक अमृत वर्षा द्वारा सर्वत्र हरियाली फैला शोभा प्रदान करता है, उसी भाँति युग-युग से प्रतीक्षारत विरहिणी आत्मा को प्रिय—परमात्मा—के दर्शन हो गये। अब आत्मा हृदय में अमित उल्लास लिये प्रियतम से कहने लगी, नाथ! आपने मुझे क्यों विस्मृत कर दिया था। मैं आपको खोजती-खोजती चौरासी लक्ष योनियों में भटकती रही—यह आपके लिए तो एक लीला-कौतुक मात्र था किन्तु वह मेरे लिए तो प्राणलेवा हो गया। सेवक और पुत्र से जो भी अनुचित कृत्य हो जाता है, उसके सब गुण-अवगुण, पाप-पुण्य, सब की आप ही देख-रेख करते हैं। पर अपने अवगुणों का कहां तक वर्णन करूँ, वे अपार हैं। मेरा दुर्भाग्य होगा यदि आपने मेरी रक्षा न की। हे नाथ! आप मुझ पर दयार्द्र क्यों नहीं हो रहे हैं? क्योंकि आपसे वियुक्त होकर मैं बहुत यातना भोग रही हूँ। जिस भाँति चातक स्वाति बादल के जल न बरसाने पर भी अपना प्रेम सम्बन्ध सागर से स्थापित नहीं करता, चाहे मर जाये किन्तु अन्य किसी का जल ग्रहण नहीं करता, वही दशा हमारी है। चाहे आप दया करें अथवा नहीं किन्तु आपके अतिरिक्त और किसी से प्रेम नहीं हो सकता। हे प्रभु! आप मुझे दर्शन देकर मेरी कामना पूर्ण कीजिए क्योंकि आपसे वियुक्त हो निराशा के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता। मैं रंक तभी अमित सम्पत्ति की प्राप्ति समझूंगा जब आप में मेरा मन पूर्णरूपेण रम जायेगा—

"तुम अपनायौ जानिहों जब मन घिरि परिहैं।—तुलसी

जिस भाँति नलिनी का एकमात्र अवलम्ब जल होता है, उससे पल भर भी वियुक्त होने पर असह्य सूर्यताप उसे भस्म कर देता है, वही स्थिति मेरी है। प्रभु के बिना मेरा चित्त अत्यन्त व्यथित रहता है और मन रूपी शलभ माया-दीपक पर जलता रहता है। माघ मास में जब हिमपात द्वारा कमलावलि नष्ट हो जाती है तब उसके बाद बसन्तागम पर सौन्दर्य सृष्टि का क्या लाभ? उसी भाँति मैं विरह में तो अब व्यथित हूँ यदि बाद में आपसे भी दे दिया तो उससे क्या लाभ?

"का वर्षा जब कृषी सुखाने"

और कमलों आदि की वह व्यथा बसन्तागम पर जब कोकिल अपनी सुरीली स्वर-लहरी से दिग्दिगन्त को गुञ्जित कर देती है तब तो समाप्त हो ही जाती है, किन्तु मेरी व्यथा का अन्त नहीं। प्रभु-विरह की रात्रि युग के समान व्यतीत होती है, प्रिय दर्शन को भी मानो एक कल्प ही बीत गया। जीवात्मा के सावधान होने से संसार के मिथ्या आकर्षण हट जाते हैं और राम रत्न की प्राप्ति होती है। ईश्वर के कृपालु होने पर नित्य आनन्द और उल्लास का रंग रहता है। इस प्रकार सहज-साधना से राम की प्राप्ति हो गई है।

कबीर कहते हैं कि संसार-तापों में जलते ही जलते जीवात्मा ने सुखसिन्धु

परमात्मा को प्राप्त कर लिया। इस प्रकार सद्गुरु कृपा से समस्त भ्रम विदूरित हो गये।

विशेष—सांगरूपक, रूपक, निदर्शना अलंकार आदि।

रांम नांम निज पाया सारा, अबिरथा, झूठ सकल संसारा।
हरि उतंग मैं जाति पतंगा, जंबकु केहरि कै ज्यूं संगा॥
क्यंचिति ह्वै सुपिनैं निधि पाई, नहीं सोभा कौं धरौं लुकाई।
हिरदै न समाइ जांनिये नहीं पारा, लागै लोभ न और हकारा॥
सुमिरत हूँ अपने उपमानां, क्यंचित जोग रांम मैं जांनां।
मुखां साध का जांनियै असाधा, क्यंचित जोग रांम मैं लाधा॥
कुबिज होइ अंमृत फल बंछयां, पहुँया तब मनि पूगी इंछ्या।
नियर थैं दूरि दूरि थैं नियरा, रांम चरित न जांनियैं जियरा॥
सीत थैं अगनि फुनि होई, रबि थैं ससि ससि थैं रबि सोई।
सीत थैं अगनि परजरई, जल थैं निधि निधि थैं थल करई॥
बज्र थैं तिण खिण भीतरि होई, तिण थैं कुलिस करै फुनि सोई।
गिरवर छार छार गिरि होई, अविगति मति जानैं नहीं कोई॥१९॥

शब्दार्थ—जंबुक=गीदड़। हकारा=अहंकार। कुविज=कुब्ज, अंग-भंग। परजरई=जलाना।

इस संसार में केवल राम-नाम ही सत्य है शेष तो वृथा जंजाल है। मेरा उनका साथ वैसा ही है जैसे शेर और गीदड़ का। मैंने उनके स्वरूप का साक्षात्कार अल्प समय के लिए वैसे ही किया है जैसे कोई स्वप्न में अमूल्य सम्पत्ति पा जाये। मैं उनकी वर्णनातीत शोभा को छिपाकर नहीं रख सकता। वह अपरम्पार शोभा मेरे हृदय में भी नहीं समा सकती। मैंने प्रभु के निरन्तर स्मरण से ही उन्हें थोड़ा बहुत जाना है। साधुओं के अमृत वचनों से ही मैंने राम को प्राप्त किया है। मैंने इस भाँति जब अमृत स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लिया तभी मनोकामना पूर्ण हुई। राम के चरित्र को पहचानना बड़ा दुष्कर है—जब मैं विषय-वासना के समीप था, तब वह प्रभु मुझ से दूर था किन्तु जब मैं वासना-जन्य आनन्दों से दूर रहने लगा तो वह मेरे बिल्कुल निकट हो गया। उस प्रभु की महिमा विचित्र है, वह शीतलतम वस्तु को अग्नि के समान दाहक बना दे, चन्द्र जैसे शीतल को भी दग्धकारी सूर्य और सूर्य को चन्द्र बना दे। वह शीतल वस्तु में अग्नि उत्पन्न करने के साथ ही जल को स्थल एवं स्थल को जल में परिवर्तित कर दे। वह वज्र को भी क्षणभर में तृण रूप में कर दे और तृण को शीघ्र ही पर्वताकार दे दे। पर्वतराज को भी धूलिकणों में और धूलि को भी पर्वत में परिवर्तित करना उसकी सामर्थ्य में है उस अगम्य प्रभु की महिमा का पार कोई नहीं पा सकता।

विशेष—उपमा, विरोधाभास आदि अलंकार।

जिहि दुरमति डौल्यौ संसारा, परे असूझि वार नहीं पारा।
बिख अमृत एकै करि लीन्हां, जिनि चीन्हां सुख तिहकूं हरि दीन्हां ॥
सुख दुख जिनि चीन्हां नहीं जांनां, ग्रासे काल सोग रुति मांनां।
होइ पतंग दीपक मैं परई, झूठें स्वादि लागि जीव जरई ॥
कर गहि दीपक परहि जु कूपा, यहु अचिरज हम देखि अनूपा।
ग्यांनहीन ओछी मति बाधा, मुखां साध करतूति असाधा ॥
दरसन समि कछू साध न होई, गुर समांन पूजिये सिध सोई।
भेष कहा जै बुधि बिसूधा, बिन परचै जग बूड़नि बूड़ा ॥
जदपि रवि कहिये सुर आही, झूठैं रबि लीन्हां सुर चाही।
कबहूं हुतासन होइ जरावै, कबहूं अखंड धार बरिषावै ॥
कबहूं सीत काल करि राखा, तिहूं प्रकार बहुत दुख देखा।
ताकूं सेवि मूढ़ सुख पावै, दौरे लाभ कूं मूल गवावै ॥
अछित राज दिने दिन होई, दिवस सिराइ जनम गये खोई।
मृत काल किनहूं नहीं देखा, माया मोह धन अगम अलेखा ॥
झूठै झूठ रह्यौ उरझाई, साचा अलख जग लख्या न जाई।
साचै नियरै झूठै दूरी, बिष कूं कहै संजीवनि मूरी ॥
कथ्यौ न जाइ नियरै अर दूरी, सकल अतीत रह्या घट पूरी ॥
जहां देखौं तहां रांम समांनां, तुम्ह बिन ठौर औंर नहीं आंनां।
जदपि रह्या सकल घट पूरी, भाव बिनां अभि-अंतरि दूरी ॥
लोभ पाप दोऊ जरैं निरासा, झूठै झूठि लागि रही आसा।
जहुवां ह्वै निज प्रगट बजावा, सुख संतोष तहां हम पावा ॥
नित उठि जस कीन्ह परकासा, पावक रहै जैसें काष्ठ निवासा।
बिनां जुगति कैसें मथिया जाई, काष्टै पावक रह्या समाई ॥
कष्टैं कष्ट अग्नि पर जरई, जारै दार अग्नि समि करई।
ज्यूं रांम कहे ते रांमैं होई, दुख कलेस घालै सब खोई ॥
जन्म के कलि बिष जांहि बिलाई, भरम करम का कछु न बसाई।
भरम करम दोऊ बरतैं लोई, इनका चरित न जांनैं कोई ॥
इन दोऊ संसार भुलावा, इनके लागैं ग्यांन गंवावा।
इनकौ मरम पै सोई बिचारी, सदा आनंद लै लीन मुरारी ॥
ग्यांन द्रिष्टि निज पेखै जोई इनका चरित जांनैं पै सोई ॥२०॥

शब्दार्थ—करतूति=कार्य। हुतासन=आग। नियरै=समीप। दार=लकड़ी, काष्ठ।

जो कुबुद्धिमान् इस संसार में माया-जंजाल में भटकते फिरते हैं उनके लिये भवसागर का वार-पार नहीं किन्तु जिन्होंने समत्व दृष्टि प्राप्त कर सुख-सिन्धु

परमात्मा को पहचान लिया उनका जीवन धन्य हो गया। जो सुख-दुख, सदसद्, में भेद नहीं कर पाये तो जीवन पर्यन्त दुखी रहते हुए काल-कवलित हो गए। सांसारिक व्यक्ति मिथ्या विषयानन्द के लिए मायाकर्षण में उसी भांति संलिप्त होता है जैसे शलभ दीपक पर मर मिटता है। जो स्वयं यह जानते हुए कि विषयानन्द मिथ्या एवं पाप-मूल हैं उनमें पड़ता है उसमें वैसी ही विचित्रता है जो जान-बूझकर कुएं में अपने आप गिर कर प्राण गँवाता है। ज्ञानहीन मनुष्य अपनी अल्प-बुद्धि से साधुजनों के कार्य में बाधा उपस्थित करते रहते हैं। साधु के दर्शनों के बरावर अन्य किसी में पुण्य नहीं और गुरु पूजा के सदृश अन्य कोई महत् कार्य नहीं। व्यर्थ साधु का वेष धारण करने से कुछ नहीं होता क्योंकि उससे तो अन्य वितण्डा खड़ी होती है, भक्ति साधना नहीं। ईश्वर के बिना जाने ही संसार के लोग उसके विषय में अपनी विचारधारा दूसरों को बता पाप-भागी बनते हैं क्योंकि वह सत्य पर आधृत नहीं है। वह ईश्वर इतना महान्, विचित्र, अगम्य है कि कभी तो वह सूर्य रूप में अपनी प्रचण्ड धूप से सबको दग्ध करता है तो कभी मूसलाधार वृष्टि के रूप में समस्त धरित्री को जलमग्न कर देता है एवं कभी वह शीत की प्रचण्डता दिखाता है किन्तु तीनों ऋतुओं—ग्रीष्म, वर्षा, शीत—में विविध भांति के कष्ट हैं। भाव यह है कि इतना विचित्र सुन्दर ऋतुएं बनाकर भी प्रभु ने उनमें कुछ न कुछ अभाव छोड़ दिये हैं यही तो सृष्टि की पूर्णता में भी अपूर्णता है। प्रत्येक दृष्टि से तो केवल वह प्रभु ही पूर्ण है। संसार की उलझनों में पड़े हुए ही मूर्ख लोग सुख-लाभ करते हैं और वे भूल जाते हैं कि उनके जीवन का वास्तविक प्रयोजन क्या है। इस प्रकार वे जीवन में लाभ प्राप्त करने के स्थान पर अपना पूर्व संचित पुण्यों का मूलधन भी गँवा बैठते हैं। दिन-प्रति-दिन वे सांसारिक मोह-जाल में ही पड़े रहते हैं। एवं इसी प्रकार जीवन का अन्त आ पहुँचता है। काल को कोई भी नहीं सोचता वह तो माया-मोह-ममता आदि में संलिप्त रहता है। नश्वरशरीरधारी मनुष्य मिथ्या संसार में उलझे हुए हैं एवं इस जगत् में जो सत्य तत्व परमात्मा हैं, उसको खोजने का प्रयास कोई नहीं करता। वे लोग सत्यरूप ईश्वर से तो दूर रहते हैं और विषय वासनाजन्य मिथ्या आकर्षणों में लिप्त रहते हैं एवं इस भाँति विष को ही अमृत समझने का भ्रम करते हैं। वस्तुतः उस ईश्वर को न तो अपने से पास कहा जा सकता है और न दूर ही, क्योंकि वह प्रत्येक के अन्तस्तल में विराजमान है। जहाँ देखो वहीं वह सर्वत्र व्यापी प्रभु है, उसके अस्तित्व से शून्य कोई भी स्थान नहीं है। यद्यपि वह परमात्मा समस्त मानव मात्र, प्राणीमात्र के हृदय में वर्तमान है किन्तु फिर भी वह बिना भक्ति भाव के बहुत दूर है। उसके दर्शन से लोभ, पाप आदि की मिथ्या सांसारिक कामनाएं, इच्छाएं नष्ट हो जाती हैं। जहां प्रकट रूप से उस परमात्मा का भजन-कीर्तन होता है वहीं हमारी वृत्ति रमती तथा परितुष्ट होती है। निरन्तर उठकर उसके गुणों का गान वांछनीय है, वह सर्वत्र उसी प्रकार छिपा हुआ है, जिस भाँति काष्ठ में अग्नि का वास है। किन्तु

चाहे वह काष्ठाग्नि-न्याय से सर्वत्र रम ही रहा हो किन्तु बिना भक्ति साधना के उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। साधना की काष्ठाग्नि में जल जाने पर मनुष्य अग्नि के समान ही तपकर शुद्ध हो जाता है राम-नाम कहने पर भक्त तद्रूप हो जाता है और उसके समस्त दुखों का नाश हो जाता है, किन्तु मनुष्य जन्म से ही भ्रम एवं व्यर्थ के कर्म जंजाल में ग्रसित है। सर्वत्र भ्रम और कर्म का व्यापार है— वस्तुतः इनके प्रयोग करने वाले का चरित्र जानना कठिन है, अर्थात् वह कपटी, अविश्वसनीय, निंदनीय होता है। इन्हीं दो में पड़कर संसार पथ-विभ्रान्त हो रहा है एवं अपने ज्ञान को भी नष्ट कर रहा है। इन दोनों से वही मुक्त हो सकता है जो सर्वदा आनन्दस्वरूप परमात्मा में अपनी चित्तवृत्ति केन्द्रित रखे। जो व्यक्ति ज्ञान लाभ कर आत्मतत्त्व को पहचानता है, वह ही इनके रहस्य से परिचित होता है।

विशेष—अद्वैतवादियों की भाँति ब्रह्म-स्वरूप 'काष्ठवह्नि-न्याय' द्वारा स्पष्ट किया गया है।

ज्यूं रजनीं रज देखत अंधियारी, डसै भुवंगम बिन उजियारी।
तारे अगिनन गुनहि अपारा, तऊ कछू नहीं होत अधारा॥
झूठ देखि जीव अधिक डराई, बिना भुवंगम डसी दुनियांई।
झूठै झूठै लागि रही आसा, जेठ मास जसैं कुरंग पियासा॥
इक त्रिषावत वह दिसि फिर आवैं, झूठ लागा नीर न पावै।
इक त्रिषावंत अरु जाइ जराई, झूठी आस लागि मरि जाई॥
नीझर नीर जांनि परहरिया, करम के बांधे लालच करिया।
कहै मोर कछू आहि न वाही, भरप करम दोऊ मति गवाई॥
भरम करम दोऊ मति परहरिया, झूठै नांउ साच ले धरिया।
रजनीं गत भई रवि परकासा, भरम करम धूं केर बिनासा॥
रवि प्रकास तारे गुन खींनां, आचार व्यौहार सब भये मलीनां।
बिष के दाधें बिष नहीं भावै, जरत जरत सुखसागर पावै॥२१॥

शब्दार्थ—भुवंगम=साँप। कुरंग=हिरण। नीझर=निर्झर, झरना। रवि =ज्ञान सूर्य।

जिस भाँति अंधकारमय रात्रि में प्रकाश के अभाव में भयरूपी भुजंगम डस लेता है और उस भयग्रस्त व्यक्ति की किंचित् भी सहायता अगणित नक्षत्र भी नहीं कर पाते उसी प्रकार मिथ्या संसार में व्यक्ति व्यर्थ भ्रम के भुजंग से डसा जा रहा है। मानव की दशा ज्येष्ठ मास की भीषण गर्मी में तृषावन्त व्याकुल मृग जैसी होती है। वह मृग समस्त दिशाओं में चौकड़ी भर-भर कर घूम आता है किन्तु उसे जल नहीं मिलता। एक तो वह तृषाकुल होता है, दूसरे ऊपर से भीषण गर्मी और फिर झूठी आशा से कि जल अब मिलेगा, अब मिलेगा, व्यथित होता है। पास में बसते हुए झरने के शीतल जल को वह मृग मरीचिका के सम्मुख त्याग देता है और इस भाँति

कर्मबंधन में पड़ा रहता है। यही गति मनुष्य की है वह आनन्द की खोज में व्याकुल रहता है, इसी के लिये वह सर्वत्र भटकता है। इस भटकने में ही वह आत्मस्थित आनन्द-स्वरूप परमात्मा को छोड़ देता है और विषय-जन्य आकर्षणों की मृग-मरीचिका में पड़ा रहता है। कबीर कहते हैं कि भ्रम और कर्म जंजाल ने मनुष्य का विवेक अपहृत कर लिया है। मनुष्य की अज्ञान-रात्रि समाप्ति हो जाने पर ज्ञान सूर्य का उदय हो जाता है और तब भ्रम एवं मिथ्या—व्यर्थ कर्म जंजालनष्ट हो जाता है। ज्ञान सूर्य के उदय से सांसारिक आकर्षणों के नक्षत्र विलुप्त हो जाते हैं और समस्त आचार-व्यवहार परिवर्तित हो जाता है। विष-विदग्ध मानव को फिर विषय-वासना विष अच्छा नहीं लगता, अब तो वह सुखसिन्धु शम्भु को प्राप्त कर लेता है।

विशेष—उपमा, रूपक, विभावना एवं रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार।

अनिल झूठ दिन धावै आसा, अंध दुरगंध सहै दुख त्रासा।
इक त्रिषावत दुसरै रवि तपई, दह दिसि ज्वाला चहुं दिसि जरई॥
करि सनमुखि जब ग्यांन बिचारी, सनमुखि परिया अगनि मंझारी।
गछत गछत जब आगैं आवा, बित उनमांन ढिबुवा इक पावा॥
सीतल सरीर तन रह्या समाई, तहाँ छाडि कत दाझै जाई।
यूं मन बारुनि भया हमारा, दाधा दुख कलेस संसारा॥
जरत फिरे चौरासी लेखा, सुख कर मूल किनहूं नहीं देखा।
जाकें छाड़ें भये अनाथा, भूलि परे नहीं पावै पाथा॥
अछै अभि-अंनरि नियरै दूरी, बिन चीन्ह्यां क्यूं पाइये मूरी।
जा बिन हंस बहुत दुख पावा, जरत जरत गुरि रांम मिलावा॥
मिल्या रांम रह्या सहजि समाई, खिन बिछुर्‌यां जीव उरझै जाई।
जा मिलयां तें कीजै बधाई, परमांनंद रैनि दिन गाई॥
सखी सहेली लीन्ह बुलाई, रुति परमानंद भेटियै जाई।
सखी सहेली करहि अनंदू, हित करि भेटे परमानंदू॥
चली सखी जहुंवां निज रामां, भये उछाह छाड़े सब कामां।
जानूं कि मोरै सरस बसंता, मैं बलि जांऊं तोरि भगवंता॥२२॥

शब्दार्थ—अनिल=वायु। गछत गछत=चलते चलते। दाझै=जलाना। हंस=जीव। उदार=उत्साह।

वायु भी मिथ्या आशा के वश हो दुर्गन्ध आदि दुःखों को सहन करता हुआ भटकता है। एक तो वह अपनी कामना के लिए व्याकुल, दूसरे ऊपर से सूर्य की तपन—इस भाँति सर्वत्र जलन ही जलन पाता है, किन्तु इसी भाँति भटकते-भटकते जब उसे एक गढे की प्राप्ति होती, तब वहाँ जाकर वायु भी शीतलता का अनुभव करता है और वह सोचता है कि इस शीतल स्थान को छोड़कर अन्यत्र दग्ध होने के लिये क्यों जाऊँ किन्तु फिर भी वह जाता है। इसी भाँति मनुष्य जानते हुए भी

विषयाग्नि में पड़ता है कबीर कहते हैं कि हमारा मन प्रभु प्रेम का पान कर इस प्रकार मदमस्त हो गया है कि उसके समस्त सांसारिक दुःख समाप्त हो गये हैं। अन्य मनुष्य व्यर्थ चौरासी लाख योनियों में भटक व्यथा भोगते फिरे, उन्होंने सुख स्वरूप परमात्मा को जानने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने उसी परमात्मा को छोड़ दिया जिसको छोड़ कर सब अनाथ बन जाते हैं एवं कभी भी उचित पथ नहीं पाते। वह हृदयस्थ होते हुए भी दूर और पास हो जाता है बिना उसे जाने हुए भला मूलधन को कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

जिस ईश्वर के वियोग में आत्मा आकुल-व्याकुल थी, उसी से सद्गुरु ने साधक को मिला दिया। राम-दर्शन होते ही क्षण भर में जीवात्मा उसी में रम गया, तद्रूप हो गया। उसके मिलन पर सब को आनन्दित होना चाहिए। उस मुक्तात्मा ने इस पथ पर अन्य सखी आत्माओं को भी प्रेरित किया जिससे प्रभु प्रेम उनमें भी जागृत हुआ। वे सखी आत्माएँ समस्त सांसारिक कार्यों को छोड़ कर प्रभु-प्रेम मिलन के लिये चल दीं, यह जानकर भक्त कबीर का चित्त आनन्द मग्न हो रहा है, और वे कहते हैं प्रभु मैं आप पर बलिहारी जाता हूँ।

भगति हेत गावै लैलीनां, ज्यूं वन नाव कोकिला कीन्हां।
बाजैं संख सबद धुनि वेनां, तन मन चित्त हरि गोबिंद लीनां॥
चल अचल पांइन पंगुरनी, मधुकरि ज्यूं लेहि अधरनीं।
सावज सीह रहे सब मांची, चंद अरु सूर रहे रथ खांची॥
गण गंध्रप मुनि जोवैं देवा, आरति करि करि विनवै सेवा।
बालि गयंद ब्रह्मा करैं आसा, हंम क्यूं चित दुलंभ रांम दासा॥
भगति हेत राम गुन गांवैं, सुर नर मुनि दुरलभ पद पांवैं।
पुनिम विमल ससि मास बसंता, दरसन जोति मिले भगवंता॥
चंदन बिलनी बिरहनि धारा, यूं पूजिये प्रांनपति रांम पियारा।
भाव भगति पूजा अरु पाती, आतमरांम मिले बहु भांती॥
रांम रांम रांम रुचि मांनैं, सदा अनंद रांम ल्यौ जानैं।
पाया सुख सांगर कर मूला, सो सुख नहीं कहू सम तूला॥
सुख समाधि सुख भया हमारा, मिल्या न बेगर होइ।
जिहि लाधा सो जांनि है, रांम कबीरा और न जांनैं कोइ॥२३॥

शब्दार्थ—लैलीनां = आनन्द मग्न होकर। ल्यौ = प्रेम। पाया = प्राप्त किया।

कबीर कहते हैं कि भक्त जन आनन्दमग्न हो कर उसी भाँति प्रभु का गुणगान करते हैं जिस प्रकार कोकिल बन में अपनी मधुर काकली छेड़ती है। इस नाम-स्मरण में सद्गुरु सब्दों की मंगलसूचक शंखध्वनि हो रही है जो मनसा-वाचा-कर्मणा प्रभु-भक्ति के लिये प्रेरित करती है। जिस भाँति वन में भ्रमर गुंजायमान होते हैं उसी भाँति सब मनुष्य भक्ति में झूम गये। उस आत्मा के लिये स्वयं चन्द्र और सूर्य स्वयं रथ में जुते हुए होते हैं तथा मुनिगण और गंधर्वादि विनय सहित उसकी आरती करते हैं।

ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े सुरराज यह पश्चात्ताप करते हैं कि काश ! हम भी राम के दास होते हो हम को भी यह वैभव और गौरव प्राप्त हो सकता। भक्त राम के गुणों का गान कर उस दुष्प्राप्य परम पद को प्राप्त कर सकते हैं जिसके लिए देव और ऋषिगण तरसते हैं। पूर्णिमा की निर्मल चन्द्रिका में माधवी रजनी में प्रभु के दर्शन प्राप्त हुए अर्थात् ज्ञान दृष्टि प्राप्त कर सौम्य, शान्त, निर्मल वातावरण में प्रभु प्राप्ति हुई विरहिणी आत्मा को चन्दन की शीतलता प्राप्त हो गई, यही प्रभु भक्ति का प्रताप है। प्रेम-भक्ति का प्रताप है। प्रेमा भक्ति से उस आत्मस्थित परमात्मा को पाना सहज सम्भव है। सर्वदा समस्त चित्तवृत्तियों को राम-नाम में केन्द्रित कर देने से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस भाँति हमने उस सिंधु सुख को प्राप्त कर लिया जिसके समान अन्य कोई सुख नहीं है।

कबीर कहते हैं कि उस परमात्मा की प्राप्ति के सुख को वही जान सकता है जो उसे प्राप्त कर लेता है। इस सुख-विन्दु परमात्मा को पाकर तो हमने उससे तदाकारत्व ही प्राप्त कर लिया।

विशेष—उपमा अलंकार।

अटपदी रमैंणी

केऊ केऊ तीरथ व्रत लपटांना, केऊ केऊ केवल रांम निज जांनां।
अजरा अबर एक अस्थांनां, जाका मरम काहू विरल जांनां॥
अबरन जोति सकल उजियारा, दिष्टि समांन दास निस्तारा।
जे नहीं उपज्या धरनि सरीरा, ताकै पथिन सींच्या नीरा॥
जा नहीं लागे सुरजि के बांनां, सो मोहि आंनि देहु को दांनां।
जब नहीं होते पवन नहीं पानी, जब नहीं होती सिष्टि उपांनीं॥
जब नहीं होते प्यंड न बासा, तब नहीं होते धरनि अकासा।
जब नहीं होते गरभ न मूला, तब नहीं होते कली न फूला॥
जब नहीं होते सबद न स्वादं, तब नहीं होते विद्या न बादं।
जब नहीं होते गुरू न चेला, गम अगमैं पंथ अकेला॥
अवगति की गति क्या कहूँ, जस कर गांव न नांव।
गुन बिहूँन का पेखिये, काकर धरिये नांव॥२४॥

शब्दार्थ—मरम=रहस्य। उपानीं=उत्पन्न होना। बाद=वाद-विवाद। बिहूँन=रहित। काकर=किसका।

कोई साधक तीर्थ-व्रतादि के बाह्याडम्बर में ही भक्ति साधना मानता है तो कोई केवल राम-नाम के आश्रय से तर जाता है। वस्तुतः उस अजर, अमर ईश्वर की वास्तविकता को कोई-कोई ही जान पाता है। उस अपरूप ज्योति स्वरूप परमात्मा से समस्त सृष्टि प्रकाशित है, भक्त जन भी उसी की अनुकम्पा से भवसागर पार करते हैं। जो इस पृथ्वी पर पंचतत्व निर्मित नहीं हुआ उसी का मार्ग जल से शीतल

किया जा सकता है, भाव यह है कि मनुष्य चाहे कोई भी क्यों न हो, साधना का मार्ग उसके लिए विषम ही है। उस प्रभु की गति बड़ी विचित्र है वह तब भी था जब इस सृष्टिमें वायु तथा जल किसी का भी अस्तित्व नहीं था। जब शरीर और गृह आदि तथा पृथ्वी और आकाश, गर्भावस्था किसी वृक्ष की जड़ और कली तथा फूल, शब्द विद्या उपदेश आदि कुछ भी नहीं तब भी वह ब्रह्म था। जब गुरु शिष्य कोई नहीं था तब भी वही एकाकी परम-पुरुष था। कबीर कहते हैं कि इस इन्द्रियातीत प्रभु का, जिसका न कोई गुण है न लक्षण, न अन्य कोई रूप रेखा अथवा वर्ण, वर्णन क्या करूं। उस निर्गुण अनाम परमात्मा की गति अपार है।

आदम आदि सुधि नहीं पाई, मां मां हवा कहां थें आई।
जब नहीं होते रांम खुदाई, साखा मूल आदि नहीं भाई॥
जब नहीं तुरक न हिंदू, माका उदर पिता का व्यंदू।
जब नहीं होते गाई कसाई, तब बिसमला किनि फुरमाई॥
भूले फिरें दीन ह्वै धावें ता साहिब का पंथ न पावें।
संजोगें करि गुंण धरया, बिजोगें गुंण जाइ।
जिभ्या स्वारथि आपणें, कीजै बहुत उपाइ॥२५॥

शब्दार्थ—व्यंदू=विन्दु, वीर्य। बिजोगे=वियोग में।

आदम और हौवा का अस्तित्व कहां से आया, अरे भई! यदि प्रभु न हुआ तो होता तो आदम हौआ की तो बात ही क्या, संसार में पत्ता तक नहीं होता। न तब हिंदू होते और न मुसलमान, न मातृ उदर होता और न पितृ अंग—यह अब ईश्वर की ही लीला है। न जब गौ होती न उसके संहारक बधिक, कसाई—सब उसी ब्रह्म की रचना है। सब लोग व्यर्थ भटकते फिरते हैं और उस परमात्मा को नहीं खोजते। यदि परमात्मा से संयोग, मिलन, भक्ति सम्बन्ध रखा जाय तब तो उचित है अन्यथा वियुक्त होने पर तो सब कुछ समाप्त ही है। विषयानन्द में न पड़ प्रभु-प्राप्ति का उपाय करना चाहिए।

विशेष—ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन है।

जिनि कलमां कलि मांहि पठावा, कुदरति खोजि तिन्हू नहीं पावा।
कर्म करींम भये कर्तूता, वेद कुरान भये दोऊ रीता॥
कृतम सो जु गरभ अवतरिया, कृतम सो जु नाव जस धरिया।
कृतम सुनित्य और जनेऊ, हिंदू तुरक न जानैं भेऊ।
मन मुसले की जुगति न जानैं, मति भूलै द्वै दीन बखानैं।
पांणीं पवन संजोग करि, कीया है उतपाति।
सूंनि मैं सबद समाइगा, तब कासनि कहिये जाति॥२६॥

शब्दार्थ—कलि=कलियुग। कर्तूता=कार्य करने वाले।

जो मुल्ला लोग इस कलिकाल में कुरान आदि के कलमों को ही पढ़ मुक्त

होना चाहते हैं वे सृष्टि का भेद नहीं पा सकते। वस्तुतः कर्म-व्यापार, सदाचरण ही मुक्तिदायक है, कर्म से ही ईश्वर जग-पालक है। वेद-कुरान आदि धर्मग्रन्थों में भी यही वात वर्णित है। जिस मनुष्य ने जन्म-धारण किया है उसे तो कार्य करना ही होगा। कर्म से ही पुण्य और अन्य विधानों के फल की प्राप्ति होती है। कर्म फल की प्राप्ति होती है। कर्म-फल सब के लिए समान हैं, उसमें हिन्दू-मुस्लिम का भेद वृथा है। हे मनुष्य! तू अपने चंचल मन की गति को नहीं जानता, यह तो द्वैत भावना का सृजन कर दुःख का कारण बनता है।

कबीर कहते हैं कि संसार में जितने भी वितण्डा हैं वे माया और विषयाकर्षण के द्वारा ही हैं। जब साधक शून्य में समाधिस्थ हो जायेगा तब इन विषय वासनाओं का उससे कोई सम्पर्क नहीं रहेगा।

तुरकी धरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करै ए बोधा।
गाफिल गरब करैं अधिकाई, स्वारथ अरथि बधैं ए गाई॥
जाकौ दूध धाइ करि पीजै, ता माता कौं बध क्यूं कीजै।
लहुरें थकें दुहि पीया खीरो, ताका अहमक भकै सरीरो॥
बेअकली अकलि न जांनहीं, भूले फिरैं ए लोइ।
दिल दरिया दीदार बिन, भिस्त कहां थैं होइ॥२७॥

शब्दार्थ—बजगार=कार्य। गाफिल=मूर्ख। भकै=भक्षण करना, खाना। दीदार=दर्शन।

मुसलमान लोग बहुत धर्म की दुहाई देते हैं और उसी के लिए नाना कर्म करते हैं। वह व्यर्थ का अत्यधिक मिथ्या गर्व करते हैं और अपने स्वार्थ के लिए गौ तक की हत्या कर देते हैं जिसके मधुर दुग्ध का पान दौड़ कर करते हैं, उस गौ माता की हत्या का साहस ये किस प्रकार से करते हैं? गौ को समाप्त कर बकरी का खारा दूध पीने वालों को मूर्ख की ही संज्ञा दी जा सकती है। ये लोग व्यर्थ स्वर्ग की खोज में भटकते फिरते हैं किंतु इन मूर्खों, बुद्धिहीन को ज्ञात नहीं कि हृदय की विशालता, दयालुता एवं प्रभु-दर्शन के बिना स्वर्ग-प्राप्ति नहीं होती।

पंडित भूले पढ़ि गुन्य बेदा, आप न पावें नांनां भेदा।
संध्या तरपन अरु षट करमां, लागि रहे इनकै आशरमां॥
गायत्री जुग चारि पढ़ाई, पूछौ जाइ कुमति किनि पाई।
सब मैं रांम रहे ल्यौ सींचा, इन थैं और कहौ को नींचा॥
अति गुन गरब करैं अधिकाई, अधिकै गरबि न होइ भलाई।
जाकौ ठाकुर गरब प्रहारी, सो क्यूं सकई गरब सहारी॥
कुल अभिमांन बिचार तजि, खोजौ पद निरवान।
अंकुर बीज नसाइगा, तब मिले बिदेही थांन॥२८॥

शब्दार्थ—आशरमां=आश्रम में। निरबांन=निर्वाण, मुक्ति। विदेही=निर्गुण।

संसार के माया-मोह में भटकता हुआ भी व्यर्थ शास्त्रग्रंथों का पारायण करता है। इनकी आश्रम व्यवस्था में संध्या, तर्पण और षट्कर्मों के लिए विधि-विधान के अतिरिक्त और कुछ नहीं। चाहे वे चार युगों तक गायत्री-जप करें किंतु इन्हें वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती। इन नीचों को यह कौन समझाये कि प्रत्येक स्थान पर प्रभु वर्तमान है। इनमें व्यर्थ का मिथ्या दम्भ अत्यधिक है जबकि वह हानिकारक है। जिस साधक, भक्त के आराध्य गर्वमर्दनकारी हैं, वह भला क्यों गर्व करेगा।

कबीर कहते हैं कि कुल-जाति के मिथ्या दम्भों का परित्याग कर परम प्रभु की खोज करो। जब तुम पूर्ण विनय सहित सर्वात्म—समर्पण कर दोगे, तभी उसे निर्गुण की प्राप्ति सम्भव है।

खत्री करै खत्रिया धरमो, तिनकूं होय सवाया करमो।
जीवहि मारि जीव प्ररिपारैं, देखत जनग आपनौं हारैं॥
पंच सुभाव जु मेटैं काया, सब तजि करम भजै रांम राया।
खत्री सों जु कुटुम्ब सूं सूझै, पंचूं मेटि एक कूं बूझै॥
जो आवध गुर ग्यांन लखावा, गहि करवाल धूप धरि धावा।
हेला करै निसांनै घाऊ, झूझ परै तहां मनमथ राऊ॥
मनमथ मरै न जीवई, जीवण मरण न होइ।
सुनि सनेही रांम बिन, गये अपनपो खोइ॥२९॥

शब्दार्थ—प्रतिपारैं=पालन करना। करवाल=तलवार। मनमथ=कामदेव। अपनपौ=निजत्व।

यदि क्षत्रिय अपने क्षत्रिय-धर्म का पालन करे तो उसे सवा गुना अर्थात् अत्यधिक पुण्य-फल प्राप्त हो। जो भयंकर जीवों से मानवमात्र की सहायता के लिए अपना सर्वस्व तक बलिदान कर दें, वही क्षत्रिय हैं। वही राम का सच्चा भक्त है जो पंचेन्द्रियों के स्वादों को समाप्त कर दे। क्षत्रिय वही है जो माया कुटुम्ब (जिसे माया-कटक कहा गया है) से युद्ध करे और पंच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का परित्याग कर केवल मनः साधना में प्रवृत्त हो। जो यावज्जीवन गुरु वचनों पर चल सांसारिक बाधाओं को सहते हैं, वे क्षत्रिय हैं। जो कामदेव रूपी राजा से युद्ध कर उसे परास्त कर दे वही वास्तविक रूप में क्षत्रिय है।

कबीर कहते हैं कि आत्मा का न तो मरण होता है और न जन्म, किंतु जो लोग राम की भक्ति बिना इस संसार से चले गये, वे तो अपना सर्वस्व नष्ट कर ही गये।

अरु भूले षट दरसन भाई, पाखंड भेस रहे लपटाई।
जैन बोध अरु साकत सैंनां, चारवाक चतुरंग बिहूंनां॥
जैन जीव की सुधि न जानैं, पाती तोरि देहुरैं आनैं।
दोनां मवरा चंपक फूला, तामैं जीव बसैं कर तूला॥

अरु प्रिथमीं का रोम उपारैं, देखत जीव कोटि संघारैं।
मनमथ करम करैं असरारा, कलपत बिंद धंसैं तिहि द्वारा ॥
ताकी हत्या होइ अदभूता, षट दरसन मैं जैन बिगूता ॥
ग्यान अमर पद बाहिरा, नेड़ा ही तैं दूरि।
जिनि जान्यां तिनि निकट है, रांम रहा सकल भरभूरि ॥३०॥

शब्दार्थ—सरल है।

संसार के समस्त लोग षट्दर्शनों के मिथ्या वितण्डावाद में पड़े हुए विविध वेश धारण किये घूम रहे हैं। जैन, बौद्ध, शाक्त आदि विविध विचारधाराओं के पचड़े में सब पड़े हुए हैं। जैन वैसे तो अहिंसा की दुहाई देते हैं, किंतु कभी-कभी वे ऐसे दुष्कृत्य करते हैं कि जीव-हत्या का तनिक भी ध्यान नहीं रहता। वे दोने में भरकर जो चंपक आदि के सुमन चढ़ाते हैं, उसमें तो करोड़ों जीव होते हैं, और जब मन्दिर आदि के लिए पृथ्वी को खोदते हैं तब न जाने कितने जीवों की हत्या होती है। कामदेव संसार में विविध प्रपंच रचकर उनमें लोगों को फंसा लेता है। इन विषय-वासना कर्मों में भी जीव-हत्या होती है—इस भाँति जैन आदि विविध मतावलम्वी इन्हीं टंटों में उलझे रहते हैं। वह परम मधु ज्ञानहीनों के लिए पास रह कर भी दूर है। जो उसे जानते हैं उनके लिए वह पास हो जाता है, वे उसका साक्षात्कार कर लेते हैं। वस्तुतः वह ब्रह्म तो सर्वत्र रम रहा है।

आपन करता भये कुलाला, बहु विधि सिष्टि रची बर हाला।
बिधनां कुंभ किये द्वै थांनां, प्रतिबिंबता मांहि समांनां ॥
बहुत जतन करि बांनां, सौंज मिलाय जींव तहां ठांनां।
जठर अगनि दी कीं परजाली, ता मैं आप करै प्रतिपाली ॥
भींतरि थें जब बाहिर आवा, सिव सकती द्वै नांवा धरावा।
भूलै भरमि परै जिनि कोई, हिंदू तुरक झूठ कुल दोई ॥
घर का सुत जे होइ अयांनां, ताकै संगि क्यूं जाइ सयांनां।
सांची बात कहै जे बासूं, सो फिरि कहै दिवांनां तासूं ॥
गोप भिन है एकै दूधा, कासूं कहिए बांम्हन सूधा।
जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहै कबीर ते जन जले, जे चित्रवत लेहि बिचार ॥३१॥

शब्दार्थ—कुलाला=कुम्भकार। प्रतिपाली=पालन-पोषण करना। सुतधार=सूत्रधार।

वह प्रभु स्वयं ही इस सृष्टि का निर्माता कुम्भकार है जिसने इस नाना रूपात्मक जगत् का सृजन किया। ब्रह्म इस सृष्टि में उसी प्रकार विद्यमान है जिस भाँति भिन्न स्थानों पर रखे हुए घटों में सूर्य प्रतिबिम्बित होता है। बहुत भाँति के आयोजनों द्वारा इस सृष्टि का निर्माण हुआ है और तब उसमें जीव की अवस्थिति हुई है।

मातृ-उदर में गर्भस्थ शिशु को जठराग्नि जलाये डालती है किंतु वहां भी वह दयालु जीव की रक्षा करता है। जब जीवात्मा वहाँ से बाहर आता है तो उसे लिंग-भेद अनुसार ज्ञान प्राप्त होता है जो शिव (पुरुष) अथवा शक्ति (माया-नारी) का प्रतीक है। चाहे कोई हिन्दू हो अथवा मुसलमान किन्तु उसे भूलकर भी संसार भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। यदि घर का बेटा ही खोटा, कुचरित्र निकल जाये तो फिर उसके साथ चतुर व्यक्ति भी ठीक नहीं रह सकता। अतः दुर्जनों से दूर ही रहना चाहिए। यदि कोई सत्य बात कह दे तो फिर उससे तो ज्ञान लाभ होता ही है, जिससे श्रोता संसार को त्याग देता है। समस्त मानव मात्र एक ही तत्व से निर्मित हैं केवल जाति भेद नाम मात्र का है।

कबीर कहते हैं कि जिस ईश्वर ने इस चित्र-विचित्र सृष्टि की रचना की है, वही इसका वास्तविक नियन्ता है। जो उसे हृदय में अमिट स्थान देता है वही उत्तम श्रेणी का भक्त, मनुष्य है।

बारहपदी रमैंणी

पहली मन मैं सुमिरौं सोई, ता सम तुलि अवर नहीं कोई।
कोई न पूजैं बांसूं प्रांनां आदि अंति वो किनहूं न जांनां॥
रूप सरूप न आवै बोला, हरू गरू कछू जाइ न तोला।
भूख न त्रिषा धूप नहीं छांहीं, सुख दुख रहित रहै सब नांहीं॥
अविगत अपरम्पार ब्रह्म, ग्यांन रूप सब ठांम।
बहु बिचार करि देखिया, कोई न सारिज रांम॥३२॥

शब्दार्थ—अवर=और, दूसरा। हरू=हल्का। गरू=भारी। त्रिषा=प्यास। सारिख=समान।

सर्व प्रथम मैं उस परमात्मा का मन में स्मरण करता हूँ क्योंकि उसकी महिमा अद्वितीय एवं अनुपम है। कोई भी उसके अन्तर का भेद नहीं जान सकता और न उसके आदि, मध्य अवसान का कुछ पता है। न तो हम उसकी रूप रेखा वर्ण आदि का विचार कर सकते हैं और न उसके भार-प्रभार का अनुमान कर सकते हैं। न उसे भूख लगती है और न प्यास, धूप-छाँह कुछ भी उसे नहीं सताती वह समस्त सुख-दुःखों से निर्लिप्त है। वह अगम्य महामहिम प्रभु सर्वत्र व्यापक है। बहुत विचार कर देख लिया, किंतु कोई भी उसकी समता नहीं कर सकता।

विशेष—उल्लेख अलंकार।

जो त्रिभवन पति औहै ऐसा, ताका रूप कहौ धौं कैसा ।
सेवग जन सेवा कै तांई, बहुत भांति करि सेवि गुसांई ।
तैसी सेवा चाहौ लाई, जा सेवा बिन रह्या न जाई ।
सेव करंतां जो दुख भाई, सो दुख सुख बरि गिनहु सवाई ।।
सेव करंतां सो सुख पावा, तिन्य सुख दुख दोऊ बिसरावा ।
सेवग सेव भुलांनियां, पंथ कुपंथ न जांन ।
सेवक सो सेवा करै, जिहि सेवा भल मांन ।।३३।।

शब्दार्थ—सरल है ।

जो त्रिलोकीनाथ ऐसा महामहिम है उसका स्वरूप-कथन कैसे किया जा सकता है ? हम भक्त-गण तो हे प्रभु ! केवल आपकी स्वामी के रूप में विविध भाँति से सेवा कर सकते हैं । हमको वही सेवा-भक्ति करनी चाहिए जिसके बिना हम रह न सकें । यदि प्रभु-सेवा में कुछ दुःख उठाना पड़े तो उसे भी दुःख से सवा गुना अधिक सुख मानकर ग्रहण करना चाहिए । जो ईश्वर-सेवा में आनन्द प्राप्त करने लगता है फिर उसके लिए सांसारिक सुख-दुःख का कोई महत्व नहीं रह जाता, किन्तु आज ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि सेवक सेवा-भक्ति के वास्तविक महत्व, प्रयोजन को भुला बैठे हैं । भक्त तो वही है जो प्रभु-भक्ति में गौरव एवं सुख अनुभव करता है ।

जिहि जग की तस की तस केही, आपै आप आथिहै एही ।
कोई न लखई बाका भेऊ, भेऊ होइ तौ पावै भेऊ ।।
बावै न दांहिनैं आगैं न पीछू, अरध न उरध रूप नहीं कीछू ।
मांय न बाप आय नहीं जावा, नां वहु जण्यां न को वहि जावा ।।
वो है तैसा वोही जानैं, ओही आहि आहि नहीं आनैं ।
नैना बैंन अगोचरी, श्रवना करनी सार ।
बोलन कै सुख कारनैं, कहिये सिरजनहार ।।३४।।

शब्दार्थ—सरल है ।

ईश्वर ने संसार की रचना स्वयं किसी अन्य की सहायता के बिना की । कोई भी उस परमात्मा के रहस्य का पार नहीं पा सकता और वास्तव में वह भेदभाव, द्वैत भाव से दूर है इसीलिए कोई उसका पार नहीं पा सकता । उसके बाम, दक्षिण, ऊपर-नीचे किसी भी पक्ष के चिह्न नहीं बताये जा सकते, क्योंकि उसका कुछ रूपाकार है ही नहीं । न उसका कोई माता-पिता है और न उसका जन्म-मरण होता है । वह जैसा है वही जानता है; अर्थात् वह स्वयं ही अपने स्वरूप का ज्ञाता है ।

वह ब्रह्म नेत्र, वाणी, श्रवण आदि की परिधि से दूर है । उस सृजनहार परमात्मा के गुणगान में ही सुख लाभ होता है ।

सिरजहार नांउ धूं तेरा, भौसागर तिरिबे कूं भेरा ।
जे यहु भेरा रांम न करता, तौ आपैं आप आवटि जग मरता ।।
रांम गुसांई मिहर जु कीन्हां, भेरा साजि संत कौं दीन्हां ।

दुख खंडण मही मंडणां भगति मुकति विश्रांम ।
बिधि करि भेरा साजिया, धर्‌या रांम का नांम ॥३५॥

शब्दार्थ—भेरा=वेड़ा, पोत । मिहर=कृपा ।

हे प्रभु ! आपका नाम ही इस संसार समुद्र से पार उतरने के लिए जलयान के समान है । यदि आपके नाम का आश्रय न होता तो संसार स्वयं परस्पर संघर्ष द्वारा समाप्त हो जाता ईश्वर ने दयार्द्र हो यह राम नाम का पोत साधु पुरुष को प्रदान कर दिया । दुःख के स्थान में भक्ति ही मुक्ति का सावन रूप है । इस संसार सागर से पार जाने के लिये राम नाम की साधना का पोत सजाकर साधक को भगवान ने दे दिया ।

विशेष—सांगरूपक ।

जिनि यहू भेरा दिढ़ करि गहिया, गये पार तिन्हौं सुख लहिया ।
दुमनां ह्वै जिनि चित्त डुलावा, कर छिटके थैं थाह न पावा ॥
इक डूबे अरु रहे उरवारा, ते जगि जरे न राखणहारा ।
राखन की कछु जुगति न कीन्हीं, राखणहार न पाया चीन्हीं ॥
जिनि चीन्हां ते निरमल अंगा, जे अचीन्ह ते भये पतंगा ।
रांम नांम ल्यौं लाइ करि करि, चित चेतनि ह्वै जागि ।
कहै कबीर ते ऊबरे, जे रहे रांम ल्यौ लागि ॥३६॥

शब्दार्थ - दिढ़=दृढ़ । दुमनां=द्विविधा । ल्यौ=प्रेम ।

जिन्होंने राम नाम का यह पोत दृढ़ रूप में पकड़ इसे अपना सम्बल बना लिया है वे संसार सागर से तर गये और उन्होंने सुख लाभ किया । जो द्वैत भावना में मन को भटकाते रहते हैं और राम-नाम का सम्वल नहीं पकड़ते, वे संसार सागर में डूब जाते हैं उन्हें थाह भी नहीं मिलती । जो संसार-समुद्र में ही डूबे रहते हैं वे तो नष्ट ही हो जाते हैं उनका रक्षक तो प्रभु भी नहीं है । जो प्रभु को जान जाते हैं, उनके चित्त अन्तर-बाह्य, शुद्ध हो जाता है, अन्यथा शेष मनुष्य तो माया-दीप पर मरने वाले शलभ बने रहते हैं । राम-नाम में अपनी वृत्ति रमा हृदय को सावधान कर जो भक्ति करते हैं कबीर का विचार है कि वही मुक्तात्मा होते हैं ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

अरचित अबिगत है निरधारा, जांण्यां जाइ न वार न पारा ।
लोक बेद थैं अछै नियारा, छाड़ि रह्यौ सबही संसारा ॥
जसकर गांउ न ठांउ न खेरा, कैसैं गुन बरनूं मैं तेरा ।
नहीं तहा रूप रेख गुन बांनां, ऐसा साहिब है अकुलांनां ॥
नहीं सो ज्वांन न बिरध नहीं बारा, आपैं आप आपनपौ तारा ।
कहै कबीर बिचारि करि, जिनि को लावै भंग ।
सेवौ तन मन लाइ करि, रांम रह्या सरबंग ॥३७॥

शब्दार्थ—खेरा=निवास-स्थान। विरध=वृद्ध। बारा=बालक।

वह निर्गुण परमात्मा अगम्य एवं अजन्मा है, उसका रहस्य नहीं जाना जा सकता। ईश्वर के विषय में वेदादि धर्मग्रन्थों एवं लोक में जो विश्वास है, वह उनसे सर्वथा भिन्न है। उसका वर्णन कैसे किया जाय ? रूपरेखाविहीन निर्गुण स्वामी की विचित्र गति है। न वह युवा है और न वृद्ध है। स्वयं ही अपना भाग्य-निर्माता है। कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि राम सर्वत्रव्यापी है अतः मनसा-वाचा-कर्मणा उसकी आराधना करो।

नहीं सो दूरि नहीं सो नियरा, नहीं सो तात नहीं सो सियरा।
पुरिष न नारि करै नहीं क्रीरा, घांम नां घांम व्यापै पीरा॥
नदी न नाव धरनि नहीं धीरा, नहीं सो कांच नहीं सो हीरा।
कहै कबीर बिचारि करि, तासूं लावो हेत।
बरन बिबरजत ह्वै रह्या, नां सो स्यांम न सेत॥३८॥

शब्दार्थ—तात=गर्म। सियरा=शीतल। क्रीरा=क्रीड़ा। हेत=प्रेम। बरन=वर्ण, रंग। बिबरजत - विवर्जित। सेत=सफेद।

वह ईश्वर न तो दूर है, क्योंकि हृदयस्थ है और न पास ही है क्योंकि साधना द्वारा भी दुष्प्राप्य है। न वह मित्र है और न शत्रु। न वह पुरुष रूप में है और न स्त्री; न उसे धूप-दुःख आदि व्यापते हैं। न वह नदी है और न नाव और न पृथ्वीरूप ही है। कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि उसी ईश्वर से प्रेम करो न वह श्याम है और न श्वेत, वह तो वर्ण रंग सीमातीत है।

विशेष—विरोधाभास अलंकार।

नां वो बारा ब्याह बराता, पीत पितंबर स्यांम न राता।
तीरथ व्रत न आवै जाता, मन नहीं मोनि बचन नहीं बाता॥
नाद न बिंद गरथ नहीं गाथा, पवन न पांणीं संग न साथा।
कहैं कबीर बिचारि करि, ताकै हाथि न नाहि।
हो साहिब किनि सेविये, जाकै धूप न छांह॥३९॥

शब्दार्थ—राता=लाल।

न वह विवाहित है और न क्वारा। न वह पीताम्बरधारी है और न श्याम अथवा लाल रंग का वस्त्र धारण करने वाला। न वह नाद है और न बिंदु, न किसी धर्मशास्त्र का विषय है और न किसी कथा आदि का। उसके साथ वायु-पानी कुछ भी नहीं है। कबीर कहते हैं कि उसके हाथ-पैर कुछ भी नहीं हैं, भला उस ईश्वर की सेवा कैसे की जाये जिसे धूप छांह, सुख-दुःख भी नहीं व्यापते।

विशेष—उल्लेख अलंकार।

ता साहिब के लागौ साथा, दुख सुख मेटि रह्यौ अनाथा।
नां जसरथ घरि औतरि आवा, नां लंका का राव सतावा॥

देवै कूख न औतरि आवा, नां जसवैं ले गोद खिलावा।
ना वो ग्वालन कै संग फिरिया, गोवरधन ले न कर धरिया॥
बांवन होय नहीं बलि छलिया, धरनी बेद लेन उधरिया।
गंडक सालिगरांम न कोला, मछ कछ ह्वै जलहि न डोला॥
बद्री वैस्य ध्यांन नहीं लावा, परसरांम ह्वै खत्री न संतावा।
द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगननाथ ले प्यंड न गाड़ा॥
कहै कवीर बिचारि करि, ये ऊले ब्योहार।
याही थैं जै अगम है, सौ बरति रह्या संसारि॥४०॥

शब्दार्थ—जसरथ = दशरथ। जसवैं = यशोदा। मछ = मत्स्यावतार। कछ = कच्छपावतार।

इसलिए हे प्राणीजन! तुम उसी ईश्वर के आश्रित होकर रहो क्योंकि वह समस्त दुःख-सुख का मिटाने वाला है। वह प्रभु दशरथनन्दन के रूप में अवतरित हो लंका के राजा को नहीं सताता। न वह मातृ-उदर में स्थित रहकर जन्म धारण कर यशोदा की गोदी में खेलता है। कृष्ण रूप में वह गोपिकाओं के साथ प्रेमक्रीड़ाओं में मस्त नहीं रहा और न उसने गोवर्धन पर्वत उँगली पर उठाया था। प्रभु ने वामन रूप धरकर राजा बलि को भी नहीं छला था और न मत्स्य अवतार में पृथ्वी पर उसने वेदों की रक्षा की थी। वह सालिगराम की पिंडी, अथवा मछली और कछुए के रूप में भी नहीं रहा बद्रीनाथ सेठ बनकर कभी भी उसने भजन नहीं किया और न परशुराम बन क्षत्रिय संहार की प्रतिज्ञा कभी उसने की। द्वारकापुरी में न उन्होंने शरीर-मोह त्यागा और न किसी ने उस शरीर को पृथ्वी में गाड़ा है। कबीर कहते हैं कि संसार के अन्य सब कार्य तो व्यर्थ हैं। केवल उसी अगम्य प्रभु का ध्यान करो जो संसार का नियमन कर रहा है।

विशेष—उल्लेख अलंकार।

नां तिहि सबद न स्वाद न सोहा, नां तिहि मात पिता नहीं मोहा।
नां तिहि सास ससुर नहीं सारा, नां तिहि रोज न रोवनहारा॥
नां तिहि सूतिग पातिग जातिग, नां तिहि माइ न देव कथा पिक।
नां तिहि बिध बधावा बाजैं, नां तिहि गीत नाद नहीं साजैं॥
नां तिहि जाति पांत्य कुल लीका, नां तिहि छोति पबित्र नहीं सींचा।
कहै कबीर बिचारि करि, वो पद है निरबांन।
सति ले मन मैं राखिये, जहां न दूजी आंन॥४१॥

शब्दार्थ सरल है।

उस ईश्वर को न तो गुरु उपदेश के शब्दों की आवश्यकता है, न वह इन्द्रियों के स्वादों से संलिप्त है। वह माता-पिता आदि के मोह में भी पड़ा हुआ नहीं है न उसके सास, श्वसुर अथवा साला है और न उसे कोई दुःख है जिससे व्यथित हो वह अश्रु बहाये। न उसे सूतक, पातक, आदि व्यापते हैं। न वह कोई सुन्दर कथा वाली

देवी है। न उसे वृद्धावस्था आती है और न ही उसका जन्म होता है। उसे गान आदि रस-गान भी रुचिकर नहीं। न उसके यहाँ उच्च और निम्न वर्ग का भेदभाव है और न वह जाति-पाँति, कुल की संकुचित सीमाओं में बँधता है। कबीर विचार-पूर्वक कहते हैं कि वह ईश्वर परमपद है, वह केवल सत्याचरण—भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है।

नां सो आवै ना सो जाई, ताकै बंध पिता नहीं माई।
चार बिचार कछू नहीं वाकै, उनमनि लागि रहौ ज ताकै।।
को है आदि कवनि का कहिये, कवन रहनि वाका ह्वै रहिये।
कहै कबीर बिचारि करि, जिनि को खोजै दूरि।
ध्यांन धरौ मन सुध करि, रांम रह्या भरपूरि।।४२।।

शब्दार्थ – सरल है।

वह ईश्वर न तो जन्म ग्रहण करता है और न मृत्यु को प्राप्त होता है। उसका माता-पिता, भाई आदि कोई सगा सम्बन्धी भी नहीं है। न उसके यहाँ कोई आचार-व्यवहार है, उन्मनावस्था द्वारा जो चाहे उसे प्राप्त कर सकता है। उसके आदि मध्य, अवसान अथवा जीवन-चर्या का किसी को भी ज्ञान नहीं।

कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि जिस ईश्वर को तुम दूर खोजते हो, विचार कर देखो तो वह तुम्हारे हृदय में ही बसा हुआ है।

नाद बिंद रंक इक खेला, आपैं गुरू आप ही चेला।
आपै मंत्र आपैं मंत्रेला, आपैं पूजै आप पूजेला।।
आपैं गावै आप बजावै, अपनां कीया आप ही पावै।
आपै धूप दीप आरती, अपनीं आप लगावैं जाती।।
कहै कबीर बिचारि करि, झूठा लोही चांम।
जो या देहीं रहित है, सो है रमिता रांम।।४३।।

शब्दार्थ—सरल है।

नाद एवं बिन्दु की सहायता से उस ईश्वर ने इस सृष्टि का सृजन किया। वह स्वयं ही अपना गुरु और स्वयं ही अपना शिष्य है। वह पूजा और पूजक भी स्वयं ही है। वह स्वयं ही गाता बजाता है और स्वयं ही अपने कर्मों का फल भोगता है। वह स्वयं ही आराध्य और स्वयं ही आराधक तथा धूप, दीप, नैवेद्य आदि पूजोप-करण है। भाव यह है कि सर्वशक्तिमान् स्वयं में पूर्ण है, उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं। कबीर विचार कर अपनी शिष्या लोई को सम्बोधित कर कहते हैं कि यह शरीर मिथ्या है, जो इस तन के सुखों में नहीं उलझा रहता, उसी की वृत्ति प्रभु में रमती है।

चौपदी रमैणी

ऊंकार आदि है मूला, राजा परजा एकहि सूला।
हम तुम्ह मांहैं एकै लोहू, एकै प्रांन जीवन है मोहू ।।
एकहि बास रहै दस मासा, सूतक पातग एकै आसा।
एकहि जननीं जन्यां संसारा, कौंन ग्यांन थैं भये निनारा।।
ग्यांन न पायौ बावरे, धरी अविद्या मैंड।
सतगुर मिल्या न मुक्ति फल, तायैं खाई बैंड ।।४४।।

शब्दार्थ—सरल है।

इस सृष्टि का आदि नियामक वह ईश्वर ही है। राजा और रंक, राजा और प्रजा, सब उसी की की सृष्टि हैं। हम सबमें एक ही रक्त संचरित होता है और एक ही प्राणतत्व विद्यमान है। सब मातृगर्भ में दस मास तक रहे हैं और सबको ही सूतक पातक व्यापते हैं। हमको एक ही शक्तिरूपा माता ने जन्म दिया है फिर भला यह कौन-सा ज्ञान है जिससे वर्ग भेद की खाई उत्पन्न कर ली गई है।

कबीर कहते हैं कि हे अज्ञानी जीव ! तुमने ज्ञान-लाभ नहीं किया और तुम्हारे अन्दर अज्ञान ही रहा। तुम्हें सद्गुरु की भी प्राप्ति न हुई, जिससे मोक्ष फल भी न पा सके और संसार-तापों में दग्ध होते रहे।

बालक ह्वै भग द्वारे आवा, भग भुगतान कूं कुरिष कहाव।
ग्यांन न सुमिर्‌यौ निरगुण सारा, बिष थैं बिरचि न किया बिचारा।।
भाव भगति सूं हरि न अराधा, जनम मरन की मिटी न साधा।
साध न मिटी जनम, की मरन तुरांनां आइ।
मन क्रम बचन न हरि भज्या, अंकुर बीज नसाइ ।।४५।।

शब्दार्थ—कुरिष=कुचरित्र। बिरचि=रचना की। नसाह=नष्ट करके।

मनुष्य बालक के रूप में जन्म धारण कर मातृ गर्भ से योनिद्वार के द्वारा बाहर आता है किंतु जो भुक्त-भोगी हैं उन्हें फिर वह क्यों कुचरित्र कहने का साहस करता है। निर्गुण परमात्मा का ध्यान करते हुए विपत्ति में भी कभी उसका स्मरण न किया प्रेमा-भक्ति से ईश्वर को न भजने से जन्म मरण का आवागमन चक्र समाप्त नहीं होता।

इस जन्म मरण के प्रपंच का आवागमन चक्र का नाश नहीं हुआ और न मनसा-वाचा-कर्मणा दत्तचित्त हो प्रभु का भजन किया जिससे संसार ताप समूल नष्ट हो जाते।

तिण चरि सुरही उबिक जु पीया, द्वारै दूध बछ कूंदीया।
बछा चूंखत उपजी न दया, बछा बांधि बिछोही मया।।
ताका दूध आप दुहि पीया, ग्यांन बिचार कछू नहीं कीया।
जे कुछ लोगनि सोई किया, माला मंत्र बाधि ही लीया।।

पीया दूध रुध्र ह्वै आया, मुई गाइ तब दोष लगाया।
बाकस ले चमरां कूं दीन्हीं, तुचा रंगाइ करौती कीन्हीं ।।
ले रुकरौतीं बैठे संगा, ये देखौ पांडे के रंगा।
तिहि रुकरौती पांणी पीया,
यहु कुछ पांडे अचिरंज कीया।
अचिरज कीया लोक मैं, पीया सुहागल नीर।
इन्द्री स्वारथि सब कीया, वंध्यां भरम सरीर ।।४६।।

शब्दार्थ—वछा = वछड़ा। बादि = व्यर्थ में। रुध्र = रुधिर, खून। तुचा = त्वचा, खाल।

यहाँ कबीर गाय के दृष्टांत द्वारा संसार की स्थिति को प्रकट करते कहते हैं कि गाय घास और जल खाकर ही उसकी शक्ति से बछड़े के लिए दूध देती है किन्तु बछड़े को चूसते हुए लेश भी दया नहीं आती और वह सिर मारकर चूसता है जिससे गाय उससे अलग हो जाती है। फिर मनुष्यों ने उस बछड़े का भाग दूध स्वयं निकाल कर पी लिया, यह भी नहीं सोचा कि यह हमारे लिए नहीं है। संसार के इन लोगों ने जो भी कुकर्म जी में आया है किया और बाद में माला आदि लेकर व्यर्थ भक्ति का आडम्बर खड़ा किया है—

"नौ मन चूहे खाय, बिल्ली हज कौ चली।" (लोकोक्ति)

गाय का दूध पीकर मनुष्यों ने उसे शक्तिहीन कर दिया और जब वह मर गई टैक्स लेकर उसे चमारों को दे दिया फिर उसी गौ माता की खाल को रँगवा कर जूते आदि बनवा लिए और मशक भी बनवाई। इन पंडित कहे जाने वालों का क्षुद्र कार्य देखो कि उस मशक को सबके साथ गौरव लिये फिरते हैं और उसी से पानी पीते हैं—कैसा मिथ्याचार है! इस प्रकार ऐसे लोगों ने संसार में बड़े आश्चर्यपूर्ण दुष्कृत्य किए हैं यद्यपि कहते वे यही हैं कि हमने गौ चर्म की मशक का स्वादिष्ट जल पिया है वस्तुतः उन्होंने जिह्वा के तथा अन्य इन्द्रियों के रस के लिए शरीर को नाना प्रपंचों में जिन्हें वे आनन्द समझते हैं, उलझाया है।

एकै पवन एकहि पांणीं करी रसोई न्यारी जांनीं।
माटी सूं माटी ले पोती, लागी कहौ कहां धूं छोती ।।
धरती लीपि पवित्र कीन्हीं, छोति उपाय लीक विचि दीन्हीं।
याका हम सूं कहौ बिचारा, क्यूं भव तिरिहौ इहि आचारा ।।
ए पांखंड जीव म भरसां, मांनि अमांनि जीव के करमां।
करि आचार जु ब्रह्म संतावा, नांव बिनां संतोष न पावा ।।
सालिगरांम सिला करि पूजा, तुलसी तोड़ि भया नर दूजा।
ठाकुर ले पाटै पौंढावा, भोग लगाइ अरु आपै खावा ।।
साच सील का चौका दीजै, भाव भगति की सेवा कीजै।
भाव भगति की सेवा मांनें, सतगुर प्रगट कहै नहीं छांनें ।।

अनभै उपजि न मन ठहराई, परकीरति मिलि मन न समाई ।
जब लग भाव भगति नहीं करिहो, तव लग भवसागर क्यूं तिरिहो ॥
भाव भगति विसवास बिन, कटै न संसै मूल ।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मूकति नहीं रे मूल ॥४७॥

शब्दार्थ—मूकति=मुक्ति ।

कबीर यहाँ ब्राह्मणों के छुआछात, "नौ कनौजिया तेरह चूल्हे" के मिथ्याचारों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि सर्वत्र एक ही जल और वायु है किन्तु फिर भी अपना भोजन अलग बनाकर उन्होंने तुष्टि अनुभव की कि हम श्रेष्ठ हैं। जब उन्होंने मिट्टी से ही चौके को लीपा है तो फिर भला छूत कहाँ बची रही ? और क्या मनुष्य मिट्टी से भी निकृष्ट है जिससे वह अपने चौके का बचाव करता है। चौके को लीप कर उसे और अधिक पवित्र रखने के लिये उसके चारों ओर सीमा-रेखा बाँध दी । कबीर कहते हैं कि इस आचरण में कौनसी बुद्धिमत्ता और श्रेष्ठता है, इन मिथ्याचारों से किस भाँति संसार-समुद्र पार करोगे ? यह पाखण्ड तथा व्यर्थ का मान-सम्मान, ऊँच-नीच भेद जीव का भ्रम मात्र ही है। ऐसे व्यर्थ कर्म करके जो ईश्वर को भी दुख पहुंचाते हैं, वे मूर्ख हैं। प्रभु के नामस्मरण के बिना शान्ति नहीं। पत्थर के टुकड़े को शालिग्राम के रूप में पूज और तुलसीदल तोड़ कर मनुष्य अपने को भक्त समझता है (भया नर दूजा)। ठाकुर जी को ये लोग शयन भी कराते हैं और उन्हें भोग लगाकर स्वयं भोजन ग्रहण करते हैं। यह कैसा आडम्बर है ? अरे मूर्ख ! सत्याचरण का चौका लगाकर प्रेमाभक्ति से प्रभु को प्राप्त करो। ईश्वर भावपूर्ण भक्ति से निश्चय ही प्राप्त होते हैं-- सद्‌गुरु का ऐसा कथन है कि हे जीव ! तेरी तो विचित्र गति है, तुझमें भय का संचार हो रहा है और तेरा चित्त भी चंचल है जो परोपकार में तो रमता ही नहीं है। कबीर कहते हैं कि जब तक प्रेम भाव से प्रभु की भक्ति नहीं करोगे इस संसार समुद्र को नहीं तर सकते ।

प्रेमसहित प्रभु-भक्ति और प्रभु पर अनन्य विश्वास के अभाव में संसार भ्रम समूल नष्ट नहीं होता (कदाचित् ज्ञान से वह नष्ट हो जाय किन्तु समूल नष्ट तो भक्ति से ही होगा।) इसीलिए कबीर कहते हैं कि प्रभु भक्ति के बिना मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं ।

विशेष—१. समाज के बाह्याचारों पर करारी चोट में कबीर के व्यंग्य का श्रेष्ठतम रूप प्राप्त होता है ।

२. नामस्मरण महिमा ।

३. प्रेमाभक्ति और अनन्य विश्वास यही दो कबीर की भक्ति के दृढ़ स्तम्भ हैं जिन पर यहाँ बल दिया गया है।